श्रीमच्छङ्कराचार्यकृत

उपनिषद्-भाष्य खण्ड २



गीताप्रेस, गोरखपुर

मूल्य २।।≡) दो रुपया ग्यारह आना

ॐ

माण्डूक्योपनिषद्

गौडपादीय कारिका, शाङ्करभाष्य

तथा

हिन्दी-अनुवादसहित

गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीहरिः

भूमिका

माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेदीय ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है। इसमें कुल बारह मन्त्र हैं। कलेवरकी दृष्टिसे पहली दस उपनिषदोंमें यह सबसे छोटी है। किन्तु इसका महत्त्व किसीसे कम नहीं है। भगवान् गौडपादाचार्यने इसपर कारिकाएँ लिखकर इसका महत्त्व और भी बढ़ा दिया है। कारिका और शाङ्करभाष्यके सहित यह उपनिषद् अद्वैतसिद्धान्तरसिकोंके लिये परम आदरणीया हो गयी है। गौडपादीय कारिकाओंको अद्वैतसिद्धान्तका प्रथम निबन्ध कहा जा सकता है। उसी ग्रन्थरत्नके आधारपर भगवान् शङ्कराचार्यने अद्वैत-मन्दिरकी स्थापना की थी। यों तो अद्वैतसिद्धान्त अनादि है किन्तु उसे जो साम्प्रदायिक मतवादका रूप प्राप्त हुआ है उसका प्रधान श्रेय आचार्यप्रवर भगवान् शङ्करको है और उसका मूल ग्रन्थ गौडपादीय कारिका है।

कारिकाकार भगवान् गौडपादाचार्यके जीवन तथा जीवन-कालके विषयमें विशेष विवरण नहीं दिया जा सकता। बँगलामें 'वेदान्तदर्शनेर इतिहास' के लेखक स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्दजी सरस्वतीने उन्हें गौडदेशीय (बंगाली) बतलाया है। इस विषयमें वहाँ नैष्कर्म्य सिद्धिकार भगवान् सुरेश्वराचार्यका यह श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है—

एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरर्थः प्रभाषितः।
अज्ञानमात्रोपाधिः सन्नहमादिदृगीश्वरः ॥*

(४ । ४४)

---

* इस प्रकार जो साक्षात् भगवान् ही अज्ञानोपाधिक होकर अहङ्कारादिका साक्षी (जीव) हुआ है उस परमार्थ-तत्त्वका हमारे पूजनीय गौडदेशीय और द्रविडदेशीय आचार्योंने वर्णन किया है। [यहाँ गौडदेशीय आचार्य श्रीगौडपादाचार्यको कहा है और द्रविडदेशीय श्रीशङ्कराचार्यजीको।]

श्रीगौडपादाचार्य भी संन्यासी ही थे। उनके शिष्य श्रीगोविन्दपादाचार्य थे और गोविन्दपादाचार्यके शिष्य भगवान् शङ्कराचार्य थे। शाङ्करसम्प्रदायमें जो आचार्यवन्दनात्मक मंगलाचरण प्रसिद्ध है उसमें आरम्भसे लेकर श्रीपद्मपादाचार्य आदि भगवान् शङ्करके शिष्यपर्यन्त इस सम्प्रदायके आचार्योंकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार बतलायी है—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादञ्च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि॥*

इससे विदित होता है कि श्रीगौडपादाचार्य भगवान् शुकदेवजीके शिष्य थे।

भगवान् गौडपादाचार्यके ग्रन्थोंमें उनकी कारिकाएँ जगत्प्रसिद्ध हैं। उनका एक ग्रन्थ श्रीउत्तरगीताका भाष्य भी है, जो वाणीविलास प्रेस श्रीरंगम्से प्रकाशित हुआ है। उस भाष्यसे उनका महान् योगी होना सिद्ध होता है। इनके सिवा उनका रचा हुआ एक सांख्यकारिकाओंका भाष्य भी प्रसिद्ध है। परन्तु वह उनका रचा है या नहीं—इस विषयमें विद्वानोंका मतभेद है। अस्तु, हमें तो इस समय उनकी कारिकाओंपर ही कुछ विचार करना है।

कारिकाओंकी रचना बड़ी ही उदात्त और मर्मस्पर्शिनी है। उनकी गणना संसारके सर्वोत्कृष्ट साहित्यमें हो सकती है। यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि वे अद्वैतसिद्धान्तकी आधारशिला हैं। जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' उसी प्रकार अद्वैतबोधके लिये यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि एकमात्र इस ग्रन्थरत्नका सावधानतापूर्वक किया हुआ अनुशीलन ही पर्याप्त हो सकता है। इसमें साधन, सिद्धान्त, परमतनिराकरण और स्वमत-

---

* शाङ्करसम्प्रदायमें शास्त्राध्ययनसे पूर्व आचार्य और शिष्यगण इस मंगलाचरणका उच्चारण किया करते हैं।

संस्थापन—सभीका शास्त्रसम्मत सयुक्तिक वर्णन किया गया है। यह एक ही ग्रन्थ मुमुक्षुओंको परमपदकी प्राप्ति करा सकता है।

इस ग्रन्थमें चार प्रकरण हैं। उनमें क्रमशः २९, ३८, ४८ और १०० इस प्रकार कुल २१५ कारिकाएँ हैं। पहला आगम प्रकरण है। इसमें सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषद् और उसकी व्याख्याभूत कारिकाओं-के सिवा जगदुत्पत्तिके अनेकों प्रयोजनोंका वर्णन करके उनका खण्डन किया गया है। कोई भगवान्‌की इच्छामात्रको सृष्टिमें हेतु मानते हैं, कोई कालसे भूतोंकी उत्पत्ति मानते हैं, कोई भोगके लिये सृष्टि स्वीकार करते हैं और कोई क्रीडाके लिये जगत्‌की उत्पत्ति मानते हैं। इन सब पक्षोंको अस्वीकार करते हुए भगवान् कारिका-कार कहते हैं—'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' (१।९) अर्थात् पूर्णकाम भगवान्‌को सृष्टिका कोई प्रयोजन नहीं है; यह तो उनका स्वभाव ही है। अतः यह जो कुछ प्रपञ्च है बिना हुआ ही भास रहा है। परमार्थदर्शियोंका इसके प्रति आदर नहीं होता।

माण्डूक्योपनिषद्‌में ओंकारकी तीन मात्रा अ उ म् के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरके अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञ-का वर्णन करते हुए उनका समष्टि-अभिमानी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वरके साथ अभेद किया गया है। इनकी अभिव्यक्तिकी अवस्थाएँ क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति हैं तथा इनके भोग स्थूल, सूक्ष्म और आनन्द हैं। जाग्रदवस्थामें जीव दक्षिण नेत्रमें रहता है। स्वप्नावस्थामें कण्ठमें और सुषुप्तिके समय हृदयमें रहता है। इसीका नाम प्रपञ्च है। परमार्थतत्त्व इस सबसे विलक्षण, इसमें अनुगत तथा इसका अधिष्ठान और साक्षी है। उसे ओंकारके चतुर्थ-पाद अमात्र तुरीयात्मरूपसे वर्णन किया गया है। कोई भी भ्रम बिना अधिष्ठानके नहीं हो सकता; अतः इस प्रपञ्चभ्रमका भी कोई अधिष्ठान होना चाहिये। वह अधिष्ठान तुरीय ही है। तुरीय नित्य, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, सर्वात्मा और सर्वसाक्षी है। वह प्रकाशस्वरूप है, उसमें अन्यथाग्रहणरूप स्वप्न और तत्त्वाग्रहणरूप सुषुप्तिका सर्वथा अभाव है। जिस समय अनादिमायासे सोया हुआ जीव जगता है। उसी समय उसे इस अजन्मा तथा स्वप्न और निद्रासे रहित अद्वैत-

तत्त्वका बोध होता है। इसी बातको आचार्यप्रवर गौडपाद इस प्रकार कहते हैं—

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥

(१ । १६)

इस प्रकार आगमप्रकरणमें वस्तुका निर्देश कर जीव और ब्रह्मकी एकता तथा प्रपञ्चका मायामयत्व प्रतिपादित करते हुए वैतथ्यप्रकरणमें उसीको युक्ति और उपपत्तिपूर्वक पुष्ट किया है। वहाँ सबसे पहले स्वप्नदृश्यका मिथ्यात्व प्रतिपादन किया है, क्योंकि स्वप्नकी उपलब्धि देहके भीतर किसी नाडीविशेषमें होती है, जिसमें स्थानाभावके कारण पर्वत और हाथी आदिका होना सर्वथा असम्भव है। स्वप्नावस्थामें जीव देहसे बाहर जाकर स्वाप्न पदार्थोंको देखता हो—यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि एक क्षणमें ही सैकड़ों योजन दूरके पदार्थ दिखायी देने लगते हैं और उस अवस्थामें जिन व्यक्तियोंसे वह मिलता है, जाग जानेपर वे ऐसा नहीं कहते कि हमने तुम्हें देखा था। इसी प्रकार तरह-तरहकी युक्तियोंसे स्वप्नका मिथ्यात्व सिद्ध कर उससे दृश्यत्वमें समानता होनेके कारण जाग्रत्कालीन दृश्यका भी मिथ्यात्व प्रतिपादन किया है। वहाँ यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें चित्तमें कल्पना किये हुए पदार्थ असत्य और बाहर देखे जानेवाले पदार्थ सत्य जान पड़ते हैं किन्तु वस्तुतः वे दोनों ही असत्य हैं। उसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी मानसिक और इन्द्रियग्राह्य दोनों ही प्रकारके पदार्थ असत्य हैं। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही अवस्थाओंका मिथ्यात्व सिद्ध होनेपर यह प्रश्न होता है कि इन चित्तपरिकल्पित और बाह्य दृश्योंको देखता कौन है? इसके उत्तरमें कारिकाकार कहते हैं—

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः॥

(२ । १२)

इस प्रकार भगवान् गौडपादाचार्यके मतमें प्रपञ्चकी प्रतीति मायाके ही कारण है। मायाकी महिमासे ही आत्मदेव अव्यक्त

वासनारूपसे स्थित भेदसमूहको व्यक्त करता है। यह माया न सत् है, न असत् है और न सदसत् है: न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न है; यह न सावयव है, न निरवयव है और न उभयरूप है। वस्तुतः स्वरूपविस्मृति ही माया है: अतः स्वरूपज्ञानसे ही उसकी निवृत्ति होती है। जिस प्रकार मन्द अन्धकारमें रज्जुतत्त्वका निश्चय न होनेपर उसमें सर्प, धारा, भूच्छिद्र आदि अनेक प्रकारके विकल्प हो जाते हैं किन्तु रज्जुका ज्ञान होनेपर एकमात्र रज्जु ही रह जाती है उसी प्रकार मायामोहित जीवको ही भेदप्रपञ्चकी भ्रान्ति हो रही है: मायाका पर्दा हटते ही एकमात्र अखण्ड, अद्वैत वस्तु ही अवशिष्ट रह जाती है।

इसके आगे आचार्यने प्राणात्मवाद, भूतात्मवाद, गुणात्मवाद, तत्त्वात्मवाद, पादात्मवाद, विषयात्मवाद, लोकात्मवाद, देवात्मवाद, वेदात्मवाद और यज्ञात्मवाद आदि अनेकों मतवादोंका उल्लेख किया है। वहाँ वे कहते हैं कि लोकमें गुरु जिसको जिस भावकी शिक्षा दे देते हैं वह तन्मय भावसे उसी भावका आग्रह करने लगता है और अन्तमें उसे उसी भावकी प्राप्ति हो जाती है: किन्तु जो इन विभिन्न भावोंसे लक्षित इनके अधिष्ठानभूत अद्वितीय आत्मतत्त्वको जानता है वह निःशङ्क होकर वेदार्थकी कल्पना कर सकता है, अर्थात् इन सब भावोंकी संगति लगा सकता है। वस्तुतः तो जैसे स्वप्न, माया और गन्धर्वनगर होते हैं वैसा ही विज्ञजन इस प्रपञ्चको देखते हैं तो फिर परमार्थ क्या है? इसका उत्तर आचार्यने इस कारिकासे दिया है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता॥

(२। ३२)

तात्पर्य यह कि एक अखण्ड चिद्घन वस्तुको छोड़कर उत्पत्ति, प्रलय, बद्ध, साधक, मुमुक्षु और मुक्त किसी भी प्रकारका व्यवहार नहीं है। यह तत्त्व अत्यन्त दुर्दर्श है, क्योंकि निरन्तर व्यवहारमें ही रहनेवाले व्यावहारिक जीवकी दृष्टि इस व्यवहारातीत वस्तुतक पहुँचनी बहुत ही कठिन है। जिन वेदके पारगामी मुनि-

जनोंके राग, भय और क्रोधादि विकार सर्वथा निवृत्त हो गये हैं उन्हींको इस प्रपञ्चातीत अद्वय पदका बोध होता है। इसका बोध हो जानेपर वह महात्मा सर्वथा निर्द्वन्द्व और निर्भय हो जाता है तथा स्तुति, नमस्कार और स्वधाकारादि व्यवहारकोटिसे ऊँचा उठकर वह देह और आत्मामें ही विश्राम करनेवाला एवं यदृच्छालाभ-सन्तुष्ट हो जाता है। फिर बाहर-भीतर इसी तत्त्वको ओतप्रोत देख वह तत्त्वमय हो जानेसे उसीमें रमण करता हुआ कभी तत्त्वच्युत नहीं होता।

इस प्रकार वैतथ्यप्रकरणमें युक्तिपूर्वक द्वैताभावका प्रतिपादन कर फिर आगमप्रकरणमें शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध हुए अद्वैततत्त्वको युक्तिद्वारा सिद्ध करनेके लिये अद्वैतप्रकरणका आरम्भ किया गया है। वहाँ आरम्भमें ही यह बतलाया गया है कि 'मेरा उपास्य अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकारका उपासनाश्रित धर्म जातब्रह्म (कार्यब्रह्म) में है; किन्तु उत्पत्तिसे पूर्व यह सारा जगत् अजन्मा ब्रह्म ही है। अतः कार्यब्रह्मपरायण होनेके कारण यह उपासक कृपण ही है। केनोपनिषद्में भी कई पर्यायोंमें मन, वाणी और प्राणादिके साक्षीको ही ब्रह्म बतलाकर 'नेदं यदिदमुपासते' इस वाक्यसे उपास्यका अब्रह्मत्व प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार कार्पण्यका निर्देश कर 'अजातिसमतां गतम्' अर्थात् समभावमें स्थित अजाति—अजन्मा वस्तु ही अकार्पण्य है—ऐसा कहा है। इसके पश्चात् घटाकाशादिके दृष्टान्तसे औपाधिक भेदका उल्लेख करते हुए आकाशस्थानीय आत्मतत्त्वकी अनुत्पत्ति और असंगताका प्रतिपादन किया है। वहाँ यह बतलाया है कि जिस प्रकार एक घटाकाशके धूम और धूलि आदिसे व्याप्त होनेपर अन्य समस्त घटाकाश उससे विकृत नहीं होते उसी प्रकार एक जीवके सुख-दुःखसे समस्त जीव सुखी या दुखी नहीं होते; और वस्तुतः तो धूलि आदि आकाशका संसर्ग ही नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा-का भी सुख-दुःखादिसे कभी सम्पर्क नहीं होता। जीवके मरण, उत्पत्ति, गमन, आगमन और स्थिति आदिसे भी आत्मामें कोई विलक्षणता नहीं होती; क्योंकि सारे संघात स्वप्नके समान आत्माकी

मायासे ही कल्पित हैं । अतः आत्मा एक, अखण्ड, अजन्मा और निर्लेप है, इसीसे 'एकमेवाद्वितीयम्', 'इदं सर्वं यदयमात्मा' तथा 'द्वितीयाद्वै भयं भवति', 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' आदि श्रुतियोंसे अभेददृष्टिकी प्रशंसा और भेददृष्टिकी निन्दा की गयी है । छान्दोग्योपनिषद्में मृत्तिका-घट, अग्नि-विस्फुलिङ्ग और लोह-नखनिकृन्तनादि दृष्टान्तोंसे जो सृष्टिका वर्णन किया गया है वह जिज्ञासुकी बुद्धिमें प्रपञ्चका ब्रह्मके साथ अभेद बिठानेके लिये है; वस्तुतः प्रपञ्चभेद सिद्ध करनेके लिये नहीं है। अतः सिद्धान्त यही है कि जो कुछ भेद है वह व्यवहारदृष्टिसे है, परमार्थतः उसकी गन्ध भी नहीं है । यदि वास्तविक भेद माना जाय तो परमार्थतत्त्व उत्पत्तिशील सिद्ध होगा और इस प्रकार परिणामी होनेके कारण वह नित्य नहीं हो सकता । इसके सिवा यदि विचार किया जाय तो न तो सद्वस्तुका जन्म हो सकता है और न असत्का ही, क्योंकि जो है ही उसका जन्म क्या होगा और जो शशशृङ्गके समान असत् है उसकी भी कैसे उत्पत्ति हो सकती है। अतः यह सारा द्वैत मनोदृश्यमात्र है । मनके अमनीभावको प्राप्त होते ही द्वैतकी तनिक भी उपलब्धि नहीं होती।

इस प्रकार आत्मसत्यका बोध होनेपर जिस समय चित्त संकल्प नहीं करता उसी समय मन अमनस्ताको प्राप्त हो जाता है। उसका यह अग्रह निरोधजनित नहीं होता बल्कि ग्राह्य वस्तुका अभाव होनेके कारण होता है । इसीको ब्रह्माकारवृत्ति या वृत्ति-व्याप्ति भी कहते हैं । उस अवस्थाका कारिकाकारने तैंतीससे लेकर अड़तीसवीं कारिकातक बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। यही बोध-स्थिति है, इसीके लिये जिज्ञासुका सारा प्रयत्न होता है और इसी स्थितिको प्राप्त होनेपर मनुष्य कृतकृत्य होता है । कारिकाकारने इसे 'अस्पर्शयोग' कहा है । इस अभयस्थितिसे अन्य योगिजन भय मानते हैं; क्योंकि यहाँ अहंकारका अत्यन्ताभाव होनेके कारण उन्हें आत्मनाश दिखायी देता है । यह योग केवल उत्तम अधिकारियोंके लिये है, जिनका इसमें प्रवेश नहीं है उनकी अभयस्थिति, दुःखक्षय, बोध और अक्षयशान्ति मनोनिग्रहके अधीन हैं । वह मनोनिग्रह

भी बड़े धीर-वीरका काम है। उसके लिये अत्यन्त उत्साह, अनवरत अध्यवसाय और परम धैर्यकी आवश्यकता है। उसमें नाना प्रकारके विघ्न आते हैं। भगवान् कारिकाकारने बयालीससे लेकर पैंतालीसवीं कारिकातक उन विघ्नोंकी निवृत्तिके उपाय बतलाये हैं। उनके अनुसार साधन करते-करते जब चित्त निरुद्ध हो जाता है तो बोध-का उदय होता है। उस स्थितिका वर्णन आचार्यने श्लोक ४६ और ४७ में किया है। इस प्रकार अद्वैततत्त्व और उसकी उपलब्धिके साधनोंका विवेचन कर उन्होंने निम्नलिखित श्लोकसे इस प्रकरणका उपसंहार करते हुए अपना सिद्धान्त स्थापित किया है—

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते॥

(३ । ४८)

इसके पश्चात् अलातशान्ति नामक चौथे प्रकरणमें आचार्यने अन्य मतावलम्बियोंके पारस्परिक मतभेद दिखलाते हुए उन्हींकी युक्तियोंसे उनका खण्डन किया है। 'अलात' शब्दका अर्थ उल्का या मसाल है। मसालको घुमानेपर अग्निकी तरह-तरहकी आकृतियाँ दिखायी देती हैं और उसका घुमाना बंद करते ही उनका दिखायी देना बंद हो जाता है। यदि विचार किया जाय तो वस्तुतः वे मसालसे न तो निकलती हैं, न उसमें लीन होती हैं और न कहीं अन्यत्रसे ही उनका आना-जाना होता है। उनकी प्रतीति केवल मसालके स्पन्दनका ही फल है, वस्तुतः उनकी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार यह दृश्य-प्रपञ्च केवल मनके स्पन्दनके कारण प्रतीत होता है और मनके अमनीभावको प्राप्त होते ही न जाने कहाँ चला जाता है। किन्तु ये प्रपञ्चकी प्रतीति और अप्रतीति दोनों ही भ्रान्तिजनित हैं; परमार्थदृष्टिसे न उसकी उत्पत्ति होती है और न लय। इस भ्रान्तिका आधार परब्रह्म है, क्योंकि कोई भी भ्रान्ति निराधार नहीं हो सकती। अतः रज्जुमें सर्प अथवा शुक्तिमें रजतके समान परब्रह्म-में ही इस प्रपञ्चभ्रमकी प्रतीति हो रही है। यही इस प्रकरणका संक्षिप्त तात्पर्य है। इस प्रकरणमें आचार्यने सद्वाद, असद्वाद, बीजा-ङ्कुरसन्ततिवाद, विज्ञानवाद एवं शून्यवाद आदि सभी विपक्षी मतों-

का खण्डन करके अजातवादकी स्थापना की है। वे एक ही कारिकामें सारे पक्षोंकी अनुपपत्ति दिखलाते हुए कहते हैं—

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते ॥

(४ । २२)

अर्थात् कोई भी वस्तु न तो अपनेसे उत्पन्न हो सकती है और न किसी अन्यसे ही। जो घट अभीतक तैयार नहीं हुआ उससे वही घट कैसे उत्पन्न होगा ? तथा तैयार हुए घटसे भी कोई अन्य घट अथवा पट कैसे उत्पन्न होगा ? यही नहीं, सत्-असत् अथवा सद्सत्-रूपमें भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। जो वस्तु है उसकी उत्पत्ति क्या होगी और जिसका अत्यन्ताभाव है उसकी भी कहाँसे उत्पत्ति होगी ? तथा जो है और नहीं भी है ऐसी तो कोई वस्तु ही होनी सम्भव नहीं है अतः किसी भी प्रकार किसी वस्तुकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार, कुछ आगे चलकर वे सब प्रकारके कार्य-कारणभावकी अनुपपत्ति दिखलानेके लिये कहते हैं—

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा ।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः ॥

(४ । ४०)

अर्थात् न तो आकाशकुसुमादि असत् कारणवाला कोई आकाशकुसुमादिरूप असत् पदार्थ हो सकता है और न ऐसे असत्कारणसे कोई सद्वस्तु ही उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार घटादि सत्पदार्थ भी किसी अन्य सत्पदार्थके कारण नहीं हो सकते: फिर उनसे कोई असत्पदार्थ उत्पन्न होगा—ऐसी तो सम्भावना ही कहाँ है ?

इस प्रकार अनेकों युक्तियोंसे जिसे जन्मके निमित्तभूत द्वैतका अत्यन्ताभाव अनुभव हो गया है और जिसने कार्य-कारणभावशून्य परमार्थतत्त्वको जान लिया है वही सब प्रकारके शोक और संकल्पसे मुक्त होकर अभयपद प्राप्त करता है। उसकी स्थितिका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं—

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥
(४ । ८०)

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् ।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः ॥
(४ । ८१)

इस प्रकार उस निरालम्ब स्थितिका वर्णन कर भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि जिस-जिस धर्मका आग्रह हो जानेसे वह सर्वविशेषशून्य परमार्थतत्त्व अनायास ही आच्छादित हो जाता है और फिर वह पर्दा बड़ी कठिनतासे हटता है। इसीसे यह भगवान् अत्यन्त दुर्दर्श है। इसे आच्छादित करनेवाली कौन-कौन-सी कोटियाँ हैं—उनका दिग्दर्शन करानेके लिये वे कहते हैं—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥
(४ । ८३)

अर्थात् कोई कहते हैं भगवान् 'है,' कोई कहते हैं 'नहीं है,' किन्हींका मत है 'है और नहीं भी है' और कोई कहते हैं 'नहीं है, नहीं है' इनमें अस्ति-भाव चल है, क्योंकि वह घटादि अनित्य पदार्थोंसे विलक्षण है; नास्तिभाव स्थिर है, कारण उसमें कोई विशेषता नहीं है, अस्ति-नास्तिभाव (सदसद्भाव) उभयरूप है और नास्ति-नास्तिभाव अभावरूप है। भगवान् इन सभी भावोंसे विलक्षण हैं, क्योंकि ये सभी व्यवहारकोटिके अन्तर्गत हैं। उस सर्वभावातीत भगवान्‌को जो जानता है वही सर्वज्ञ है—सर्वज्ञ इसलिये, कि वह सारे प्रपञ्चके अधिष्ठानको जानता है और जो अधिष्ठानको जानता है उसे अध्यस्तवर्गकी असलियतका ज्ञान है ही। जिसे ऐसा ज्ञान है उस अद्वयब्राह्मपदमें स्थित हुए महात्माके लिये फिर कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। उसका शम-दम आदि सात्त्विक व्यवहार भी लोकसंग्रहके लिये केवल लीलामात्र होता है। वस्तुतः उनकी गहनगतिका अवगाहन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। उन्हींकी अलौकिक स्थितिको लक्ष्यमें रखकर भगवान्‌ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी ।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(२ । ६९)

जो संसार संसारी पुरुषोंकी दृष्टिमें ध्रुवसत्य है उसका वे अत्यन्ताभाव देखते हैं और जिस अखण्ड चिद्घनसत्तामें उनकी अविचल स्थिति रहती है उसतक बहिर्दर्शी अविवेकियोंकी दृष्टि नहीं पहुँच सकती । इसीसे उनकी दृष्टिमें दिन-रातका अन्तर बतलाया गया है ।

इस प्रकार समस्त वादियोंकी कुदृष्टियोंका खण्डन कर आचार्यने एक अद्वय अखण्ड तत्त्वको स्थापित किया है, और अन्तमें उसीकी वन्दना करते हुए ग्रन्थका उपसंहार किया है । वहाँ वे कहते हैं-

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम् ।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥

(४ । १००)

इन कारिकाओंके द्वारा भगवान् गौडपादाचार्यने अजातवादकी स्थापना की है । इस सिद्धान्तको ग्रहण करनेके लिये बहुत ऊँचे अधिकारकी आवश्यकता है । जो सब प्रकार साधनसम्पन्न हैं वे उच्चाधिकारी ही इसे ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर सकते हैं । जिनके चित्त कुछ भी विषयप्रवण हैं वे इससे अधिक लाभ न उठा सकेंगे—इतना ही नहीं, अपि तु उन्हें हानि होनेकी भी सम्भावना है, यह तत्त्व अत्यन्त दुर्बोध है—ऐसा तो स्वयं आचार्यचरणने ही कह दिया है—'दुर्दर्शमतिगम्भीरम्' । किन्तु जिस महाभाग महापुरुषकी दृष्टि इस परमतत्त्वतक पहुँच जाती है उसके लिये फिर कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता । वह स्वयं जीवन्मुक्त हो जाता है और दूसरे अधिकारी पुरुषोंको भी भवबन्धनसे मुक्त कर देता है । वह महामुनि सबका वन्दनीय है, सबका गुरु है और सभीका परम सुहृद् है । भगवान् हमें ऐसे महापुरुषोंके चरणकमलोंका आश्रय देकर हमारे संसारतापसन्तप्त अन्तःकरणोंको शान्ति प्रदान करें ।

—अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय ... पृष्ठ

१. शान्तिपाठ १९

आगम-प्रकरण

२. भाष्यकारका मङ्गलाचरण २०
३. सम्बन्धभाष्य २१
४. ॐ ही सब कुछ है २४
५. ओंकारवाच्य ब्रह्मकी सर्वात्मकता २५
६. आत्माका प्रथम पाद—वैश्वानर २७
७. आत्माका द्वितीय पाद—तैजस ३१
८. आत्माका तृतीय पाद—प्राज्ञ ३३
९. प्राज्ञका सर्वकारणत्व ३५
१०. एक ही आत्माके तीन भेद ३६
११. विश्वादिके विभिन्न स्थान ३७
१२. विश्वादिका त्रिविध भोग ४३
१३. त्रिविध भोक्ता और भोग्यके ज्ञानका फल ४४
१४. प्राण ही सबकी सृष्टि करता है ४५
१५. सृष्टिके विषयमें भिन्न-भिन्न विकल्प ४७
१६. चतुर्थ पादका विवरण ४९
१७. तुरीयका स्वरूप ५२
१८. तुरीयका प्रभाव ५९
१९. विश्व और तैजससे तुरीयका भेद ६०
२०. प्राज्ञसे तुरीयका भेद ६१
२१. तुरीयका स्वप्न-निद्राशून्यत्व ६३
२२. बोध कब होता है ? ६५
२३. प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव ६६
२४. गुरु-शिष्यादि विकल्प व्यावहारिक है ६७
२५. आत्मा और उसके पादोंके साथ ओंकार और उसकी मात्राओंका तादात्म्य ६८

विषय		पृष्ठ
२६.	अकार और विश्वका तादात्म्य	६९
२७.	उकार और तैजसका तादात्म्य	७०
२८.	मकार और प्राज्ञका तादात्म्य	७२
२९.	मात्राओंकी विश्वादिरूपता	७३
३०.	ओंकारोपासकका प्रभाव	७५
३१.	ओंकारकी व्यस्तोपासनाके फल	७५
३२.	अमात्र और आत्माका तादात्म्य	७६
३३.	समस्त और व्यस्त ओंकारोपासना	७८
३४.	ओंकारार्थज्ञ ही मुनि है	८१

वैतथ्यप्रकरण

३५.	स्वप्नदृष्ट पदार्थोंका मिथ्यात्व	८२
३६.	जाग्रद्दृश्य पदार्थोंके मिथ्यात्वमें हेतु	८५
३७.	स्वप्नमें मनःकल्पित और इन्द्रियग्राह्य दोनों ही प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं	९१
३८.	जाग्रत्‌में भी दोनों प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं	९२
३९.	इन मिथ्या पदार्थोंकी कल्पना करनेवाला कौन है ? ...	९२
४०.	इनकी कल्पना करनेवाला और इनका साक्षी आत्मा ही है ...	९३
४१.	पदार्थकल्पनाकी विधि	९४
४२.	आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं ...	९४
४३.	आन्तरिक और बाह्य पदार्थोंका भेद केवल इन्द्रियजनित है ...	९६
४४.	पदार्थकल्पनाकी मूल जीवकल्पना है	९७
४५.	जीवकल्पनाका हेतु अज्ञान है	९८
४६.	अज्ञाननिवृत्ति ही आत्मज्ञान है	९९
४७.	विकल्पकी मूल माया है	१००
४८.	मूलतत्त्वसम्बन्धी विभिन्न मतवाद	१०१
४९.	आत्मा सर्वाधिष्ठान है ऐसा जाननेवाला ही परमार्थदर्शी है ...	१०५
५०.	द्वैतका असत्यत्व वेदान्तवेद्य है	१०६
५१.	परमार्थ क्या है ?	१०८
५२.	अद्वैतभाव ही मङ्गलमय है	११३
५३.	तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें नानात्वका अत्यन्ताभाव है	११४
५४.	इस रहस्यके साक्षी कौन थे ?	११६

	विषय	पृष्ठ
५५.	तत्त्वदर्शनका आदेश	११७
५६.	तत्त्वदर्शीका आचरण	११८
५७.	अविचल तत्त्वनिष्ठाका विधान	११९

अद्वैतप्रकरण

५८.	भेददर्शी कृपण है	१२२
५९.	अकार्पण्यनिरूपणकी प्रतिज्ञा	१२३
६०.	जीवकी उत्पत्तिके विषयमें दृष्टान्त	१२५
६१.	जीवके विलीन होनेमें दृष्टान्त	१२६
६२.	आत्माकी असङ्गतामें दृष्टान्त	१२७
६३.	व्यावहारिक जीवभेद	१३३
६४.	जीव आत्माका विकार या अवयव नहीं है	१३४
६५.	आत्माकी मलिनता अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है	१३५
६६.	आत्मैकत्व ही समीचीन है	१४०
६७.	श्रुत्युक्त जीव-ब्रह्मभेद गौण है	१४१
६८.	दृष्टान्तयुक्त उत्पत्ति-श्रुतिकी व्यवस्था	१४३
६९.	त्रिविध अधिकारी और उनके लिये उपासनाविधि ...	१४७
७०.	अद्वैतात्मदर्शन किसीका विरोधी नहीं है	१४८
७१.	अद्वैतात्मदर्शनके अविरोधी होनेमें हेतु	१५०
७२.	आत्मामें भेद मायाहीके कारण है	१५१
७३.	जीवोत्पत्ति सर्वथा असगत है	१५३
७४.	उत्पत्तिशील जीव अमर नहीं हो सकता	१५४
७५.	सृष्टिश्रुतिकी संगति	१५५
७६.	श्रुति कार्य और कारण दोनोंका प्रतिषेध करती है	१५८
७७.	अनात्मप्रतिषेधसे अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है ...	१६१
७८.	सद्वस्तुकी उत्पत्ति मायिक होती है	१६२
७९.	असद्वस्तुकी उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है	१६४
८०.	स्वप्न और जागृति मनके ही विलास हैं	१६६
८१.	तत्त्वबोधसे अमनीभाव	१६७
८२.	आत्मज्ञान किसे होता है ?	१६८
८३.	शान्तवृत्तिका स्वरूप	१७०
८४.	सुषुप्ति और समाधिका भेद	१७१
८५.	ब्रह्मका स्वरूप	१७३

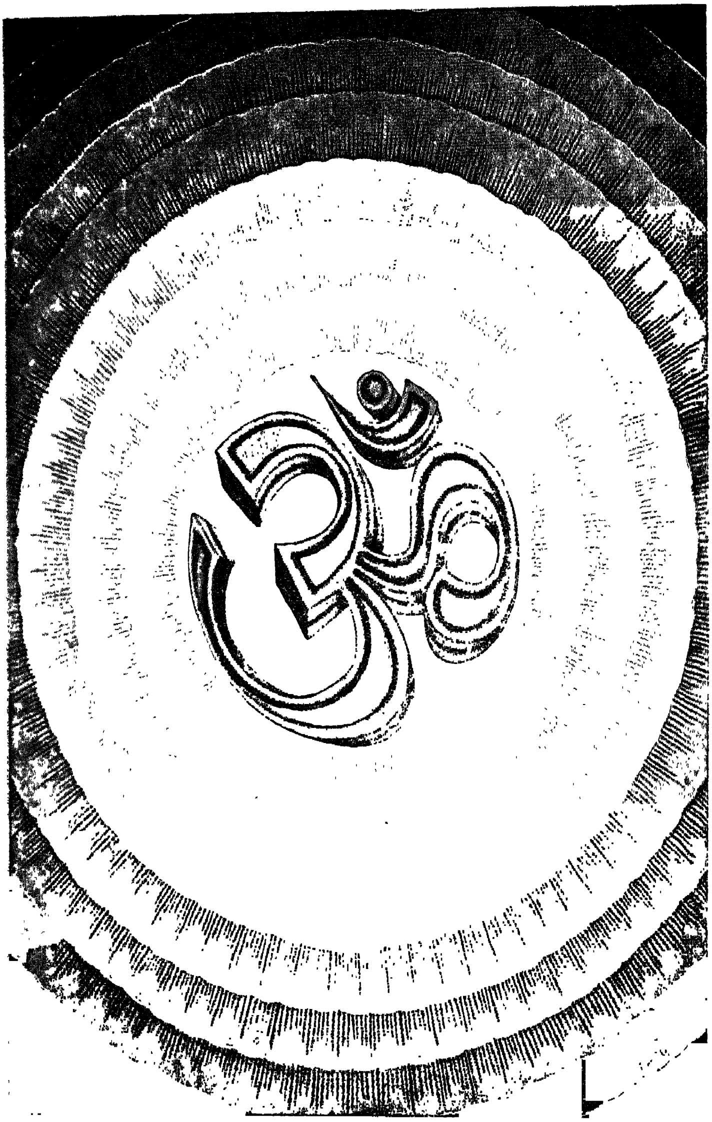
विषय	पृष्ठ
८६. अस्पर्शयोगकी दुर्गमता	... १७७
८७. अन्य योगियोंकी शान्ति मनोनिग्रहके अधीन है	... १७८
८८. मनोनिग्रह धैर्यपूर्वक ही हो सकता है ...	... १८०
८९. मनोनिग्रहके विघ्न	... १८०
९०. मन कब ब्रह्मरूप होता है ? ...	... १८४
९१. परमार्थ सत्य क्या है ?	... १८५

अलातशान्तिप्रकरण

९२. नारायण-नमस्कार	... १८८
९३. अद्वैतदर्शनकी वन्दना	... १८९
९४. द्वैतवादियोंका पारस्परिक विरोध ...	... १९१
९५. द्वैतवादियोंद्वारा प्रदर्शित अजातिका अनुमोदन	... १९२
९६. स्वभावविपर्यय असम्भव है ...	... १९३
९७. जीवका जरा-मरण माननेमें दोष ...	... १९६
९८. सांख्यमतपर वैशेषिककी आपत्ति ...	... १९६
९९. हेतु और फलके अन्योन्यकारणत्वमें दोष ...	... १९९
१००. अजातवाद-निरूपण	... २०६
१०१. सदसदादिवादोंकी अनुपपत्ति ...	... २०७
१०२. हेतु-फलका अनादित्व उनकी अनुत्पत्तिका सूचक है	... २०९
१०३. बाह्यार्थवाद-निरूपण	... २१०
१०४. विज्ञानवादिकर्तृक बाह्यार्थवादनिषेध ...	... २१२
१०५. विज्ञानवादका खण्डन	... २१६
१०६. उपक्रमका उपसंहार	... २१८
१०७. प्रपञ्चके असत्यत्वमें हेतु	... २२०
१०८. स्वप्नका मिथ्यात्वनिरूपण	... २२१
१०९. स्वप्न और जाग्रत्‌का कार्य-कारणत्व व्यावहारिक है	... २२२
११०. जगदुत्पत्तिका उपदेश किनके लिये है ? ...	... २२७
१११. सन्मार्गगामी द्वैतवादियोंकी गति ...	... २२९
११२. उपलब्धि और आचरणकी अप्रमाणता ...	... २२९
११३. परमार्थ वस्तु क्या है ?	... २३०
११४. विज्ञानाभासमें अलातस्फुरणका दृष्टान्त ...	... २३२
११५. आत्मामें कार्य-कारणभाव क्यों असम्भव है ?	... २३६
११६. हेतु-फलभावके अभिनिवेशका फल ...	... २३८

विषय	पृष्ठ
११७. हेतु-फलके अभिनिवेशमें दोष	२३९
११८. जीवोंका जन्म मायिक है	२४०
११९. आत्माकी अनिर्वचनीयता	२४२
१२०. द्वैताभावमें स्वप्नका दृष्टान्त	२४३
१२१. अजाति ही उत्तम सत्य है	२४८
१२२. चित्तकी असंगता	२४८
१२३. व्यावहारिक वस्तु परमार्थतः नहीं होती	२४९
१२४. आत्मा अज है—यह कल्पना भी व्यावहारिक है ...	२५०
१२५. द्वैताभावसे जन्माभाव	२५१
१२६. विद्वान्‌की अभयपदप्राप्ति	२५३
१२७. मनोवृत्तियोंकी सन्धिमें ब्रह्मसाक्षात्कार	२५५
१२८. आत्माकी दुर्दर्शताका हेतु	२५६
१२९. परमार्थका आवरण करनेवाले असदभिनिवेश ...	२५७
१३०. ज्ञानीका नैष्कर्म्य	२५९
१३१. त्रिविध ज्ञेय	२६१
१३२. त्रिविध ज्ञेय और ज्ञानका ज्ञाता सर्वज्ञ है	२६३
१३३. जीव आकाशके समान अनादि और अभिन्न हैं ...	२६६
१३४. आत्मतत्त्वनिरूपण	२६७
१३५. आत्मज्ञ ही अकृपण है	२६९
१३६. आत्मज्ञका महाज्ञानित्व	२७०
१३७. जातवादमें दोषप्रदर्शन	२७१
१३८. आत्माका स्वाभाविक स्वरूप	२७२
१३९. अजातवाद बौद्धदर्शन नहीं है	२७३
१४०. परमार्थपद-वन्दना	२७५
१४१. भाष्यकारकर्तृक वन्दना	२७६
१४२. शान्तिपाठ	२७७

माण्डूक्योपनिषद्



ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वम्

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

माण्डूक्योपनिषद्

गौडपादीय कारिका, मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य

और भाष्यार्थसहित

जाग्रदादित्रयोन्मुक्तं जाग्रदादिमयं तथा ।
ओङ्कारैकसुसंवेद्यं यत्पदं तन्नमाम्यहम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

हे देवगण ! हम कानोंसे कल्याणमय वचन सुनें । यज्ञकर्ममें समर्थ होकर नेत्रोंसे शुभ दर्शन करें तथा अपने स्थिर अङ्ग और शरीरोंसे स्तुति करनेवाले हमलोग देवताओंके लिये हितकर आयुका भोग करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥
ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

महान् कीर्तिमान् इन्द्र हमारा कल्याण करे; परम ज्ञानवान् [अथवा परम धनवान्] पूषा हमारा कल्याण करे, जो अरिष्टों (आपत्तियों) के लिये चक्रके समान [घातक] है वह गरुड हमारा कल्याण करे तथा बृहस्पतिजी हमारा कल्याण करें । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

आगम-प्रकरण

भाष्यकारका मङ्गलाचरण

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासितान्कामजन्यान् ।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥१॥

जो अपनी चराचरव्यापिनी ज्ञानरश्मियोंके विस्तारसे सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त कर [जाग्रत्-अवस्थामें] स्थूल विषयोंका भोग करनेके अनन्तर फिर [स्वप्नावस्थामें] बुद्धिसे प्रकाशित वासनाजनित सम्पूर्ण भोगोंका पानकर मायासे हम सब जीवोंको भोग कराता हुआ [स्वयं] आनन्दका भोक्ता होकर शयन करता है तथा जो परम अमृत और अजन्मा ब्रह्म मायासे 'तुरीय' (चौथी) संख्यावाला है, उसे हम नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

यो विश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान्स्थविष्ठान्
पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान् ।
सर्वानेतान्पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः ॥ २ ॥

जो सर्वात्मा [जाग्रत्-अवस्थामें] शुभाशुभ कर्मजनित स्थूल भोगोंको भोगकर फिर [स्वप्नकालमें] अपनी बुद्धिसे परिकल्पित सूक्ष्म विषयोंको [सूर्य आदि बाह्य ज्योतियोंका अभाव होनेके कारण] अपने ही प्रकाश-से भोगता है और फिर धीरे-धीरे इन सभीको अपनेमें स्थापितकर सम्पूर्ण विशेषोंको छोड़कर निर्गुणरूपसे स्थित हो जाता है, वह तुरीय परमात्मा हमारी रक्षा करे ॥ २ ॥

सम्बन्धभाष्य

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् । तस्योपव्याख्यानं वेदान्तार्थसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयमोमित्येतदक्षरमित्याद्यारभ्यते । अत एव न पृथक्सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि वक्तव्यानि । यान्येव तु वेदान्ते सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति । तथापि प्रकरणव्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि ।

अनुबन्ध-विमर्श:

तत्र प्रयोजनवत्साधनाभिव्यञ्जकत्वेनाभिधेयसम्बद्धं शास्त्रं पारम्पर्येण विशिष्टसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनवद्भवति । किं पुनस्तत्प्रयोजनमित्युच्यते ? रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता । तथा दुःखात्मकस्यात्मनो द्वैत-

'ॐ' यह अक्षर ही यह सब कुछ है । उसका व्याख्यानरूप तथा वेदान्तार्थका सारसंग्रहभूत यह चार प्रकरणोंवाला ग्रन्थ 'ओमित्येतदक्षरमिदम्' आदि मन्त्रद्वारा आरम्भ किया जाता है । इसीलिये इसके सम्बन्ध, विषय और प्रयोजनका पृथक् वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है । वेदान्तशास्त्रमें जो-जो सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन हुआ करते हैं वे ही इस ग्रन्थमें भी हो सकते हैं । तो भी [व्याख्याकार ऐसा मानते हैं कि] जिन्हें किसी प्रकरण ग्रन्थकी व्याख्या करनेकी इच्छा हो उन्हें संक्षेपसे उनका वर्णन कर ही देना चाहिये ।

तहाँ, प्रयोजनसिद्धिके अनुकूल साधन अभिव्यक्त करनेके कारण अपने प्रतिपाद्य विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला शास्त्र परम्परासे विशिष्ट सम्बन्ध, विषय और प्रयोजनवाला हुआ करता है । अच्छा तो, [इस शास्त्रका] वह क्या प्रयोजन है ? सो बतलाया जाता है—जिस प्रकार रोगी पुरुषको रोगकी निवृत्ति होनेपर स्वस्थता होती है उसी प्रकार दुःखाभिमानी आत्माको द्वैत-

प्रपञ्चोपशमे स्वस्थता । अद्वैतभावः प्रयोजनम् ।

द्वैतप्रपञ्चस्याविद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्रह्मविद्याप्रकाशनायास्यारम्भः क्रियते। "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० उ० २ । ४ । १४) "यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात्" (बृ० उ० ४ । ३ । ३१) "यत्र वास्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं विजानीयात्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्यादिश्रुतिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः ।

तत्र तावदोङ्कारनिर्णयाय प्रथमं

प्रकरण-चतुष्टय-प्रतिपाद्यार्थ-निरूपणम्

प्रकरणमागमप्रधानम्, आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम् । यस्य द्वैतप्रपञ्चस्योपशमेऽद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिस्तस्य द्वैतस्य हेतुतो

प्रपञ्चकी निवृत्ति होनेपर स्वस्थता मिलती है। अतः अद्वैतभाव ही इसका प्रयोजन है ।

द्वैतप्रपञ्च अविद्याजनित है इसलिये उसकी निवृत्ति विद्यासे ही हो सकती है । अतः ब्रह्मविद्याको प्रकाशित करनेके लिये ही इसका आरम्भ किया जाता है । "जहाँ द्वैतके समान होता है" "जहाँ भिन्नके समान हो वहीं कोई दूसरा दूसरेको देख सकता है अथवा दूसरा दूसरेको जानता है" "जहाँ इसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया है वहाँ यह किसके द्वारा किसे देखे ? और किसके द्वारा किसे जाने ?" इत्यादि श्रुतियोंसे इसी बातकी सिद्धि होती है ।

उन (चारों प्रकरणों) में पहला प्रकरण तो ओङ्कारके स्वरूपका निर्णय करनेके लिये है । वह आगम-(श्रुति) प्रधान और आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका उपायभूत है । रज्जुमें सर्पादि विकल्पकी निवृत्ति होनेपर जिस प्रकार रज्जुके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार जिस द्वैत-प्रपञ्चकी निवृत्ति होनेपर अद्वैत-तत्त्वका बोध होता है उसी द्वैतका-

वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकरणम् । तथाद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रसङ्गप्राप्तौ युक्तितस्तथात्वदर्शनाय तृतीयं प्रकरणम् । अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि तेषामन्योन्यविरोधित्वादतथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम् ।

युक्तिपूर्वक मिथ्यात्व प्रतिपादन करनेके लिये [वैतथ्यनामक] द्वितीय प्रकरण है । इसी प्रकार अद्वैतके भी मिथ्यात्वका प्रसङ्ग उपस्थित न हो जाय इसलिये युक्तिद्वारा उसका सत्यत्व प्रतिपादन करनेके लिये तृतीय (अद्वैत) प्रकरण है । तथा अद्वैतके सत्यत्व-निश्चयके विपक्षी जो अन्य अवैदिक मतान्तर हैं वे परस्पर विरोधी होनेके कारण मिथ्या हैं, अतः उन्हींकी युक्तियोंसे उनका खण्डन करनेके लिये चतुर्थ (अलातशान्ति) प्रकरण है ।

ओङ्कारस्य आत्मप्रतिपत्तिसाधनत्वम्

कथं पुनरोङ्कारनिर्णय आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रतिपद्यत इत्युच्यते—"ओमित्येतत्" (क० उ० १ । २ । १५) "एतदालम्बनम्" (क० उ० १ । २ । १७) "एतद्वै सत्यकाम" (प्र० उ० ५ । २) "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" (मैत्र्यु० ६ । ३) "ओमिति ब्रह्म" (तै० उ० १ । ८ । १) "ओङ्कार एवेदं सर्वम्" (छा० उ० २ । २३ । ३) इत्यादि श्रुतिभ्यः ।

ओङ्कारका निर्णय किस प्रकार आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका उपाय होता है, सो अब बतलाया जाता है—"ॐ यही [वह पद] है" "यही आलम्बन है" "हे सत्यकाम ! यह [जो ओङ्कार है वही पर और अपर ब्रह्म है]" "आत्माका ॐ इस प्रकार ध्यान करे" "ॐ यही ब्रह्म है" "यह सब ओङ्कार ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे यही बात जानी जाती है ।

ओङ्कारस्य सर्वास्पदत्वम्

रज्ज्वादिरिव सर्पादिविकल्पस्यास्पदोऽद्वय आत्मा परमार्थः सन्प्राणादिविकल्पस्या-

सर्पादि विकल्पकी अधिष्ठानभूत रज्जु आदिके समान जिस प्रकार अद्वितीय आत्मा परमार्थ सत्य होनेपर भी प्राणादि विकल्पका आश्रय

स्पदो यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मविकल्पविषय ओङ्कार एव । स चात्मस्वरूपमेव, तदभिधायकत्वात् । ओङ्कारविकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधानव्यतिरेकेण नास्ति । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) "तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्" "सर्वं हीदं नामनि" इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

अत आह—

है उसी प्रकार प्राणादि विकल्पको विषय करनेवाला सम्पूर्ण वाग्विलास ओंकार ही है । और वह (ओंकार) आत्माका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे उसका स्वरूप ही है । तथा ओंकारके विकाररूप शब्दोंके प्रतिपाद्य आत्माके विकल्परूप समस्त प्राणादि भी अपने प्रतिपादक शब्दोंसे भिन्न नहीं हैं, जैसा कि "विकार केवल वाणीका विलास और नाममात्र है" "उस ब्रह्मका यह सम्पूर्ण जगत् वाणीरूप सूत्रद्वारा नाममयी डोरीसे व्याप्त है" "यह सब नाममय ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

इसीलिये कहते हैं—

ॐ ही सब कुछ है

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है । यह जो कुछ भूत, भविष्यत् और वर्तमान है उसीकी व्याख्या है; इसलिये यह सब ओंकार ही है । इसके सिवा जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार ही है ॥ १ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति । यदिदमर्थजातमभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात्,

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है । यह अभिधेय (प्रतिपाद्य) रूप जितना पदार्थसमूह है वह अपने

अभिधानस्य चोङ्काराव्यतिरेकादोङ्कार एवेदं सर्वम् । परं च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमेव गम्यत इत्योङ्कार एव ।

अभिधान (प्रतिपादक) से अभिन्न होनेके कारण और सम्पूर्ण अभिधान भी ओंकारसे अभिन्न होनेके कारण यह सब कुछ ओंकार ही है । परब्रह्म भी अभिधान-अभिधेय (वाच्य-वाचक) रूप उपायके द्वारा ही जाना जाता है, इसलिये वह भी ओंकार ही है ।

तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम्; ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद्ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानं प्रस्तुतं वेदितव्यमिति वाक्यशेषः ।

यह जो परापर ब्रह्मरूप अक्षर ॐ है, उसका उपव्याख्यान—ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय होनेके कारण उसके समीपतासे स्पष्ट कथनका नाम उपव्याख्यान है—वही यहाँ प्रस्तुत जानना चाहिये । इस वाक्यमें 'प्रस्तुतं वेदितव्यम् (प्रस्तुत जानना चाहिये)' यह वाक्यशेष है ।

भूतं भवद्भविष्यदिति कालत्रयपरिच्छेद्यं यत्तदप्योङ्कार एवोक्तन्यायतः । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं कार्याधिगम्यं कालापरिच्छेद्यमव्याकृतादि तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालोंसे जो कुछ परिच्छेद्य है वह भी उपर्युक्त न्यायसे ओंकार ही है । इसके सिवा जो तीनों कालोंसे परे, अपने कार्यसे ही विदित होनेवाला और कालसे अपरिच्छेद्य अव्याकृत आदि है वह भी ओंकार ही है ॥ १ ॥

ओंकारवाच्य ब्रह्मकी सर्वात्मकता

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेऽप्यभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः । ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्यादि ।

वाचक और वाच्यका अभेद होनेपर भी वाचककी प्रधानतासे ही ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है

अभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः । इतरथा ह्यभिधानतन्त्राभिधेयप्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्का स्यात् । एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधेययोरेकेनैव प्रयत्नेन युगपत्प्रविलापयंस्तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्येतेति । तथा च वक्ष्यति "पादा मात्रा मात्राश्च पादाः" (मा० उ० ८) इति । तदाह—

इत्यादि रूपसे निर्देश किया गया है । वाचककी प्रधानतासे निर्दिष्ट वस्तुका फिर वाच्यकी प्रधानतासे किया हुआ निर्देश वाचक और वाच्यका एकत्व प्रतिपादन करनेके लिये है; अन्यथा वाच्यकी प्रतिपत्ति वाचकके अधीन होनेके कारण वाच्यका वाचकरूप होना गौण ही होगा—ऐसी आशंका हो सकती है । किन्तु वाच्य (ब्रह्म) और वाचक (ओंकार) की एकत्वप्रतिपत्तिका तो यही प्रयोजन है कि उन दोनोंको एक ही प्रयत्नसे एक साथ लीन करके उनसे विलक्षण ब्रह्मको प्राप्त किया जाय । ऐसा ही "पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही पाद हैं" इस श्रुतिसे कहेंगे भी । अब वही बात कहते हैं—

सर्वꣳ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

यह सब ब्रह्म ही है । यह आत्मा ही ब्रह्म है । वह यह आत्मा चार पादों (अंशों) वाला है ॥ २ ॥

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मेति । सर्वं यदुक्तमोङ्कारमात्रमिति तदेतद्ब्रह्म । तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्दिशति—अयमात्मा

यह सब ब्रह्म ही है । अर्थात् यह सब, जो ओंकारमात्र कहा गया है, ब्रह्म है । अबतक परोक्षरूपसे बतलाये हुए उस ब्रह्मको विशेषरूपसे प्रत्यक्षतया 'यह आत्मा ब्रह्म है'

ब्रह्मेति । अयमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयाभिनयेन निर्दिशति—अयमात्मेति । सोऽयमात्मोङ्काराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति । त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः । तुरीयस्य पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः ॥ २ ॥

ऐसा कहकर निर्देश करते हैं । यहाँ 'अयम्' शब्दद्वारा चतुष्पादरूपसे विभक्त किये जानेवाले आत्माको अपने अन्तरात्मस्वरूपसे अभिनय (अंगुलिनिर्देश) पूर्वक 'अयमात्मा ब्रह्म' ऐसा कहकर बतलाते हैं । ओंकार नामसे कहा जानेवाला तथा पर और अपररूपसे व्यवस्थित वह यह आत्मा कार्षापणके * समान चार पाद (अंश) वाला है, गौके समान नहीं । विश्व आदि तीन पादोंमेंसे क्रमशः पूर्व-पूर्वका लय करते हुए अन्तमें तुरीयब्रह्मकी उपलब्धि होती है । अतः पहले तीन पादोंमें 'पाद' शब्द करणवाच्य है और तुरीयमें 'जो प्राप्त किया जाय' इस प्रकार कर्मवाच्य है ॥२॥

कथं चतुष्पात्त्वमित्याह—

वह किस प्रकार चार पादोंवाला है सो बतलाते हैं—

आत्माका प्रथम पाद—वैश्वानर

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

जाग्रत्-अवस्था जिस [की अभिव्यक्ति] का स्थान है, जो बहिःप्रज्ञ (बाह्य विषयोंको प्रकाशित करनेवाला) सात अङ्गोंवाला, उन्नीस मुखोंवाला और स्थूल विषयोंका भोक्ता है वह वैश्वानर पहला पाद है ॥३॥

* किसी देशविशेषमें प्रचलित सिक्केका नाम कार्षापण है । यह सोलह पणका होता है । जिस प्रकार रुपयेमें चार चवन्नी अथवा सेरमें चार पौवे होते हैं उसी प्रकार उसमें चार पाद माने गये हैं ।

जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः । बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव ह्यविद्याकृतावभासत इत्यर्थः / तथा सप्ताङ्गान्यस्य "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो वस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ" (छा० उ० ५ । १८ । २) इत्यग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनाहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः ।

तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः, स एवंविशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन्स्थूलान्विषयान्भुङ्क्ते इति स्थूलभुक् । विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः ।

जाग्रत्-अवस्था जिसका स्थान है उसे जागरितस्थान कहते हैं । जिसकी अपनेसे भिन्न विषयोंमें प्रज्ञा है उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं अर्थात् जिसकी अविद्याकृत बुद्धि बाह्य विषयोंसे सम्बद्ध-सी भासती है । इसी प्रकार जिसके सात अङ्ग हैं अर्थात् "इस उस वैश्वानर आत्माका द्युलोक सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आकाश मध्यस्थान (देह) है, अन्न (अन्नका कारणरूप जल) ही मूत्र-स्थान है और पृथिवी ही चरण है" इस श्रुतिके अनुसार अग्निहोत्रकल्पनामें अङ्गभूत होनेके कारण आहवनीय अग्नि उसके मुखरूपसे बतलाया गया है । इस प्रकार जिसके सात अङ्ग हैं उसे ही सप्ताङ्ग कहते हैं ।

तथा जिसके उन्नीस मुख हैं, दश तो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राणादि वायु तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त—ये जिसके मुखके समान मुख अर्थात् उपलब्धि-के द्वार हैं, वह ऐसे विशेषणोंवाला वैश्वानर उपर्युक्त द्वारोंसे शब्द आदि स्थूल विषयोंको भोगता है इसलिये वह स्थूलभुक् है । सम्पूर्ण नरोंको [अनेक प्रकारकी योनियोंमें] नयन (वहन) करनेके कारण वह 'वैश्वानर' कहलाता है, अथवा वह विश्व

यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः। विश्वानर एव वैश्वानरः । सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात् स प्रथमः पादः। एतत्पूर्वकत्वादुत्तरपादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य ।

(समस्त) नररूप है इसलिये विश्वानर है । विश्वानर ही [स्वार्थमें तद्धित अण्प्रत्यय होनेसे] वैश्वानर कहलाता है । समस्त देहोंसे अभिन्न होनेके कारण वही पहला पाद है । परवर्ती पादोंका ज्ञान पहले इसका ज्ञान होनेपर ही होता है, इसलिये यह प्रथम है ।

कथमयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यङ्गत्वमिति ।

शङ्का—"अयमात्मा ब्रह्म" इस श्रुतिके अनुसार यहाँ प्रत्यगात्माको चार पादोंवाला बतलानेका प्रसङ्ग था । उसमें द्युलोकादिको उसके मूर्धा आदि अङ्गरूपसे कैसे बतलाने लगे ?

वैश्वानरस्य सप्ताङ्गत्वादिप्रतिपादने हेतुः

नैष दोषः । सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविकस्यानेनात्मना चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात् । एवं च सति सर्वप्रपञ्चोपशमेऽद्वैतसिद्धिः। सर्वभूतस्थश्चात्मैको दृष्टः स्यात् सर्वभूतानि चात्मनि। "यस्तु सर्वाणि भूतानि" (ई०उ० ६) इत्यादिश्रुत्यर्थ उपसंहृतश्चैवं स्यात् । अन्यथा हि स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस आत्माके द्वारा ही अधिदैवसहित सम्पूर्ण प्रपञ्चके चतुष्पात्त्वका प्रतिपादन करना इष्ट है । ऐसा होनेपर ही सारे प्रपञ्चके निषेधपूर्वक अद्वैतकी सिद्धि हो सकेगी । समस्त भूतोंमें स्थित एक आत्मा और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंका साक्षात्कार हो सकेगा और इसी प्रकार "जो सारे भूतोंको [आत्मामें ही देखता है]" इत्यादि श्रुतियोंके अर्थका उपसंहार हो सकेगा । नहीं तो सांख्यदर्शन आदिके समान अपने देहमें परिच्छिन्न अन्तरात्माका ही दर्शन होगा। ऐसा होनेपर

सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्, सांख्यादिदर्शनेनाविशेषात् । इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम् । अतो युक्तमेवास्याध्यात्मिकस्य पिण्डात्मनो द्युलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाधिदैविकेनैकत्वमभिप्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनम् । "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" (छा० उ० ५ । १२ । २) इत्यादिलिङ्गदर्शनाच्च ।

'अद्वैत है' इस श्रुतिप्रतिपादित विशेष भावकी सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि सांख्यादि दर्शनोंकी अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता नहीं रहेगी । परन्तु सम्पूर्ण उपनिषदोंको आत्माके एकत्वका प्रतिपादन तो इष्ट ही है । इसलिये इस आध्यात्मिक पिण्डात्माका द्युलोक आदिके अङ्गरूपसे आधिदैविक पिण्डात्माके साथ एकत्व प्रतिपादन करनेके अभिप्रायसे उसका सप्ताङ्गत्व प्रतिपादन उचित ही है । इसके सिवा [आत्माकी व्यस्तोपासनाके निन्दक] "तेरा शिर गिर जाता" आदि वाक्य भी इसमें हेतु हैं ।

विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृतात्मनोः । उक्तं चैतन्मधुब्राह्मणे "यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मम्" (बृ० उ० २ । ५ । १) इत्यादि । सुषुप्ताव्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव निर्विशेषत्वात् । एवं च सत्येतत्सिद्धं भविष्यति सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति ॥३॥

यहाँ जो विराट्के साथ एकत्व प्रतिपादन किया है वह हिरण्यगर्भ और अव्याकृतके एकत्वको उपलक्षित करानेके लिये है । मधुब्राह्मणमें ऐसा कहा भी है—"यह जो इस पृथिवीमें तेजोमय एवं अमृतमय पुरुष है तथा यह जो अध्यात्मपुरुष है [वे दोनों एक हैं]" इत्यादि । कोई विशेषता न रहनेके कारण सोये हुए पुरुष और अव्याकृतका एकत्व तो सिद्ध ही है । ऐसा होनेपर ही यह सिद्ध होगा कि सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्ति होनेपर अद्वैत ही है ॥ ३ ॥

आत्माका द्वितीय पाद—तैजस

स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥

स्वप्न जिसका स्थान है तथा जो अन्तःप्रज्ञ, सात अङ्गोंवाला, उन्नीस मुखवाला और सूक्ष्म विषयोंका भोक्ता है वह तैजस [इसका] दूसरा पाद है।

स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्य स्वप्नस्थानः। जाग्रत्प्रज्ञानेकसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते। तथा चोक्तम्—"अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय" (बृ० उ० ४।३।९) इति। तथा "परे देवे मनस्येकीभवति" (प्र० उ० ४।२) इति प्रस्तुत्य "अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति" (प्र० उ० ४।५) इत्याथर्वणे।

स्वप्न इस तैजसका स्थान है इसलिये यह स्वप्नस्थानवाला [कहा जाता] है। अनेक साधनवती जाग्रत्कालीना बुद्धि मनका स्फुरणमात्र होनेपर भी बाह्यविषयसम्बन्धिनी-सी प्रतीत होती हुई मनमें वैसा ही संस्कार उत्पन्न करती है। चित्रित वस्त्रके समान इस प्रकारके संस्कारोंसे युक्त हुआ वह मन अविद्या, कामना और कर्मके कारण बाह्यसाधनकी अपेक्षाके बिना ही प्रेरित होकर जाग्रत्-सा भासने लगता है। ऐसा ही कहा भी है—"इस सर्वसाधनसम्पन्न लोकके संस्कार ग्रहण करके [स्वप्न देखता है]" इत्यादि। तथा आथर्वणश्रुतिमें भी [समस्त इन्द्रियाँ] "परम (इन्द्रियादिसे उत्कृष्ट) देव (प्रकाशनशील) मनमें एकरूप हो जाती हैं" इस प्रकार प्रस्तावना कर कहा है "यहाँ—स्वप्नावस्थामें यह देव अपनी महिमाका अनुभव करता है।"

इन्द्रियापेक्षयान्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञा यस्येत्यन्तःप्रज्ञः। विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः। विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोज्यत्वम्। इह पुनः केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो भोग इति। समानमन्यत्। द्वितीयः पादस्तैजसः॥४॥

अन्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन अधिक अन्तःस्थ है, स्वप्नावस्थामें जिसकी प्रज्ञा उस (मन) की वासनाके अनुरूप रहती है उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं; वह अपनी विषयशून्य और केवल प्रकाशस्वरूप प्रज्ञाका विषयी (अनुभव करनेवाला) होनेके कारण 'तैजस' कहा जाता है। विश्व बाह्यविषययुक्त होता है, इसलिये जागरित अवस्थामें स्थूल प्रज्ञा उसकी भोज्य है। किन्तु तैजसके लिये केवल वासनामात्र प्रज्ञा भोजनीया है; इसलिये इसका भोग सूक्ष्म है। शेष अर्थ पहलेहीके समान है। यह तैजस ही दूसरा पाद है॥ ४॥

दर्शनादर्शनवृत्त्योस्तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य स्वापस्य तुल्यत्वात् सुषुप्तिग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादि विशेषणम्। अथ वा त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते—

[तत्त्वज्ञानका अभावरूप] स्वापावस्थाके दर्शन (जाग्रत्स्थान) और अदर्शन (स्वप्नस्थान) इन दोनों ही वृत्तियोंमें समान होनेके कारण सुषुप्ति अवस्थाको [उससे पृथक्] ग्रहण करनेके लिये 'यत्र सुप्तः' इत्यादि विशेषण दिये जाते हैं। अथवा तीनों ही अवस्थाओंमें तत्त्वका अज्ञानरूप निद्रा समान ही है इसलिये पहले दो स्थानोंसे सुषुप्तिका विभाग करते हैं—

आत्माका तृतीय पाद—प्राज्ञ

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥५॥

जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है उसे सुषुप्ति कहते हैं । वह सुषुप्ति जिसका स्थान है तथा जो एकभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय, आनन्दका भोक्ता और चेतनारूप मुखवाला है वह प्राज्ञ ही तीसरा पाद है॥५॥

यत्र यस्मिन्स्थाने काले वा सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति न कञ्चन कामं कामयते । न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवान्यथाग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते। तदेतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः ।

जहाँ यानी जिस स्थान अथवा समयमें सोया हुआ पुरुष न कोई स्वप्न देखता और न किसी भोगकी ही इच्छा करता है, क्योंकि सुषुप्तावस्थामें पहली दोनों अवस्थाओंके समान अन्यथा ग्रहणरूप स्वप्नदर्शन अथवा किसी प्रकारकी कामना नहीं होती, वह यह सुषुप्त अवस्था ही जिसका स्थान है उसे सुषुप्तस्थान कहते हैं ।

स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातं तथारूपापरित्यागेनाविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिवाहःसप्रपञ्चमेकीभूतमित्युच्यते । अत एव स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि

जिस प्रकार रात्रिके अन्धकारसे दिन आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों स्थानोंमें विभिन्न रूपसे प्रतीत होनेवाला मनका स्फुरणरूप द्वैतसमूह [इस अवस्थामें] प्रपञ्चके सहित अपने उस (विशिष्ट) स्वरूपका त्याग न कर अज्ञानसे आच्छादित हो जाता है; इसलिये इसे 'एकीभूत'

प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्थाविवेकरूपत्वात्प्रज्ञानघन उच्यते । यथा रात्रौ नैशेन तमसाविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्रज्ञानघन एव । एवशब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः ।

ऐसा कहा जाता है । अतः जिस अवस्थामें स्वप्न और जाग्रत्—ये मनके स्फुरणरूप प्रज्ञान घनीभूत-से हो जाते हैं, वह यह अवस्था अविवेक-रूपा होनेके कारण प्रज्ञानघन कही जाती है । जिस प्रकार रात्रिमें रात्रिके अन्धकारसे पृथक्त्वकी प्रतीति न होनेके कारण सम्पूर्ण प्रपञ्च घनीभूत-सा जान पड़ता है उसी प्रकार यह प्रज्ञानघन ही है । 'एव' शब्दसे यह तात्पर्य है कि उस समय प्रज्ञानके सिवा कोई अन्य जाति नहीं रहती ।

मनसो विषयविषय्याकारस्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नानन्द एव । अनात्यन्तिकत्वात् । यथा लोके निरायासस्थितः सुख्यानन्दभुगुच्यते, अत्यन्तानायासरूपा हीयं स्थितिरतेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्, "एषोऽस्य परम आनन्दः" (बृ० उ० ४ । ३ । ३२) इति श्रुतेः ।

मनका जो विषय और विषयी-रूपसे स्फुरित होनेके आयासका दुःख है उसका अभाव होनेके कारण यह आनन्दमय अर्थात् आनन्दबहुल है; केवल आनन्दमात्र ही नहीं है, क्योंकि इस अवस्थामें आनन्दकी आत्यन्तिकता नहीं है; जिस प्रकार लोकमें अनायासरूपसे स्थित पुरुष सुखी या आनन्द भोग करनेवाला कहा जाता है, उसी प्रकार, क्योंकि इस अवस्थामें यह आत्मा इस अत्यन्त अनायासरूपा स्थितिका अनुभव करता है, इसलिये यह आनन्दभुक् कहा जाता है; जैसा कि "यह इसका परम आनन्द है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

स्वप्नादिप्रतिबोधचेतः प्रति द्वारीभूतत्वाच्चेतोमुखः । बोधलक्षणं वा चेतो द्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुखः। भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषयज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः।सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते। अथवा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासाधारणं रूपमिति प्राज्ञः, इतरयोर्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति। सोऽयं प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

स्वप्नादिज्ञानरूप चेतनाके प्रति द्वारस्वरूप होनेके कारण यह चेतोमुख है । अथवा स्वप्नादिकी प्राप्तिके लिये ज्ञानस्वरूप चित्त ही इसका द्वार यानी मुख है, इसलिये यह चेतोमुख है । भूत-भविष्यत्का तथा सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञाता यही है, इसलिये यह प्राज्ञ है । सुषुप्त होनेपर भी इसे भूतपूर्वगतिसे 'प्राज्ञ' कहा जाता है । अथवा केवल प्रज्ञप्ति (ज्ञान) मात्र इसीका असाधारणरूप है, इसलिये यह प्राज्ञ है, क्योंकि दूसरोंको (विश्व और तैजसको) तो विशिष्ट विज्ञान भी होता है । वह यह प्राज्ञ ही तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

प्राज्ञका सर्वकारणत्व

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥६॥

यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और समस्त जीवोंकी उत्पत्ति तथा लयका स्थान होनेके कारण यह सबका कारण भी है ॥ ६ ॥

एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता नैतस्माज्ज्ञात्यन्तरभूतोऽन्येषामिव । "प्राणबन्धनं हि

अपने स्वरूपमें स्थित यह (प्राज्ञ) ही सर्वेश्वर है, अर्थात् अधिदैवके सहित सम्पूर्ण भेदसमूहका ईश्वर—ईशन (शासन) करनेवाला है । 'हे सोम्य ! यह मन (जीव) प्राण

सोम्य मनः" (छा० उ० ६ । ८ । २) इति श्रुतेः । अयमेव हि सर्वस्य-सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञः । एषोऽन्तर्याम्यन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताप्येष एव । अत एव यथोक्तं सभेदं जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य । यत एवं प्रभवश्चाप्ययश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानामेष एव ॥ ६

(प्राणसंज्ञक ब्रह्म) रूप बन्धनवाला है" इस श्रुतिसे अन्य मतावलम्बियों-के सिद्धान्तानुसार [सर्वज्ञ परमेश्वर] इस प्राज्ञसे कोई विजातीय पदार्थ नहीं है । सम्पूर्ण भेदमें स्थित हुआ यही सबका ज्ञाता है; इसलिये यह सर्वज्ञ है । [अतएव] यह अन्तर्यामी है अर्थात् समस्त प्राणियों-के भीतर अनुप्रविष्ट होकर उनका नियमन करनेवाला भी यही है । इसीसे पूर्वोक्त भेदके सहित सारा जगत् उत्पन्न होता है; इसलिये यही सबका कारण है । क्योंकि ऐसा है इसलिये यही समस्त प्राणियोंका उत्पत्ति और लयस्थान भी है ॥ ६ ॥

एक ही आत्माके तीन भेद

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक हैं—

अत्रैतस्मिन् यथोक्तेऽर्थ एते श्लोका भवन्ति—

यहाँ इस पूर्वोक्त अर्थमें ये श्लोक हैं—

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥ १ ॥

विभु विश्व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्रज्ञ है तथा प्राज्ञ घनप्रज्ञ (प्रज्ञानघन) है । इस प्रकार एक ही आत्मा तीन प्रकारसे कहा जाता है ॥ १ ॥

बहिष्प्रज्ञ इति । पर्यायेण त्रिस्थानत्वात्सोऽहमिति स्मृत्या

बहिष्प्रज्ञ इत्यादि । इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि क्रमशः तीन

प्रतिसन्धानाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गत्वं च सिद्धमित्यभिप्रायः। महामत्स्यादिदृष्टान्तश्रुतेः ॥ १ ॥

स्थानोंवाला होनेसे और 'मैं वही हूँ' इस प्रकारकी स्मृतिद्वारा अनुसन्धान किया जानेके कारण आत्माका तीनों स्थानोंसे पृथक्त्व, एकत्व, शुद्धत्व और असङ्गत्व सिद्ध होता है, जैसा कि महामत्स्यादि दृष्टान्तका वर्णन करनेवाली श्रुति * बतलाती है ॥ १ ॥

विश्वादिके विभिन्न स्थान

जागरितावस्थायामेव विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकः—

जाग्रत्-अवस्थामें ही विश्व आदि तीनोंका अनुभव दिखलानेके लिये यह श्लोक कहा जाता है—

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥ २ ॥

दक्षिणनेत्ररूप द्वारमें विश्व रहता है, तैजस मनके भीतर रहता है, प्राज्ञ हृदयाकाशमें उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह [एक ही आत्मा] शरीरमें तीन प्रकारसे स्थित है ॥ २ ॥

दक्षिणमक्ष्येव मुखं तस्मिन् प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते। "इन्धो ह वै नामैष

दक्षिण नेत्र ही मुख (उपलब्धिका स्थान) है; उसीमें प्रधानतासे स्थूल पदार्थोंके साक्षी विश्वका अनुभव होता है। यह जो दक्षिण

* जिस प्रकार किसी नदीमें रहनेवाला कोई बलवान् मत्स्य उसके प्रवाहसे विचलित न होकर उसके दोनों तटोंपर आता-जाता रहता है; किन्तु उन तटोंसे पृथक् होनेके कारण उनके गुण-दोषोंसे युक्त नहीं होता तथा जिस प्रकार कोई बड़ा पक्षी आकाशमें स्वच्छन्दगतिसे उड़ता रहता है उसी प्रकार स्वप्न और जाग्रत् दोनों स्थानोंमें सञ्चार करनेवाला आत्मा एक, असङ्ग और शुद्ध है-ऐसा मानना उचित ही है। (देखिये बृ० उ० ४। ३। १८-१९)

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः' (बृ० उ० ४ । २ । २) इति श्रुतेः । इन्धो दीप्तिगुणो वैश्वानरः । आदित्यान्तर्गतो वैराज आत्मा चक्षुषि च द्रष्टैकः ।

नन्वन्यो हिरण्यगर्भः क्षेत्रज्ञो दक्षिणेऽक्षण्यक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देहस्वामी ।

न, स्वतो भेदानभ्युपगमात् । "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वे० उ० ६ । ११) इति श्रुतेः । "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" (गीता १३ । २) "अविभक्तं च भूतेषु विभक्त-मिव च स्थितम्" (गीता १३ । १६) इति स्मृतेः । सर्वेषु करणेष्वविशेषेऽपि दक्षिणाक्षण्युपलब्धिपाटवदर्शनात्तत्र विशेषेण निर्देशो विश्वाय ।

दक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षस्तदेव स्मरन्मनस्यन्तः-

नेत्रमें स्थित पुरुष है 'इन्ध[१]' नामसे प्रसिद्ध है" इस श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है । दीप्तिगुणविशिष्ट वैश्वानरको 'इन्ध' कहते हैं । आदित्यान्तर्गत वैराजसंज्ञक आत्मा और नेत्रोंमें स्थित साक्षी—ये दोनों एक ही हैं ।

शङ्का—हिरण्यगर्भ अन्य है तथा दक्षिण नेत्रमें स्थित नेत्रेन्द्रियका नियन्ता और साक्षी देहका स्वामी क्षेत्रज्ञ अन्य है । [उन दोनोंकी एकता कैसे हो सकती है ?]

समाधान—नहीं [ऐसी बात नहीं है], क्योंकि उनका स्वाभाविक भेद नहीं माना गया, क्योंकि "सम्पूर्ण भूतोंमें एक ही देव छिपा हुआ है" इस श्रुतिसे तथा "हे भारत ! समस्त क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान" "[वह वस्तुतः] विभक्त न होकर भी विभक्तके समान स्थित है" इत्यादि स्मृतियोंसे भी [यही बात सिद्ध होती है] । सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें समानरूपसे स्थित होनेपर भी दक्षिण नेत्रमें उसकी उपलब्धिकी स्पष्टता देखनेसे वहीं विश्वका विशेषरूपसे निर्देश किया जाता है ।

दक्षिणनेत्रस्थित जीवात्मा रूपको देखकर फिर नेत्र मूँद मनमें

१- जो जागरित अवस्थामें स्थूल पदार्थोंका भोक्ता होनेके कारण इद्ध—दीप्त होता है ।

स्वप्न इव तदेव वासनारूपाभिव्यक्तं पश्यति । यथात्र तथा स्वप्ने । अतो मनस्यन्तस्तु तैजसोऽपि विश्व एव ।

आकाशे च हृदि स्मरणाख्यव्यापारोपरमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति; मनोव्यापाराभावात् । दर्शनस्मरणे एव हि मनःस्पन्दिते; तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनावस्थानम् । "प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते" (छा० उ० ४ । ३ । ३) इति श्रुतेः । तैजसो हिरण्यगर्भो मनःस्थत्वात् । "लिङ्गं मनः" (बृ० उ० ४ । ४ । ६) । "मनोमयोऽयं पुरुषः" (बृ० उ० ५ । ६ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

उसीका स्मरण करता हुआ वासनारूपसे अभिव्यक्त उसी रूपका स्वप्नमें उपलब्धकी तरह दर्शन करता है । जिस प्रकार इस अवस्थामें होता है, ठीक वैसा ही स्वप्नमें होता है । [इसलिये यह जाग्रत्‌में स्वप्न ही है] अतः मनके भीतर स्थित तैजस भी विश्व ही है ।

तथा स्मरणरूप व्यापारके निवृत्त हो जानेपर हृदयाकाशमें स्थित प्राज्ञ मनोव्यापारका अभाव हो जानेके कारण एकीभूत और घनप्रज्ञ ही हो जाता है । दर्शन और स्मरण ही मनके स्फुरण हैं, उनका अभाव हो जानेपर जो जीवका हृदयके भीतर ही निर्विशेष प्राणरूपसे स्थित होना है [वही जाग्रत्‌में सुषुप्ति है] । "प्राण ही इन सबको अपनेमें लीन कर लेता है" इस श्रुतिसे यही प्रमाणित होता है । मनःस्थित होनेके कारण तैजस ही हिरण्यगर्भ है ।* "[सत्रह अवयववाला] लिङ्गरूप मन" "यह पुरुष[1] मनोमय है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी [तैजस और हिरण्यगर्भकी एकता सिद्ध होती है] ।

* क्योंकि तैजसकी उपाधि व्यष्टि मन है और हिरण्यगर्भकी समष्टि मन तथा समष्टि-व्यष्टिका परस्पर अभेद है ।

१- यहाँ हिरण्यगर्भको ही 'पुरुष' कहा गया है ।

ननु व्याकृतः प्राणः सुषुप्ते । तदात्मकानि करणानि भवन्ति । कथमव्याकृतता ?

शङ्का—सुषुप्तिमें भी प्राण तो व्याकृत (विशेषभावापन्न) ही होता है* तथा ['प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते' इस श्रुतिके अनुसार] इन्द्रियाँ भी प्राणरूप ही हो जाती हैं । फिर उसकी अव्याकृतता कैसे कही गयी ?

सुषुप्तौ प्राणानाम् अव्याकृतत्वम्

नैष दोषः, अव्याकृतस्य देशकालविशेषाभावात् । यद्यपि प्राणाभिमाने सति व्याकृततैव प्राणस्य तथापि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भवतीत्यव्याकृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानवताम् ।

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अव्याकृत पदार्थमें देश-कालरूप विशेष भावका अभाव होता है । यद्यपि [जैसा कि स्वप्नावस्थामें होता है] प्राणका अभिमान रहते हुए तो उसकी व्याकृतता है ही तथापि सुषुप्तावस्थामें प्राणमें पिण्डपरिच्छिन्न-विशेषका अभिमान [अर्थात् यह मेरे शरीरसे परिच्छिन्न प्राण है—ऐसा अभिमान] नहीं रहता; अतः परिच्छिन्नदेहाभिमानियोंके लिये भी उस समय वह अव्याकृत ही है ।

यथा प्राणलये परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणोऽव्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापत्तावव्याकृतता समाना प्रसवबीजात्मकत्वं च तदध्यक्षश्चैकोऽव्याकृता-

जिस प्रकार प्राणका लय [अर्थात् मृत्यु] होनेपर परिच्छिन्न देहाभिमानियोंका प्राण अव्याकृतरूपमें रहता है उसी प्रकार प्राणाभिमानियों-को भी प्राणकी अविशेषता प्राप्त होनेपर उसकी अव्याकृतता और प्रसव-बीजरूपता वैसी ही है । अतः [अव्याकृत और सुषुप्ति] इन दोनों

* क्योंकि सोये हुए पुरुषके पास बैठे हुए लोगोंको वह ऐसा ही दिखायी देता है ।

वस्थः । परिच्छिन्नाभिमानिना-मध्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतः प्रज्ञान-घन इत्याद्युपपन्नम् । तस्मिन्नुक्त-हेतुत्वाच्च ।

कथं प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य । "प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" (छा० उ० ६ । ८ । २) इति श्रुतेः ।

ननु तत्र "सदेव सोम्य" (छा० उ० ६ । २ । १) इति प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम् ।

प्राणशब्दस्य बीजब्रह्म-परत्वम्

नैष दोषः, बीजात्मकत्वाभ्युपगमात्सतः । यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं तत्र तथापि जीवप्रसव-बीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दत्वं सतः सच्छब्द-वाच्यता च । यदि हि निर्बीजरूपं विवक्षितं ब्रह्माभविष्यत् "नेति

अवस्थाओंका साक्षी भी अव्याकृत अवस्थामें रहनेवाला एक ही [चेतन आत्मा] है । परिच्छिन्न देहोंके अभिमानी और उनके साक्षियोंकी उसके साथ एकता है; अतः [प्राज्ञके लिये] 'एकीभूतः प्रज्ञानघनः' आदि पूर्वोक्त विशेषण उचित ही है; विशेषतः इसलिये भी, क्योंकि इसमें [अधिदैव, अव्याकृत और अध्यात्म प्राज्ञकी एकतारूप] उपर्युक्त हेतु भी विद्यमान है ।

शङ्का—किन्तु अव्याकृत 'प्राण' शब्दवाच्य कैसे हुआ ?

समाधान—"हे सोम्य ! मन प्राणके ही अधीन है" इस श्रुतिके अनुसार ।

शङ्का—किन्तु वहाँ तो "सदेव सोम्य" इस श्रुतिके अनुसार प्रसङ्ग-प्राप्त सद्ब्रह्म ही 'प्राण' शब्दका वाच्य है ।

समाधान—वहाँ यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि [उस प्रसङ्गमें] सद्ब्रह्मकी बीजात्मकता स्वीकार की है । यद्यपि वहाँ 'प्राण' शब्दका वाच्य सद्ब्रह्म है तथापि जीवोंकी उत्पत्तिकी बीजात्मकताका त्याग न करते हुए ही उस सद्ब्रह्ममें प्राणशब्दत्व और 'सत्' शब्दका वाच्यत्व माना गया है । यदि वहाँ

नेति" (बृ० उ० ४ । ४ । २ । २, ४ । ५ । १५) "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ९) "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्" (के० उ० १ । ३) इत्यवक्ष्यत "न सत्तन्नासदुच्यते" (गीता १३ । १२) इति स्मृतेः ।

निर्बीजतयैव चेत्सति लीनानां सुषुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात् । मुक्तानां च पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः, बीजाभावाविशेषात् । ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः । तस्मात्सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशः सर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः ।

'सत्' शब्दसे निर्बीजब्रह्म कहना इष्ट हो तो उसे "यह नहीं है, यह नहीं है" "जहाँसे वाणी लौट आती है" "वह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी ऊपर है" इत्यादि प्रकारसे कहा जायगा, जैसा कि "वह न सत् कहा जाता है और न असत्" इस स्मृतिसे भी सिद्ध होता है ।

और यदि वहाँ ['सत्' शब्दसे] ब्रह्मका निर्बीजरूपसे ही निर्देश करना इष्ट हो तो सुषुप्ति और प्रलय (मरण) अवस्थामें सत्‌में लीन हुए पुरुषोंका फिर उठना [अर्थात् उत्पन्न होना] सम्भव नहीं होगा तथा मुक्त पुरुषोंके पुनः उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा,* क्योंकि [मुक्त और सत्‌में लीन हुए पुरुषोंमें] बीजत्वका अभाव समान ही है । तथा ज्ञानसे दग्ध होनेवाले बीजका अभाव होनेपर ज्ञानकी व्यर्थताका भी प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । अतः सद्ब्रह्मकी सबीजता स्वीकार करके ही उसका प्राणरूपसे समस्त श्रुतियोंमें कारणरूपसे उल्लेख किया गया है ।

---

* क्योंकि निर्बीज ब्रह्ममें लीन हुए मुक्तोंका पुनर्जन्म माना नहीं गया और यदि उस अवस्थामें भी पुनर्जन्म स्वीकार किया जाय तो मुक्ति हो जानेके बाद भी पुनर्जन्म मानना पड़ेगा ।

अत एव "अक्षरात्परतः परः" (मु० उ० २ । १ । २)। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २ । १ । २) । "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ९) । "नेति नेति" (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादिना बीजवत्त्वापनयनेन व्यपदेशः । तामबीजावस्थां तस्यैव प्राज्ञशब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादिसंबन्धजाग्रदादिरहितां पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति । बीजावस्थापि न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य प्रत्ययदर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति त्रिधा देहे व्यवस्थित इत्युच्यते।२।

इसीलिये "वह पर अक्षरसे भी पर है" "वह बाह्य (कार्य) और अभ्यन्तर (कारण) के सहित [उनका अधिष्ठान होनेके कारण] अजन्मा है" "जहाँसे वाणी लौट आती है" "यह नहीं है यह नहीं है" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा शुद्ध ब्रह्मका निर्देश बीजवत्त्वका निरास करके ही किया गया है । उस 'प्राज्ञ' शब्दवाच्य जीवकी, देहादिसम्बन्ध तथा जाग्रत् आदि अवस्थासे रहित, उस पारमार्थिकी अबीजावस्थाका तुरीयरूपसे अलग वर्णन करेंगे । बीजावस्थामें भी जाग्रत् होनेपर 'मुझे कुछ भी पता नहीं रहा' ऐसी प्रतीति देखनेसे शरीरमें अनुभव होता ही है । इसीसे 'वह देहमें तीन प्रकारसे स्थित है' ऐसा कहा गया है ॥२॥

विश्वादिका त्रिविध भोग

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥ ३ ॥

विश्व सर्वदा स्थूल पदार्थोंको ही भोगनेवाला है, तैजस सूक्ष्म पदार्थोंका भोक्ता है तथा प्राज्ञ आनन्दको भोगनेवाला है; इस प्रकार इनका तीन तरहका भोग जानो ॥ ३ ॥

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥ ४ ॥

स्थूल पदार्थ विश्वको तृप्त करता है, सूक्ष्म तैजसकी तृप्ति करनेवाला है तथा आनन्द प्राज्ञकी, इस प्रकार इनकी तृप्ति भी तीन तरहकी समझो ॥ ४ ॥

उक्तार्थौ श्लोकौ ॥ ३-४ ॥

इन दोनों श्लोकोंका अर्थ कहा जा चुका है ॥ ३-४ ॥

त्रिविध भोक्ता और भोग्यके ज्ञानका फल

त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः ।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुञ्जानो न लिप्यते ॥ ५ ॥

[जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—इन] तीनों स्थानोंमें जो भोज्य और भोक्ता बतलाये गये हैं—इन दोनोंको जो जानता है, वह [भोगोंको] भोगते हुए भी उनसे लिप्त नहीं होता ॥ ५ ॥

त्रिषु धामसु जाग्रदादिषु स्थूलप्रविविक्तानन्दाख्यं भोज्यमेकं त्रिधाभूतम् । यश्च विश्वतैजसप्राज्ञाख्यो भोक्तैकः सोऽहमित्येकत्वेन प्रतिसन्धानाद्द्रष्टृत्वाविशेषाच्च प्रकीर्तितः; यो वेदैतदुभयं भोज्यभोक्तृतयानेकधा भिन्नं स भुञ्जानो न लिप्यते; भोज्यस्य सर्वस्यैकस्य भोक्तुर्भोज्यत्वात् । न हि यस्य यो विषयः

जाग्रत् आदि तीन स्थानोंमें जो स्थूल, सूक्ष्म और आनन्दसंज्ञक तीन भेदोंमें बँटा हुआ एक ही भोज्य है और 'वह मैं हूँ' इस प्रकार एकरूपसे अनुसन्धान किये जाने तथा द्रष्टृत्वमें कोई विशेषता न होनेके कारण विश्व, तैजस और प्राज्ञनामक जो एक ही भोक्ता बतलाया गया है—इस प्रकार भोज्य और भोक्तारूपसे अनेक प्रकार विभिन्न हुए इन दोनों (भोक्ता और भोज्यको जो जानता है वह भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता, क्योंकि समस्त भोज्य एक ही भोक्ताका भोग है । जैसे अग्नि अपने विषय काष्ठादिको जलाकर [न्यूनाधिक नहीं होता । अपने स्वरूपमें

स तेन हीयते वर्धते वा; न ह्यग्निः स्वविषयं दग्ध्वा काष्ठादि तद्वत् ॥ ५ ॥

सदा समान रहता है] उसी प्रकार जिसका जो विषय होता है वह उस विषयके कारण ह्रास अथवा वृद्धिको प्राप्त नहीं होता ॥ ५ ॥

प्राण ही सबकी सृष्टि करता है

प्रभवः सर्वभावानां सतामिति विनिश्चयः ।
सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशून्पुरुषः पृथक् ॥ ६ ॥

यह सुनिश्चित बात है कि जो पदार्थ विद्यमान होते हैं उन्हीं सबकी उत्पत्ति हुआ करती है । बीजात्मक प्राण ही सबकी उत्पत्ति करता है और चेतनात्मक पुरुष चैतन्यके आभासभूत जीवोंको अलग-अलग प्रकट करता है ॥ ६ ॥

सतां विद्यमानानां स्वेनाविद्याकृतनामरूपमायास्वरूपेण सर्वभावानां विश्वतैजसप्राज्ञभेदानां प्रभव उत्पत्तिः । वक्ष्यति च—"वन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते" इति । यदि ह्यसतामेव जन्म स्याद्ब्रह्मणोऽव्यवहार्यस्य ग्रहणद्वाराभावादसत्त्वप्रसङ्गः । दृष्टं च रज्जुसर्पादीनामविद्याकृतमायाबीजोत्पन्नानां रज्ज्वाद्यात्मना सत्त्वम् । न हि निरास्पदा रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादयः क्वचिदुपलभ्यन्ते

सत् अर्थात् अपने अविद्याकृत नामरूपात्मक मायिक स्वरूपसे विद्यमान विश्व, तैजस और प्राज्ञ भेदवाले सम्पूर्ण पदार्थोंकी उत्पत्ति हुआ करती है । आगे (प्रक० ३ का० २८ में) यह कहेंगे भी कि "वन्ध्यापुत्र न तो वस्तुतः और न मायासे ही उत्पन्न होता है ।" यदि असत् (स्वरूपसे अविद्यमान) पदार्थोंकी ही उत्पत्ति हुआ करती तो अव्यवहार्य ब्रह्मको ग्रहण करनेका कोई मार्ग न रहनेसे उसकी असत्ताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता । अविद्याकृत मायामय बीजसे उत्पन्न हुए रज्जुसर्पादिकी भी रज्जु आदिरूपसे सत्ता देखी गयी है

केनचित् । यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्ते रज्ज्वात्मना सर्पः सन्नेवासीत्, एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक्प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम् । इत्यतः श्रुतिरपि वक्ति—"ब्रह्मैवेदम्" (मु० उ० २।२।११) "आत्मैवेदमग्र आसीत्" (बृ० उ० १।४।१) इति ।

किसी भी पुरुषने निराश्रय रज्जुसर्प अथवा मृगतृष्णा आदि कभी नहीं देखे । जिस प्रकार सर्पकी उत्पत्तिसे पूर्व वह रज्जुमें रज्जुरूपसे सत् ही था उसी प्रकार समस्त पदार्थ अपनी उत्पत्तिसे पूर्व प्राणात्मक बीजरूपसे सत् ही थे । इसीसे श्रुति भी कहती है—"यह ब्रह्म ही है" "पहले यह आत्मा ही था" इत्यादि ।

सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशूनंशव इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा जलार्कसमाः प्राज्ञतैजसविश्वभेदेन देवतिर्यगादिदेहभेदेषु विभाव्यमानाश्चेतोंऽशवो येतान्पुरुषः पृथग्विषयभावविलक्षणानग्निविस्फुलिङ्गवत् सलक्षणाञ्जलार्कवच्च जीवलक्षणांस्त्वितरान् सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति "यथोर्णनाभिः" (मु० उ० १।१।७) "यथाग्नेः क्षुद्राविस्फुलिङ्गाः" (बृ० उ० २।१।२०) इत्यादिश्रुतेः ॥६॥

सब पदार्थोंको [बीजरूप] प्राण ही उत्पन्न करता है । तथा जो जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान देव, मनुष्य और तिर्यगादि विभिन्न शरीरोंमें प्राज्ञ, तैजस एवं विश्वरूपसे भासमान चिदात्मक पुरुषके किरणरूप चिदाभास हैं, उन विषयभावसे विलक्षण तथा अग्निकी चिनगारी और जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान सजातीय जीवोंको पुरुष अलग ही उत्पन्न करता है । उनके सिवा अन्य समस्त पदार्थोंको बीजात्मक प्राण उत्पन्न करता है, जैसा कि "जिस प्रकार मकड़ी [जाला बनाती है]" तथा "जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

सृष्टिके विषयमें भिन्न-भिन्न विकल्प

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ ७ ॥

सृष्टिके विषयमें विचार करनेवाले दूसरे लोग भगवान्‌की विभूतिको ही जगत्‌की उत्पत्ति मानते हैं तथा दूसरे लोगोंद्वारा यह सृष्टि स्वप्न और मायाके समान मानी गयी है ॥ ७ ॥

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थः । "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २ । ५ । १९) इति श्रुतेः । न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृतमायादिसतत्त्वचिन्तायामादरो भवति । तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासस्तदारूढमायाविसमश्च तत्स्थः

यह सृष्टि ईश्वरकी विभूति यानी उसका विस्तार है—ऐसा सृष्टिके विषयमें विचार करनेवाले लोग मानते हैं । तात्पर्य यह है कि परमार्थ-चिन्तन करनेवालोंका सृष्टिके विषयमें आदर नहीं होता; जैसा कि "इन्द्र- (परमात्मा) मायासे अनेक रूपवाला हो जाता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, [केवल बहिर्मुख पुरुष ही उसकी उत्पत्तिके विषयमें तरह-तरहकी कल्पना किया करते हैं] । आकाशमें सूत फेंककर उसपर शस्त्रोंसहित आरूढ़ हो नेत्रेन्द्रियकी पहुँचसे परे जाकर युद्धके द्वारा अनेकों टुकड़ोंमें विभक्त होकर गिरे हुए मायावीको पुनः उठता देखनेवाले पुरुषोंको उसकी रची हुई माया आदिके स्वरूपके चिन्तनमें आदर नहीं होता । उस मायावीके सूत्र-विस्तारके समान ही ये सुषुप्ति एवं स्वप्नादिके विकास हैं; तथा उस (सूत्र) पर चढ़े हुए मायावीके समान ही उन (सुषुप्ति आदि

प्राज्ञतैजसादिः। सूत्रतदारूढाभ्यामन्यः परमार्थमायावी स एव भूमिष्ठो मायाच्छन्नोऽदृश्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम्। अतस्तच्चिन्तायामेवादरो मुमुक्षूणामार्याणां न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह—स्वप्नमायासरूपेति। स्वप्नरूपा मायासरूपा चेति ॥७॥

अवस्थाओं) में स्थित प्राज्ञ एवं तैजस आदि हैं। किन्तु वास्तविक मायावी तो सूत्र और उसपर चढ़े हुए मायावीसे भिन्न है और वही जैसे मायासे आच्छादित रहनेके कारण दिखलायी न देता हुआ ही पृथिवीपर स्थित रहता है वैसा ही तुरीयसंज्ञक परमार्थ तत्त्व भी है। अतः मोक्षकामी आर्य पुरुषोंका उसीके चिन्तनमें आदर होता है। प्रयोजनहीन सृष्टिमें उनका आदर नहीं होता। अतः ये सब विकल्प सृष्टिका चिन्तन करनेवालोंके ही हैं; इसीसे कहा है—'स्वप्नमायासरूपा इति' अर्थात् [दूसरे इसे] स्वप्नरूपा और मायारूपा [बतलाते हैं] ॥७॥

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः ॥ ८ ॥

कोई-कोई सृष्टिके विषयमें ऐसा निश्चय रखते हैं कि 'प्रभुकी इच्छा ही सृष्टि है।' तथा कालके विषयमें विचार करनेवाले [ज्योतिषी लोग] कालसे ही जीवोंकी उत्पत्ति मानते हैं ॥ ८ ॥

इच्छामात्रं प्रभोः सत्यसंकल्पत्वात्सृष्टिर्घटादिः संकल्पनामात्रं न संकल्पनातिरिक्तम्। कालादेव सृष्टिरिति केचित् ॥ ८ ॥

भगवान् सत्यसंकल्प हैं; अतः घटादिकी सृष्टि प्रभुका संकल्पमात्र है—उनके संकल्पसे भिन्न नहीं है। तथा कोई-कोई 'सृष्टि कालहीसे हुई है' ऐसा कहते हैं ॥ ८ ॥

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ ९ ॥

कुछ लोग 'सृष्टि भोगके लिये है' ऐसा मानते हैं और कुछ 'क्रीडाके लिये है' ऐसा समझते हैं । [परन्तु वास्तवमें तो] यह भगवान्‌का स्वभाव ही है; क्योंकि पूर्णकामको इच्छा ही क्या हो सकती है ? ॥ ९ ॥

भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये सृष्टिं मन्यन्ते । अनयोः पक्षयोर्दूषणं देवस्यैष स्वभावोऽयमिति देवस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य, सर्वेषां वा पक्षाणामाप्तकामस्य का स्पृहेति । न हि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम् ॥ ९ ॥

दूसरे लोग सृष्टिको 'यह भोगार्थ अथवा क्रीडार्थ है'—ऐसा मानते हैं । 'देवस्यैष स्वभावोऽयम्' इस वाक्यसे देवके स्वभावपक्षका आश्रय लेकर इन दोनों पक्षोंको दोषयुक्त बतलाते हैं । अथवा 'आप्तकामस्य का स्पृहा' यह चौथा पाद सभी पक्षोंको दोषयुक्त बतलानेवाला है; क्योंकि अविद्यारूप अपने स्वभावके बिना रज्जु आदिका सर्पादिकी अभिव्यक्तिमें कारणत्व नहीं बतलाया जा सकता ॥ ९ ॥

चतुर्थ पादका विवरण

चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याह—नान्तःप्रज्ञमित्यादिना । सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति

अब क्रमसे प्राप्त हुआ चौथा पाद भी बतलाना है, अतः यही बात 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि मन्त्रसे कहते हैं । वह (चौथा पाद) सम्पूर्ण शब्दप्रवृत्तिके निमित्तसे रहित है, अतः शब्दसे उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । इसलिये श्रुति [अन्तःप्रज्ञत्व आदि] विशेष भावका

विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति ।

शून्यमेव तर्हि तत् ।

न; मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः । न हि रजतसर्पपुरुषमृगतृष्णिकादिविकल्पाःशुक्तिकारज्जुस्थाणूषरादिव्यतिरेकेणावस्त्वास्पदाः शक्याः कल्पयितुम् ।

एवं तर्हि प्राणादि सर्वविकल्पास्पदत्वात्तुरीयस्य शब्दवाच्यत्वम् इति न प्रतिषेधैः प्रत्याय्यत्वम् । उदकाधारादेरिव घटादेः ।

न; प्राणादिविकल्पस्यासत्त्वाच्छुक्तिकादिष्विव रजतादेः । न हि सदसतोः सम्बन्धः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभागवस्तुत्वात् । नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवत्; आत्मनो निरुपाधिकत्वात् । गवादिवन्नापि जाति-

प्रतिषेध करके ही उस तुरीयका निर्देश करनेमें प्रवृत्त होती है ।

पूर्व०—तब तो वह शून्यरूप ही हुआ ।

सिद्धान्ती—नहीं; क्योंकि मिथ्या विकल्पका बिना किसी निमित्तके होना सम्भव नहीं है । चाँदी, सर्प, पुरुष और मृगतृष्णा आदि विकल्प [क्रमशः] सीपी, रस्सी, ठूँठ और ऊसर आदिके बिना निराश्रय ही कल्पना नहीं किये जा सकते ।

पूर्व०—यदि ऐसी बात है तब तो प्राणादि सम्पूर्ण विकल्पका आश्रय होनेके कारण वह तुरीय शब्दका वाच्य सिद्ध होता है; जलके आधारभूत घट आदिके समान [अन्तःप्रज्ञत्वादिके] प्रतिषेधद्वारा उसकी प्रतीति नहीं करायी जा सकती ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि शुक्ति आदिमें प्रतीत होनेवाली चाँदी आदिके समान प्राणादि विकल्प असद्रूप है तथा सत् और असत्का सम्बन्ध अवस्तुरूप होनेके कारण शब्दकी प्रवृत्तिका हेतु नहीं हो सकता; और न गौ आदिके समान वह स्वरूपसे किसी अन्य प्रमाणका ही विषय हो सकता है, क्योंकि आत्मा उपाधिरहित है । इसी प्रकार अद्वितीयरूप होनेके

मत्त्वमद्वितीयत्वेन सामान्यविशेषाभावात् । नापि क्रियावत्त्वं पाचकादिवदविक्रियत्वात् । नापि गुणवत्त्वं नीलादिवन्निर्गुणत्वात् । अतो नाभिधानेन निर्देशमर्हति ।

शशविषाणादिसमत्वान्निरर्थकत्वं तर्हि ।

तुरीयावगमस्य सार्थकत्वम्

न; आत्मत्वावगमे तुरीयस्यानात्मतृष्णाव्यावृत्तिहेतुत्वाच्छुक्तिकावगम इव रजततृष्णायाः । न हि तुरीयस्यात्मत्वावगमे सत्यविद्यातृष्णादिदोषाणां सम्भवोऽस्ति । न च तुरीयस्यात्मत्वानवगमे कारणमस्ति; सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात् । "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८।१६) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृ० उ० २।५।१९) "तत्सत्यं स आत्मा" (छा० उ० ६।८।१६) "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (बृ० उ० ३।४।१) "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २।

कारण सामान्य अथवा विशेष भावका अभाव होनेसे उसमें गौ आदिके समान जातिमत्त्व भी नहीं है। और न अविकारी होनेके कारण उसमें पाचकादिके समान क्रियावत्त्व तथा निर्गुण होनेके कारण नीलता आदिके समान गुणवत्त्व ही है। इसलिये उसका किसी भी नामसे निर्देश नहीं किया जा सकता।

पूर्व०—तब तो शशशृङ्गादिके समान [असद्रूप होनेके कारण] उसकी निरर्थकता ही सिद्ध होती है।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि शुक्तिका ज्ञान होनेपर जिस प्रकार [उसमें आरोपित] चाँदीकी तृष्णा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार तुरीय हमारा आत्मा है—ऐसा ज्ञान होनेपर वह अनात्मसम्बन्धिनी तृष्णाको निवृत्त करनेका कारण होता है। तुरीयको अपना आत्मा जान लेनेपर अविद्या एवं तृष्णादि दोषोंकी सम्भावना नहीं रहती। और तुरीयको अपने आत्मस्वरूपसे न जाननेका कोई कारण भी नहीं है, क्योंकि "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्सत्यं स आत्मा" "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" "स-

१ । २) । "आत्मैवेदꣳ सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) इत्यादीनाम् ।

सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तस्तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतं रज्जुसर्पादिसममुक्तं पादत्रयलक्षणं बीजाङ्कुरस्थानीयम् । अथेदानीमबीजात्मकं परमार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं सर्पादिस्थानीयोक्तस्थानत्रयनिराकरणेनाह—नान्तःप्रज्ञमित्यादि ।

बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" "आत्मैवेदꣳ सर्वम्" इत्यादि समस्त उपनिषद्वाक्योंका पर्यवसान इसी अर्थमें हुआ है ।

वह यह आत्मा परमार्थ और अपरमार्थरूपसे चार पादवाला है—ऐसा कहा है । उसका बीजाङ्कुर-स्थानीय पादत्रयस्वरूप अपरमार्थरूप रज्जुसर्पादिके समान अविद्याजनित कहा गया है । अब सर्पादिस्थानीय उक्त तीनों पादोंका निराकरण कर 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि रूपसे उसके रज्जुस्थानीय अबीजात्मक परमार्थस्वरूपका वर्णन करते हैं—

तुरीयका स्वरूप

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

विवेकीजन तुरीयको ऐसा मानते हैं कि वह न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः (अन्तर्बहिः) प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है । बल्कि अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चका उपशम, शान्त, शिव और अद्वैतरूप है । वही आत्मा है और वही साक्षात् जाननेयोग्य है ॥७॥

नन्वात्मनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथनेनैव चतुर्थस्यान्तःप्रज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धे नान्तःप्रज्ञमित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः ।

न; सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जुस्वरूपप्रतिपत्तिवत्त्र्यवस्थस्यैवात्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्; "तत्त्वमसि"(छा० उ० ६ । ८ । १६) इतिवत् । यदि हि त्र्यवस्थात्मविलक्षणं तुरीयमन्यत्तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा । रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्प्यमाना स्थानत्रयेऽप्यात्मैक एवान्तःप्रज्ञादित्वेन विकल्प्यते यदा तदान्तःप्रज्ञत्वादिप्रतिषेधविज्ञान-

आत्मावगतौ अनात्मप्रतिषेध एव प्रमाणम्

पूर्व०—किन्तु आत्मा चार पादोंवाला है—ऐसी प्रतिज्ञाकर उसके तीन पादोंका वर्णन कर देनेसे ही चौथे पादका अन्तःप्रज्ञादि विशेषणोंसे भिन्न होना तो सिद्ध ही है; अतः यह "नान्तःप्रज्ञम्" इत्यादि प्रतिषेध तो व्यर्थ ही है ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार सर्पादि विकल्पका प्रतिषेध करनेसे ही रज्जुके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार, जैसा कि "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यमें देखा जाता है, यहाँ [जाग्रदादि] तीनों अवस्थाओंमें स्थित आत्माका ही तुरीयरूपसे प्रतिपादन करना इष्ट है । यदि तुरीय आत्मा अवस्थात्रयविशिष्ट आत्मासे सर्वथा भिन्न होता तो उसकी उपलब्धिका कोई उपाय न रहनेके कारण शास्त्रोपदेशकी व्यर्थता अथवा शून्यवादकी प्राप्ति हो जाती । जब कि सर्पादि (सर्प, धारा, भूच्छिद्रादि) रूपसे विकल्पित रज्जुके समान [जाग्रदादि] तीनों स्थानोंमें एक ही आत्मा अन्तःप्रज्ञादिरूपसे विकल्पित हो रहा है तब तो अन्तःप्रज्ञत्वादिके प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणकी उत्पत्तिके समकाल ही आत्मामें अनर्थ-

प्रमाणसमकालमेवात्मन्यनर्थप्रपञ्च-निवृत्तिलक्षणफलं परिसमाप्तम्, इति तुरीयाधिगमे प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यम् । रज्जुसर्पविवेकसमकाल इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सति रज्ज्वधिगमस्य ।

येषां पुनस्तमोऽपनयव्यतिरेकेण घटाधिगमे प्रमाणं व्याप्रियते तेषां छेद्यावयवसम्बन्धवियोग-व्यतिरेकेणान्यतरावयवेऽपि-च्छिदिर्व्याप्रियत इत्युक्तं स्यात् ।

यदा पुनर्घटतमसोर्विवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपादित्सिततमो-

प्रपञ्चकी निवृत्तिरूप फल सिद्ध हो जाता है; अतः तुरीयका साक्षात्कार करनेके लिये इसके सिवा किसी अन्य प्रमाण अथवा साधनकी खोज करनेकी आवश्यकता नहीं है; जैसे कि रज्जु और सर्पका विवेक होनेके समानकालमें ही रज्जुमें सर्पनिवृत्ति-रूप फलकी प्राप्ति होते ही रज्जुका ज्ञान हो जाता है [उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये] ।

किन्तु जिनके मतमें घटज्ञानमें अन्धकारकी निवृत्तिके सिवा किसी और कार्यमें भी प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है उनका तो मानो ऐसा कथन है कि छेद्य पदार्थोंके अवयवोंका सम्बन्धविच्छेद करनेके अतिरिक्त भी छेदनक्रियाका वस्तुके किसी एक अवयवमें कोई व्यापार होता है ।*

छेद्य[1] अवयवोंका सम्बन्धच्छेद करनेमें प्रवृत्त छेदनक्रिया जिस

* तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्धकारमें रहते हुए घटका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अन्धकारकी निवृत्तिमात्र ही आवश्यक है, अन्य किसी क्रियाकी अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार तुरीयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उसमें आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादिका निषेध ही कर्तव्य है । जो लोग घटज्ञानमें अन्धकार-निवृत्तिके सिवा उसके उत्पादक-प्रमाणका कोई और व्यापार भी स्वीकार करते हैं वे मानो ऐसा कहते हैं कि छेदनक्रिया छेद्यपदार्थके अवयवोंका सम्बन्धच्छेद करनेके सिवा उसके किसी भी अवयवमें कोई अन्य कार्य भी कर देती है । परन्तु यह बात सर्वसम्मत है कि छेदनक्रियाका अवयवविश्लेषणके सिवा कोई अन्य व्यापार नहीं होता । इसीलिये उनका कथन माननीय नहीं है ।

१. यदि प्रमाण अज्ञानका ही निवर्तक है तो विषयके स्फुरण होनेका तो

निवृत्तिफलावसानं छिदिरिव च्छेद्यावयवसम्बन्धविवेककरणे प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफलावसाना तदा नान्तरीयकं घटविज्ञानं न तत्प्रमाणफलम् ।

न च तद्वदप्यात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणे प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणस्य अनुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये व्यापारोपपत्तिः । अन्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसमकालमेव प्रमातृत्वादिभेदनिवृत्तेः।तथा च वक्ष्यति— "ज्ञाते द्वैतं न विद्यते" (माण्डू० का० १ । १८) इति । ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणा-

प्रकार उसके अवयवोंके विभक्त हो जानेमें समाप्त होनेवाली है उसी प्रकार जब कि घट और अन्धकारका पार्थक्य करनेमें प्रवृत्त प्रमाण अनिष्ट अन्धकारकी निवृत्तिरूप फलमें ही समाप्त हो जानेवाला है तब घटज्ञान तो अवश्यम्भावी है, वह प्रमाणका फल नहीं है ।

उसीके समान आत्मामें आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादिके विवेक करनेमें प्रवृत्त प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणका, अनुपादित्सित (जिसका स्वीकार करना इष्ट नहीं है उस) अन्तःप्रज्ञत्वादिकी निवृत्तिके सिवा तुरीय आत्मामें कोई अन्य व्यापार होना सम्भव नहीं है; क्योंकि अन्तःप्रज्ञत्वादिकी निवृत्तिके समकालमें ही प्रमातृत्वादि भेदकी निवृत्ति हो जाती है । ऐसा ही "ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता" इत्यादि वाक्यद्वारा आगे कहेंगे भी; क्योंकि वृत्तिज्ञानकी भी स्थिति द्वैतनिवृत्तिके क्षणके सिवा दूसरे क्षणमें नहीं रहती; और यदि स्थिति मानी जाय तो अनवस्थाका प्रसङ्ग*

कोई कारण दिखायी नहीं देता; अतः विषयज्ञान होना ही नहीं चाहिये— ऐसी आशङ्का करके आगेकी बात कहते हैं ।

* अद्वैत बोधके लिये जिन-जिन प्रमाणोंका आश्रय लिया जाता है वे सब द्वैतप्रपञ्चके ही अन्तर्गत हैं । निखिलद्वैतकी निवृत्ति करनेवाला वृत्तिज्ञान भी वृत्तिरूप होनेके कारण द्वैतके ही अन्तर्गत है । यदि वह सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्ति करके भी बना रहे तो उसकी निवृत्तिके लिये किसी अन्य वृत्तिकी अपेक्षा होगी

न्तरानवस्थानात् । अवस्थाने चानवस्थाप्रसङ्गाद् द्वैतानिवृत्तिः । तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापारसमकालैवात्मन्यध्यारोपितान्तः-प्रज्ञत्वाद्यनर्थनिवृत्तिरिति सिद्धम् ।

नान्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः। न बहिष्प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः। नोभयतःप्रज्ञमिति जाग्रत्स्वप्नयो-रन्तरालावस्थाप्रतिषेधः । न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रति-षेधः । बीजभावाविवेकरूपत्वात् । न प्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयप्रज्ञा-तृत्वप्रतिषेधः । नाप्रज्ञमित्य-चैतन्यप्रतिषेधः ।

कथं पुनरन्तःप्रज्ञत्वादीना-मात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादौ

उपस्थित हो जानेसे द्वैतकी निवृत्ति ही नहीं होगी । अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणके प्रवृत्त होनेके समकालमें ही आत्मामें आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादि अनर्थकी निवृत्ति हो जाती है ।

'अन्तःप्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर तैजसका प्रतिषेध किया है; 'बहि-ष्प्रज्ञ नहीं है' इससे विश्वका निषेध किया है; 'उभयतःप्रज्ञ नहीं है' इस वाक्यसे जाग्रत् और स्वप्नके बीचकी अवस्थाका प्रतिषेध किया है; 'प्रज्ञानघन नहीं है' इससे सुषुप्तिका प्रतिषेध हुआ है, क्योंकि वह बीज-भावमय अविवेकस्वरूपा है; 'प्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयोंके ज्ञातृत्वका प्रतिषेध किया है; तथा 'अप्रज्ञ नहीं है' इससे अचेतनताका निषेध किया है ।

किन्तु जब कि अन्तःप्रज्ञत्वादि धर्म आत्मामें प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं तो केवल प्रतिषेधके ही कारण उनका रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्पादिके समान असत्यत्व कैसे सिद्ध

और उसके लिये किसी तीसरीकी । इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित हो जायगा और द्वैतकी निवृत्ति कभी न हो पावेगी । इसलिये निखिलद्वैतकी निवृत्ति करनेके उत्तर-क्षणमें ही वृत्तिज्ञान स्वयं भी निवृत्त हो जाता है—यही मत समी-चीन है ।

सर्पादिवत्प्रतिषेधादसत्त्वं गम्यत इत्युच्यते । ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपि इतरेतरव्यभिचाराद्रज्ज्वादाविव सर्पधारादिविकल्पित भेदवत् सर्वत्राव्यभिचाराज्ज्ञस्वरूपस्य सत्यत्वम् ।

सुषुप्ते व्यभिचरतीति चेन्न । सुषुप्तस्यानुभूयमानत्वात् । "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते"(बृ० उ० ४ । ३ । ३०) इति श्रुतेः ।

अत एवादृष्टम् । यस्माददृष्टं तस्मादव्यवहार्यम् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः । अलक्षणमलिङ्गमित्येतदननुमेयमित्यर्थः । अत एवाचिन्त्यम् । अत एवाव्यपदेश्यं शब्दैः । एकात्मप्रत्ययसारं जाग्रदादिस्थानेष्वेकोऽयमात्मेत्यव्यभिचारी यः प्रत्ययस्तेनानुसरणीयम् । अथ वैक आत्मप्रत्ययः सारं प्रमाणं यस्य तुरीयस्याधिगमे

हो सकता है ? इसपर कहते हैं— रज्जु आदिमें प्रतीत होनेवाले सर्प, धारा आदि विकल्पभेदोंके समान उनके चित्स्वरूपमें कोई भेद न होनेपर भी परस्पर एक-दूसरेका व्यभिचार होनेके कारण वे असद्रूप हैं । किन्तु चित्स्वरूपका कहीं भी व्यभिचार नहीं है; इसलिये वह सत्य है ।

यदि कहो कि सुषुप्तिमें उसका व्यभिचार होता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिका भी अनुभव हुआ करता है; जैसा कि "विज्ञाताकी विज्ञातिका लोप नहीं होता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

इसीलिये यह अदृश्य है । और क्योंकि अदृश्य है इसलिये अव्यवहार्य है तथा कर्मेन्द्रियोंसे अग्राह्य और अलक्षण यानी लिङ्गरहित है । तात्पर्य यह है कि उसका अनुमान नहीं किया जा सकता । इसीसे वह अचिन्त्य है अतएव शब्दोंद्वारा अकथनीय है । वह एकात्मप्रत्ययसार है अर्थात् जाग्रत् आदि स्थानोंमें एक ही आत्मा है—ऐसा जो अव्यभिचारी प्रत्यय है उससे अनुसरण किये जाने योग्य है । अथवा आत्मा है—इस प्रकार ही

तत्तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम् । "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० उ० १ । ४ । ७) इति श्रुतेः ।

अन्तःप्रज्ञत्वादिस्थानिधर्मप्रतिषेधः कृतः । प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थानधर्माभाव उच्यते । अत एव शान्तमविक्रियम्, शिवं यतोऽद्वैतं भेदविकल्परहितम् । चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते; प्रतीयमानपादत्रयरूपवैलक्षण्यात्। स आत्मा स विज्ञेय इति प्रतीयमानसर्पभूच्छिद्रदण्डादिव्यतिरिक्ता यथा रज्जुस्तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थ आत्मा "अदृष्टो द्रष्टा"(बृ० उ० ३ । ७ । २३)"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) इत्यादिभिरुक्तो यः । स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या ज्ञाते द्वैताभावः ॥ ७ ॥

उपासना करे" इस श्रुतिके अनुसार जिस तुरीयका ज्ञान प्राप्त करनेमें एक आत्मप्रत्यय ही सार यानी प्रमाण है वह तुरीय एकात्मप्रत्ययसार है ।

अन्तःप्रज्ञत्वादि स्थानियों (जाग्रत् आदि अवस्थाओंके अभिमानियों) के धर्मोंका प्रतिषेध किया गया, अब 'प्रपञ्चोपशमम्' इत्यादिसे जाग्रत् आदि स्थानों (अवस्थाओं)के धर्मोंका अभाव बतलाया जाता है । इसीलिये वह शान्त यानी अविकारी है और क्योंकि वह अद्वैत अर्थात् भेदरूप विकल्पसे रहित है, इसलिये शिव है । उसे चतुर्थ यानी तुरीय मानते हैं, क्योंकि यह प्रतीत होनेवाले पूर्वोक्त तीन पादोंसे विलक्षण है । वही आत्मा है और वही ज्ञातव्य है । अतः जिस प्रकार रज्जु अपनेमें प्रतीत होनेवाले सर्प, दण्ड और भूच्छिद्र आदिसे सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंका अर्थस्वरूप आत्मा, जिसका कि "अदृश्य होकर भी देखनेवाला है" "द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुतियोंने प्रतिपादन किया है, [अपनेमें अध्यस्त जाग्रदादि अवस्थाओंसे सर्वथा भिन्न है] । वही ज्ञातव्य है —ऐसा भूतपूर्वगतिसे* कहा जाता है, क्योंकि उसका ज्ञान होनेपर द्वैतका अभाव हो जाता है ॥ ७ ॥

* अर्थात् अविद्यावस्थामें आत्मामें जो ज्ञेयत्व मान रखा था उसीका आश्रय लेकर तुरीयको 'ज्ञातव्य' कहा जाता है । वास्तवमें तो जो अव्यवहार्य और अप्रमेय है उसे ज्ञातव्य भी नहीं कहा जा सकता ।

तुरीयका प्रभाव

अत्रैते श्लोका भवन्ति

इसी अर्थमें ये श्लोक हैं—

निवृत्ते सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥ १० ॥

तुरीय आत्मा सब प्रकारके दुःखोंकी निवृत्तिमें ईशान—प्रभु (समर्थ) है । वह अविकारी, सब पदार्थोंका अद्वैतरूप देव, तुरीय और व्यापक माना गया है ॥ १० ॥

प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां सर्वदुःखानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय आत्मा । ईशान इत्यस्य पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति । दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभुर्भवतीत्यर्थः । तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद् दुःखनिवृत्तेः ।

अव्ययो न व्येति स्वरूपान्न व्यभिचरतीति यावत् । एतत्कुतः यस्मादद्वैतः सर्वभावानां रज्जुसर्पवन्मृषात्वात्स एष देवो द्योतनातुरीयश्चतुर्थो विभुर्व्यापी स्मृतः ॥ १० ॥

तुरीय आत्मा प्राज्ञ, तैजस और विश्वरूप समस्त दुःखोंकी निवृत्तिमें ईशान है । 'ईशान' इस पदकी व्याख्या 'प्रभु' है । तात्पर्य यह है कि वह दुःखनिवृत्तिमें समर्थ है, क्योंकि उसका विज्ञान दुःखनिवृत्तिका कारण है ।

अव्यय—जो व्यय (विकार) को प्राप्त नहीं होता; अर्थात् जो स्वरूपसे व्यभिचरित यानी च्युत नहीं होता । क्यों च्युत नहीं होता ? क्योंकि वह अद्वैत है । अन्य सब पदार्थ रज्जुमें अध्यस्त सर्पके समान मिथ्या हैं; इसलिये प्रकाशनशील होनेके कारण वह यह देव तुर्य यानी चतुर्थ और विभु यानी व्यापक माना गया है ॥ १० ॥

विश्व और तैजससे तुरीयका भेद

विश्वादीनां सामान्यविशेषभावो निरूप्यते तुर्ययाथात्म्यावधारणार्थम्—

तुरीयका यथार्थ स्वरूप समझनेके लिये विश्व आदिके सामान्य और विशेष भावका निरूपण किया जाता है—

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥ ११ ॥

विश्व और तैजस—ये दोनों कार्य (फलावस्था) और कारण (बीजावस्था) से बँधे हुए माने जाते हैं; किन्तु प्राज्ञ केवल कारणावस्थासे ही बद्ध है तथा तुरीयमें तो ये दोनों ही नहीं हैं ॥ ११ ॥

कार्यं क्रियत इतिफलभावः । कारणं करोतीति बीजभावः । तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणाभ्यां बीजफलभावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्वतैजसौ बद्धौ संगृहीताविष्येते । प्राज्ञस्तु बीजभावेनैव बद्धः । तत्त्वाप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम् । ततो द्वौ तौ बीजफलभावौ तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणे तुर्ये न सिध्यतो न विद्येते न सम्भवत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

जो किया जाय उसे कार्य कहते है; वह फलभाव है । और जो करता है उसे कारण कहते हैं; वह बीजभाव है । ये उपर्युक्त विश्व और तैजस तत्त्वके अग्रहण एवं अन्यथाग्रहणरूप बीजभाव और फलभावसे बँधे अर्थात् सम्यक् प्रकारसे पकड़े हुए माने जाते हैं । किन्तु प्राज्ञ केवल बीजभावसे ही बँधा हुआ है । तत्त्वका अप्रतिबोधरूप बीज ही उसके प्राज्ञत्वमें कारण है । इससे तात्पर्य यह है कि तुरीयमें वे बीज और फलभावरूप तत्त्वका अग्रहण एवं अन्यथाग्रहण दोनों ही नहीं रहते; उनकी तो वहाँ रहनेकी सम्भावना ही नहीं है ॥ ११ ॥

प्राज्ञसे तुरीयका भेद

कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणलक्षणौ बन्धौ न सिध्यत इति। यस्मात्—

किन्तु प्राज्ञकी कारणबद्धता किस प्रकार है? तथा तुरीयमें तत्त्वका अग्रहण और अन्यथाग्रहणरूप बन्धन कैसे सिद्ध नहीं होते? इसपर कहते हैं, क्योंकि—

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम्।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा॥ १२॥

प्राज्ञ तो न अपनेको, न परायेको और न सत्यको अथवा अनृतको ही जानता है किन्तु वह तुरीय सर्वदा सर्वदृक् है॥ १२॥

आत्मविलक्षणमविद्याबीजप्रसूतं बाह्यं द्वैतं प्राज्ञो न किञ्चन संवेत्ति तथा विश्वतैजसौ। ततश्चासौ तत्त्वाग्रहणेन तमसान्यथाग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति। यस्मात्तुरीयं तत्सर्वदृक्सदा तुरीयादन्यस्याभावात्सर्वदा सदैवेति सर्वं च तद्दृक्चेति सर्वदृक्तस्मान्न तत्त्वाग्रहणलक्षणं बीजं तत्र। तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्याप्यत एवाभावो न हि सवितरि सदा प्रकाशात्मके तद्विरुद्धमप्रकाशनमन्यथाप्रकाशनं वा सम्भवति।

प्राज्ञ आत्मासे भिन्न अविद्यारूप बीजसे उत्पन्न हुए बहिःस्थित वेद्यपदार्थरूप द्वैतको कुछ भी नहीं जानता, जैसा कि विश्व और तैजस उसे जानते हैं। इसीलिये यह अन्यथाग्रहणके बीजभूत तत्त्वाग्रहणरूप अन्धकारसे बँधा रहता है। और क्योंकि तुरीयसे भिन्न पदार्थका सर्वथा अभाव होनेके कारण वह सदा-सर्वदा सर्वदृक्स्वरूप ही है—जो सर्वरूप और उसका साक्षी भी हो उसे 'सर्वदृक्' कहते हैं—इसलिये उसमें तत्त्वका अग्रहणरूप बीजावस्था नहीं है और इसीलिये उसमें उससे उत्पन्न होनेवाले अन्यथाग्रहणका भी अभाव है, क्योंकि सदा प्रकाशस्वरूप सूर्यमें उसके विपरीत अप्रकाशन अथवा

"नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) इति श्रुतेः ।

अन्यथा-प्रकाशन सम्भव नहीं है, जैसा कि "द्रष्टाकी दृष्टिका विपरिलोप नहीं होता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

अथ वा जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वभूतावस्थः सर्ववस्तुदृगाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक्सदा "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" (बृ० उ० ३ । ८ । ११) इत्यादि श्रुतेः ॥ १२ ॥

अथवा जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थाके सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और समस्त पदार्थोंके साक्षीरूपसे तुरीय ही भासमान है इसलिये वह सर्वदा सर्वसाक्षी है, जैसा कि "इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ १२ ॥

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥ १३ ॥

द्वैतका अग्रहण तो प्राज्ञ और तुरीय दोनोंहीको समान है, किन्तु प्राज्ञ बीजस्वरूपा निद्रासे युक्त है और तुरीयमें वह निद्रा है नहीं ॥ १३ ॥

निमित्तान्तरप्राप्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः । कथं द्वैताग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्यैव न तुरीयस्येति प्राप्ताशङ्का निवर्त्यते ।

यह श्लोक निमित्तान्तरसे प्राप्त आशङ्काकी निवृत्तिके लिये है । भला द्वैताग्रहणकी समानता होनेपर भी प्राज्ञकी ही कारणबद्धता क्यों है ? तुरीयकी क्यों नहीं है ?—इस प्रकार प्राप्त हुई आशङ्काको ही निवृत्त किया जाता है ।

यस्माद्बीजनिद्रायुतस्तत्त्वाप्रतिबोधो निद्रा, सैव च विशेषप्रतिबोधप्रसवस्य बीजम्; सा

[इसका यह कारण है] क्योंकि वह (प्राज्ञ) बीजनिद्रासे युक्त है—तत्त्वके अज्ञानका नाम निद्रा है, वही विशेष विज्ञानकी उत्पत्तिका

बीजनिद्रा, तया युतः प्राज्ञः। सदा दृक्स्वभावत्वात्तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणा निद्रा तुरीये न विद्यते। अतो न कारणबन्धस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

बीज है; अतः उसे 'बीजनिद्रा' कहते हैं—प्राज्ञ उससे युक्त है। किन्तु सर्वदा सर्वदृक्स्वरूप होनेके कारण तुरीयमें वह बीजनिद्रा नहीं है; अतः उसमें कारणबद्धता नहीं है—यह इसका तात्पर्य है॥ १३ ॥

तुरीयका स्वप्न-निद्राशून्यत्व

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्न निद्रया।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः॥ १४ ॥

विश्व और तैजस—ये स्वप्न और निद्रासे युक्त हैं तथा प्राज्ञ स्वप्नरहित निद्रासे युक्त है; किन्तु निश्चित पुरुष तुरीयमें न निद्रा ही देखते हैं और न स्वप्न ही॥ १४ ॥

स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम्। निद्रोक्ता तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणं तम इति। ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युक्तौ विश्वतैजसौ। अतस्तौ कार्यकारणबद्धावित्युक्तौ। प्राज्ञस्तु स्वप्नवर्जितकेवलयैव निद्राया युत इति कारणबद्ध इत्युक्तम्। नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदो विरुद्धत्वात् सवितरीव तमः। अतो न कार्यकारणबद्ध इत्युक्तस्तुरीयः॥१४॥

रज्जुमें सर्प-ग्रहणके समान अन्यथाग्रहणका नाम स्वप्न है; तथा तत्त्वके अप्रतिबोधरूप तमको निद्रा कहते हैं। उन स्वप्न और निद्रासे विश्व और तैजस युक्त हैं; अतः वे कार्यकारणबद्ध कहे गये हैं। किन्तु प्राज्ञ तो स्वप्नरहित केवल निद्रासे ही युक्त है; इसलिये उसे कारणबद्ध कहा है। निश्चित यानी ब्रह्मवेत्ता लोग तुरीयमें ये दोनों ही बातें नहीं देखते, क्योंकि सूर्यमें अन्धकारके समान वे उससे विरुद्ध हैं। अतः तुरीय कार्य अथवा कारणसे बँधा हुआ नहीं है—ऐसा कहा गया है॥ १४ ॥

कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते—

अब यह बतलाया जाता है कि मनुष्य तुरीयमें कब निश्चित होता है—

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः ।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥ १५ ॥

अन्यथा ग्रहण करनेसे स्वप्न होता है तथा तत्त्वको न जाननेसे निद्रा होती है और इन दोनों विपरीत ज्ञानोंका क्षय हो जानेपर तुरीय पदकी प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

स्वप्नजागरितयोरन्यथा रज्ज्वां सर्प इव गृह्णतस्तत्त्वं स्वप्नो भवति । निद्रा तत्त्वमजानतस्तिसृष्ववस्थासु तुल्या । स्वप्ननिद्रयोस्तुल्यत्वाद्विश्वतैजसयोरेकराशित्वम् । अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च गुणभूता निद्रेति तस्मिन्विपर्यासः स्वप्नः । तृतीये तु स्थाने तत्त्वाज्ञानलक्षणा निद्रैव केवला विपर्यासः ।

रज्जुमें सर्पग्रहणके समान स्वप्न और जागरित अवस्थामें तत्त्वके अन्यथाग्रहणसे स्वप्न होता है तथा तत्त्वके न जाननेसे निद्रा होती है, जो तीनों अवस्थाओंमें तुल्य हैं । इस प्रकार स्वप्न और निद्रामें तुल्य होनेके कारण विश्व और तैजसकी एक राशि है । उनमें अन्यथाग्रहणकी प्रधानता होनेके कारण निद्रा गौण है; अतः उन अवस्थाओंमें स्वप्नरूप विपरीत ज्ञान रहता है । किन्तु तृतीय स्थान (सुषुप्ति) में केवल तत्त्वाग्रहणरूप निद्रा ही विपर्यास है ।

अतस्तयोः कार्यकारणस्थानयोः अन्यथाग्रहणाग्रहणलक्षणविपर्यासे कार्यकारणबन्धरूपे परमार्थतत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते । तदोभयलक्षणं बन्ध-

अतः उन कार्यकारणरूप स्थानोंके अन्यथाग्रहण और तत्त्वाग्रहणरूप विपर्यासोंका परमार्थतत्त्वके बोधसे क्षय हो जानेपर तुरीय पदकी प्राप्ति होती है । तब उस अवस्थामें दोनों प्रकारका बन्धन न देखनेसे

रूपं तत्रापश्यंस्तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

पुरुष तुरीयमें निश्चित हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १५ ॥

बोध कब होता है ?

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥१६॥

जिस समय अनादि मायासे सोया हुआ जीव जागता है [अर्थात् तत्त्वज्ञान लाभ करता है] उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्वका बोध प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

योऽयं संसारी जीवः स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण बीजात्मनान्यथाग्रहणलक्षणेन च अनादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोऽयं नप्ता क्षेत्रं पशवोऽहमेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्चानेनेत्येवं प्रकारान्स्वप्नान् स्थानद्वयेऽपि पश्यन्सुप्तः ।

यह जो संसारी जीव है वह तत्त्वाप्रतिबोधरूप बीजात्मिका एवं अन्यथाग्रहणरूप अनादिकालसे प्रवृत्त मायारूप निद्राके कारण [स्वप्न और जागरित] दोनों ही अवस्थाओंमें 'यह मेरा पिता है, यह पुत्र है, यह नाती है, ये मेरे क्षेत्र, गृह और पशु हैं, मैं इनका स्वामी हूँ तथा इनके कारण सुखी-दुःखी, क्षीण और वृद्धिको प्राप्त होता हूँ' इत्यादि प्रकारके स्वप्न देखता हुआ सो रहा है ।

यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा नास्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किं तु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्यमानः, तदैवं प्रतिबुध्यते—

जिस समय वेदान्तार्थके तत्त्वको जाननेवाले किसी परम कारुणिक गुरुके द्वारा 'तू इस प्रकार हेतु एवं फलस्वरूप नहीं है, किन्तु तू वही है' इस प्रकार जगाया जाता है उस समय उसे ऐसा बोध प्राप्त होता है—

कथम्? नास्मिन्बाह्यमाभ्यन्तरं वा जन्मादिभावविकारोऽस्त्यतोऽजं सबाह्याभ्यन्तरसर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः। यस्माज्जन्मादिकारणभूतं नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा विद्यत इत्यनिद्रम्। अनिद्रं हि तत्तुरीयमत एवास्वप्नम्; तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य। यस्माच्चानिद्रमस्वप्नं तस्मादजमद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा॥१६॥

किस प्रकारका बोध होता है? [सो बतलाते हैं—] इसमें बाह्य अथवा आभ्यन्तर जन्मादि विकार नहीं है, इसलिये यह अजन्मा यानी सम्पूर्ण भाव-विकारोंसे रहित है। और क्योंकि इसमें जन्मादिकी कारणभूत तथा अविद्यारूप अन्धकारकी बीजभूत अविद्या नहीं है इसलिये यह अनिद्र है। वह तुरीय अनिद्र है, इसीलिये अस्वप्न भी है; क्योंकि अन्यथाग्रहण तो [तत्त्वाप्रतिबोधरूप] निद्राहीके कारण हुआ करता है। इस प्रकार क्योंकि वह अनिद्र और अस्वप्न है इसलिये ही उस समय अजन्मा और अद्वैत तुरीय आत्माका बोध होता है॥१६॥

प्रपञ्चनिवृत्त्या चेत्प्रतिबुध्यतेऽनिवृत्ते प्रपञ्चे कथमद्वैतमित्युच्यते—

यदि बोध प्रपञ्चनिवृत्तिसे ही होता है तो जबतक प्रपञ्चकी निवृत्ति न हो तबतक अद्वैत कैसा? इसपर कहा जाता है—

प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥१७॥

प्रपञ्च यदि होता तो निवृत्त हो जाता—इसमें सन्देह नहीं। किन्तु [वास्तवमें] यह द्वैत तो मायामात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है॥१७॥

सत्यमेवं स्यात्प्रपञ्चो यदि विद्येत, रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते । विद्यमानश्चेन्निवर्तेत न संशयः । न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्विवेकतो निवृत्तः । नैव माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता । तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं द्वैतं रज्जुवन्मायाविवच्चाद्वैतं परमार्थतस्तस्मान्न कश्चित्प्रपञ्चः प्रवृत्तो निवृत्तो वास्तीत्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

यदि प्रपञ्च विद्यमान होता तो सचमुच ऐसा ही होता; किन्तु वह तो रज्जुमें सर्पके समान कल्पित होनेके कारण [वस्तुतः] है ही नहीं । यदि वह होता तो, इसमें सन्देह नहीं, निवृत्त भी हो जाता । रज्जुमें भ्रमबुद्धिसे कल्पना किया हुआ सर्प [वस्तुतः] विद्यमान रहते हुए विवेकसे निवृत्त नहीं होता । मायावीद्वारा फैलायी हुई माया, देखनेवालोंके दृष्टिबन्धनके हटाये जानेपर, पहले विद्यमान रहती हुई निवृत्त नहीं होती । इसी प्रकार यह प्रपञ्चसंज्ञक द्वैत भी मायामात्र ही है; परमार्थतः तो रज्जु अथवा मायावीके समान अद्वैत ही है । अतः तात्पर्य यह है कि कोई भी प्रपञ्च प्रवृत्त अथवा निवृत्त होनेवाला नहीं है ॥ १७ ॥

गुरु-शिष्यादि विकल्प व्यावहारिक है

ननु शास्ता शास्त्रं शिष्य इति विकल्पः कथं निवर्तत इत्युच्यते—

यदि कहो कि शासक, शास्त्र और शिष्य—इस प्रकारका विकल्प किस प्रकार निवृत्त हो सकता है ? तो इसपर कहा जाता है—

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित् ।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥ १८ ॥

इस [गुरु-शिष्यादि] विकल्पकी यदि किसीने कल्पना की होती तो यह निवृत्त भी हो जाता । यह [गुरु-शिष्यादि] वाद तो उपदेशके ही लिये है । आत्मज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता ॥ १८ ॥

विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित्कल्पितः स्यात् । यथायं प्रपञ्चो मायारज्जुसर्पवत्तथायं शिष्यादि भेदविकल्पोऽपि प्राक् प्रतिबोधादेवोपदेशनिमित्तोऽत उपदेशादयं वादः शिष्यः शास्ता शास्त्रमिति । उपदेशकार्ये तु ज्ञाने निर्वृत्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं न विद्यते ॥ १८ ॥

यदि किसीने इसकी कल्पना की होती तो यह विकल्प निवृत्त हो जाता । जिस प्रकार यह प्रपञ्च माया और रज्जुसर्पके सदृश है उसी प्रकार यह शिष्यादि भेदविकल्प भी आत्मज्ञानसे पूर्व ही उपदेशके निमित्तसे है । अतः शिष्य, शासक और शास्त्र—यह वाद उपदेशके ही लिये है । उपदेशके कार्यस्वरूप ज्ञानके निष्पन्न होनेपर, अर्थात् परमार्थतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर द्वैतकी सत्ता नहीं रहती ॥ १८ ॥

आत्मा और उसके पादोंके साथ ओङ्कार और उसकी मात्राओंका तादात्म्य

अभिधेयप्रधान ओङ्कारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो यः—

अबतक जिस ओङ्काररूप चतुष्पाद आत्माका अभिधेय (वाच्यार्थ) की प्रधानतासे वर्णन किया है—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

वह यह आत्मा अक्षरदृष्टिसे ओंकार है, वह मात्राओंको विषय करके स्थित है । पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही पाद हैं; वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं ॥ ८ ॥

सोऽयमात्माध्यक्षरमक्षरमधिकृत्याभिधानप्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम् । किं पुनस्तदक्षरमित्याह, ओङ्कारः । सोऽयमोङ्कारः पादशः प्रविभज्यमानः, अधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्यधिमात्रम् । कथम् ? आत्मनो ये पादास्त ओङ्कारस्य मात्राः । कास्ताः ? अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

वह यह आत्मा अध्यक्षर है; अक्षरका आश्रय लेकर जिसका अभिधानकी प्रधानतासे वर्णन किया जाय उसे अध्यक्षर कहते हैं । किन्तु वह अक्षर है क्या ? इसपर कहते हैं—वह ओङ्कार है । वह यह ओङ्कार पादरूपसे विभक्त किये जानेपर अधिमात्र यानी मात्राको आश्रय करके वर्तमान रहता है, इसलिये इसे 'अधिमात्र' कहते हैं । सो किस प्रकार ? क्योंकि आत्माके जो पाद हैं वे ही ओङ्कारकी मात्राएँ हैं । वे मात्राएँ कौन-सी हैं ? अकार, उकार और मकार—ये ही [वे मात्राएँ हैं] ॥ ८ ॥

अकार और विश्वका तादात्म्य

तत्र विशेषनियमः क्रियते—

अब उनमें विशेष नियम किया जाता है—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

जिसका जागरित स्थान है वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्त्वके कारण [ओङ्कारकी] पहली मात्रा अकार है । जो उपासक इस प्रकार जानता है वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और [महापुरुषोंमें] आदि (प्रधान) होता है ॥ ९ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरो यः स ओङ्कारस्याकारः प्रथमा मात्रा ।

जो जागरित स्थानवाला वैश्वानर है वही ओङ्कारकी पहली मात्रा

केन सामान्येनेत्याह—आप्तेराप्तिर्व्याप्तिरकारेण सर्वा वाग्व्याप्ता 'अकारो वै सर्वा वाक्" (ऐ० आ० २ । ३ । ६) इति श्रुतेः । तथा वैश्वानरेण जगत्; "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" (छा० उ० ५ । १८ । २) इत्यादि श्रुतेः ।

अभिधानाभिधेययोरेकत्वं चावोचाम । आदिरस्य विद्यत इत्यादिमद्यथैवादिमदकाराख्यमक्षरं तथैव वैश्वानरस्तस्माद्वा सामान्यादकारत्वं वैश्वानरस्य । तदेकत्वविदः फलमाह—आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिः प्रथमश्च भवति महतां य एवं वेद, यथोक्तमेकत्वं वेदेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अकार है । किस समानताके कारण पहली मात्रा है—इसपर कहते हैं—आप्तिके कारण, आप्तिका अर्थ व्याप्ति है । "अकार निश्चय ही सम्पूर्ण वाणी है" इस श्रुतिके अनुसार अकारसे समस्त वाणी व्याप्त है । तथा "उस इस वैश्वानर आत्माका मस्तक ही द्युलोक है" इस श्रुतिके अनुसार वैश्वानरसे सारा जगत् व्याप्त है ।

अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) की एकता तो हम कह ही चुके हैं । जिसमें आदि (प्रथमता) हो उसे आदिमत् कहते हैं । जिस प्रकार अकार नामक अक्षर आदिमान् है उसी प्रकार वैश्वानर भी है उसी समानताके कारण वैश्वानरकी अकाररूपता है । उसकी एकता जाननेवालेके लिये फल बतलाया जाता है—'जो पुरुष ऐसा जानता है अर्थात् उपर्युक्त एकत्वको जाननेवाला है वह समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है तथा महापुरुषोंमें आदि—प्रथम होता है' ॥ ९ ॥

उकार और तैजसका तादात्म्य

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

स्वप्न जिसका स्थान है वह तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्वके कारण ओङ्कारकी द्वितीय मात्रा उकार है। जो उपासक ऐसा जानता है वह अपनी ज्ञानसन्तानका उत्कर्ष करता है, सबके प्रति समान होता है और उसके वंशमें कोई ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष नहीं होता ॥ १० ॥

स्वप्नस्थानस्तैजसो यः स ओङ्कारस्योकारो द्वितीया मात्रा केन सामान्येनेत्याह—उत्कर्षात्। अकारादुत्कृष्ट इव ह्युकारस्तथा तैजसो विश्वादुभयत्वाद्वाकारमकारयोर्मध्यस्थ उकारस्तथा विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये तैजसोऽत उभयभाक्त्वसामान्यात्।

विद्वत्फलमुच्यते—उत्कर्षति ह वै ज्ञानसंततिम्। विज्ञानसन्ततिं वर्धयतीत्यर्थः। समानस्तुल्यश्च मित्रपक्षस्येव शत्रुपक्षाणामप्यप्रद्वेष्यो भवति। अब्रह्मविदस्य कुले न भवति य एवं वेद ॥१०॥

जो स्वप्नस्थानवाला तैजस है वह ओङ्कारकी दूसरी मात्रा उकार है। किस समानताके कारण दूसरी मात्रा है—इसपर कहते हैं–उत्कर्षके कारण। जिस प्रकार अकारसे उकार उत्कृष्ट-सा है उसी प्रकार विश्वसे तैजस उत्कृष्ट है। अथवा मध्यवर्तित्वके कारण [उन दोनोंमें समानता है]। जिस प्रकार उकार अकार और मकारके मध्यमें स्थित है उसी प्रकार विश्व और प्राज्ञके मध्यमें तैजस है। अतः उभयपरत्वरूप समानताके कारण भी [उनमें अभिन्नता है]।

अब इस प्रकार जाननेवालेको जो फल मिलता है वह बतलाया जाता है—जो इस प्रकार जानता है वह ज्ञानसन्तति अर्थात् विज्ञान सन्तानका उत्कर्ष यानी वृद्धि करता है, सबके प्रति समान—तुल्य होता है अर्थात् मित्रपक्षके समान शत्रुपक्षका भी अद्वेष्य होता है तथा उसके कुलमें कोई ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष नहीं होता ॥ १० ॥

मकार और प्राज्ञका तादात्म्य

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

सुषुप्ति जिसका स्थान है वह प्राज्ञ मान और लयके कारण ओङ्कार-की तीसरी मात्रा मकार है। जो उपासक ऐसा जानता है वह इस सम्पूर्ण जगत्का मान—प्रमाण कर लेता है और उसका लयस्थान हो जाता है ॥ ११ ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो यः स ओङ्कारस्य मकारस्तृतीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह सामान्यमिदमत्र; मितेर्मितिर्मानं मीयते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्रस्थेनेव यवाः। यथोङ्कारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इवाकारोकारौ मकारे।

सुषुप्तिस्थानवाला जो प्राज्ञ है वह ओङ्कारकी तीसरी मात्रा मकार है। किस समानताके कारण ? सो बतलाते हैं—यहाँ इनमें यह समानता है—ये मितिके कारण [समान हैं]। मिति मानको कहते हैं; जिस प्रकार प्रस्थ (एक प्रकारके बाट) से जौ तौले जाते हैं उसी प्रकार प्रलय और उत्पत्तिके समय मानो प्रवेश और निर्गमनके द्वारा प्राज्ञसे विश्व और तैजस मापे जाते हैं; क्योंकि ओङ्कारकी समाप्तिपर उसका पुनः प्रयोग किये जानेपर मानो अकार और उकार मकारमें प्रवेश करके उससे पुनः निकलते हैं।

अपीतेर्वा। अपीतिरप्यय एकीभावः। ओङ्कारोच्चारणे ह्यन्त्येऽक्षर एकीभूताविवाकारोकारौ।

अथवा अपीतिके कारण भी उनमें एकता है। अपीति अप्यय अर्थात् एकीभावको कहते हैं। क्योंकि [जिस प्रकार] ओङ्कारका उच्चारण करनेपर अकार और उकार अन्तिम अक्षरमें एकीभूत-से हो जाते हैं

तथा विश्वतैजसौ सुषुप्तकाले प्राज्ञे । अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञमकारयोः ।

उसी प्रकार सुषुप्तिके समय विश्व और तैजस प्राज्ञमें लीन हो जाते हैं । सो, इस समानताके कारण भी प्राज्ञ और मकारकी एकता है ।

विद्वत्फलमाह; मिनोति ह वा इदं सर्वं जगद्याथात्म्यं जानातीत्यर्थः । अपीतिश्च जगत्कारणात्मा भवतीत्यर्थः । अत्रावान्तरफलवचनं प्रधान-साधनस्तुत्यर्थम् ॥ ११ ॥

अब इस प्रकार जाननेवालेको जो फल मिलता है वह बतलाते हैं— [जो ऐसा जानता है] वह इस सम्पूर्ण जगत्को माप लेता है, अर्थात् इसका यथार्थ स्वरूप जान लेता है; तथा अपीति यानी जगत्का कारणस्वरूप हो जाता है । यहाँ जो अवान्तर फल बतलाये गये हैं वे प्रधान साधनकी स्तुतिके लिये हैं ॥ ११ ॥

मात्राओंकी विश्वादिरूपता

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक भी हैं—

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥ १९ ॥

जिस समय विश्वका अत्व–अकारमात्रत्व बतलाना इष्ट हो, अर्थात् वह अकारमात्रारूप है ऐसा जाना जाय तो उनके प्राथमिकत्वकी समानता स्पष्ट ही है तथा उनकी व्याप्तिरूप समानता भी स्फुट ही है ॥ १९ ॥

विश्वस्यात्वमकारमात्रत्वं यदा विवक्ष्यते तदादित्वसामान्य-मुक्तन्यायेनोत्कटमुद्भूतं दृश्यत

जिस समय विश्वका अत्व यानी अकारमात्रत्व कहना इष्ट होता है उस समय पूर्वोक्त न्यायसे उनके प्राथमिकत्वकी समानता उत्कट

इत्यर्थः । अत्वविवक्षायामित्यस्य व्याख्यानं मात्रासंप्रतिपत्ताविति विश्वस्याकारमात्रत्वं यदा संप्रतिपद्यत इत्यर्थः । आप्तिसामान्यमेव चोत्कटमित्यनुवर्तते चशब्दात् ॥ १९ ॥

अर्थात् उद्भूत (प्रकटरूपसे) दिखायी देती है । 'मात्रासंप्रतिपत्तौ'—यह 'अत्वविवक्षायाम्' इस पदकी ही व्याख्या है । तात्पर्य यह है कि जिस समय विश्वके अकारमात्रत्वका ज्ञान होता है उस समय उनकी व्याप्तिकी समानता तो स्पष्ट ही है । यहाँ 'च' शब्दसे 'उत्कटम्' इस पदकी अनुवृत्ति की जाती है ॥ १९ ॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥ २० ॥

तैजसको उकाररूप जाननेपर अर्थात् तैजस उकारमात्रारूप है ऐसा जाननेपर उनका उत्कर्ष स्पष्ट दिखायी देता है । तथा उनका उभयत्व भी स्पष्ट ही है ॥ २० ॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उकारत्वविवक्षायामुत्कर्षो दृश्यते स्फुटं स्पष्ट इत्यर्थः उभयत्वं च स्फुटमेवेति । पूर्ववत्सर्वम् ॥ २० ॥

तैजसके उत्व-विज्ञानमें अर्थात् उसका उकाररूपसे प्रतिपादन करनेमें उसका उत्कर्ष तो स्पष्ट ही दिखलायी देता है । इसी प्रकार उभयत्व भी स्पष्ट ही है । शेष सब पूर्ववत् हैं ॥ २० ॥

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥ २१ ॥

प्राज्ञकी मकाररूपतामें अर्थात् प्राज्ञ मकारमात्रारूप है—ऐसा जाननेमें उनकी मान करनेकी समानता स्पष्ट है । इसी प्रकार उनमें लयस्थान होनेकी समानता भी स्पष्ट ही है ॥ २१ ॥

मकारत्वे प्राज्ञस्य मितिलयावुत्कृष्टे सामान्ये इत्यर्थः ॥२१॥

प्राज्ञके मकाररूप होनेमें मान और लयरूप समानता स्पष्ट है—यह इसका तात्पर्य है ॥ २१ ॥

ओङ्कारोपासकका प्रभाव

त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥ २२ ॥

जो पुरुष तीनों स्थानोंमें [बतलायी गयी] तुल्यता अथवा समानताको निश्चयपूर्वक जानता है वह महामुनि समस्त प्राणियोंका पूजनीय और वन्दनीय होता है ॥ २२ ॥

यथोक्तस्थानत्रये यस्तुल्यमुक्तं सामान्यं वेत्त्येवमेवैतदिति निश्चितो यः स पूज्यो वन्द्यश्च ब्रह्मविल्लोके भवति ॥ २२ ॥

उपर्युक्त तीनों स्थानोंमें तुल्यरूपसे बतलायी गयी समानताको जो 'यह इसी प्रकार है' ऐसा निश्चयपूर्वक जानता है वह ब्रह्मवेत्ता लोकमें पूजनीय एवं वन्दनीय होता है॥२२॥

ओङ्कारकी व्यस्तोपासनाके फल

यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां मात्राभिः सहैकत्वं कृत्वा यथोक्तोङ्कारं प्रतिपद्य यो ध्यायति तम्—

पूर्वोक्त समानताओंसे आत्माके पादोंका मात्राओंके साथ एकत्व करके उपर्युक्त ओङ्कारको जानते हुए जो उसका ध्यान करता है उसे—

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥ २३ ॥

अकार विश्वको प्राप्त करा देता है तथा उकार तैजसको और मकार प्राज्ञको; किन्तु अमात्रमें किसीकी गति नहीं है ॥ २३ ॥

अकारो नयते विश्वं प्रापयति। अकारालम्बनमोङ्कारं विद्वान्वैश्वानरो भवतीत्यर्थः। तथोकारस्तैजसम्। मकारश्चापि पुनः प्राज्ञम्। चशब्दान्नयत इत्यनुवर्तते क्षीणे तु मकारे बीजभावक्षयादमात्र ओङ्कारे गतिर्न विद्यते क्वचिदित्यर्थः॥ २३॥

आकार विश्वको प्राप्त करा देता है; अर्थात् अकारके आश्रित ओङ्कारको जाननेवाला पुरुष वैश्वानर होता है। इसी प्रकार उकार तैजसको और मकार पुनः प्राज्ञको प्राप्त करा देता है। 'च' शब्दसे 'नयते' (प्राप्त करा देता है) इस क्रियाकी अनुवृत्ति होती है। तथा मकारका क्षय होनेपर बीजभावका क्षय हो जानेसे मात्राहीन ओङ्कारमें कोई गति नहीं होती—यह इसका तात्पर्य है॥२३॥

अमात्र और आत्माका तादात्म्य

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद॥ १२॥

मात्रारहित ओङ्कार तुरीय आत्मा ही है। वह अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओङ्कार आत्मा ही है। जो उसे इस प्रकार जानता है वह स्वतः अपने आत्मामें ही प्रवेश कर जाता है॥ १२॥

अमात्रो मात्रा यस्य नास्ति सोऽमात्र ओङ्कारश्चतुर्थस्तुरीय आत्मैव केवलोऽभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मनसयोः क्षीणत्वादव्यवहार्यः। प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः संवृत्त एवं यथोक्त-

अमात्र—जिसकी मात्रा नहीं है वह अमात्र ओङ्कार चौथा अर्थात् तुरीय केवल आत्मा ही है। अभिधानरूप वाणी और अभिधेयरूप मनका क्षय हो जानेके कारण वह अव्यवहार्य है तथा वह प्रपञ्चकी निषेधावधि, मङ्गलमय और अद्वैत-

विज्ञानवता प्रयुक्त ओङ्कार-स्त्रिमात्रस्त्रिपाद आत्मैव । संविशत्यात्मना स्वेनैव । स्वं पारमार्थिकमात्मानं य एवं वेद । परमार्थदर्शी ब्रह्मवित् तृतीयं बीजभावं दग्ध्वात्मानं प्रविष्ट इति न पुनर्जायते तुरीयस्याबीजत्वात् ।

न हि रज्जुसर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः सर्पो बुद्धिसंस्कारात्पुनः पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्थास्यति । मन्दमध्यमधियां तु प्रतिपन्नसाधकभावानां सन्मार्गगामिनां संन्यासिनां मात्राणां पादानां च क्लृप्तसामान्यविदां यथावदुपास्यमान ओङ्कारो ब्रह्मप्रतिपत्तय आलम्बनी भवति तथा च वक्ष्यति—"आश्रमास्त्रिविधाः" (माण्डू० का० ३ । १६) इत्यादि ॥ १२ ॥

स्वरूप है । इस प्रकार पूर्वोक्त विज्ञानवान् उपासकद्वारा प्रयोग किया हुआ तीन मात्रावाला ओङ्कार तीन पादवाला आत्मा ही है । जो इस प्रकार जानता है [अर्थात् इस प्रकार उसकी उपासना करता है] वह स्वतः ही अपने पारमार्थिक आत्मामें प्रवेश करता है । परमार्थदर्शी ब्रह्मवेत्ता तीसरे बीजभावको भी दग्ध करके आत्मामें प्रवेश करता है; इसलिये उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि तुरीय आत्मा अबीजात्मक है ।

रज्जु और सर्पका विवेक हो जानेपर रज्जुमें लीन हुआ सर्प जिन्हें उसका विवेक हो गया है उन पुरुषोंको बुद्धिके संस्कारवश पुनः प्रतीत नहीं हो सकता । किन्तु जो मन्द और मध्यम बुद्धिवाले, साधकभावको प्राप्त, सन्मार्गगामी संन्यासी पूर्वोक्त मात्रा और पादोंके निश्चित सामान्यभावको जाननेवाले हैं उनके लिये तो विधिवत् उपासना किया हुआ ओङ्कार ब्रह्मप्राप्तिके लिये आश्रयस्वरूप होता है । यही बात "तीन प्रकारके आश्रम हैं" इत्यादि वाक्योंसे कहेंगे ॥ १२ ॥

समस्त और व्यस्त ओङ्कारोपासना

पूर्ववत्—

पहलेके समान—

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक भी हैं—

ओङ्कारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः ।
ओङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २४ ॥

ओङ्कारको एक-एक पाद करके जाने; पाद ही मात्राएँ हैं—इसमें सन्देह नहीं । इस प्रकार ओङ्कारको पादक्रमसे जानकर कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २४ ॥

यथोक्तैः सामान्यैः पादा एव मात्रा मात्राश्च पादास्तस्मादोङ्कारं पादशो विद्यादित्यर्थः । एवमोङ्कारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किंचित् प्रयोजनं चिन्तयेत्कृतार्थत्वादित्यर्थः ॥ २४ ॥

पूर्वोक्त समानताओंके कारण पाद ही मात्राएँ हैं और मात्राएँ ही पाद हैं । अतः तात्पर्य यह है कि ओङ्कारको पादक्रमसे जाने । इस प्रकार ओङ्कारका ज्ञान हो जानेपर कृतार्थ हो जानेके कारण किसी भी दृष्टार्थ (ऐहिक) अथवा अदृष्टार्थ (पारलौकिक) प्रयोजनका चिन्तन न करे—यह इसका अभिप्राय है ॥ २४ ॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २५ ॥

चित्तको ओङ्कारमें समाहित करे; ओङ्कार निर्भय ब्रह्मपद है । ओङ्कारमें नित्य समाहित रहनेवाले पुरुषको कहीं भी भय नहीं होता ॥ २५ ॥

युञ्जीत समादध्याद्यथाव्याख्याते परमार्थरूपे प्रणवे चेतो

जिसकी पहले व्याख्या की जा चुकी है उस परमार्थस्वरूप ओङ्कारमें

मनः । यस्मात्प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् । न हि तत्र सदा युक्तस्य भयं विद्यते क्वचित् "विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २ । ९)इतिश्रुतेः ॥२५॥

चित्तको युक्त—समाहित करे, क्योंकि ओङ्कार ही निर्भय ब्रह्म है । उसमें नित्य समाहित रहनेवाले पुरुषको कहीं भी भय नहीं होता, जैसा कि "विद्वान् कहीं भी भयको प्राप्त नहीं होता" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ २५ ॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥ २६ ॥

ओङ्कार ही परब्रह्म है और ओङ्कार ही अपरब्रह्म माना गया है, वह ओङ्कार अपूर्व (अकारण), अन्तर्बाह्यशून्य, अकार्य तथा अव्यय है ॥ २६ ॥

परापरे ब्रह्मणी प्रणवः । परमार्थता क्षीणेषु मात्रापादेषु पर एवात्मा ब्रह्मेति न पूर्वं कारणमस्य विद्यत इत्यपूर्वः । नास्यान्तरं भिन्नजातीयं किञ्चिद्विद्यत इत्यनन्तरः । तथा बाह्यमन्यन्न विद्यत इत्यबाह्यः । अपरं कार्यमस्य न विद्यत इत्यनपरः । सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः सैन्धवघनवत् प्रज्ञानघन इत्यर्थः ॥ २६ ॥

पर और अपर ब्रह्म प्रणव है वस्तुतः मात्रारूप पादोंके क्षीण होनेपर आत्मा ही ब्रह्म है, इसलिये इसका कोई पूर्व यानी कारण न होनेसे यह अपूर्व है । इसका कोई अन्तर—भिन्नजातीय भी नहीं है, इसलिये यह अनन्तर है तथा इससे बाह्य भी कोई और नहीं है इसलिये यह अबाह्य है और इसका कोई अपर—कार्य भी नहीं है इसलिये यह अनपर है । तात्पर्य यह है कि यह बाहर-भीतरसे अजन्मा तथा सैन्धवघनके समान प्रज्ञानघन ही है ॥ २६ ॥

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥ २७ ॥

प्रणव ही सबका आदि, मध्य और अन्त है । प्रणवको इस प्रकार जाननेके अनन्तर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ २७ ॥

आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः सर्वस्यैव । मायाहस्तिरज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवत् उत्पद्यमानस्य वियदादिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः । एवं हि प्रणवमात्मानं मायाव्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव तदात्मभावं व्यश्नुत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

सबका आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रणव ही है । जिस प्रकार कि मायामय हाथी, रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्प, मृगतृष्णा और स्वप्नादिके समान उत्पन्न होनेवाले आकाशादिरूप प्रपञ्चके कारण मायावी आदि हैं उसी प्रकार मायावी आदिस्थानीय उस प्रणवरूप आत्माको जानकर विद्वान् तत्काल ही तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २७ ॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २८ ॥

प्रणवको ही सबके हृदयमें स्थित ईश्वर जाने । इस प्रकार सर्वव्यापी ओङ्कारको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ २८ ॥

सर्वप्राणिजातस्य स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं प्रणवं विद्यात्सर्वव्यापिनं व्योमवदोङ्कारमात्मानमसंसारिणं धीरो बुद्धिमान्मत्वा न शोचति

प्रणवको ही समस्त प्राणिसमुदायके स्मृतिप्रत्ययके आश्रयभूत हृदयमें स्थित ईश्वर समझे । बुद्धिमान् पुरुष आकाशके समान सर्वव्यापी ओङ्कारको असंसारी आत्मा [—शुद्ध आत्मतत्त्व] जानकर, शोकके कारण-

शोकनिमित्तानुपपत्तेः । "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७ । १ । ३) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥२८॥

का अभाव हो जानेसे शोक नहीं करता; जैसा कि "आत्मवेत्ता शोकको पार कर जाता है" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है ॥२८॥

ओंकारार्थज्ञ ही मुनि है

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥२९॥

जिसने मात्राहीन, अनन्त मात्रावाले, द्वैतके उपशमस्थान और मङ्गलमय ओंकारको जाना है वही मुनि है; और कोई पुरुष नहीं ॥२९॥

अमात्रस्तुरीय ओङ्कारः । मीयतेऽनयेति मात्रा परिच्छित्तिः सा अनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः । नैतावत्त्वमस्य परिच्छेत्तुं शक्यत इत्यर्थः । सर्वद्वैतोपशमत्वादेव शिवः । ओङ्कारो यथाव्याख्यातो विदितो येन स परमार्थतत्त्वस्य मननान्मुनिः । नेतरो जनः शास्त्रविदपीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अमात्र तुरीय ओंकार है । जिससे मान किया जाय उसे 'मात्रा' अर्थात् 'परिच्छित्ति' कहते हैं, वह मात्रा जिसकी अनन्त हो उसे 'अनन्तमात्र' कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि इसकी इयत्ताका परिच्छेद नहीं किया जा सकता । सम्पूर्ण द्वैतका उपशमस्थान होनेके कारण ही वह शिव (मङ्गलमय) है । इस प्रकार व्याख्या किया हुआ ओंकार जिसने जाना है वही परमार्थ-तत्त्वका मनन करनेवाला होनेसे 'मुनि' है; दूसरा पुरुष शास्त्रज्ञ होनेपर भी मुनि नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २९ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शङ्करभगवतः कृतावागमशास्त्रविवरणे गौडपादीयकारिकासहितमाण्डूक्योपनिषद्भाष्ये प्रथममागमप्रकरणम् ॥ १ ॥

ॐ तत्सत् ।

वैतथ्यप्रकरण

ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम्, "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः । आगममात्रं तत् । तत्रोपपत्त्यापि द्वैतस्य वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते—

प्रकरणस्य प्रयोजनम्

"एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार (आगम-प्रकरणकी १८ वीं कारिकामें) यह कहा गया है कि ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता। वह केवल आगम (शास्त्र-वचन) मात्र था। किन्तु द्वैतका मिथ्यात्व युक्तिसे भी निश्चय किया जा सकता है, इसीलिये इस दूसरे प्रकरणका आरम्भ किया जाता है—

स्वप्नदृष्ट पदार्थोंका मिथ्यात्व

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः ।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥ १ ॥

[स्वप्नावस्थामें] सब पदार्थ शरीरके भीतर स्थित होते हैं; अतः स्थानके सङ्कोचके कारण मनीषिगण स्वप्नमें सब पदार्थोंका मिथ्यात्व प्रतिपादन करते हैं ॥ १ ॥

वितथस्य भावो वैतथ्यम्, असत्यत्वमित्यर्थः । कस्य ? सर्वेषां बाह्याध्यात्मिकानां भावानां पदार्थानां स्वप्न उपलभ्यमानानाम्, आहुः कथयन्ति, मनीषिणः प्रमाणकुशलाः । वैतथ्ये हेतुमाह—

वितथ (मिथ्या) के भावका नाम 'वैतथ्य' अर्थात् असत्यत्व है। किसका वैतथ्य ? स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक पदार्थोंका मनीषिगण अर्थात् प्रमाण-कुशल पुरुष वैतथ्य बतलाते हैं। उनके मिथ्यात्वमें हेतु बतलाते हैं—

अन्तःस्थानात्, अन्तः शरीरस्य मध्ये स्थानं येषाम् । तत्र हि भावा उपलभ्यन्ते पर्वतहस्त्यादयो न बहिः शरीरात् । तस्मात्ते वितथा भवितुमर्हन्ति। नन्वपवरकाद्यन्तरुपलभ्यमानैर्घटादिभिरनैकान्तिको हेतुरित्याशङ्क्याह- संवृतत्वेन हेतुनेति, अन्तः संवृतस्थानादित्यर्थः। न ह्यन्तः संवृते देहान्तर्नाडीषु पर्वतहस्त्यादीनां सम्भवोऽस्ति, न हि देहे पर्वतोऽस्ति ॥ १ ॥

अन्त:संवृत-स्थानात्

अन्त:स्थ होनेके कारण, अन्तर अर्थात् शरीरके मध्यमें स्थान है जिनका [ऐसे होनेके कारण]; क्योंकि वहीं पर्वत एवं हस्ती आदि समस्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं, शरीरसे बाहर उनकी उपलब्धि नहीं होती; इसलिये वे मिथ्या होने चाहिये। किन्तु [यदि शरीरके भीतर उपलब्ध होनेके कारण ही स्वप्नदृष्ट पदार्थ मिथ्या हैं तो] गृह आदिके भीतर दिखायी देनेवाले घट आदिमें तो यह हेतु व्यभिचरित हो जायगा [क्योंकि वहाँ जो उनकी प्रतीति है वह तो सत्य ही है]–ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'स्थानके संकोचके कारणसे।' तात्पर्य यह कि शरीरके भीतर संकुचित स्थान होनेसे [उनका मिथ्यात्व कहा जाता है]। देहके अन्तर्वर्ती संकुचित नाडीजालमें पर्वत या हाथी आदिका होना सम्भव नहीं है। देहके भीतर पर्वत नहीं हो सकता ॥ १ ॥

स्वप्नदृश्यानां भावानामन्तः संवृतस्थानमित्येतदसिद्धम्, यस्मात् प्राच्येषु सुप्त उदक्षु

स्वप्नमें दिखलायी देनेवाले पदार्थोंका शरीरके भीतर संकुचित स्थान है–यह बात सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि पूर्व दिशामें सोया हुआ पुरुष उत्तर दिशामें स्वप्न देखता-सा देखा जाता है [अतः वह शरीरसे

स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यत इत्येतदाशङ्क्याह—

बाहर वहाँ जाकर उन्हें देखता होगा] —ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥ २ ॥

समयकी अदीर्घता होनेके कारण वह देहसे बाहर जाकर उन्हें नहीं देखता तथा जागनेपर भी कोई पुरुष उस देशमें विद्यमान नहीं रहता । [इससे भी उसका स्वप्नदृष्ट देशमें न जाना ही सिद्ध होता है] ॥ २ ॥

दीर्घकालाभावात् मिथ्यात्वम् न देहाद्बहिर्देशान्तरं गत्वा स्वप्नान्पश्यति । यस्मात्सुप्तमात्र एव देहदेशाद्योजनशतान्तरिते मासमात्रप्राप्ये देशे स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यते । न च तद्देशप्राप्तेरागमनस्य च दीर्घः कालोऽस्ति । अतोऽदीर्घत्वाच्च कालस्य न स्वप्नदृग्देशान्तरं गच्छति ।

वह देहसे बाहर देशान्तरमें जाकर स्वप्न नहीं देखता, क्योंकि वह सोया हुआ ही देहके स्थानसे एक मासमें पहुँचने योग्य सौ योजनकी दूरीपर स्वप्न देखता-सा देखा जाता है । [उस समय] उस देशमें पहुँचने और वहाँसे लौटने योग्य दीर्घकाल है ही नहीं । अत: कालकी अदीर्घताके कारण वह स्वप्न-द्रष्टा किसी देशान्तरमें नहीं जाता ।

किं च प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः स्वप्नदृक्स्वप्नदर्शनदेशे न विद्यते । यदि च स्वप्ने देशान्तरं गच्छेद्यस्मिन्देशे स्वप्नान्पश्येत्तत्रैव प्रतिबुध्येत । न चैतदस्ति । रात्रौ सुप्तोऽहनीव भावान्पश्यति; बहुभिः संगतो भवति, यैश्च संगत-

यही नहीं, जागनेपर भी कोई स्वप्नद्रष्टा स्वप्न देखनेके स्थानमें नहीं रहता । यदि वह स्वप्नके समय किसी देशान्तरमें जाता तो जिस देशमें स्वप्न देखता उसीमें जागता । किन्तु ऐसी बात नहीं होती । वह रात्रिमें सोया हुआ मानो दिनमें पदार्थोंको देखता है और बहुतोंसे मिलता है; अत: जिनसे उसका मेल होता है उनके द्वारा वह गृहीत

स्तैर्गृह्येत । न च गृह्यते; गृहीतश्चेत्त्वामद्य तत्रोपलब्धवन्तो वयमिति ब्रूयुः । न चैतदस्ति, तस्मान्न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥ २ ॥

होना चाहिये था । परन्तु गृहीत होता नहीं; यदि गृहीत होता तो 'हमने तुझे वहाँ पाया था' ऐसा कहते । परन्तु ऐसी बात है नहीं; अतः स्वप्नमें वह किसी देशान्तरको नहीं जाता ॥ २ ॥

इतश्च स्वप्नदृश्या भावा वितथा यतः—

स्वप्नमें दिखायी देनेवाले पदार्थ इसलिये भी मिथ्या हैं, क्योंकि—

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ॥ ३ ॥

श्रुतिमें भी [स्वप्नदृष्ट] रथादिका अभाव युक्तिपूर्वक सुना गया है । अतः [उपर्युक्त युक्तिसे] सिद्ध हुए मिथ्यात्वको ही स्वप्नमें स्पष्ट बतलाते हैं ॥ ३ ॥

रथाद्यभावश्रुते- मिथ्यात्वम्

अभावश्चैव रथादीनां स्वप्नदृश्यानां श्रूयते न्यायपूर्वकं युक्तितः श्रुतौ "न तत्र रथाः" (बृ० उ० ४ । ३ । १०) इत्यत्र । देहान्तःस्थानसंवृतत्वादिहेतुना प्राप्तं वैतथ्यं तदनुवादिन्या श्रुत्या स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वप्रतिपादनपरया प्रकाशितमाहुर्ब्रह्मविदः ॥ ३ ॥

"इस अवस्थामें रथ नहीं हैं" इत्यादि श्रुतिमें भी स्वप्नदृष्ट रथादिका अभाव युक्तिपूर्वक सुना गया है । अतः अन्तःस्थान तथा स्थानके संकोच आदि हेतुओंसे सिद्ध हुआ मिथ्यात्व, उसका अनुवाद करनेवाली तथा स्वप्नमें आत्माका स्वयंप्रकाशत्व प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिद्वारा ब्रह्मवेत्ता स्पष्ट बतलाते हैं ॥ ३ ॥

जाग्रद्दृश्य पदार्थोंके मिथ्यात्वमें हेतु

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम् ।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ॥ ४ ॥

इसीसे जाग्रत्-अवस्थामें भी पदार्थोंका मिथ्यात्व है, क्योंकि जिस प्रकार वे वहाँ स्वप्नावस्थामें [मिथ्या] होते हैं उसी प्रकार जाग्रत्में भी होते हैं। केवल शरीरके भीतर स्थित होने और स्थानके संकुचित होनेमें ही स्वप्नदृष्ट पदार्थोंका भेद है ॥ ४ ॥

जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। (स्वप्नपदार्थवद्) दृश्यत्वादिति हेतुः (दृश्यत्वेन)। स्वप्नदृश्यभाववदिति (मिथ्यात्वम्) दृष्टान्तः। यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः। तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्। अन्तःस्थानात्संवृतत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्येभ्यो भेदः। दृश्यत्वमसत्यत्वं चाविशिष्टमुभयत्र ॥ ४ ॥

जाग्रत्-अवस्थामें देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं—यह प्रतिज्ञा है। दृश्य होनेके कारण—यह उसका हेतु है। स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान—यह दृष्टान्त है। जिस प्रकार वहाँ स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंका मिथ्यात्व है उसी प्रकार जाग्रत्में भी उनका दृश्यत्व समानरूपसे है—यह हेतूपनय[1] है। अतः जागृतिमें भी उनका मिथ्यात्व माना गया है—यह निगमन है। अन्तःस्थ होने और स्थानका संकोच होनेमें स्वप्नदृष्ट भावोंका जाग्रद्दृष्ट भावोंसे भेद है। दृश्यत्व और असत्यत्व तो दोनों ही अवस्थाओंमें समान हैं ॥ ४ ॥

स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ ५ ॥

इस प्रकार प्रसिद्ध हेतुसे ही पदार्थोंमें समानता होनेके कारण विवेकी पुरुषोंने स्वप्न और जागरित अवस्थाओंको एक ही बतलाया है ॥ ५ ॥

१. व्याप्तिविशिष्ट हेतु पक्षमें है—ऐसा प्रतिपादन करना 'हेतूपनय' कहलाता है।

प्रसिद्धेनैव भेदानां ग्राह्य-ग्राहकत्वेन हेतुना समत्वेन स्वप्न-जागरितस्थानयोरेकत्वमाहुर्विवेकिन इति पूर्वप्रमाणसिद्धस्यैव फलम् ॥ ५ ॥

ग्राह्यग्राहक-त्वात्

पदार्थोंके ग्राह्यग्राहकत्वरूप प्रसिद्ध हेतुसे समानता होनेके कारण ही विवेकी पुरुषोंने स्वप्न और जागरित अवस्थाओंका एकत्व प्रतिपादन किया है—इस प्रकार यह पूर्व प्रमाणसे सिद्ध हुए हेतुका ही फल है ॥ ५ ॥

इतश्च वैतथ्यं जाग्रद्दृश्यानां भेदानामाद्यन्तयोरभावात् ।

जाग्रत्-अवस्थामें दिखलायी देनेवाले पदार्थोंका मिथ्यात्व इसलिये भी है, क्योंकि आदि और अन्तमें उनका अभाव है ।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ ६ ॥

जो आदि और अन्तमें नहीं है [अर्थात् आदि और अन्तमें असद्रूप है] वह वर्तमानमें भी वैसा ही है । ये पदार्थसमूह असत्के समान होकर भी सत्-जैसे दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

यदादावन्ते च नास्ति वस्तु मृगतृष्णिकादि तन्मध्येऽपि नास्तीति निश्चितं लोके तथेमे जाग्रद्दृश्या भेदाः । आद्यन्तयोरभावाद्वितथैरेव मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा एव तथाप्यवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्भिः ॥ ६ ॥

आदावन्ते चाभावात्

जो मृगतृष्णादि वस्तु आदि और अन्तमें नहीं है वह मध्यमें भी नहीं होती—यह बात लोकमें निश्चित ही है । इसी प्रकार ये जाग्रत्-अवस्थामें दिखलायी देनेवाले भिन्न-भिन्न पदार्थ भी आदि और अन्तमें न होनेसे मृगतृष्णा आदि असद्वस्तुओंके समान होनेके कारण असत् ही हैं; तथापि मूढ अनात्मज्ञ पुरुषोंद्वारा वे सद्रूप समझे जाते हैं ॥ ६ ॥

स्वप्नदृश्यवज्जागरितदृश्यानामप्यसत्त्वमिति यदुक्तं तदयुक्तम् । यस्माज्जाग्रद्दृश्या अन्नपानवाहनादयः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिं कुर्वन्तो गमनागमनादिकार्यं च सप्रयोजना दृष्टाः । न तु स्वप्नदृश्यानां तदस्ति। तस्मात्स्वप्नदृश्यवज्जाग्रद्दृश्यानामसत्त्वं मनोरथमात्रमिति ।

शङ्का—स्वप्नदृश्योंके समान जागरित अवस्थाके दृश्योंका भी जो असत्यत्व बतलाया गया है वह ठीक नहीं; क्योंकि जाग्रद्दृश्य अन्न, पान और वाहन आदि पदार्थ भूख-प्यासकी निवृत्ति तथा गमनागमन आदि कार्योंके करनेके कारण प्रयोजनवाले देखे गये हैं । किन्तु स्वप्नदृश्योंके विषयमें ऐसी बात नहीं है । अतः स्वप्नदृश्योंके समान जाग्रद्दृश्योंकी असत्यता केवल मनोरथमात्र है ।

तन्न । कस्मात् ? यस्मात्—

समाधान—ऐसी बात नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि—

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ७ ॥

स्वप्नमें उन (जाग्रत्-पदार्थों) की सप्रयोजनतामें विपरीतता आ जाती है । अतः आदि-अन्तयुक्त होनेके कारण वे निश्चय मिथ्या ही माने गये हैं ॥ ७ ॥

सप्रयोजनता दृष्टा यान्नपानादीनां स्वप्ने विप्रतिपद्यते । जागरिते हि भुक्त्वा पीत्वा च तृप्तो विनिवर्तिततृट्सुप्तमात्र एव क्षुत्पिपासाद्यार्तमहोरात्रोषितमभुक्तवन्तमात्मानं मन्यते । यथा

[जागरित अवस्थामें] जो अन्नपानादिकी सप्रयोजनता देखी गयी है वह स्वप्नमें नहीं रहती । जागरित अवस्थामें खा-पीकर तृप्त हुआ पुरुष तृषारहित होकर सोनेपर भी [स्वप्नमें] अपनेको क्षुधा-पिपासा आदिसे आर्त्त, दिन-रात उपवास किया हुआ और बिना भोजन किया हुआ मानता है;

स्वप्ने भुक्त्वा पीत्वा चातृप्तोत्थितस्तथा । तस्माज्जाग्रद्दृश्यानां स्वप्ने विप्रतिपत्तिर्दृष्टा । अतो मन्यामहे तेषामप्यसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदनाशङ्कनीयमिति । तस्मादाद्यन्तवत्त्वमुभयत्र समानमिति मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ७ ॥

जिस प्रकार कि स्वप्नमें, खा-पीकर जागा हुआ पुरुष अपनेको अतृप्त अनुभव करता है । अतः स्वप्नावस्थामें जाग्रद्-दृश्योंकी विपरीतता देखी जाती है । इसलिये स्वप्नदृश्योंके समान उनकी असत्यताको भी हम शङ्का न करनेयोग्य मानते हैं । इस प्रकार दोनों ही अवस्थाओंमें आदि-अन्तवत्त्व समान है; अतः वे निश्चय मिथ्या ही माने गये हैं ॥ ७ ॥

स्वप्न जाग्रद्भेदयोःसमत्वाज्जाग्रद्भेदानामसत्त्वमिति यदुक्तं तदसत्, कस्मात् ? दृष्टान्तस्यासिद्धत्वात् । कथम् ? न हि जाग्रद्दृष्टा एवैते भेदाः स्वप्ने दृश्यन्ते । किं तर्हि ?

स्वप्न और जाग्रत्-पदार्थोंके समान होनेसे जाग्रत्-पदार्थोंकी जो असत्यता बतलायी गयी है वह ठीक नहीं है । क्यों ? क्योंकि यह दृष्टान्त सिद्ध नहीं हो सकता । कैसे सिद्ध नहीं हो सकता ? क्योंकि जो पदार्थ जाग्रत्-अवस्थामें देखे जाते हैं वे ही स्वप्नमें नहीं देखे जाते । तो उस समय और क्या देखा जाता है ?

अपूर्वं स्वप्ने पश्यति; चतुर्दन्तगजमारूढमष्टभुजमात्मानं मन्यते। अन्यदप्येवंप्रकारमपूर्वं पश्यति स्वप्ने । तन्नान्येनासता सममिति

स्वप्नमें तो यह अपूर्व वस्तुएँ देखता है । अपनेको चार दाँतोंवाले हाथीपर चढ़ा हुआ तथा आठ भुजाओंवाला मानता है । इसी प्रकार स्वप्नमें और भी अपूर्व वस्तुएँ देखा करता है । वे किसी अन्य असत् वस्तुके समान नहीं होतीं; इसलिये वे

सदेव । अतो दृष्टान्तोऽसिद्धः । तस्मात्स्वप्नवज्जागरितस्यासत्त्वमित्ययुक्तम् ।

सत् ही हैं । अतः यह दृष्टान्त सिद्ध नहीं हो सकता । अतः स्वप्नके समान जागरितकी भी असत्यता है—यह कथन ठीक नहीं ।

तन्न; स्वप्ने दृष्टमपूर्वं यन्मन्यसे न तत्स्वतः सिद्धम् किं तर्हि ?

ऐसी बात नहीं है । स्वप्नमें देखी हुई जिन वस्तुओंको अपूर्व समझता है वे स्वतः सिद्ध नहीं हैं तो कैसी हैं ?

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम् ।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार [इन्द्रादि] स्वर्गनिवासियोंकी [सहस्रनेत्रत्वादि] अलौकिक अवस्थाएँ सुनी जाती हैं उसी प्रकार यह (स्वप्न) भी स्थानी (स्वप्नद्रष्टा आत्मा) का अपूर्व धर्म है । उन स्वाप्न पदार्थोंको यह इसी प्रकार जाकर देखता है जैसे कि इस लोकमें [किसी मार्गविशेषके सम्बन्धमें] सुशिक्षित पुरुष [उस मार्गसे जाकर अपने अभीष्ट लक्ष्यपर पहुँचकर उसे देखता है] ॥ ८ ॥

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि स्थानिनो द्रष्टुरेव हि स्वप्नस्थानवतो धर्मः । यथा स्वर्गनिवासिनामिन्द्रादीनां सहस्राक्षत्वादि तथा स्वप्नदृशोऽपूर्वोऽयं धर्मः । न स्वतः सिद्धो द्रष्टुः स्वरूपवत् । तानेवंप्रकारापूर्वान्स्वचित्तविकल्पानयंस्थानी स्वप्नदृक्स्वप्नस्थानं गत्वा प्रेक्षते । यथैवेह लोके सुशिक्षितो देशान्तरमार्गस्तेन

वे स्थानीका अपूर्व धर्म ही हैं; स्थानी अर्थात् स्वप्नस्थानवाले द्रष्टाका ही धर्म हैं । जैसे कि स्वर्गनिवासी इन्द्रादिके सहस्राक्षत्वादि धर्म हैं उसी प्रकार स्वप्नद्रष्टाका यह अपूर्व धर्म है । द्रष्टाके स्वरूपके समान यह स्वतः-सिद्ध नहीं है । इस प्रकारके अपने चित्तद्वारा कल्पना किये हुए उन धर्मोंको यह जो स्वप्न देखनेवाला स्थानी है स्वप्नस्थानमें जाकर देखा करता है; जिस प्रकार इस लोकमें देशान्तरके मार्गके विषयमें सुशिक्षित

मार्गेण देशान्तरं गत्वा तान्पदार्थान्पश्यति तद्वत् । तस्माद्यथा स्थानिधर्माणां रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादीनामसत्त्वं तथा स्वप्नदृश्यानामपूर्वाणां स्थानिधर्मत्वमेवेत्यसत्त्वमतो न स्वप्नदृष्टान्तस्यासिद्धत्वम् ॥ ८ ॥

पुरुष उस मार्गसे देशान्तरमें जाकर वहाँके पदार्थोंको देखता है उसी प्रकार [यह भी देखता है] । अतः जिस प्रकार स्थानीके धर्म रज्जु-सर्प और मृगतृष्णा आदिकी असत्यता है उसी प्रकार स्वप्नमें देखे जानेवाले अपूर्व पदार्थोंका भी स्थानिधर्मत्व ही है, अतः वे भी असत् हैं । इसलिये स्वप्नदृष्टान्तकी असिद्धता नहीं है॥ ८॥

स्वप्नमें मनःकल्पित और इन्द्रियग्राह्य दोनों ही प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं

अपूर्वत्वाशङ्का निराकृता स्वप्नदृष्टान्तस्य पुनः स्वप्नतुल्यतां जाग्रद्भेदानां प्रपञ्चयन्नाह —

स्वप्नदृष्टान्तके अपूर्वत्वकी आशङ्का का निराकरण कर दिया । अब पुनः जाग्रत्पदार्थोंकी स्वप्नतुल्यताका विस्तृतरूपसे प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृष्टं वैतथ्यमेतयोः ॥ ९ ॥

स्वप्नावस्थामें भी चित्तके भीतर कल्पना किया हुआ पदार्थ असत् और चित्तसे बाहर [इन्द्रियोंद्वारा] ग्रहण किया हुआ पदार्थ सत् जान पड़ता है; किन्तु इन दोनोंका ही मिथ्यात्व देखा गया है ॥ ९ ॥

स्वप्नवृत्तावपि स्वप्नस्थानेऽपि अन्तश्चेतसा मनोरथसङ्कल्पितमसत् । सङ्कल्पानन्तरसमकालमेवा-

स्वप्नकी वृत्ति अर्थात् स्वप्नस्थानमें भी चित्तके भीतर मनोरथसे सङ्कल्प की हुई वस्तु असत् होती है; क्योंकि वह सङ्कल्पके पश्चात् तत्क्षण ही दिखायी नहीं देती । तथा उस

दर्शनात्तत्रैव स्वप्ने बहिश्चेतसा गृहीतं चक्षुरादिद्वारेणोपलब्धं घटादि सत् । इत्येवमसत्यमिति निश्चितेऽपि सदसद्विभागो दृष्टः । उभयोरप्यन्तर्बहिश्चेतःकल्पितयोर्वैतथ्यमेव दृष्टम् ॥ ९ ॥

स्वप्नावस्थामें ही चित्तसे बाहर चक्षु आदिद्वारा ग्रहण किये हुए घट आदि सत् होते हैं । इस प्रकार स्वप्न असत्य है—ऐसा निश्चय हो जानेपर भी उसमें सत्-असत्‌का विभाग देखा जाता है । किन्तु चित्तसे कल्पना किये हुए इन आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रकारके पदार्थोंका मिथ्यात्व देखा गया है ॥ ९ ॥

जाग्रत्‌में भी दोनों प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ॥ १० ॥

इसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी चित्तके भीतर कल्पना किया हुआ पदार्थ असत् तथा चित्तसे बाहर ग्रहण किया हुआ पदार्थ सत् समझा जाता है । परन्तु इन दोनोंका ही मिथ्यात्व मानना उचित है ॥ १० ॥

सदसतोर्वैतथ्यं युक्तम्, अन्तर्बहिश्चेतःकल्पितत्वाविशेषादिति व्याख्यातमन्यत् ॥ १० ॥

इन सत् और असत् पदार्थोंका मिथ्यात्व ठीक ही है; क्योंकि हृदयके भीतर या बाहर कल्पित होनेसे उनमें कोई विशेषता नहीं होती । शेष सबकी व्याख्या हो चुकी है ॥ १० ॥

इन मिथ्या पदार्थोंकी कल्पना करनेवाला कौन है ?

चोदक आह—

[इसपर] पूर्वपक्षी कहता है—

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि ।
क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः ॥ ११ ॥

यदि [जागरित और स्वप्न] दोनों ही स्थानोंके पदार्थोंका मिथ्यात्व है तो इन पदार्थोंको जानता कौन है और कौन इनकी कल्पना करनेवाला है ? ॥ ११ ॥

स्वप्नजाग्रत्स्थानयोर्भेदानां यदि वैतथ्यं क एतानन्तर्बहिश्चेतःकल्पितान्बुध्यते । को वै तेषां विकल्पकः । स्मृतिज्ञानयोः क आलम्बनमित्यभिप्रायः; न चेन्निरात्मवाद इष्टः ॥ ११ ॥

यदि स्वप्न और जागरित [दोनों ही स्थानों] के पदार्थोंका मिथ्यात्व है तो चित्तके भीतर या बाहर कल्पना किये हुए इन पदार्थोंको जानता कौन है ? और कौन उनकी कल्पना करनेवाला है ? तात्पर्य यह है कि यदि निरात्मवाद अभीष्ट नहीं है तो [यह बताना चाहिये कि] उक्त स्मरण (स्वप्न) और ज्ञान (जागरित) का आलम्बन कौन है ? ॥ ११ ॥

इनकी कल्पना करनेवाला और इनका साक्षी आत्मा ही है

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥ १२ ॥

स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी मायासे स्वयं ही कल्पना करता है और वही सब भेदोंको जानता है—यही वेदान्तका निश्चय है ॥ १२ ॥

स्वयं स्वमायया स्वमात्मानमात्मा देव आत्मन्येव वक्ष्यमाणं भेदाकारं कल्पयति रज्ज्वादाविव सर्पादीन् स्वयमेव च तान्बुध्यते भेदांस्तद्वदेवेत्येवं वेदान्तनिश्चयः।

स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी मायासे रज्जुमें सर्पादिके समान अपनेमें आपहीको आगे बतलाये जानेवाले भेदरूपसे कल्पना करता है और स्वयं ही उन भेदोंको जानता है—इस प्रकार यही वेदान्तका निश्चय है । उसके सिवा स्मृति और ज्ञान-

नान्योऽस्ति ज्ञानस्मृत्याश्रयः । न च निरास्पदे एव ज्ञानस्मृती वैनाशिकानामिवेत्यभिप्रायः॥१२॥

का कोई और आश्रय नहीं है । तात्पर्य यह कि वैनाशिकों (बौद्धों) के कथनके समान ये ज्ञान और स्मृति निराधार नहीं हैं ॥ १२ ॥

पदार्थकल्पनाकी विधि

सङ्कल्पयन्केन प्रकारेण कल्पयतीत्युच्यते—

वह संकल्प करते हुए किस प्रकार कल्पना करता है ? सो बतलाया जाता है—

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् ।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ॥ १३ ॥

प्रभु आत्मा अपने अन्तःकरणमें [वासनारूपसे] स्थित अन्य (लौकिक) भावोंको नानारूप करता है तथा बहिश्चित्त होकर पृथिवी आदि नियत और अनियत पदार्थोंकी भी इसी प्रकार कल्पना करता है ॥ १३ ॥

विकरोति नाना करोत्यपरान् लौकिकान् भावान् पदार्थान् शब्दादीनन्यांश्चान्तश्चित्ते वासनारूपेण व्यवस्थितानव्याकृतान् नियतांश्च पृथ्व्यादीननियतांश्च कल्पनाकालान्बहिश्चित्तः संस्तथान्तश्चित्तो मनोरथादिलक्षणानित्येवं कल्पयति प्रभुरीश्वर आत्मेत्यर्थः ॥ १३ ॥

वह चित्तके भीतर वासनारूपसे स्थित अव्याकृत लौकिक भावों—शब्दादि पदार्थोंको तथा अन्य पृथिवी आदि नियत और कल्पनाकालमें ही उत्पन्न होनेवाले अनियत पदार्थोंको बहिश्चित्त होकर एवं मनोरथादिरूप पदार्थोंको अन्तश्चित्त होकर विकृत करता अर्थात् नाना करता है—इस प्रकार प्रभु—ईश्वर अर्थात् आत्मा कल्पना करता है ॥ १३ ॥

आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं

स्वप्नवच्चित्तपरिकल्पितं सर्वमित्येतदाशङ्क्यते । यस्माच्चित्त-

स्वप्नके समान सब कुछ चित्तका ही कल्पना किया हुआ है—इस

परिकल्पितैर्मनोरथादिलक्षणैश्चित्तपरिच्छेद्यैर्वैलक्षण्यं बाह्यानामन्योन्यपरिच्छेद्यत्वमिति । सा न युक्ताशङ्का ।

विषयमें यह शङ्का होती है; क्योंकि केवल चित्तपरिकल्पित और चित्तसे ही परिच्छेद्य मनोरथादिसे बाह्य पदार्थोंकी अन्योन्यपरिच्छेद्यत्वरूप विलक्षणता है [अतः स्वप्नके समान ये मिथ्या नहीं हो सकते] ।

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है, [क्योंकि—]

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः ॥ १४ ॥

जो आन्तरिक पदार्थ केवल कल्पनाकालतक ही रहनेवाले हैं और जो बाह्य पदार्थ द्विकालिक [अर्थात् अन्योन्यपरिच्छेद्य] हैं वे सभी कल्पित हैं । उनकी विशेषताका [अर्थात् आन्तरिक पदार्थ असत्य हैं और बाह्य सत्य हैं—इस प्रकारकी भेदकल्पनाका] कोई दूसरा कारण नहीं है ॥ १४ ॥

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु चित्तपरिच्छेद्याः; नान्यश्चित्तकालव्यतिरेकेण परिच्छेदकः कालो येषां ते चित्तकालाः । कल्पनाकाल एवोपलभ्यन्त इत्यर्थः । द्वयकालाश्च भेदकाला अन्योन्यपरिच्छेद्याः । यथा—गोदोहनमास्ते; यावदास्ते तावद्गां दोग्धि यावद्गां दोग्धि तावदास्ते । तावानयमेतावान्स इति परस्पर-

जो आन्तरिक हैं अर्थात् चित्त-परिच्छेद्य हैं वे चित्तकाल हैं; जिनका चित्तकालके सिवा और कोई काल परिच्छेदक न हो उन्हें चित्तकाल कहते हैं । अर्थात् वे केवल कल्पनाके समय ही उपलब्ध होते हैं । तथा बाह्य पदार्थ दो कालवाले—भेदकालिक यानी अन्योन्यपरिच्छेद्य हैं । जैसे गोदोहनपर्यन्त बैठता है; यानी जबतक बैठता है तबतक गौ दुहता है और जबतक गौ दुहता है तबतक बैठता है । उतने समयतक यह रहता है और इतने समयतक वह रहता है—

परिच्छेद्यपरिच्छेदकत्वं बाह्यानां भेदानां ते द्वयकालाः अन्तश्चित्तकाला बाह्याश्च द्वयकालाः कल्पिता एव ते सर्वे । न बाह्यो द्वयकालत्वविशेषः कल्पितत्वव्यतिरेकेणान्यहेतुकः । अत्रापि हि स्वप्नदृष्टान्तो भवत्येव ॥१४॥

इस प्रकार बाह्य पदार्थोंका परस्पर परिच्छेद्य-परिच्छेदकत्व है; अतः वे दो कालवाले हैं । किन्तु आन्तरिक चित्तकालिक और बाह्य द्विकालिक—ये सब कल्पित ही हैं । बाह्य पदार्थोंकी जो द्विकालिकत्वरूप विशेषता है वह कल्पितत्वके सिवा किसी अन्य कारणसे नहीं है । इस विषयमें भी स्वप्नका दृष्टान्त* है ही ॥ १४ ॥

आन्तरिक और बाह्य पदार्थोंका भेद केवल इन्द्रियजनित है

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥ १५ ॥

जो आन्तरिक पदार्थ हैं वे अव्यक्त ही हैं और जो बाह्य हैं वे स्पष्ट प्रतीत होनेवाले हैं । किन्तु वे सब हैं कल्पित ही । उनकी विशेषता तो केवल इन्द्रियोंके ही भेदमें है ॥ १५ ॥

यदप्यन्तरव्यक्तत्वं भावानां मनोवासनामात्राभिव्यक्तानां स्फुटत्वं वा बहिश्चक्षुरादीन्द्रियान्तरे विशेषो नासौ भेदानामस्तित्वकृतः स्वप्नेऽपि तथा दर्शनात् । किं तर्हि ? इन्द्रियान्तरकृत एव । अतः कल्पिता एव

चित्तकी वासनामात्रसे अभिव्यक्त हुए पदार्थोंका जो अन्तःकरणमें अव्यक्तत्व (अस्फुटत्व) और बाह्य चक्षु आदि अन्य इन्द्रियोंमें जो उनका स्फुटत्व है वह विशेषता पदार्थोंकी सत्ताके कारण नहीं है, क्योंकि ऐसा ही स्वप्नमें भी देखा जाता है । तो फिर इसका क्या कारण है ? यह इन्द्रियोंके भेदके ही

* अर्थात् जाग्रत्के समान स्वप्नके भी चित्तपरिकल्पित पदार्थ कल्पनाकालिक और बाह्य पदार्थ द्विकालिक ही होते हैं; परन्तु वे होते दोनों ही मिथ्या हैं । इसी प्रकार जाग्रत्में भी समझो ।

जाग्रद्भावा अपि स्वप्नभाववदिति सिद्धम् ॥ १५ ॥

कारण है । अतः सिद्ध हुआ कि स्वप्नके पदार्थोंके समान जाग्रत्कालीन पदार्थ भी कल्पित ही हैं ॥ १५ ॥

पदार्थकल्पनाकी मूल जीवकल्पना है

बाह्याध्यात्मिकानां भावानामितरेतरनिमित्तनैमित्तिकतया कल्पनायां किं मूलमित्युच्यते—

बाह्य और आन्तरिक पदार्थोंकी परस्पर निमित्त और नैमित्तिकरूपसे कल्पना होनेमें क्या कारण है ? सो बतलाया जाता है—

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान् ।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः ॥ १६ ॥

[वह प्रभु] सबसे पहले जीवकी कल्पना करता है; फिर तरह-तरहके बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंकी कल्पना करता है । उस जीवका जैसा विज्ञान होता है वैसी ही स्मृति भी होती है ॥ १६ ॥

जीवं हेतुफलात्मकम्; अहं करोमि मम सुखदुःखे इत्येवंलक्षणम्; अनेवंलक्षण एव शुद्ध आत्मनि रज्जाविव सर्पं कल्पयते पूर्वम् । ततस्तादर्थ्येन क्रियाकारकफलभेदेन प्राणादीन्नानाविधान्भावान्बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव कल्पते ।

सबसे पहले 'मैं करता हूँ, मुझे सुख-दुःख हैं' इस प्रकारके हेतु-फलात्मक जीवकी [वह प्रभु] इससे विपरीत लक्षणोंवाले शुद्ध आत्मामें रज्जुमें सर्पके समान कल्पना करता है । फिर उसीके लिये क्रिया, कारक और फलके भेदसे प्राण आदि नाना प्रकारके बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंकी कल्पना करता है ।

तत्र कल्पनायां को हेतुरित्युच्यते । योऽसौ स्वयंकल्पितो जीवः सर्वकल्पनायामधिकृतः स

उस कल्पनामें क्या हेतु है—इसपर कहा जाता है—यह जो स्वयं कल्पना किया हुआ जीव सब प्रकारकी कल्पनाका अधिकारी है, वह जैसी

यथाविद्यः, यादृशी विद्या विज्ञानमस्येति यथाविद्यः; तथाविधैव स्मृतिस्तस्येति तथास्मृतिर्भवति स इति । अतो हेतुकल्पनाविज्ञानात्फलविज्ञानं ततो हेतुफलस्मृतिस्ततस्तद्विज्ञानं तदर्थक्रियाकारकतत्फलभेदविज्ञानानि तेभ्यस्तत्स्मृतिस्तत्स्मृतेश्च पुनस्तद्विज्ञानानीत्येवं बाह्यानाध्यात्मिकांश्चेतरेतरनिमित्तनैमित्तिकभावेनानेकधा कल्पयते ॥ १६ ॥

विद्यावाला होता है अर्थात् उसकी जैसी विद्या यानी विज्ञान होता है वैसी ही स्मृति भी होती है । अतः वह वैसी ही स्मृतिवाला होता है । इस प्रकार [अन्नभक्षणादि] हेतुकी कल्पनाके विज्ञानसे ही [तृप्ति आदि] फलका विज्ञान होता है; उससे [दूसरे दिन भी] उन हेतु और फलकी स्मृति होती है और उस स्मृतिसे उनका ज्ञान तथा उनके लिये होनेवाले [पाकादि] कर्म, [तण्डुलादि] कारक और उनके [तृप्ति आदि] फलभेदके ज्ञान होते हैं । उनसे उनकी स्मृति होती है तथा उस स्मृतिसे फिर उन [हेतु आदि] के विज्ञान होते हैं । इस प्रकार यह जीव बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंकी पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिकभावसे अनेक प्रकार कल्पना करता है ॥ १६ ॥

जीवकल्पनाका हेतु अज्ञान है

तत्र जीवकल्पना सर्वकल्पनामूलमित्युक्तं सैव जीवकल्पना किंनिमित्तेति दृष्टान्तेन प्रतिपादयति—

यहाँतक जीवकल्पना ही सब कल्पनाओंका मूल है—यह कहा गया; किन्तु वह जीव-कल्पना है किस निमित्तसे ?—इस बातका दृष्टान्तसे प्रतिपादन करते हैं—

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार [अपने स्वरूपसे] निश्चय न की हुई रज्जु अन्धकारमें सर्प-धारा आदि भावोंसे कल्पना की जाती है उसी प्रकार आत्मामें भी तरह-तरहकी कल्पनाएँ हो रही हैं ॥ १७ ॥

यथा लोके स्वेन रूपेणानिश्चितानवधारितैवमेवेति रज्जुर्मन्दान्धकारे किं सर्प उदकधारा दण्ड इति वानेकधा विकल्पिता भवति पूर्वं स्वरूपानिश्चयनिमित्तम् यदि हि पूर्वमेव रज्जुः स्वरूपेण निश्चिता स्यात्; न सर्पादिविकल्पोऽभविष्यद् यथा स्वहस्ताङ्गुल्यादिषु, एष दृष्टान्तः । तद्वद्धेतुफलादिसंसारधर्मानर्थविलक्षणतया स्वेन विशुद्धविज्ञप्तिमात्रसत्ताद्वयरूपेणानिश्चितत्वाज्जीवप्राणाद्यनन्तभावभेदैरात्मा विकल्पित इत्येष सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार अपने स्वरूपसे अनिश्चित अर्थात् यह ऐसी ही है—इस प्रकार निर्धारण न की हुई रज्जु मन्द अन्धकारमें 'यह सर्प है ?' 'जलकी धारा है ?' अथवा 'दण्ड है ?' इस प्रकार—पहलेसे स्वरूपका निश्चय न होनेके कारण—अनेक प्रकारसे कल्पना की जाती है; यदि रज्जु पहले ही अपने स्वरूपसे निश्चित हो तो उसमें सर्पादिका विकल्प नहीं हो सकता, जैसे कि अपने हाथकी अँगुली आदिमें [ऐसा कोई विकल्प नहीं होता] । यह एक दृष्टान्त है । इसी तरह हेतु-फलादि सांसारिक धर्मरूप अनर्थसे विलक्षण अपने विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र अद्वितीय सत्तास्वरूपसे निश्चित न होनेके कारण ही आत्मा जीव एवं प्राण आदि अनन्त विभिन्न भावोंसे विकल्पित हो रहा है—यही सम्पूर्ण उपनिषदोंका सिद्धान्त है ।१७।

अज्ञाननिवृत्ति ही आत्मज्ञान है

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार रज्जुका निश्चय हो जानेपर उसमें [सर्पादिका] विकल्प निवृत्त हो जाता है तथा 'यह रज्जु ही है' ऐसा अद्वैत निश्चय होता है उसी प्रकार आत्माका निश्चय है ॥ १८ ॥

रज्जुरेवेति निश्चये सर्वविकल्पनिवृत्तौ रज्जुरेवेति चाद्वैतं यथा तथा "नेति नेति" (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इति सर्वसंसारधर्मशून्यप्रतिपादकशास्त्रजनितविज्ञानसूर्यालोककृतात्मविनिश्चयः "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) "अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" (बृ० उ० २ । ५ । १९) "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २ । १ । २) "अजरोऽमरोऽमृतोऽभयः" (बृ० उ० ४ । ४ । २५) "एक एवाद्वयः" इति ॥ १८ ॥

'यह रज्जु ही है' ऐसा निश्चय होनेसे सर्पादि विकल्पकी निवृत्ति हो जानेपर जिस प्रकार 'यह रज्जु ही है' ऐसा अद्वैत-भाव हो जाता है उसी प्रकार "नेति-नेति" इस सर्वसंसारधर्मशून्य आत्माका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रसे उत्पन्न हुए विज्ञानरूप सूर्यके प्रकाशसे आत्माका ऐसा निश्चय होता है कि "यह सब आत्मा ही है" "वह कारण-कार्यसे रहित और अन्तर्बाह्यशून्य है" "बाहर-भीतरसे (कार्य-कारण दोनों दृष्टियोंसे) अजन्मा है" "वह जराशून्य अमर, अमृत और अभय है" तथा "वह एक अद्वितीय ही है" ॥ १८ ॥

यद्यात्मैक एवेति निश्चयः कथं प्राणादिभिरनन्तैर्भावैरेतैः संसारलक्षणैर्विकल्पित इति, उच्यते, शृणु—

यदि यह बात निश्चित है कि आत्मा एक ही है तो वह इन संसाररूप प्राणादि अनन्त भावोंसे कैसे विकल्पित हो रहा है ? सो इस विषयमें कहा जाता है, सुनो—

विकल्पकी मूल माया है

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः ।
मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम् ॥ १९ ॥

यह जो इन प्राणादि अनन्त भावोंसे विकल्पित हो रहा है सो यह उस प्रकाशमय आत्मदेवकी माया ही है, जिससे कि वह स्वयं ही मोहित हो रहा है ॥ १९ ॥

मायैषा तस्यात्मनो देवस्य। यथा मायाविना विहिता माया गगनमतिविमलं कुसुमितैः सपलाशैस्तरुभिराकीर्णमिव करोति तथेयमपि देवस्य माया ययायं स्वयमपि मोहित इव मोहितो भवति। "मम माया दुरत्यया" (गीता ७।१४) इत्युक्तम् ॥१९॥

यह उस आत्मदेवकी माया है। जिस प्रकार मायावीद्वारा प्रयोग की हुई माया अति निर्मल आकाशको पल्लवयुक्त पुष्पित पादपोंसे परिपूर्ण कर देती है उसी प्रकार यह भी उस देवकी माया है जिससे कि यह स्वयं भी मोहित हुएके समान मोह-ग्रस्त हो रहा है। "मेरी मायाका पार पाना कठिन है" ऐसा [भगवान्‌ने] कहा भी है ॥ १९ ॥

मूलतत्त्वसम्बन्धी विभिन्न मतवाद

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः ॥ २० ॥

प्राणोपासक कहते हैं—'प्राण ही जगत्‌का कारण है।' भूतज्ञों (प्रत्यक्षवादी चार्वाकादि) का कथन है—'[पृथिवी आदि] चार भूत ही परमार्थ हैं।' गुणोंको जाननेवाले [सांख्यवादी] कहते हैं—'गुण ही सृष्टिके हेतु हैं।' तथा तत्त्वज्ञ (शैव) कहते हैं—'[आत्मा, अविद्या और शिव—ये तीन] तत्त्व ही जगत्‌के प्रवर्तक हैं' ॥ २० ॥

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ॥ २१ ॥

पादवेत्ता कहते हैं—'विश्व आदि पाद ही सम्पूर्ण व्यवहारके हेतु हैं।' [वात्स्यायनादि] विषयज्ञ कहते हैं—'शब्दादि विषय ही सत्य वस्तु हैं।'

लोकवेत्ताओं (पौराणिकों) का कथन है—'लोक ही सत्य हैं ।' तथा देवोपासक कहते हैं—'इन्द्रादि देवता ही सृष्टिके सञ्चालक हैं' ॥ २१ ॥

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः ।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ॥ २२ ॥

वेदज्ञ कहते हैं—'ऋगादि चार वेद ही परमार्थ हैं ।' याज्ञिक कहते हैं—'यज्ञ ही संसारके आदिकारण हैं ।' भोक्ताको जाननेवाले भोक्ताकी ही प्रधानता बतलाते हैं तथा भोज्यके मर्मज्ञ (सूपकारादि) भोज्यपदार्थोंकी ही सारवत्ताका प्रतिपादन करते हैं ॥ २२ ॥

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः ॥ २३ ॥

सूक्ष्मवेत्ता कहते हैं—'आत्मा सूक्ष्म (अणु-परिमाण) है ।' स्थूलवादी (चार्वाकादि) कहते हैं—'वह स्थूल है ।' मूर्त्तवादी (साकारोपासक) कहते हैं—'परमार्थ वस्तु मूर्तिमान् है ।' तथा अमूर्त्तवादियों (शून्यवादियों) का कथन है कि वह मूर्त्तिहीन है ॥ २३ ॥

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः ।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ॥ २४ ॥

कालज्ञ (ज्योतिषी लोग) कहते हैं—'काल ही परमार्थ है ।' दिशाओंके जाननेवाले (स्वरोदयशास्त्री) कहते हैं—'दिशाएँ ही सत्य वस्तु हैं ।' वादवेत्ता कहते हैं—'[धातुवाद, मन्त्रवाद आदि] वाद ही सत्य वस्तु हैं ।' तथा भुवनकोषके ज्ञाताओंका कथन है कि भुवन ही परमार्थ हैं ॥ २४ ॥

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः ।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ॥ २५ ॥

मनोविद् कहते हैं—'मन ही आत्मा है', बौद्धोंका कथन है—'बुद्धि ही आत्मा है', चित्तज्ञोंका विचार है—'चित्त ही सत्यवस्तु है;' तथा धर्माधर्मवेत्ता (मीमांसक) धर्माधर्मको ही परमार्थ मानते हैं ॥ २५ ॥

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे ।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ॥ २६ ॥

कोई (सांख्यवादी) पच्चीस तत्त्वोंको, कोई (पातञ्जलमतावलम्बी) छब्बीसोंको और कोई (पाशुपत) इकतीस तत्त्वोंको सत्य मानते हैं* तथा अन्य मतावलम्बी परमार्थको अनन्त भेदोंवाला मानते हैं ॥ २६ ॥

लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः ।
स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरमथापरे ॥ २७ ॥

लौकिक पुरुष लोकानुरञ्जनको और आश्रमवादी आश्रमोंको ही प्रधान बतलाते हैं । लिङ्गवादी स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्गोंको तथा दूसरे लोग पर और अपर ब्रह्मको ही परमार्थ मानते हैं ॥ २७ ॥

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः ।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ॥ २८ ॥

सृष्टिवेत्ता कहते हैं—'सृष्टि ही सत्य है', लयवादी कहते हैं—'लय ही परमार्थ वस्तु है' तथा स्थितिवेत्ता कहते हैं—'स्थिति ही सत्य है ।' इस प्रकार ये [कहे हुए और बिना कहे हुए] सभी वाद इस आत्मतत्त्वमें सर्वदा कल्पित हैं ॥ २८ ॥

प्राणः प्राज्ञो बीजात्मा तत्कार्यभेदा हीतरे स्थित्यन्ताः । अन्ये च सर्वे लौकिकाः सर्वप्राणिपरिकल्पिता भेदा रज्ज्वामिव सर्पादयः तच्छून्य आत्म-

प्राण बीजस्वरूप प्राज्ञको कहते हैं । उपर्युक्त स्थितिपर्यन्त सब विकल्प उसीके कार्यभेद हैं, सम्पूर्ण प्राणियोंसे परिकल्पित अन्य सब लौकिकधर्म रज्जुमें सर्पके समान उन विकल्पोंसे शून्य आत्मामें आत्म-

* प्रधान, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय और मन—ये सांख्यवादियोंके पच्चीस तत्त्व हैं; योगी इनके सिवा छब्बीसवाँ तत्त्व ईश्वर मानते हैं और पाशुपतोंके मतमें इन पच्चीस तत्त्वोंके अतिरिक्त राग, अविद्या, नियति, काल, कला और माया—ये छः तत्त्व और हैं ।

न्यात्मस्वरूपानिश्चयहेतोरविद्यया कल्पिता इति पिण्डीकृतोऽर्थः । प्राणादिश्लोकानां प्रत्येकं पदार्थव्याख्याने फल्गुप्रयोजनत्वात्सिद्धपदार्थत्वाच्च यत्नो न कृतः ॥ २८ ॥

स्वरूपके अनिश्चयके कारण अविद्यासे कल्पना किये गये हैं—यह इन श्लोकोंका समुदायार्थ है । प्राणादि श्लोकोंके प्रत्येक पदार्थके व्याख्यानका अत्यन्त अल्प प्रयोजन होनेके कारण तथा वे सिद्ध पदार्थ हैं इसलिये प्रयत्न नहीं किया ॥ २८ ॥

किं बहुना—

अधिक क्या ?—

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति ।
तं चावति स भूत्वासौ तद्ग्रहः समुपैति तम् ॥ २९ ॥

[गुरु] जिसे जो भाव दिखला देता है वह उसीको आत्मस्वरूपसे देखने लगता है तथा इस प्रकार देखनेवाले उस व्यक्तिकी वह भाव तद्रूप होकर रक्षा करने लगता है । फिर उस (भाव) में होनेवाला अभिनिवेश उस [के आत्मभाव] को प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

प्राणादीनामन्यतममुक्तमनुक्तं वान्यं भावं पदार्थं दर्शयेद्यस्याचार्योऽन्यो वाप्त इदमेव तत्त्वमिति स तं भावमात्मभूतं पश्यत्ययमहमिति वा ममेति वा । तं च द्रष्टारं स भावोऽवति यो दर्शितो भावोऽसौ भूत्वा रक्षति । स्वेनात्मना सर्वतो निरुणद्धि ।

जिसका आचार्य अथवा कोई अन्य आप्त पुरुष जिसे प्राणादिमेंसे किसी कहे हुए अथवा किसी बिना कहे हुए अन्य भावको भी 'यही परमार्थ तत्त्व है' इस प्रकार दिखा देता है वह उसी भावको आत्मभूत हुआ देखता है [और समझता है कि—] 'मैं यही हूँ' अथवा 'यही मेरा स्वरूप है' । तथा उस द्रष्टाकी भी, जो भाव उसे दिखलाया गया है, तद्रूप होकर रक्षा करता है; अर्थात् उसे सब प्रकार अपने स्वरूप-

तस्मिन्ग्रहस्तद्ग्रहस्तदभिनिवेशः। इदमेव तत्त्वमिति स तं ग्रहीतारमुपैति। तस्यात्मभावं निगच्छतीत्यर्थः॥ २९॥

से निरुद्ध कर देता है। उसी भावमें जो ग्रह—आग्रह अर्थात् 'यही तत्त्व है' इस प्रकारका अभिनिवेश है वह उस भावके ग्रहण करनेवालेको प्राप्त होता है, अर्थात् उसके आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है॥२९॥

आत्मा सर्वाधिष्ठान है ऐसा जाननेवाला ही परमार्थदर्शी है

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः॥ ३०॥

[इस प्रकार सबका अधिष्ठान होनेके कारण] इन प्राणादि अपृथक् भावोंसे [पृथक् न होनेपर भी अज्ञानियोंद्वारा] वह आत्मा भिन्न ही माना गया है। इस बातको जो वास्तविकरूपसे जानता है वह निःशंक होकर [वेदार्थकी] कल्पना कर सकता है॥ ३०॥

एतैः प्राणादिभिरात्मनोऽपृथग्भूतैरपृथग्भावैरेष आत्मा रज्जुरिव सर्पादिविकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितोऽभिलक्षितो निश्चितो मूढैरित्यर्थः। विवेकिनां तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो नात्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्तीत्यभिप्रायः "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० उ० २। ४। ६, ४। ५। ७) इति श्रुतेः।

रज्जुमें कल्पित सर्पादि भावोंसे रज्जुके समान यह आत्मा अपनेसे अपृथग्भूत प्राणादि अपृथग्भावोंसे पृथक् ही है—ऐसा मूर्खोंको लक्षित—अभिलक्षित अर्थात् निश्चित हो रहा है। विवेकियोंकी दृष्टिमें तो "यह जो कुछ है सब आत्मा ही है" इस श्रुतिके अनुसार रज्जुमें कल्पित सर्पादिके समान ये प्राणादि आत्मासे भिन्न हैं ही नहीं—ऐसा इसका तात्पर्य है।

एवमात्मव्यतिरेकेणासत्त्वं रज्जुसर्पवदात्मनि कल्पितानां-

इस प्रकार रज्जुमें कल्पित सर्पके समान जो आत्मामें कल्पित पदार्थों-

मात्मानं च केवलं निर्विकल्पं यो वेद तत्त्वेन श्रुतितो युक्तितश्च सोऽविशङ्कितो वेदार्थं विभागतः कल्पयेत्कल्पयतीत्यर्थः—इदमेवं-परं वाक्यमदोऽन्यपरमिति। न ह्यनध्यात्मविद्वेदाञ्ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः। "न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते" (मनु० ६। ८२) इति हि मानवं वचनम्॥ ३०॥

का आत्माके सिवा असत्यत्व समझता है तथा आत्माको श्रुति और युक्तिसे परमार्थतः निर्विकल्प जानता है वह निःशंक होकर वेदार्थकी 'यह वाक्य इस अर्थका प्रतिपादन करनेवाला है और यह अन्यार्थपरक है' इस प्रकार विभागपूर्वक कल्पना कर सकता है—यह इसका तात्पर्य है। जो अध्यात्मतत्त्वको नहीं जानता वह पुरुष तत्त्वतः वेदोंको भी नहीं जान सकता। "अध्यात्मतत्त्वको न जाननेवाला पुरुष किसी भी कर्मफल-को प्राप्त नहीं करता" ऐसा मनुजी-का भी वचन है॥ ३०॥

द्वैतका असत्यत्व वेदान्तवेद्य है

यदेतद्द्वैतस्यासत्त्वमुक्तं युक्तितस्तदेतद्वेदान्तप्रमाणावगत-मित्याह—

यह जो युक्तिपूर्वक द्वैतकी असत्यता बतलायी है वह वेदान्त-प्रमाणसे जानी गयी है—इस आशयसे कहते हैं—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः॥ ३१॥

जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसा गन्धर्व-नगर जाना गया है उसी प्रकार विचक्षण पुरुषोंने वेदान्तोंमें इस जगत्को देखा है॥ ३१॥

स्वप्नश्च माया च स्वप्नमाये असद्वस्त्वात्मिके असत्यौ सद्व-

अविवेकी पुरुषोंद्वारा स्वप्न और माया, जो असद्वस्तुरूप अर्थात्

स्वात्मिके इव लक्ष्येते अविवेकिभिः। यथा च प्रसारितपण्यापणगृहप्रासादस्त्रीपुंजनपदव्यवहाराकीर्णमिव गन्धर्वनगरं दृश्यमानमेव सदकस्मादभावतां गतं दृष्टम्, यथा च स्वप्नमाये दृष्टे असद्रूपे, तथा विश्वमिदं द्वैतं समस्तमसद्दृष्टम् ।

असत्य हैं, सद्वस्तुरूप देखे जाते हैं। जिस प्रकार विस्तृत दूकान, बाजार, गृह, प्रासाद और नगरनिवासी स्त्री-पुरुषोंके व्यवहारसे भरपूर-सा गन्धर्व-नगर देखते-ही-देखते अकस्मात् अभावको प्राप्त होता देखा गया है, और जिस प्रकार ये स्वप्न और माया असद्रूप देखे गये हैं, उसी प्रकार यह विश्व अर्थात् समस्त द्वैत असत् देखा गया है।

क्वेत्याह—वेदान्तेषु । "नेह नानास्ति किंचन" (क० उ० २।१। ११ बृ० उ० ४।४।१९) "इन्द्रो मायाभिः" (बृ० उ० २।५।१९) "आत्मैवेदमग्र आसीत्" (बृ० उ० १।४।१७) "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" (बृ० उ० १।४।१०) "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ० उ० १।४।२) "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४।३।२३) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० उ० ४।५।१५) इत्यादिषु विचक्षणैर्निपुणतरवस्तुदर्शिभिः पण्डितैरित्यर्थः ।

कहाँ देखा गया है ? इसपर कहते हैं—वेदान्तोंमें। "यहाँ नाना कुछ नहीं है" "इन्द्रने मायासे" "पहले यह आत्मा ही थी" "पहले यह ब्रह्म ही था" "दूसरेसे निश्चय भय होता है" "उससे दूसरा कोई नहीं है" "यहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है" इत्यादि वेदान्तोंमें विचक्षण अर्थात् निपुणतर वस्तुदर्शी पण्डितोंद्वारा देखा गया है—यह इसका तात्पर्य है।

"तमःश्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम् । नाशप्रायं सुखा-

"यह जगत् अँधेरे गढ़ेके समान और वर्षाकी बूँदके सदृश नाशप्राय, सुखसे रहित और नाशके अनन्तर अभावको प्राप्त हो जानेवाला देखा

द्वीनं नाशोत्तरमभावगम्" इति व्याससमृतेः ॥ ३१ ॥

गया है"—इस व्यासस्मृतिसे भी यही बात प्रमाणित होती है ॥३१॥

परमार्थ क्या है ?

प्रकरणार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः । यदा वितथं द्वैतमात्मैवैकः परमार्थतः संस्तदेदं निष्पन्नं भवति सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्याविषय एवेति । तदा—

यह (आगेका) श्लोक इस प्रकरणके विषयका उपसंहार करनेके लिये है । जब कि द्वैत असत् है और एकमात्र आत्मा ही परमार्थतः सत् है तो यह निश्चित होता है कि यह सारा लौकिक और वैदिक व्यवहार अविद्याका ही विषय है । उस अवस्थामें—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३२ ॥

न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है—यही परमार्थता है ॥ ३२ ॥

न निरोधः—निरोधनं निरोधः प्रलयः, उत्पत्तिर्जननम्, बद्धः संसारी जीवः, साधकः साधनवान्मोक्षस्य, मुमुक्षुर्मोचनार्थी, मुक्तो विमुक्तबन्धः । उत्पत्तिप्रलययोरभावाद्बद्धादयो न सन्तीत्येषा परमार्थता ।

न निरोध है । निरोधनका नाम निरोध यानी प्रलय है, उत्पत्ति-जननको, बद्ध—संसारी जीवको, साधक मोक्षके साधनवालेको, मुमुक्षु मुक्त होनेकी इच्छावालेको और मुक्त बन्धनसे छूटे हुएको कहते हैं । उत्पत्ति और प्रलयका अभाव होनेके कारण ये बद्ध आदि भी नहीं हैं—यही परमार्थता है ।

कथमुत्पत्तिप्रलययोरभावः, इत्युच्यते, द्वैतस्यासत्त्वात् । "यत्र

उत्पत्ति और प्रलयका अभाव किस प्रकार है ? इसपर कहा जाता

हि द्वैतमिव भवति" (बृ०उ० २।४।१४) "य इह नानेव पश्यति" (क०उ०२।१।१०, ११) "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७।२५।२) "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (नृसिंहोत्तर० ७) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० उ० २ । ४ । ६, ४ । ५ । ७) इत्यादिनानाश्रुतिभ्यो द्वैतस्यासत्त्वं सिद्धम्।

सतो ह्युत्पत्तिः प्रलयो वा स्यान्नासतः शशविषाणादेः । नाप्यद्वैतमुत्पद्यते लीयते वा । अद्वयं चोत्पत्तिप्रलयवच्चेति विप्रतिषिद्धम् ।

यस्तु पुनर्द्वैतसंव्यवहारः स रज्जुसर्पवदात्मनि प्राणादिलक्षणः कल्पित इत्युक्तम् । न हि मनोविकल्पनाया रज्जुसर्पादिलक्षणाया रज्ज्वां प्रलय उत्पत्तिर्वा । न च मनसि रज्जुसर्पस्योत्पत्तिः प्रलयो वा न चोभयतो वा । तथा मानसत्वा-

है—द्वैतकी असत्यता होनेके कारण [इनकी भी सत्ता नहीं है] । "जहाँ द्वैत-जैसा होता है" "जो यहाँ नानावत् देखता है" "यह सब आत्मा ही है" "यह सब ब्रह्म ही है" "एक ही अद्वितीय" "यह जो कुछ है सब आत्मा है" इत्यादि अनेकों श्रुतियोंसे द्वैतकी असत्यता सिद्ध होती है ।

उत्पत्ति अथवा प्रलय सत्की ही हो सकती है, शशश्रृङ्गादि असद्वस्तुकी नहीं हो सकती । इसी प्रकार अद्वैत वस्तु भी उत्पन्न या लीन नहीं होती । जो अद्वय हो वह उत्पत्ति-प्रलयवान् भी हो—यह तो सर्वथा विरुद्ध है ।

इसके सिवा जो प्राणादिरूप द्वैतव्यवहार है वह रज्जुमें सर्पके समान आत्मामें ही कल्पित है—यह बात पहले कही जा चुकी है । रज्जुसर्पादिरूप मनोविकल्पकी भी रज्जुमें उत्पत्ति या प्रलय नहीं होती । रज्जुसर्पकी उत्पत्ति या प्रलय न तो मनमें ही होती है और न [मन और रज्जु] दोनोंहीमें । इसी प्रकार द्वैतका मनोमयत्व भी समान ही है,

विशेषाद्द्वैतस्य । न हि नियते मनसि सुषुप्ते वा द्वैतं गृह्यते । अतो मनोविकल्पनामात्रं द्वैतमिति सिद्धम् । तस्मात्सूक्तं द्वैतस्यासत्त्वान्निरोधाद्यभावः परमार्थतेति ।

क्योंकि मनके समाहित अथवा सुषुप्त हो जानेपर द्वैतका ग्रहण नहीं होता । अतः यह सिद्ध हुआ कि द्वैत मनकी कल्पनामात्र है । इसलिये यह ठीक ही कहा है कि द्वैतकी असत्यता होनेके कारण निरोधादिका अभाव ही परमार्थता है ।

शून्यवादाशङ्का तन्निवर्तनञ्च

यद्येवं द्वैताभावे शास्त्रव्यापारो नाद्वैते विरोधात् । तथा च सत्यद्वैतस्य वस्तुत्वे प्रमाणाभावाच्छून्यवाद-प्रसङ्गः, द्वैतस्य चाभावात् ।

पूर्व०—यदि ऐसा है तो शास्त्रका व्यापार द्वैतका अभाव प्रतिपादन करनेमें ही है, अद्वैत-बोधमें नहीं; क्योंकि इससे विरोध आता है ।* ऐसी अवस्थामें अद्वैतके वस्तुत्वमें कोई प्रमाण न होनेके कारण शून्यवादका प्रसंग उपस्थित हो जाता है; क्योंकि द्वैतका तो अभाव ही है ।

न; रज्जुसर्पादिविकल्पनाया निरास्पदत्वानुपपत्तिरिति प्रत्युक्तमेतत्कथमुज्जीवयसीत्याह—रज्जुरपि सर्वविकल्पस्यास्पदभूता विकल्पितैवेति दृष्टान्तानुपपत्तिः ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि रज्जु-सर्पादि विकल्पका निराधार होना सम्भव नहीं है—इस प्रकार पहले निराकरण कर दिये जानेपर भी इसी शंकाको फिर क्यों उठाता है? इसीपर [शून्यवादी] कहता है—'सर्पभ्रमकी अधिष्ठानभूता रज्जु भी कल्पिता ही है । इसलिये यह दृष्टान्त ठीक नहीं है ।'

न, विकल्पनाक्षयेऽविकल्पितस्याविकल्पितत्वादेव सत्त्वोप-

सिद्धान्ती—नहीं, कल्पनाका क्षय हो जानेपर अविकल्पित आत्मा-

* क्योंकि द्वैतका अभाव प्रतिपादन करनेसे ही यह नहीं समझा जा सकता कि शास्त्रको अद्वैतकी सत्ता अभीष्ट है ।

पत्तेः । रज्जुसर्पवदसत्त्वमिति चेत् ? न, एकान्तेनाविकल्पितत्वादविकल्पितरज्ज्वंशवत्प्राक् सर्पाभावविज्ञानात् । विकल्पयितुश्च प्राग्विकल्पनोत्पत्तेः सिद्धत्वाभ्युपगमादसत्त्वानुपपत्तिः ।

की सत्ता उसके अविकल्पितत्वके कारण ही सम्भव हो सकती है । यदि कहो कि रज्जु-सर्पके समान उसकी असत्ता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह अविकल्पित रज्जु-अंशके समान सर्पाभावके विज्ञानके पहलेसे ही सर्वथा अविकल्पितरूपसे विद्यमान है । इसके सिवा, जो विकल्पना करनेवाला होता है उसे विकल्पकी उत्पत्तिसे पहले ही विद्यमान स्वीकार करनेके कारण उसकी असत्ता नहीं मानी जा सकती ।

कथं पुनः स्वरूपे व्यापाराभावे शास्त्रस्य द्वैतविज्ञाननिवर्तकत्वम् ?

*पूर्व*०—किन्तु आत्मस्वरूपमें प्रमाणकी गति न होनेपर भी शास्त्र द्वैतविज्ञानका निवर्तक कैसे है ?

नैष दोषः । रज्ज्वां सर्पादिवदात्मनि द्वैतस्याविद्याध्यस्तत्वात् । कथम् ? सुख्यहं दुःखी मूढो जातो मृतो जीर्णो देहवान् पश्यामि व्यक्तोऽव्यक्तः कर्ता फली संयुक्तो वियुक्तः क्षीणो वृद्धोऽहं ममैत इत्येवमादयः सर्वे आत्मन्यध्यारोप्यन्ते । आत्मै-

सिद्धान्ती—[यहाँ] यह दोष नहीं है, क्योंकि रज्जुमें सर्पादिके समान आत्मामें अविद्याके कारण द्वैतका अध्यास है । किस प्रकार ?—'मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ, मूढ हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ, मरा हूँ, जराग्रस्त हूँ, देहधारी हूँ, देखता हूँ, व्यक्त हूँ, अव्यक्त हूँ, कर्ता हूँ, फलवान् हूँ, संयुक्त हूँ, वियुक्त हूँ, क्षीण हूँ, वृद्ध हूँ, ये मेरे हैं'—इत्यादि प्रकारके सम्पूर्ण विकल्प आत्मामें आरोपित किये जाते हैं तथा आत्मा इनमें अनुस्यूत है, क्योंकि

तेष्वनुगतः सर्वत्राव्यभिचारात् । यथा सर्पधारादिभेदेषु रज्जुः ।

यदा चैवं विशेष्यस्वरूपप्रत्ययस्य सिद्धत्वान्न कर्तव्यत्वं शास्त्रेण । अकृतकर्तृ च शास्त्रं कृतानुकारित्वेऽप्रमाणम् । यतोऽविद्याध्यारोपितसुखित्वादिविशेषप्रतिबन्धादेवात्मनः स्वरूपेणानवस्थानं स्वरूपावस्थानं च श्रेय इति सुखित्वादिनिवर्तकं शास्त्रम् आत्मन्यसुखित्वादिप्रत्ययकरणेन नेति नेत्यस्थूलादिवाक्यैः । आत्मस्वरूपवदसुखित्वाद्यपि सुखित्वादिभेदेषु नानुवृत्तोऽस्ति धर्मः । यद्यनुवृत्तः स्यान्नाध्यारोपितसुखित्वादिलक्षणो विशेषः । यथोष्णत्वगुणविशेषवत्यग्नौ शीतता । तस्मान्निर्विशेष एवात्मनि सुखित्वादयो विशेषाः

उसका कहीं भी व्यभिचार नहीं है, जैसे कि सर्प और धारा आदि भेदोंमें रज्जु ।

जब कि ऐसी बात है तो विशेष्यरूप ब्रह्मके स्वरूपकी प्रतीति सिद्ध होनेके कारण उसके सम्बन्धमें शास्त्रको कुछ कर्तव्य नहीं है । शास्त्र तो असिद्ध वस्तुको सिद्ध करनेवाला है; सिद्ध वस्तुका अनुवाद करनेसे वह प्रमाण नहीं माना जाता । क्योंकि अविद्यासे आरोपित सुखित्व आदि विशेष प्रतिबन्धकोंके कारण ही आत्माकी स्वरूपसे स्थिति नहीं है, और स्वरूपसे स्थिति ही श्रेय है; इसलिये 'नेति-नेति' और 'अस्थूलम्' आदि वाक्योंसे आत्मामें असुखित्वादिकी प्रतीति करानेके द्वारा शास्त्र [उसमें आरोपित] सुखित्व आदिकी निवृत्ति करनेवाला है । आत्मस्वरूपके समान असुखित्व आदि भी सुखित्व आदि भेदोंमें अनुवृत्त धर्म नहीं है । यदि वह भी अनुवृत्त होता तो उसमें सुखित्व आदिरूप विशेष धर्मका आरोप नहीं किया जा सकता था, जिस प्रकार कि उष्णत्वधर्मविशिष्ट अग्निमें शीतत्वका आरोप नहीं किया जा सकता । अतः सुखित्वादि विशेष निर्विशेष

कल्पिताः। यत्त्वसुखित्वादिशास्त्रमात्मनस्तत्सुखित्वादि विशेषनिवृत्त्यर्थमेवेति सिद्धम्। "सिद्धं तु निवर्तकत्वात्" इत्यागमविदां सूत्रम् ॥ ३२ ॥

आत्मामें ही कल्पना किये गये हैं। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माके विषयमें जो असुखित्व आदि शास्त्र है वह सुखित्व आदि विशेषकी निवृत्तिके ही लिये है। शास्त्रवेत्ताओंका सूत्र भी है—"[सुखित्व आदि धर्मोंका] निवर्त्तक होनेसे [अस्थूलम् आदि] शास्त्रकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है" ॥ ३२ ॥

अद्वैतभाव ही मङ्गलमय है

पूर्वश्लोकार्थस्य हेतुमाह--

पूर्व श्लोकके अर्थका हेतु बतलाते हैं—

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्माद्द्वयता शिवा ॥ ३३ ॥

यह (आत्मतत्त्व) प्रमाणादि असद्भावोंसे और अद्वैतरूपसे कल्पित है। वे असद्भाव भी अद्वैतसे ही कल्पना किये गये हैं। इसलिये अद्वैतभाव ही मङ्गलमय है ॥ ३३ ॥

यथा रज्ज्वामसद्भिः सर्पधारादिभिरद्वयेन च रज्जुद्रव्येण सतायं सर्प इयं धारा दण्डोऽयमिति वा रज्जुद्रव्यमेव कल्प्यत एवं प्राणादिभिरनन्तैरसद्भिरेवाविद्यमानैः न परमार्थतः—न ह्यप्रचलिते मनसि कश्चिद्भाव

जिस प्रकार रज्जुमें अविद्यमान सर्प धारा आदि भावोंसे तथा विद्यमान अद्वितीय रज्जुद्रव्यसे 'यह सर्प है, यह धारा है, यह दण्ड है' इस प्रकार रज्जुद्रव्य ही कल्पना किया जाता है उसी प्रकार प्राणादि अनन्त असत्—अविद्यमान अर्थात् जो परमार्थतः नहीं हैं, [उन भावोंसे आत्मा विकल्पित हो रहा है]—

उपलक्षयितुं शक्यते केनचित्; न चात्मनः प्रचलनमस्ति; प्रचलितस्यैवोपलभ्यमाना भावा न परमार्थतः सन्तः कल्पयितुं शक्याः—अतोऽसद्भिरेव प्राणादिभावैरद्वयेन च परमार्थसतात्मना रज्जुवत्सर्वविकल्पास्पदभूतेनायं स्वयमेवात्मा कल्पितः; सदैकस्वभावोऽपि सन् ।

क्योंकि चित्तके चलायमान न होनेपर किसीके द्वारा कोई भाव उपलक्षित नहीं हो सकता, और आत्मामें प्रचलन है नहीं; तथा केवल चलायमान चित्तमें ही उपलब्ध होनेवाले भाव परमार्थतः सत्य हैं—ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । अतः यह आत्मा, स्वयं एकमात्र सत्स्वभाव होनेपर भी असत्स्वरूप प्राणादि भावोंसे तथा रज्जुके समान सब प्रकारके विकल्पके आश्रयभूत परमार्थ सत् आत्मस्वरूपसे कल्पित है ।

ते च प्राणादिभावा अप्यद्वयेनैव सतात्मना विकल्पिताः । न हि निरास्पदा काचित्कल्पनोपलभ्यते; अतः सर्वकल्पनास्पदत्वात्स्वेनात्मनाद्वयस्याव्यभिचारात्कल्पनावस्थायामप्यद्वयता शिवा । कल्पना एव त्वशिवाः । रज्जुसर्पादिवत्त्रासादिकारिण्यो हि ताः । अद्वयताभयातः सैव शिवा ॥ ३३ ॥

वे प्राणादि भाव भी अद्वय सत्स्वरूप आत्मासे ही कल्पना किये गये हैं, क्योंकि कोई भी कल्पना निराधार नहीं हो सकती । अतः समस्त कल्पनाकी आश्रयभूता होनेसे और अपने स्वरूपसे अद्वयका कभी व्यभिचार न होनेसे कल्पना अवस्थामें भी अद्वयता ही मङ्गलमयी है । केवल कल्पना ही अमङ्गलमयी है, क्योंकि वह रज्जु-सर्पादिके समान भय आदि उत्पन्न करनेवाली है । अद्वयता अभयरूपा है, इसलिये वही मङ्गलमयी है ॥ ३३ ॥

तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें नानात्वका अत्यन्ताभाव है

कुतश्चाद्वयता शिवा ? नानाभूतं

और भी अद्वयता क्यों मङ्गलमयी

पृथक्त्वमन्यस्यान्यस्माद्यत्र दृष्टं तत्राशिवं भवेत् ।

है ?—जहाँ एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका नानाभूत पार्थक्य देखा जाता है वही अमङ्गल हो सकता है । [किन्तु—]

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन ।
न पृथङ् नापृथक्किंचिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥ ३४ ॥

यह नानात्व न तो आत्मरूपसे है और न अपने ही स्वरूपसे कुछ है । कोई भी वस्तु न तो ब्रह्मसे पृथक् है और न अपृथक् ही—ऐसा तत्त्ववेत्ता जानते हैं ॥ ३४ ॥

न ह्यत्राद्वये परमार्थसत्यात्मनि प्राणादिसंसारजातमिदं जगदात्मभावेन परमार्थस्वरूपेण निरूप्यमाणं नाना वस्त्वन्तरभूतं भवति । यथा रज्जुस्वरूपेण प्रकाशेन निरूप्यमाणो न नानाभूतः कल्पितः सर्पोऽस्ति तद्वत् । नापि स्वेन प्राणाद्यात्मनेदं विद्यते कदाचिदपि रज्जुसर्पवत्कल्पितत्वादेव ।

इस अद्वितीय परमार्थ सत्य आत्मामें यह प्राणादि संसारजातरूप जगत् आत्मभावसे—परमार्थसत्यरूपसे निरूपण किये जानेपर नाना अर्थात् पृथक् वस्तुके अन्तर्भूत नहीं रहता । जिस प्रकार प्रकाशद्वारा रज्जुरूपसे निरूपित होनेपर कल्पित सर्प पृथक्-रूपसे नहीं रहता उसी प्रकार [परमार्थरूपसे निरूपण किया जानेपर जगत् आत्मासे पृथक् वस्तु नहीं ठहरता]; और न यह, रज्जु-सर्पके समान कल्पित होनेके कारण ही, अपने प्राणादिस्वरूपसे कभी कुछ रहता है ।

तथान्योन्यं न पृथक्प्राणादि वस्तु यथाश्वान्महिषः पृथग्विद्यत एवम् । अतोऽसत्त्वान्नापृथग्विद्यते

तथा जिस प्रकार घोड़ेसे भैंस पृथक् है उस प्रकार प्राणादि वस्तु आपसमें भी पृथक् नहीं हैं । इसीलिये असद्रूप होनेसे आपसमें अथवा

अन्योन्यं परेण वा किंचिदिति एवं परमार्थतत्त्वमात्मविदो ब्राह्मणा विदुः। अतोऽशिवहेतुत्वाभावादद्वयतैव शिवेत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

किसीके अन्यसे कोई वस्तु अपृथक् भी नहीं है—ऐसा आत्मज्ञ ब्राह्मणलोग परमार्थतत्त्वको जानते हैं। अतः अमङ्गलकी हेतुताका अभाव होनेसे अद्वयता ही मङ्गलमयी है—यह इसका तात्पर्य है ॥ ३४ ॥

इस रहस्यके साक्षी कौन थे ?

तदेतत्सम्यग्दर्शनं स्तूयते—

अब इस सम्यग्ज्ञानकी स्तुति की जाती है—

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥ ३५ ॥

जिनके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गये हैं उन वेदके पारगामी मुनियोंद्वारा ही यह निर्विकल्प प्रपञ्चोपशम अद्वय तत्त्व देखा गया है ॥ ३५ ॥

विगतरागभयद्वेषक्रोधादिसर्वदोषैः सर्वदा मुनिभिर्मननशीलैर्विवेकिभिर्वेदपारगैरवगतवेदार्थतत्त्वैर्ज्ञानिभिर्निर्विकल्पः सर्वविकल्पशून्योऽयमात्मा दृष्ट उपलब्धो वेदान्तार्थतत्परैः प्रपञ्चोपशमः— प्रपञ्चो द्वैतभेदविस्तारस्तस्योपशमोऽभावो यस्मिन्स आत्मा

जिनके राग, भय और क्रोधादि समस्त दोष निवृत्त हो गये हैं उन मुनियों अर्थात् सर्वदा मननशील विवेकियों और वेदके पारगामियों यानी वेदार्थके मर्मज्ञ वेदान्तार्थ-परायण तत्त्वज्ञानियोंद्वारा यह सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित निर्विकल्प और प्रपञ्चोपशम—द्वैतरूप, भेदके विस्तारका नाम प्रपञ्च है उसकी जिसमें निवृत्ति हो जाती है वह आत्मा प्रपञ्चोपशम है—इसीलिये जो अद्वय है ऐसा यह आत्मा पण्डित

प्रपञ्चोपशमोऽत एवाद्वयो विगतदोषैरेव पण्डितैर्वेदान्तार्थ-तत्परैः संन्यासिभिः परमात्मा द्रष्टुं शक्यः, नान्यै रागादिकलुषितचेतोभिः स्वपक्षपातिदर्शनैस्तार्किकादिभिरित्यभिप्रायः ।३५।

यानी वेदान्तार्थमें तत्पर, दोषहीन संन्यासियोंद्वारा ही देखा जा सकता है। जिनके चित्त रागादि दोषसे दूषित हैं और जिनके दर्शन अपने पक्षका आग्रह करनेवाले हैं उन अन्य तार्किकादिको इस आत्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता—यह इसका अभिप्राय है ॥ ३५ ॥

तत्त्वदर्शनका आदेश

यस्मात्सर्वानर्थप्रशमरूपत्वादद्वयं शिवमभयम्—

क्योंकि सम्पूर्ण अनर्थोंका निवृत्ति-स्थान होनेसे अद्वयत्व ही मङ्गल-मय और अभयरूप है—

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥ ३६ ॥

इसलिये इस (आत्मतत्त्व) को ऐसा जानकर अद्वैतमें मनोनिवेश करे और अद्वैततत्त्वको प्राप्तकर लोकमें जडवत् व्यवहार करे ॥ ३६ ॥

अत एवं विदित्वैनमद्वैते स्मृतिं योजयेत् । अद्वैतावगमायैव स्मृतिं कुर्यादित्यर्थः । तच्चाद्वैतमवगम्याहमस्मि परं ब्रह्मेति विदित्वाशनायाद्यतीतं साक्षादपरोक्षादजमात्मानं सर्वलोकव्यवहारातीतं

इसलिये इसे ऐसा जानकर अद्वैत-में मनोनिवेश करे अर्थात् अद्वैतबोध-के लिये ही चिन्तन करे । और उस अद्वैतको जानकर अर्थात् 'मैं ही परब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान प्राप्तकर, यानी सम्पूर्ण लोकव्यवहारसे शून्य भोजनेच्छा आदिसे अतीत; साक्षात् अपरोक्ष अजन्मा आत्माको अनुभव-कर लोकमें जडवत् आचरण करे ।

जडवल्लोकमाचरेत् । अप्रख्यापयन्नात्मानमहमेवंविध इत्यभिप्रायः ॥ ३६ ॥

तात्पर्य यह है कि 'मैं ऐसा हूँ' इस प्रकार अपनेको प्रकट न करता हुआ व्यवहार करे ॥ ३६ ॥

तत्त्वदर्शीका आचरण

कया चर्यया लोकमाचरेदित्याह—

लोकमें कैसे व्यवहारसे आचरण करे ? इसपर कहते हैं—

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ ३७ ॥

यतिको स्तुति, नमस्कार और स्वधाकार (पैत्रकर्म) से रहित हो चल (शरीर) और अचल (आत्मा) में ही विश्राम करनेवाला होकर यादृच्छिक (अनायासलब्ध वस्तुद्वारा सन्तुष्ट रहनेवाला) हो जाना चाहिये ॥ ३७ ॥

स्तुतिनमस्कारादिसर्वकर्मवर्जितस्त्यक्तसर्वबाह्यैषणः प्रतिपन्नपरमहंसपारिव्राज्य इत्यभिप्रायः—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा" (बृ० उ० ३ । ५ । १) इत्यादिश्रुतेः; "तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः" (गीता ५ । १७) इत्यादिस्मृतेश्च—चलं शरीरं प्रतिक्षण-
~~स्मृतेश्च—चलं शरीरं प्रतिक्षण-~~
मन्यथाभावात्, अचलमात्मतत्त्वम्, यदाकदाचिद्भोजना-

स्तुति-नमस्कारादि सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित तथा बाह्य एषणाओंका त्यागी हो, अर्थात् 'निश्चय इस उस आत्माको जानकर" इत्यादि श्रुति और "जिनकी बुद्धि, आत्मा और निष्ठा उसीमें लगी हुई हैं तथा जो उसीके शरणापन्न हैं" इस स्मृतिके अनुसार परमहंस पारिव्राज्य भावको प्राप्त हो—प्रतिक्षण अन्यथा भावको प्राप्त होनेवाला होनेसे 'चल' शरीरको कहते हैं तथा 'अचल' आत्मतत्त्वका नाम है—इस प्रकार जबतक भोजनादि व्यवहारके निमित्तसे आकाशके समान अविचल अपने

दिव्यवहारनिमित्तमाकाशवदचलं स्वरूपमात्मतत्त्वमात्मनो निकेतमाश्रयमात्मस्थितिं विस्मृत्याहमिति मन्यते यदा तदा चलो देहो निकेतो यस्य सोऽयमेवं चलाचलनिकेतो विद्वान्न पुनर्बाह्यविषयाश्रयः; स च यादृच्छिको भवेद् यदृच्छाप्राप्तकौपीनाच्छादनग्रासमात्रदेहस्थितिरित्यर्थः ॥ ३७ ॥

स्वरूपभूत आत्मतत्त्वको जो अपना निकेत यानी आश्रय है उसे अर्थात् आत्मस्थितिको भूलकर जब 'मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान करता है, उस समय 'चल' यानी शरीर ही जिसका निकेत है—इस प्रकार विद्वान् चलाचलनिकेत होकर अर्थात् फिर बाह्य विषयोंका आश्रय न करके यादृच्छिक हो जाय; तात्पर्य यह कि अनायास ही प्राप्त हुए कौपीन, आच्छादन और ग्रासमात्रसे जिसकी देहस्थिति है—ऐसा हो जाय ॥ ३७ ॥

अविचल तत्त्वनिष्ठाका विधान

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ॥ ३८ ॥

[फिर वह विवेकी पुरुष] आध्यात्मिक तत्त्वको देखकर और बाह्य तत्त्वका भी अनुभव कर, तत्त्वीभूत और तत्त्वमें ही रमण करनेवाला होकर तत्त्वसे च्युत न हो ॥ ३८ ॥

बाह्यं पृथिव्यादितत्त्वम् आध्यात्मिकं च देहादिलक्षणं रज्जुसर्पादिवत्स्वप्नमायादिवच्च असत् "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इत्यादिश्रुतेः । आत्मा च सबाह्या-

पृथ्वी आदि बाह्य तत्त्व और देहादिरूप आध्यात्मिक तत्त्व "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इत्यादि श्रुतिके अनुसार रज्जु-सर्पादिके समान एवं स्वप्न या मायाके समान मिथ्या हैं; तथा "वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है" इस श्रुतिके अनुसार आत्मा बाहर-

भ्यन्तरो ह्यजोऽपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्न आकाशवत्सर्वगतः सूक्ष्मोऽचलो निर्गुणो निष्कलो निष्क्रियः "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि"(छा० उ० ६।८।१६) इति श्रुतेः। इत्येवं तत्त्वं दृष्ट्वा तत्त्वीभूतस्तदारामो न बाह्यरमणो यथातत्त्वदर्शी कश्चिच्चित्तमात्मत्वेन प्रतिपन्नश्चित्तचलनमनुचलितमात्मानं मन्यमानस्तत्त्वाच्चलितं देहादिभूतमात्मानं कदाचिन्मन्यते प्रच्युतोऽहमात्मतत्त्वादिदानीमिति; समाहिते तु मनसि कदाचित्तत्त्वभूतं प्रसन्नात्मानं मन्यत इदानीमस्मि तत्त्वीभूत इति; न तथात्मविद्भवेत्। आत्मन एकरूपत्वात्स्वरूपप्रच्यवनासम्भवाच्च। सदैव ब्रह्मास्मीत्यच्युतो भवेत्तत्त्वात्सदाच्युतात्मतत्त्वदर्शनो भवेदित्यभिप्रायः "शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" (गीता १२। १८)"समं सर्वेषु

भीतर विद्यमान, अजन्मा, कारण-रहित, कार्यरहित, अन्तर्बाह्यशून्य, परिपूर्ण आकाशके समान सर्वगत, सूक्ष्म, अचल, निर्गुण, निष्कल और निष्क्रिय है। इस प्रकार तत्त्वका साक्षात्कार कर तत्त्वीभूत और उसीमें रमण करनेवाला होकर अर्थात् बाह्यरत न होकर; जिस प्रकार मनको ही आत्मा माननेवाला कोई अतत्त्वदर्शी पुरुष किसी समय चित्तके चञ्चल होनेपर आत्माको भी चलायमान मानकर अपनेको तत्त्वसे विचलित और देहादिरूप समझकर मानता है कि इस समय मैं तत्त्वसे च्युत हो गया हूँ तथा किसी समय चित्तके समाहित होनेपर अपनेको तत्त्वीभूत और प्रसन्न समझकर मानता है कि इस समय मैं तत्त्वस्थ हूँ उसी प्रकार आत्मवेत्ताको न हो जाना चाहिये; क्योंकि आत्मा सर्वदा एकरूप है और उसका स्वरूपसे च्युत होना भी सम्भव नहीं है। अतः वह सदा ही "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा निश्चयकर तत्त्वसे च्युत न हो, तात्पर्य यह कि सदा ही अच्युत आत्मदर्शी हो, जैसा कि "कुत्ते और चाण्डालमें भी विद्वानोंकी समान दृष्टि होती है" तथा "सम्पूर्ण

भूतेषु" (गीता १३ । २७) इत्यादिस्मृतेः ॥३८॥

भूतोंमें समान भावसे स्थित" आदि स्मृतियोंसे प्रमाणित होता है ॥३८॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रभाष्ये वैतथ्याख्यं द्वितीयं प्रकरणम् ॥ २ ॥

अद्वैतप्रकरण

ओङ्कारनिर्णय उक्तः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत आत्मेति प्रतिज्ञामात्रेण । ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इति च । तत्र द्वैताभावस्तु वैतथ्यप्रकरणेन स्वप्नमायागन्धर्वनगरादिदृष्टान्तैर्दृश्यत्वाद्यन्तवत्त्वादिहेतुभिस्तर्केण च प्रतिपादिता । अद्वैतं किमागममात्रेण प्रतिपत्तव्यमाहोस्वित्तर्केणापीत्यत आह—शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्; तत्कथमित्यद्वैतप्रकरणमारभ्यते उपास्योपासनादिभेदजातं सर्वं

[आगमप्रकरणमें] ओङ्कारका निर्णय करते समय यह बात केवल प्रतिज्ञामात्रसे कही है कि आत्मा प्रपञ्चका निवृत्तिस्थान शिव, और अद्वैतस्वरूप है तथा ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता । फिर वैतथ्यप्रकरणमें स्वप्न, माया और गन्धर्वनगरादिके दृष्टान्तोंसे दृश्यत्व एवं आदि-अन्तवत्त्व आदि हेतुओंद्वारा तर्कसे भी द्वैतके अभावका प्रतिपादन किया गया । किन्तु वह अद्वैत क्या शास्त्रमात्रसे ही ज्ञातव्य है अथवा तर्कसे भी जाना जा सकता है? इसपर कहते हैं—तर्कसे भी जाना जा सकता है । सो किस प्रकार? इसी बातको बतलानेके लिये अद्वैतप्रकरणका आरम्भ किया जाता है । उपास्य और उपासना आदि सम्पूर्ण भेद मिथ्या है, केवल आत्मा ही अद्वय

वितथं केवलश्चात्माद्वयः परमार्थ इति स्थितमतीते प्रकरणे; यतः—

परमार्थस्वरूप है—यह बात पिछले प्रकरणमें निश्चित हुई है; क्योंकि—

भेददर्शी कृपण है

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ॥ १ ॥

उपासनाका आश्रय लेनेवाला जीव कार्यब्रह्ममें ही रहता है [अर्थात् उसे ही अपना उपास्य मानता है, और समझता है कि] उत्पत्तिसे पूर्व ही सब अज [अर्थात् अजन्मा ब्रह्मस्वरूप] था । इसलिये वह कृपण (दीन) माना गया है ॥ १ ॥

उपासनाश्रित उपासनामात्मनो मोक्षसाधनत्वेन गत उपासकोऽहं ममोपास्यं ब्रह्म । तदुपासनं कृत्वा जाते ब्रह्मणीदानीं वर्तमानोऽजं ब्रह्म शरीरपातादूर्ध्वं प्रतिपत्स्ये प्रागुत्पत्तेश्चाजमिदं सर्वमहं च । यदात्मकोऽहं प्रागुत्पत्तेरिदानीं जातो जाते ब्रह्मणि च वर्तमान उपासनया पुनस्तदेव प्रतिपत्स्य इत्येवमुपासनाश्रितो धर्मः साधको येनैवं क्षुद्रब्रह्मवित्तेनासौ कारणेन कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतो

'उपासनाश्रितः'—उपासनाको अपने मोक्षके साधनरूपसे माननेवाला पुरुष अर्थात् 'मैं उपासक हूँ, और ब्रह्म मेरा उपास्य है । उसकी उपासना करके इस समय कार्यब्रह्ममें रहता हुआ शरीरपातके अनन्तर मैं अजन्मा ब्रह्मको प्राप्त हो जाऊँगा तथा उत्पत्तिके पूर्व भी यह सब और मैं अजरूप ही थे । उत्पत्तिसे पूर्व मैं जैसा था अब उत्पन्न होकर जातब्रह्ममें वर्तमान हुआ अन्तमें उपासनाद्वारा मैं फिर उसी रूपको प्राप्त हो जाऊँगा'—इस प्रकार उपासनाका आश्रय लेनेवाला साधक जीव क्योंकि क्षुद्रब्रह्मवेत्ता है, इस कारणसे ही यह सर्वदा अजन्मा ब्रह्मका दर्शन करनेवाले महात्माओंद्वारा कृपण—दीन अर्थात् क्षुद्र माना

नित्याजब्रह्मदर्शिभिरित्यभिप्रायः । "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (के० उ० १ । ४) इत्यादिश्रुतेस्तलवकाराणाम् ॥ १ ॥

गया है—यह इसका अभिप्राय है; जैसा कि "जो वाणीसे प्रकट नहीं होता बल्कि जिससे वाणी प्रकट होती है, वही ब्रह्म है—ऐसा जान; जिसकी तू उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है" इत्यादि तलवकार-श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ १ ॥

अकार्पण्यनिरूपणकी प्रतिज्ञा

सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मानं प्रतिपत्तुमशक्नुवन्नविद्यया दीनमात्मानं मन्यमानो जातोऽहं जाते ब्रह्मणि वर्ते तदुपासनाश्रितः सन्ब्रह्म प्रतिपत्स्य इत्येवं प्रतिपन्नः कृपणो भवति यस्मात्—

बाहर और भीतर वर्तमान अजन्मा आत्माको प्राप्त करनेमें असमर्थ होनेके कारण अविद्यावश अपनेको दीन माननेवाला पुरुष, क्योंकि 'मैं उत्पन्न हुआ हूँ, उत्पन्न हुए ब्रह्ममें ही वर्तमान हूँ और उसकी उपासनाका आश्रय लेकर ही ब्रह्मको प्राप्त होऊँगा' इस प्रकार माननेके कारण दीन है—

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम् ।
यथा न जायते किंचिज्जायमानं समन्ततः ॥ २ ॥

इसलिये अब मैं सर्वत्र समानभावको प्राप्त जन्मरहित अकृपणभाव (अजन्मा ब्रह्म) का वर्णन करता हूँ [जिससे यह समझमें आ जायगा कि] किस प्रकार सब ओर उत्पन्न होनेपर भी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ ॥ २ ॥

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमकृपणभावमजं ब्रह्म । तद्धि कार्पण्यास्पदम् "यत्रान्योऽन्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं

इसलिये मैं अकार्पण्य अकृपण-भाव अर्थात् अजन्मा ब्रह्मका वर्णन करता हूँ । "जहाँ अन्य अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है और अन्यको ही जानता है वह अल्प है, वह

मर्त्यमसत्" (छा० उ० ७ । २४ । १) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा०उ० ६ । १ । ४) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तद्विपरीतं सबाह्याभ्यन्तरमजमकार्पण्यं भूमाख्यं ब्रह्म । यत्प्राप्याविद्याकृतसर्वकार्पण्यनिवृत्तिस्तदकार्पण्यं वक्ष्यामीत्यर्थः ।

तदजाति, अविद्यमाना जातिरस्य समतां गतं सर्वसाम्यं गतम् । कस्मात् ? अवयववैषम्याभावात् । यद्धि सावयवं वस्तु तदवयववैषम्यं गच्छञ्जायत इत्युच्यते । इदं तु निरवयवत्वात्समतां गतमिति न कैश्चिदवयवैः स्फुटत्यतोऽजात्यकार्पण्यम् । समन्ततः समन्ताद्यथा न जायते किंचिदल्पमपि न स्फुटति रज्जुसर्पवदविद्याकृतदृष्टया जाय-

मरणशील और असत् है" "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार उपर्युक्त जातब्रह्म तो कृपणताका ही आश्रय है । उससे विपरीत बाहर-भीतर वर्तमान अजन्मा भूमासंज्ञक ब्रह्म अकार्पण्यरूप है, जिसे प्राप्त होनेपर अविद्याकृत सम्पूर्ण कृपणताकी निवृत्ति हो जाती है; उस कृपणभावसे रहित ब्रह्मका मैं वर्णन करूँगा—यह इसका तात्पर्य है ।

वह अजाति अर्थात् जिसकी जाति न हो और समताको प्राप्त अर्थात् सबकी समानताको प्राप्त है । ऐसा क्यों है ? क्योंकि उसमें अवयवोंकी विषमताका अभाव है । जो वस्तु सावयव होती है वह अवयवोंकी विषमताको प्राप्त होनेके कारण 'उत्पन्न होती है' ऐसे कही जाती है । किन्तु यह ब्रह्म तो निरवयव होनेके कारण समताको प्राप्त है, इसलिये किन्हीं भी अवयवोंके रूपमें प्रस्फुटित नहीं होता । अतः यह सब ओरसे अजाति अर्थात् अकार्पण्यरूप है । जिस प्रकार कि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता अर्थात् रज्जु-सर्पके समान अविद्यकदृष्टिसे उत्पन्न होता हुआ भी जिस प्रकार

मानं येन प्रकारेण न जायते सर्वतोऽजमेव ब्रह्म भवति तथा तं प्रकारं शृण्वित्यर्थः ॥ २ ॥

उत्पन्न नहीं होता—सब ओर अजन्मा ब्रह्म ही रहता है उस प्रकारको श्रवण करो—यह इसका अभिप्राय है ॥ २ ॥

जीवकी उत्पत्तिके विषयमें दृष्टान्त

अजाति ब्रह्माकार्पण्यं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातम् । तत्सिद्ध्यर्थं हेतुं दृष्टान्तं च वक्ष्यामीत्याह—

मैं अजन्मा ब्रह्मका, जो कृपणभावसे रहित है, वर्णन करता हूँ—ऐसी प्रतिज्ञा की है। उसकी सिद्धिके लिये हेतु और दृष्टान्त भी बतलाता हूँ—इस अभिप्रायसे कहते हैं—

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः ।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ॥ ३ ॥

आत्मा आकाशके समान है; वह घटाकाशोंके समान जीवरूपसे उत्पन्न हुआ है। तथा [मृत्तिकासे] घटादिके समान देहसंघातरूपसे भी उत्पन्न हुआ कहा जाता है। आत्माकी उत्पत्तिके विषयमें यही दृष्टान्त है ॥ ३ ॥

आत्मा परो हि यस्मादाकाशवत्सूक्ष्मो निरवयवः सर्वगत आकाशवदुक्तो जीवैः क्षेत्रज्ञैर्घटाकाशैरिव घटाकाशतुल्य उदित उक्तः स एवाकाशसमः पर आत्मा।

क्योंकि परमात्मा ही आकाशवत् अर्थात् आकाशके समान सूक्ष्म निरवयव और सर्वगत कहा गया है और वही घटाकाशसदृश क्षेत्रज्ञ जीवोंके रूपमें उत्पन्न हुआ कहा गया है, इसलिये वह परमात्मा ही आकाशके समान है।

अथ वा घटाकाशैर्यथाकाश उदित उत्पन्नस्तथा परो जीवात्म-

अथवा यों समझो कि जिस प्रकार घटाकाशोंके रूपमें आकाश उत्पन्न हुआ है उसी प्रकार परमात्मा

भिरुत्पन्नः । जीवात्मनां परस्मादात्मन उत्पत्तिर्या श्रूयते वेदान्तेषु सा महाकाशाद्घटाकाशोत्पत्तिसमा न परमार्थत इत्यभिप्रायः ।

तस्मादेवाकाशाद्घटादयः संघाता यथोत्पद्यन्त एवमाकाशस्थानीयात्परमात्मनः पृथिव्यादिभूतसंघाता आध्यात्मिकाश्च कार्यकरणलक्षणा रज्जुसर्पवद्विकल्पिता जायन्ते । अत उच्यते घटादिवच्च संघातैरुदित इति । यदा मन्दबुद्धिप्रतिपिपादयिषया श्रुत्यात्मनो जातिरुच्यते जीवादीनां तदा जातावुपगम्यमानायामेतन्निदर्शनं दृष्टान्तो यथोदिताकाशवदित्यादिः ॥ ३ ॥

जीवात्माओंके रूपसे उत्पन्न हुआ है । तात्पर्य यह है कि वेदान्तोंमें जो परमात्मासे जीवात्माओंकी उत्पत्ति सुनी जाती है वह महाकाशसे घटाकाशोंकी उत्पत्तिके समान है, परमार्थतः नहीं ।

उसी आकाशसे जिस प्रकार घट आदि संघात उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार आकाशस्थानीय परमात्मासे रज्जुमें सर्पके समान विकल्पित हुए पृथिवी आदि भूतसंघात और शरीर तथा इन्द्रियरूप आध्यात्मिकभाव उत्पन्न होते हैं । इसीसे कहा जाता है—घटादिके समान देहादिसंघातरूपसे भी उदित हुआ है । जिस समय मन्दबुद्धि पुरुषोंके प्रति प्रतिपादन करनेकी इच्छासे श्रुतिने आत्मासे जीवादिकी उत्पत्तिका वर्णन किया है उस समय उनकी उत्पत्ति माननेमें यह उपर्युक्त आकाशादिके समान ही निदर्शन—दृष्टान्त है ॥ ३ ॥

जीवके विलीन होनेमें दृष्टान्त

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥ ४ ॥

घटादिके लीन होनेपर जिस प्रकार घटाकाशादि महाकाशमें लीन हो जाते हैं उसी प्रकार जीव इस आत्मामें विलीन हो जाते हैं ॥ ४ ॥

यथा घटाद्युत्पत्त्या घटाकाशाद्युत्पत्तिः; यथा वा घटादिप्रलये घटाकाशादिप्रलयस्तद्वद्देहादिसंघातोत्पत्त्या जीवोत्पत्तिस्तत्प्रलये च जीवानामिहात्मनि प्रलयो न स्वत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार घटादिकी उत्पत्तिसे घटाकाशादिकी उत्पत्ति होती है और जिस प्रकार घटादिके नाशसे घटाकाशादिका नाश होता है उसी प्रकार देहादि* संघातकी उत्पत्तिसे जीवकी उत्पत्ति होती है और उनका लय होनेपर जीवोंका इस आत्मामें लय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि स्वतः उनका लय नहीं होता ॥ ४ ॥

आत्माकी असङ्गतामें दृष्टान्त

सर्वदेहेष्वात्मैकत्व एकस्मिञ्जननमरणसुखादिमत्यात्मनि सर्वात्मनां तत्सम्बन्धः क्रियाफलसाङ्कर्यं च स्यादिति य आहुर्द्वैतिनस्तान्प्रतीदमुच्यते—

सम्पूर्ण देहोंमें एक ही आत्मा होनेपर तो एक आत्माके जन्म-मरण और सुख-दुःखादिमान् होनेपर सभीको उसका सम्बन्ध होगा तथा कर्म और फलकी संकरता हो जायगी [अर्थात् कर्म किसीका होगा और उसका फल कोई और ही भोगेगा] इस प्रकार जो द्वैतवादी कहते हैं उनके प्रति कहा जाता है—

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार एक घटाकाशके धूलि और धुएँ आदिसे युक्त होनेपर समस्त घटाकाश उनसे युक्त नहीं होते उसी प्रकार जीव भी सुखादि धर्मोंसे लिप्त नहीं होते [अर्थात् एक जीवके सुखादिमान् होनेपर सब जीव सुखादिमान् नहीं हो जाते] ॥ ५ ॥

---

* यहाँ 'देह' शब्दसे लिङ्ग-देह समझना चाहिये, क्योंकि जीवत्वका नाश लिङ्ग-देहके नाशसे ही हो सकता है, स्थूल देहके नाशसे नहीं।

यश्चैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते संयुक्ते न सर्वे घटाकाशादयस्तद्रजोधूमादिभिः संयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः।

जिस प्रकार एक घटाकाशके धूलि और धुएँसे युक्त होनेपर समस्त घटाकाशादि उस धूलि और धुएँसे संयुक्त नहीं होते उसी प्रकार जीव भी सुखादिसे लिप्त नहीं होते।

नन्वेक एवात्मा ?

पूर्व०—आत्मा तो एक ही है न ?

बाढम्; ननु न श्रुतं त्वयाकाशवत्सर्वसंघातेष्वेक एवात्मेति?

सिद्धान्ती—हाँ, क्या तूने यह नहीं सुना कि सम्पूर्ण संघातोंमें आकाशके समान व्याप्त एक ही आत्मा है ?

यद्येक एवात्मा तर्हि सर्वत्र सुखी दुःखी च स्यात्।

पूर्व०—यदि आत्मा एक ही है तो वह सर्वत्र सुखी-दुःखी होगा।

न चेदं सांख्यचोद्यं सम्भवति। न हि सांख्य आत्मनः सुखदुःखादिमत्त्वमिच्छति बुद्धिसमवायाभ्युपगमात्सुखदुःखादीनाम्। न चोपलब्धिस्वरूपस्यात्मनो भेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति।

आत्मैकत्वे सांख्याक्षेपनिवृत्तिः

सिद्धान्ती—सांख्यवादीकी यह आपत्ति सम्भव नहीं है। सांख्य आत्माका सुख-दुःखादिमत्त्व स्वीकार नहीं करता, क्योंकि सुख-दुःखादि तो बुद्धिसमवेत माने गये हैं तथा इसके सिवा अनुभवस्वरूप आत्माकी भेद-कल्पनामें कोई प्रमाण भी नहीं है।

भेदाभावे प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तिरिति चेत्, न; प्रधानकृतस्यार्थस्यात्मन्यसमवायात्। यदि हि प्रधानकृतो बन्धो मोक्षो वार्थः पुरुषेषु भेदेन समवैति ततः प्रधानस्य पारार्थ्यमात्मैकत्वे

यदि कहो कि भेद न होनेपर तो प्रधानकी परार्थता भी सम्भव नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि प्रधानद्वारा सम्पादित कार्यका आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं है। यदि प्रधानकर्तृक बन्ध या मोक्ष पुरुषोंमें पृथक्-पृथक्रूपसे समवेत होते तो आत्माका एकत्व माननेमें

नोपपद्यत इति युक्ता पुरुषभेदकल्पना । न च सांख्यैर्बन्धो मोक्षो वार्थः पुरुषसमवेतोऽभ्युपगम्यते । निर्विशेषाश्च चेतनमात्रा आत्मानोऽभ्युपगम्यन्ते। अतः पुरुषसत्तामात्रप्रयुक्तमेव प्रधानस्य पारार्थ्यं सिद्धं न तु पुरुषभेदप्रयुक्तमिति । अतः पुरुषभेदकल्पनायां न प्रधानस्य पारार्थ्यं हेतुः ।

न चान्यत्पुरुषभेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति सांख्यानाम् । परसत्तामात्रमेव चैतन्निमित्तीकृत्य स्वयं बध्यते मुच्यते च प्रधानम् । परश्चोपलब्धिमात्रसत्तास्वरूपेण प्रधानप्रवृत्तौ हेतुर्न केनचिद्विशेषेणेति केवलमूढतयैव पुरुषभेदकल्पना वेदार्थपरित्यागश्च ।

वैशेषिकमत-समीक्षा

ये त्वाहुर्वैशेषिकादय इच्छादय आत्मसमवायिन इति; तदप्यसत् । स्मृतिहेतूनां संस्कारणाम-

प्रधानकी परार्थता सम्भव नहीं हो सकती थी और तब पुरुषोंके भेदकी कल्पना करनी ठीक थी । किन्तु सांख्यवादी तो बन्ध या मोक्षको पुरुषसे सम्बद्ध ही नहीं मानते; वे तो आत्माओंको निर्विशेष और चेतनमात्र ही मानते हैं । अतः प्रधानकी परार्थता तो केवल पुरुषकी सत्तामात्रसे ही सिद्ध है, पुरुषोंके भेदके कारण नहीं । इसलिये पुरुषोंकी भेदकल्पनामें प्रधानकी परार्थता कारण नहीं है ।

इसके सिवा सांख्यवादियोंके पास पुरुषोंका भेद माननेमें और कोई प्रमाण नहीं है । पर-(आत्मा) की सत्तामात्रको ही निमित्त बनाकर प्रधान स्वयं बन्ध और मोक्षको प्राप्त होता है और वह पर केवल उपलब्धिमात्र सत्तास्वरूपसे ही प्रधानकी प्रवृत्तिमें हेतु है, किसी विशेषताके कारण नहीं । अतः केवल मूढतासे ही पुरुषोंकी भेदकल्पना और वेदार्थका परित्याग किया जाता है ।

इसके सिवा वैशेषिकादि मतावलम्बी जो कहते हैं कि इच्छा आदि आत्माके धर्म हैं, सो उनका यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृतिके हेतुभूत संस्कारोंका प्रदेशहीन

प्रदेशवत्यात्मन्यसमवायात् । आत्मनः संयोगाच्च स्मृत्युत्पत्तेः स्मृतिनियमानुपपत्तिः । युगपद्वा सर्वस्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गः ।

मन आदिभिरात्मसंयोगानुपपत्तिः

न च भिन्नजातीयानां स्पर्शादिहीनानामात्मनां मनआदिभिः संबन्धो युक्तः । न च द्रव्याद्रूपादयो गुणाः कर्मसामान्यविशेषसमवाया वा भिन्नाः सन्ति परेषाम् । यदि

(निरवयव) आत्मासे समवाय-सम्बन्ध नहीं हो सकता । यदि आत्मा और मनके संयोगसे स्मृतिकी उत्पत्ति मानी जाय तो स्मृतिका कोई नियम ही सम्भव नहीं है अथवा एक साथ ही सम्पूर्ण स्मृतियोंकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा ।*

इसके सिवा स्पर्शादिसे रहित भिन्नजातीय आत्माओंका मन आदिके साथ सम्बन्ध मानना ठीक भी नहीं है तथा दूसरोंके मतमें द्रव्यसे रूप आदि उसके गुण एवं कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न भी नहीं हैं ।† यदि दूसरोंके मतमें

* उस समय ऐसा नियम नहीं हो सकेगा कि वस्तुके प्रत्यक्ष अनुभवके समय उसकी स्मृति न हो, क्योंकि स्मृतिका असमवायी कारण आत्मा और मनका संयोग तो अनुभवकालमें भी है ही । इसके सिवा असमवायी कारणकी तुल्यताके कारण एक साथ समस्त स्मृतियोंकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग भी उपस्थित हो जायगा । यदि कहो कि स्मृतिके संस्कारोंका उद्बोध न होनेके कारण एक साथ स्मृति नहीं हो सकती तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि संस्कार और उनका उद्बोध ये दोनों आत्मामें ही रहते हैं—इस विषयमें उनका एक मत नहीं है । इसलिये इनकी गणना स्मृतिकी सामग्रीके अन्तर्गत नहीं हो सकती ।

† वैशेषिक मतमें साधारणतया द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय—ये छः प्रकारके भाव पदार्थ हैं । उनमें द्रव्य उसे कहते हैं जिसके साथ गुण एवं क्रिया आदि समवाय-सम्बन्धसे रहें । गुण—रूप, रस एवं गन्ध आदिको कहते हैं । कर्म—गमनादि क्रिया । सामान्य—जाति, मनुष्यत्व, पशुत्वादि । विशेष—परमाणुओंका परस्पर भेद करनेवाला धर्म, जिसके कारण विभिन्न प्रकारके परमाणुओंसे विभिन्न प्रकारका कार्य उत्पन्न होता है । समवाय—एक प्रकारका सम्बन्ध जैसा कि गुण एवं क्रिया आदिका द्रव्यके साथ है ।

ह्यत्यन्तभिन्ना एव द्रव्यात्स्युरिच्छादयश्चात्मनस्तथा च सति द्रव्येण तेषां सम्बन्धानुपपत्तिः।

वे इच्छा आदि द्रव्यसे तथा आत्मासे अत्यन्त भिन्न ही हों तो ऐसा होनेपर तो द्रव्यके साथ उनका सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं हो सकता।

अयुतसिद्धानां समवायलक्षणः संबन्धो न विरुध्यत इति चेत्, न। इच्छादिभ्योऽनित्येभ्य आत्मनो नित्यस्य पूर्वसिद्धत्वान्नायुतसिद्धत्वोपपत्तिः। आत्मनायुतसिद्धत्वे चेच्छादीनामात्मगतमहत्त्ववन्नित्यत्वप्रसङ्गः। स चानिष्टः। आत्मनोऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात्।

यदि कहो कि अयुतसिद्ध[1]पदार्थोंका समवाय-सम्बन्ध माननेमें विरोध नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं;* क्योंकि इच्छा आदि अनित्य धर्मोंसे नित्य आत्मा पूर्वसिद्ध होनेके कारण उनका परस्पर अयुतसिद्धत्व सम्भव नहीं है। यदि इच्छा आदि आत्माके साथ अयुतसिद्ध हों तो आत्मगत महत्त्वके समान उनकी भी नित्यताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। और यह बात इष्ट नहीं है, क्योंकि इससे आत्माके अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग आ जाता है।

समवायस्य च द्रव्यादन्यत्वे सति द्रव्येण सम्बन्धान्तरं वाच्यं यथा द्रव्यगुणयोः। समवायो नित्यसम्बन्ध एवेति नं वाक्यमिति चेत्तथा च समवायसम्बन्धवतां

यदि समवाय द्रव्यसे भिन्न है तो द्रव्यके साथ उसका कोई अन्य सम्बन्ध बतलाना चाहिये, जैसा कि द्रव्य और गुणका है। और यदि कोई कहे कि समवाय तो नित्यसम्बन्ध ही है, इसलिये उसके साथ कोई

---

१. जो पदार्थ परस्पर मिलकर सिद्ध हुए हों।

* अयुतसिद्धत्वमें चार पक्ष हैं—१ अभिन्न कालमें होना, २ अभिन्न देशमें होना, ३ अभिन्नस्वभाववाले होना, ४ संयोग और वियोगकी अयोग्यतावाले होना। उनमेंसे प्रथम पक्षका खण्डन करते हैं—

नित्यसम्बन्धप्रसङ्गात्पृथक्त्वानुपपत्तिः । अत्यन्तपृथक्त्वे च द्रव्यादीनां स्पर्शवदस्पर्शद्रव्ययोरिव षष्ठ्यर्थानुपपत्तिः ।

सम्बन्ध बतलानेकी आवश्यकता नहीं है तो ऐसी अवस्थामें समवाय-सम्बन्धवालोंका नित्यसम्बन्ध होनेके कारण उनकी पृथक्ता सम्भव नहीं है। और यदि द्रव्यादिको परस्पर अत्यन्त भिन्न माना जाय तो जिस प्रकार स्पर्शवान् और स्पर्शहीन द्रव्योंमें परस्पर सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार उसका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता।

आत्मनो व्यावहारिकबन्धमोक्षाद्युपपादनम्

इच्छाद्युपजनापायवद्गुणवत्त्वे चात्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्गः । देहफलादिवत्सावयत्वं विक्रियावत्त्वं च देहादिवदेवेति दोषावपरिहार्यौ । यथा त्वाकाशस्याविद्याध्यारोपितरजोधूममलवत्त्वादिदोषवत्त्वं तथात्मनोऽविद्याध्यारोपितबुद्ध्याद्युपाधिकृतसुखदुःखादिदोषवत्त्वे बन्धमोक्षादयो व्यावहारिका न विरुध्यन्ते । सर्ववादिभिरविद्याकृतव्यवहाराभ्युपगमात्परमार्थानभ्युपगमाच्च । तस्मादात्मभेद-

यदि आत्माको इच्छादि उत्पत्ति-विनाशशील गुणोंवाला माना जाय तो उसकी अनित्यताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा। तथा उसके देह और फलादिके समान सावयवत्व एवं देहादिके समान ही विक्रियावत्त्व—ये दो दोष भी अपरिहार्य ही होंगे। जिस प्रकार कि आकाशका अविद्याध्यारोपित घटादि उपाधियोंके कारण ही धूलि, धूम और मलसे युक्त होना है उसी प्रकार आत्माका भी, अविद्यासे आरोपित बुद्धि आदि उपाधिके कारण सुख-दुःखादि दोषसे युक्त होनेपर, व्यावहारिक बन्ध, मोक्ष आदि होनेमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि सभी वादियोंने व्यवहारको अविद्याकृत माना है, परमार्थरूप नहीं माना। अतः

परिकल्पना वृथैव तार्किकैः क्रियत इति ॥ ५ ॥

तार्किकलोग जीवोंके भेदकी कल्पना वृथा ही करते हैं ॥ ५ ॥

व्यावहारिक जीवभेद

कथं पुनरात्मभेदनिमित्त इव व्यवहार एकस्मिन्नात्मन्यविद्याकृत उपपद्यत इति, उच्यते—

किन्तु एक ही आत्मामें, आत्माओंके भेदके कारण होनेवालेके समान, अविद्याकृत व्यवहार किस प्रकार सम्भव है? इसपर कहते हैं—

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै ।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥ ६ ॥

[घटादि उपाधियोंके कारण प्रतीत होनेवाले] भिन्न-भिन्न आकाशोंके रूप, कार्य और नामोंमें तो भेद है, परन्तु आकाशमें तो कोई भेद नहीं है । उसी प्रकार जीवोंके विषयमें भी निश्चय समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यथेहाकाश एकस्मिन्घटकरकापवरकाद्याकाशानामल्पत्वमहत्त्वादिरूपाणि भिद्यन्ते तथा कार्यमुदकाहरणधारणशयनादिसमाख्याश्च घटाकाशकरकाकाश इत्याद्यास्तत्कृताश्च भिन्ना दृश्यन्ते। तत्र तत्र वै व्यवहारविषय इत्यर्थः । सर्वोऽयमाकाशे रूपादिभेदकृतो व्यवहारो न परमार्थ एव । परमार्थतस्त्वाकाशस्य न भेदोऽस्ति । न चाकाशभेदनिमित्तो व्यवहारोऽस्त्यन्तरेण

जिस प्रकार इस एक ही आकाशमें घट, कलण्डलु और मठादि आकाशोंके अल्पत्व-महत्त्वादि रूपोंमें भेद है, तथा जहाँ-तहाँ व्यवहारमें उनके किये हुए जल लाना, जल धारण करना और शयन करना आदि कार्य एवं घटाकाश, करकाकाश आदि नाम भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं । किन्तु आकाशमें रूपादिके कारण होनेवाला यह सब व्यवहार पारमार्थिक ही नहीं है । परमार्थतः तो आकाशका कोई भेद नहीं है । अन्य उपाधिकृत निमित्तके सिवा वस्तुतः आकाशके भेदके कारण होनेवाला

परोपाधिकृतं द्वारम् । यथैतत्तद्देहोपाधिभेदकृतेषु जीवेषु घटाकाशस्थानीयेष्वात्मसु निरूपणात्कृतो बुद्धिमद्भिर्निर्णयो निश्चय इत्यर्थः ॥ ६ ॥

कोई व्यवहार है ही नहीं । जैसा कि यह [आकाशका भेद] है उसी प्रकार देहादि उपाधिके भेदसे किये हुए घटाकाशस्थानीय जीवोंमें भेदका निरूपण किया जानेके कारण बुद्धिमानोंने [उस भेदका अपारमार्थिकत्व] निश्चय किया है—यह इसका तात्पर्य है ॥ ६ ॥

जीव आत्माका विकार या अवयव नहीं है

ननु तत्र परमार्थकृत एव घटाकाशादिषु रूपकार्यादिभेदव्यवहार इति ? नैतदस्ति, यस्मात्

किन्तु घटाकाशादिमें जो रूप और कार्य आदिका भेद-व्यवहार है वह तो वास्तविक ही है ? [ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—] यह बात नहीं है, क्योंकि—

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥ ७ ॥

जिस प्रकार घटाकाश आकाशका विकार या अवयव नहीं है उसी प्रकार जीव भी आत्माका विकार या अवयव कभी नहीं है ॥ ७ ॥

परमार्थाकाशस्य घटाकाशो न विकारः; यथा सुवर्णस्य रुचकादिर्यथा वापां फेनबुद्बुदहिमादिः; नाप्यवयवो यथा वृक्षस्य शाखादिः । न तथा आकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा तथा नैवात्मनः

परमार्थाकाशका घटाकाश न तो विकार है, जैसे कि सुवर्णके रुचकादि आभूषण तथा जलके फेन, बुद्बुद और हिम आदि हैं, और न जैसे शाखादि वृक्षके अवयव हैं उस प्रकार उसका अवयव ही है । इसी तरह, जैसे कि महाकाशका घटाकाश विकार या अवयव नहीं है उसी

परस्य परमार्थसतो महाकाशस्थानीयस्य घटाकाशस्थानीयो जीवः सदा सर्वदा यथोक्तदृष्टान्तवन्न विकारो नाप्यवयवः । अत आत्मभेदकृतो व्यवहारो मृषैवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

प्रकार, अर्थात् उपर्युक्त दृष्टान्तानुसार ही, महाकाशस्थानीय परमार्थ सत् परमात्माका घटाकाशस्थानीय जीव, किसी अवस्थामें विकार या अवयव नहीं है । अतः तात्पर्य यह है कि आत्मभेदजनित व्यवहार मिथ्या ही है ॥ ७ ॥

आत्माकी मलिनता अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है

यस्माद्यथा घटाकाशादिभेदबुद्धिनिबन्धनो रूपकार्यादिभेदव्यवहारस्तथा देहोपाधिजीवभेदकृतो जन्ममरणादिव्यवहारः । तस्मात्तत्कृतमेव क्लेशकर्मफलमलवत्त्वमात्मनो न परमार्थत इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपिपादयिषन्नाह—

क्योंकि जिस प्रकार घटाकाशादि भेदबुद्धिके कारण उसका रूप एवं कार्य आदि भेदव्यवहार है उसी प्रकार देहोपाधिक जीवभेदके कारण ही जन्म-मरण आदि व्यवहार है; इसलिये उसका किया हुआ ही आत्माका क्लेश, कर्मफल और मलसे युक्त होना है, परमार्थतः नहीं—इसी बातको दृष्टान्तसे प्रतिपादन करनेकी इच्छासे कहते हैं—

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार मूर्ख लोगोंको [धूलि आदि] मलके कारण आकाश मलिन जान पड़ता है उसी प्रकार अविवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें आत्मा भी [राग-द्वेषादि] मलसे मलिन हो जाता है ॥ ८ ॥

यथा भवति लोके बालानामविवेकिनां गगनमाकाशं घनरजोधूमादिमलैर्मलिनं मलवन्न

लोकमें जिस प्रकार बाल अर्थात् अविवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें आकाश मेघ, धूलि और धुआँ आदि मलोंके

गगनं मलवद्याथात्म्यविवेकिनाम्, तथा भवत्यात्मा परोऽपि यो विज्ञाता प्रत्यक्क्लेशकर्मफलमलैर्मलिनोऽबुद्धानां प्रत्यगात्मविवेकरहितानां नात्मविवेकवताम् ।

नह्यूषरदेशस्तृड्वत्प्राण्यध्यारोपितोदकफेनतरङ्गादिमांस्तथा नात्माबुधारोपितक्लेशादिमलैर्मलिनो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

कारण मलिन—मलयुक्त हो जाता है, किन्तु आकाशके यथार्थ स्वरूपको जाननेवालोंकी दृष्टिमें ऐसा नहीं होता; उसी प्रकार अबुद्ध-प्रत्यगात्माके विवेकसे रहित पुरुषोंकी दृष्टिमें, जो प्रत्यक् और सबका साक्षी है वह परात्मा भी क्लेश, कर्म और फलरूप मलोंसे मलिन हो जाता है; किन्तु आत्मज्ञानियोंकी दृष्टिमें ऐसा नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ऊसरदेश तृषित प्राणीके आरोपित किये हुए जलके फेन और तरङ्गादिसे युक्त नहीं होता उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानियोंद्वारा आरोपित क्लेशादि मलोंसे मलिन नहीं होता ॥ ८ ॥

पुनरप्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—

फिर भी पूर्वोक्त अर्थका ही विस्तार कहते हैं—

मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि ।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः ॥ ९ ॥

यह आत्मा सम्पूर्ण शरीरोंमें मृत्यु, जन्म, लोकान्तरमें गमनागमन और स्थित रहनेमें भी आकाशसे अविलक्षण है । [अर्थात् इन सब व्यवहारोंमें रहते हुए भी यह आकाशके समान निर्विकार और विभु है]॥९॥

घटाकाशजन्मनाशगमनागमनस्थितिवत्सर्वशरीरेष्वात्मनो

घटाकाशके जन्म, नाश, गमन, आगमन और स्थितिके समान सम्पूर्ण शरीरोंमें आत्माके जन्म-मरणादिको

जन्ममरणादिराकाशेनाविलक्षणः प्रत्येतव्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

आकाशसे अविलक्षण (भेदरहित) ही अनुभव करना चाहिये—यह इसका अभिप्राय है ॥ ९ ॥

संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः ।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ॥ १० ॥

देहादि समस्त संघात स्वप्नके समान आत्माकी मायासे ही रचे हुए हैं । उनके अपेक्षाकृत उत्कर्ष अथवा सबकी समानतामें भी कोई हेतु नहीं है ॥ १० ॥

घटादिस्थानीयास्तु देहादिसंघाताः स्वप्नदृश्यदेहादिवन्मायाविकृतदेहादिवच्चात्ममायाविसर्जिताः; आत्मनो मायाविद्या तया प्रत्युपस्थापिता न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः । यद्याधिक्यमधिकभावस्तिर्यग्देहाद्यपेक्षया देवादिकार्यकरणसंघातानां यदि वा सर्वेषां समतैव नैषामुपपत्तिः सम्भवः सद्भावप्रतिपादको हेतुर्विद्यते नास्ति, हि यस्मात्तस्मादविद्याकृता एव न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

घटादिस्थानीय देहादिसंघात स्वप्नमें दीखनेवाले देहादिके समान तथा मायावीके रचे हुए देहादिके सदृश आत्माकी मायासे ही रचे हुए हैं । तात्पर्य यह है कि आत्माकी माया जो अविद्या है उसके प्रस्तुत किये हुए हैं, परमार्थतः नहीं हैं । यदि तिर्यगादि देहोंकी अपेक्षा देवता आदिके शरीर और इन्द्रियोंकी अधिकता—उत्कृष्टता है अथवा यदि [तत्त्वदृष्टिसे] सबकी समानता ही है तो भी, क्योंकि उनके सद्भावका प्रतिपादक कोई हेतु नहीं है, इसलिये वे अविद्याकृत ही हैं, परमार्थतः नहीं हैं— ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १० ॥

उत्पत्त्यादिवर्जितस्याद्वयस्यात्म-

उत्पत्ति आदिसे रहित अद्वितीय आत्मतत्त्वका श्रुतिप्रमाणकत्व प्रदर्शित

तत्त्वस्य श्रुतिप्रमाणकत्वप्रदर्शनार्थं वाक्यान्युपन्यस्यन्ते—

करनेके लिये [उपनिषद्के] वाक्योंका उल्लेख किया जाता है—

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके ।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ॥ ११ ॥

तैत्तिरीय श्रुतिमें जिन रसादि [अन्नमयादि] कोशोंकी व्याख्या की गयी है, आकाशवत् परमात्मा ही उनके आत्मा जीवरूपसे प्रकाशित किया गया है ॥ ११ ॥

रसादयोऽन्नरसमयः प्राणमय इत्येवमादयः कोशा इव कोशा अस्यादेरिवोत्तरोत्तरस्यापेक्षया बहिर्भावात्पूर्वपूर्वस्य व्याख्याता विस्पष्टमाख्यातास्तैत्तिरीयके तैत्तिरीयकशाखोपनिषद्वल्ल्यां तेषां कोशानामात्मा येनात्मना पञ्चापि कोशा आत्मवन्तोऽन्तरतमेन, स हि सर्वेषां जीवननिमित्तत्वाज्जीवः ।

तैत्तिरीयकमें अर्थात् तैत्तिरीयकशाखोपनिषद्वल्लीमें जिन रसादि—अन्नरसमय एवं प्राणमय इत्यादि कोशोंकी व्याख्या—स्पष्ट विवेचना की गयी है और जो उत्तरोत्तरकी अपेक्षा पूर्व-पूर्व बहिःस्थित होनेके कारण खड्गके कोशके समान कोश कहे गये हैं उन कोशोंका आत्मा, जिस अन्तरतम आत्माके कारण पाँचों कोश आत्मवान् हैं, वही सबके जीवनका निमित्त होनेके कारण 'जीव' कहलाता है ।

कोऽसावित्याह—पर एवात्मा यः पूर्वम् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २ । १) इति प्रकृतः । यस्मादात्मनः स्वप्नमायादिवदाकाशादिक्रमेण रसादयः कोश-

वह कौन है ? इसपर कहते हैं—वह परमात्मा ही है, जिसका पहले "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्योंमें प्रसङ्ग है और जिस आत्मासे स्वप्न और माया आदिके समान आकाशादि क्रमसे कोशरूप संघात आत्माकी मायासे ही रचे

लक्षणाः संघाता आत्ममाया-विसर्जिता इत्युक्तम् । स आत्मा-स्माभिर्यथा खं तथेति संप्रकाशितः "आत्मा ह्याकाशवत्" (अद्वैत० ३) इत्यादि श्लोकैः । न तार्किक-परिकल्पितात्मवत्पुरुषबुद्धि-प्रमाणगम्य इत्यभिप्रायः ॥११॥

गये हैं—ऐसा कहा गया है । उस आत्माको हमने "आत्मा ह्याकाश-वत्"इत्यादि श्लोकोंमें, जैसा आकाश है उसीके समान प्रकाशित किया है । तात्पर्य यह है कि वह तार्किकों-के कल्पना किये हुए आत्माके समान मनुष्यकी बुद्धिसे प्रमाणित होनेवाला नहीं है ॥ ११ ॥

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम् ।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाकाशः प्रकाशितः ॥ १२ ॥

लोकमें जिस प्रकार पृथिवी और उदरमें एक ही आकाश प्रकाशित हो रहा है, उसी प्रकार [बृहदारण्योक्त] मधु ब्राह्मणमें [अध्यात्म और अधिदैवत—इन] दोनों स्थानोंमें एक ही ब्रह्म निरूपित किया गया है ॥१२॥

किं चाधिदैवमध्यात्मं च तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः पृथि-व्याद्यन्तर्गतो यो विज्ञाता पर एवात्मा ब्रह्म सर्वमिति द्वयोर्द्वयोराद्वैतक्षयात्परं ब्रह्म प्रकाशितम् । क्वेत्याह—ब्रह्म-विद्याख्यं मध्वमृतममृतत्वं मोद-नहेतुत्वाद्विज्ञायते यस्मिन्निति मधुज्ञानं मधुब्राह्मणं तस्मिन्नि-

तथा अधिदैव और अध्यात्म-भेदसे जो तेजोमय और अमृतमय पुरुष पृथिवीके भीतर है और जो विज्ञाता परमात्मा ब्रह्म ही सब कुछ है—इस प्रकार द्वैतका क्षय होनेपर्यन्त दोनों स्थानोंमें परब्रह्मका ही प्रति-पादन किया गया है । कहाँ किया गया है ? सो बतलाते हैं—जिसमें ब्रह्मविद्यासंज्ञक मधु यानी अमृतका ज्ञान है—आनन्दका हेतु होनेके कारण उसका अमृतत्व है—उस मधुज्ञान यानी मधुब्राह्मणमें [उसका प्रतिपादन किया गया है] । किसके समान प्रतिपादन किया है ?

त्यर्थः। किमिवेत्याह—पृथिव्यामुदरे चैव यथैक आकाशोऽनुमानेन प्रकाशितो लोके तद्वदित्यर्थः ॥ १२ ॥

इसपर कहते हैं कि जिस प्रकार लोकमें अनुमानसे पृथिवी और उदरमें एक ही आकाश प्रकाशित होता है, उसी तरह [इनकी एकता समझो] यह इसका अभिप्राय है ॥ १२ ॥

आत्मैकत्व ही समीचीन है

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम् ॥ १३ ॥

क्योंकि जीव और आत्माके अभेदरूपसे एकत्वकी प्रशंसा की गयी है और उनके नानात्वकी निन्दा की गयी है। इसलिये वही [यानी उनकी एकता ही] ठीक है ॥ १३ ॥

यद्युक्तितः श्रुतितश्च निर्धारितं जीवस्य परस्य चात्मनो जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते स्तूयते शास्त्रेण व्यासादिभिश्च। यच्च सर्वप्राणिसाधारणं स्वाभाविकं शास्त्रबहिष्कृतैः कुतार्किकैर्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४। ३। २३) "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ० उ० १। ४। २) "उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति" (तै० उ० २। ७। १) "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० उ० २। ४। ६, ४। ५। ७) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह

क्योंकि युक्ति और श्रुतिसे निश्चय किये हुए जीव और परमात्माके एकत्वकी शास्त्र और व्यासादि मुनियोंने समानरूपसे प्रशंसा यानी स्तुति की है और शास्त्रबाह्य कुतार्किकोंद्वारा कल्पित सर्वप्राणिसाधारण स्वाभाविक नानात्वदर्शनकी "उससे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है" "दूसरेसे निश्चय भय होता है" "जो थोड़ा-सा भी भेद करता है, उसे भय प्राप्त होता है" "यह जो कुछ है सब आत्मा है" "जो यहाँ नानावत् देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है" इत्यादि वाक्यों तथा अन्य ब्रह्मवेत्ताओं-

नानेव पश्यति" (क० उ० २ । १ । १०) इत्यादिवाक्यैश्चान्यैश्च ब्रह्मविद्भिः । यच्चैतत्तदेवं हि समञ्जसमृज्ववबोधं न्याय्यमित्यर्थः । यास्तु तार्किकपरिकल्पिताः कुदृष्टयस्ता अनृज्व्यो निरूप्यमाणा न घटनां प्राञ्चन्तीत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

द्वारा निन्दा की गयी है । यह जो [बतलाया गया] है वह इसी प्रकार समञ्जस—सरल बोधगम्य अर्थात् न्याययुक्त है । तथा तार्किकोंकी कल्पना की हुई जो कुदृष्टियाँ हैं वे सरल नहीं हैं; अभिप्राय यह है कि वे निरूपण की जानेपर प्रसंगके अनुरूप नहीं ठहरतीं ॥ १३ ॥

श्रुत्युक्त जीव-ब्रह्मभेद गौण है

जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम् ।
भविष्यद्वृत्त्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥१४॥

पहले (उपनिषदोंके कर्मकाण्डमें) उत्पत्तिबोधक वाक्योंद्वारा जो जीव और परमात्माका पृथक्त्व बतलाया है वह भविष्यद्-वृत्तिसे गौण है, उसे मुख्य अर्थ मानना ठीक नहीं है ॥ १४ ॥

ननु श्रुत्यापि जीवपरमात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेरुत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः पूर्वं प्रकीर्तितं कर्मकाण्डे अनेकशः कामभेदत इदंकामोऽदःकाम इति; परश्च "स दाधार पृथिवीं द्याम्" (ऋ०सं १०।१२१।१)इत्यादिमन्त्रवर्णैः;तत्र कथं कर्मज्ञानकाण्ड-

शंका—जब श्रुतिने भी पहले—कर्मकाण्डमें उत्पत्ति-प्रतिपादक उपनिषद्-वाक्योंद्वारा 'इदंकामः' 'अदःकामः' आदि प्रकारसे [कर्मकाण्डमें भिन्न-भिन्न कामनाओंवाले कर्माधिकारी पुरुषके समान] अनेकों कामनाओंके भेदसे जीव और परमात्माका भेद प्रतिपादन किया है तथा परमात्माका "उसने पृथिवी और द्युलोकको धारण किया" इत्यादि मन्त्रवर्णोंसे पृथक् ही निर्देश किया है, तब इस प्रकार कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके

वाक्यविरोधे ज्ञानकाण्डवाक्यार्थस्यैवैकत्वस्य सामञ्जस्यमवधार्यत इति ?

अत्रोच्यते—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० उ० ३ । १) "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः" (बृ० उ० २ । १ । २०) "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" (तै० उ० २ । १ । २) "तदैक्षत" (छा० उ० ६ । २ । ३) "तत्तेजोऽसृजत" (छा० उ० ६ । २ । ३) इत्याद्युत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः प्राक्पृथक्त्वं कर्मकाण्डे प्रकीर्तितं यत्तन्न परमार्थम् । किं तर्हि ? गौणं महाकाशघटाकाशादिभेदवत् । यथौदनं पचतीति भविष्यद्वृत्त्या यद्वत् । न हि भेदवाक्यानां कदाचिदपि मुख्यभेदार्थत्वमुपपद्यते । स्वाभाविकाविद्यावत्प्राणिभेद दृष्ट्यनुवादित्वादात्मभेदवाक्यानाम् ।

इह चोपनिषत्सूत्पत्तिप्रलयादिवाक्यैर्जीवपरमात्मनोरेकत्वमेव

वाक्योंमें विरोध उपस्थित होनेपर केवल ज्ञानकाण्डोक्त एकत्वका ही सामञ्जस्य (यथार्थत्व) किस प्रकार निश्चय किया जा सकता है ?

समाधान—इस विषयमें हमारा कथन है कि "जहाँसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं" "जिस प्रकार अग्निसे नन्ही-नन्ही चिनगारियाँ [निकलती हैं]" "उसी इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ" "उसने ईक्षण किया" "उसने तेजको रचा" इत्यादि उत्पत्त्यर्थक उपनिषद्वाक्योंसे पहले कर्मकाण्डमें जो पृथक्त्वका प्रतिपादन किया गया है वह परमार्थतः नहीं है । तो कैसा है ? वह महाकाश और घटाकाशादिके भेदके समान गौण है और जिस प्रकार भविष्यद्दृष्टिसे 'भात पकाता है'* ऐसा कहा जाता है उसीके समान है । आत्म-भेदवाक्योंका मुख्य भेदप्रतिपादकत्व सभी सम्भव नहीं है, क्योंकि भेदवाक्य तो अज्ञानी पुरुषोंकी स्वाभाविकी भेददृष्टिका ही अनुवाद करनेवाले हैं ।

यहाँ उपनिषदोंमें तो "तू वह है" "यह अन्य है और मैं अन्य

* 'भात' उबले हुए चावलोंको कहते हैं, जो चावल पकाये जाते हैं उनकी संज्ञा 'भात' नहीं है । अतः इस वाक्यमें जो उनके लिये 'भात' शब्दका प्रयोग हुआ है वह भविष्यद्दृष्टिसे है ।

प्रतिपिपादयिषितम् "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८-१६) "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ० उ० १।४।१०) इत्यादिभिः। अत उपनिषत्सु एकत्वं श्रुत्या प्रतिपिपादयिषितं भविष्यतीति भाविनीमेकत्ववृत्तिमाश्रित्य लोके भेददृष्टयनुवादो गौण एवेत्यभिप्रायः।

हूँ [ऐसा जो जानता है] वह नहीं जानता" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार उत्पत्ति-प्रलयादि-बोधक वाक्योंसे भी जीव और परमात्माका एकत्व ही प्रतिपादन करना इष्ट है। अतः उपनिषदोंमें श्रुतिको एकत्व ही प्रतिपादन करना इष्ट होगा—इस भविष्यद्वृत्तिको आश्रय करके लोकमें भेददृष्टिका अनुवाद गौण ही है—यह इसका अभिप्राय है।

अथ वा "तदैक्षत" (छा० उ० ६।२।३) "तत्तेजोऽसृजत" (छा० उ० ६।२।३) इत्याद्युत्पत्तेः प्राक् "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६।२।२) इत्येकत्वं प्रकीर्तितम्। तदेव च "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८-१६) इत्येकत्वं भविष्यतीति तां भविष्यद्वृत्तिमपेक्ष्य यज्जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्र क्वचिद्वाक्ये गम्यमानं तद्गौणम्, यथौदनं पचतीति तद्वत् ॥१४॥

अथवा "उसने ईक्षण किया" "उसने तेजको रचा" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा जो उत्पत्तिसे पूर्व "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि प्रकारसे एकत्वका निरूपण किया है वह "वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है" इस प्रकार आगे एकत्व हो जायगा इस भविष्यद्वृत्तिसे जहाँ कहीं किसी वाक्यमें जीव और आत्माका पृथक्त्व जाना गया है उसी प्रकार—गौण है, जैसे कि 'भात पकाता है' इस वाक्यमें ['भात' शब्दका प्रयोग] ॥ १४ ॥

दृष्टान्तयुक्त उत्पत्ति-श्रुतिकी व्यवस्था

ननु यद्युत्पत्तेः प्रागजं सर्वमेकमेवाद्वितीयं तथाप्युत्पत्तेरूर्ध्वं

यदि कहो कि उत्पत्तिसे पूर्व तो सब अजन्मा तथा एक ही अद्वितीय है तथापि उसके पीछे तो सब

जातमिदं सर्वं जीवाश्च भिन्ना इति, मैवम्; अन्यार्थत्वादुत्पत्तिश्रुतीनाम् । पूर्वमपि परिहृत एवायं दोषः स्वप्नवदात्ममायाविसर्जिताः संघाता घटाकाशोत्पत्तिभेदादिवज्जीवानामुत्पत्तिभेदादिरिति । इत एवोत्पत्तिभेदादिश्रुतिभ्य आकृष्य इह पुनरुत्पत्तिश्रुतीनामैदंपर्यप्रतिपिपादयिषयोपन्यासः—

उत्पन्न हुआ ही है और तब जीव भी भिन्न ही हैं—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उत्पत्तिसूचक श्रुतियाँ दूसरे ही अभिप्रायसे हैं। 'देहादिसंघात स्वप्नके समान आत्माकी मायासे ही प्रस्तुत किये हुए हैं' तथा 'घटाकाशकी उत्पत्तिसे होनेवाले भेदके समान जीवोंकी उत्पत्तिके भेद हैं' इन वाक्योंद्वारा पहले भी इस दोषका परिहार किया ही जा चुका है। इसीलिये पूर्वोक्त उत्पत्तिभेदादिसूचक श्रुतियोंसे उनका निष्कर्ष लेकर यहाँ फिर उन उत्पत्तिश्रुतियोंका ब्रह्मात्मैक्यपरत्व प्रतिपादन करनेकी इच्छासे उपन्यास किया जाता है—

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥ १५ ॥

[उपनिषदोंमें] जो मृत्तिका, लोहखण्ड और विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तोंद्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिका निरूपण किया है वह [ब्रह्मात्मैक्यमें] बुद्धिका प्रवेश करानेका उपाय है; वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है ॥ १५ ॥

मृल्लोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिर्या चोदिता प्रकाशितान्यथान्यथा च स सर्वः

मृत्तिका, लोहपिण्ड और विस्फुलिङ्गादिके दृष्टान्तोंका उपन्यास करके जो भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिको प्रकाशित अर्थात् कल्पित किया गया है वह सृष्टिका सम्पूर्ण प्रकार

सृष्टिप्रकारो जीवपरमात्मैकत्वबुद्ध्यवतारायोपायोऽस्माकम् । यथा प्राणसंवादे वागाद्यासुरपाप्मवेधाद्याख्यायिका कल्पिता प्राणवैशिष्ट्यबोधावताराय ।

तदप्यसिद्धमिति चेत् ।

न; शाखाभेदेष्वन्यथान्यथा च प्राणादिसंवादश्रवणात् । यदि हि संवादः परमार्थ एवाभूदेकरूप एव संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यत विरुद्धानेकप्रकारेण नाश्रोष्यत ।

हमें जीव और परमात्माका एकत्व निश्चय करानेवाली बुद्धि प्राप्त कराने-के लिये है, जिस प्रकार कि प्राण-संवादमें प्राणकी उत्कृष्टताका बोध करानेके लिये वागादि इन्द्रियोंके असुरोंद्वारा पापसे विद्ध हो जानेकी आख्यायिका* कल्पना की गयी है ।

पूर्व०—परन्तु यह बात भी तो सिद्ध नहीं हो सकती । †

सिद्धान्ती—नहीं; भिन्न-भिन्न शाखाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्राण-संवाद सुना जानेके कारण [उस-का यही तात्पर्य होना चाहिये] ।‡ यदि यह संवाद वस्तुतः हुआ होता तो सम्पूर्ण शाखाओंमें एक ही संवाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध

* छान्दोग्य उपनिषद्के प्रथम प्रपाठकके द्वितीय खण्डमें यह आख्यायिका इस प्रकार आयी है—एक बार देवताओंका असुरोंके साथ युद्ध छिड़ गया । यहाँ असुरसे मनकी राजसवृत्ति और देवतासे सात्त्विकवृत्ति समझनी चाहिये । इन दोनों वृत्तियोंका पारस्परिक युद्ध चिर प्रसिद्ध है । देवताओंने असुरोंको उद्गीथविद्याके प्रभावसे परास्त करना चाहा । अतः उन्होंने वाक् आदि प्रत्येक इन्द्रियको एक-एक करके उद्गीथ-गानमें नियुक्त किया; किन्तु प्रत्येक ही इन्द्रिय स्वार्थपरताके पापसे असुरोंके सामने पराभूत हो गयी । अन्तमें मुख्य प्राणको नियुक्त किया गया । वह सभीके लिये समान भावसे सामगान करने लगा, अतः असुरगण उसका कुछ भी न बिगाड़ सके और देवताओंको विजय प्राप्त हुई ।

† अर्थात् उन आख्यायिकाओंका तात्पर्य प्राणकी उत्कृष्टताका बोध करानेमें ही है ।

‡ इसी आशयकी एक आख्यायिका बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ६ ब्राह्मण १ में और दूसरी बृह० उ० अध्याय १ ब्राह्मण ३ में भी है ।

श्रूयते तु; तस्मान्न तादर्थ्यं संवादश्रुतीनाम् । तथोत्पत्तिवाक्यानि प्रत्येतव्यानि ।

कल्पसर्गभेदात्संवादश्रुतीनामुत्पत्तिश्रुतीनां च प्रतिसर्गमन्यथात्वमिति चेत् ?

न; निष्प्रयोजनत्वाद्यथोक्तबुद्ध्यवतारप्रयोजनव्यतिरेकेण । न ह्यन्यप्रयोजनवत्त्वं संवादोत्पत्तिश्रुतीनां शक्यं कल्पयितुम् तथात्वप्रतिपत्तये ध्यानार्थमिति चेन्न; कलहोत्पत्तिप्रलयानां प्रतिपत्तेरनिष्टत्वात् । तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वबुद्ध्यवतारायैव नान्यार्थाः कल्पयितुं युक्ताः । अतो नास्त्युत्पत्त्यादिकृतो भेदः कथञ्चन ॥ १५ ॥

भिन्न-भिन्न प्रकारसे नहीं । परन्तु ऐसा सुना ही जाता है; इसलिये संवादश्रुतियोंका तात्पर्य यथाश्रुत अर्थमें नहीं है । इसी प्रकार उत्पत्ति-वाक्य भी समझने चाहिये ।

पूर्व—प्रत्येक कल्पकी सृष्टिके भेदके कारण संवादश्रुति और उत्पत्ति-श्रुतियोंमें प्रत्येक सर्गके अनुसार भेद है—यदि ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि श्रुतिका उपर्युक्त [ब्रह्मात्मैकत्वमें] बुद्धि-प्रवेशरूप प्रयोजनके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन ही नहीं है । प्राण-संवाद और उत्पत्तिश्रुतियोंका इसके सिवा और कोई प्रयोजन नहीं कल्पना किया जा सकता । यदि कहो कि उनकी तद्रूपता प्राप्त करनेके प्रयोजनसे ध्यानके लिये ऐसा कहा गया है, तो ऐसा भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कलह तथा उत्पत्ति या प्रलयकी प्राप्ति किसीको इष्ट नहीं हो सकती । अतः उत्पत्ति आदि प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ आत्मैकत्वरूप बुद्धिकी प्राप्तिके ही लिये हैं, उन्हें किसी और प्रयोजनके लिये मानना उचित नहीं है । अतः उत्पत्ति आदिके कारण होनेवाला भेद कुछ भी नहीं है ॥ १५ ॥

त्रिविध अधिकारी और उनके लिये उपासनाविधि

यदि पर एवात्मा नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव एकः परमार्थः सन् "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । २) इत्यादि-श्रुतिभ्योऽसदन्यत्किमर्थेयमुपासनोपदिष्टा "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृ० उ० २ । ४ । ५) "य आत्मापहतपाप्मा" (छा० उ० ८ । ७ । १, ३) "स क्रतुं कुर्वीत" (छा० उ० ३ । १४ । १) "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० उ० १ । ४ । ७) इत्यादिश्रुतिभ्यः, कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि ?

शृणु तत्र कारणम्—

शङ्का—यदि 'एकमेवाद्वितीयम्' इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार परमार्थतः एकमात्र नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमात्मा ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है, तो "अरे, इस आत्माका साक्षात्कार करना चाहिये" "जो आत्मा पापरहित है" "वह (अधिकारी) क्रतु (उपास्यसम्बन्धी संकल्प) करे" "आत्मा है—इस प्रकार ही उपासना करे" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा इस उपासनाका उपदेश क्यों दिया गया है ? तथा अग्निहोत्रादि कर्म भी क्यों बतलाये गये हैं ?

समाधान—इसमें जो कारण है, सो सुनो—

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः ।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥ १६॥

आश्रम (अधिकारीपुरुष) तीन प्रकारके हैं—हीन, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टिवाले । उनपर कृपा करके उन्हींके लिये यह उपासना उपदेश की गयी है ॥ १६ ॥

आश्रमा आश्रमिणोऽधिकृताः, वर्णिनश्च मार्गगाः, आश्रमशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात्त्रिविधाः । कथम् ? हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः । हीना निकृष्टा मध्यमोत्कृष्टा च

आश्रमाः—कर्माधिकारी आश्रमी एवं सन्मार्गगामी वर्णीलोग—क्योंकि 'आश्रम' शब्द उनका भी उपलक्षण करानेवाला है—तीन प्रकारके हैं । किस प्रकार ? हीन, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टिवाले । अर्थात् जिनकी

दृष्टिर्दर्शनसामर्थ्यं येषां ते मन्दामध्यमोत्तमबुद्धिसामर्थ्योपेता इत्यर्थः ।

उपासनोपदिष्टेयं तदर्थं मन्दमध्यमदृष्ट्याश्रमाद्यर्थं कर्माणि च, न चात्मैक एवाद्वितीय इति निश्चितोत्तमदृष्ट्यर्थं दयालुना वेदेनानुकम्पया सन्मार्गगाः सन्तः कथमिमामुत्तमामेकत्वदृष्टिं प्राप्नुयुरिति । "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (के० उ० १ । ५) "तत्त्वमसि" (छा०उ०६ । ८–१६)"आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥ १६ ॥

दृष्टि यानी दर्शनसामर्थ्य हीन–निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट है ऐसे मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धिकी सामर्थ्यसे सम्पन्न हैं ।

उन मन्द और मध्यम दृष्टिवाले आश्रमादिके लिये ही इस उपासना और कर्मका उपदेश किया गया है, 'आत्मा एक और अद्वितीय ही है' ऐसी जिनकी निश्चित उत्तम दृष्टि है, उनके लिये उसका उपदेश नहीं है । दयालु वेदने उसका इसीलिये उपदेश किया है कि जिससे वे किसी प्रकार सन्मार्गगामी होकर "जिसका मनसे मनन नहीं किया जा सकता, बल्कि जिसके द्वारा मन मनन किया कहा जाता है उसीको तू ब्रह्म जान; यह, जिसकी तू उपासना करता है, ब्रह्म नहीं है" "वह तू है" "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा प्रतिपादित इस उत्तम एकत्व दृष्टिको प्राप्त कर सकें ॥ १६ ॥

अद्वैतात्मदर्शन किसीका विरोधी नहीं है

शास्त्रोपपत्तिभ्यामवधारितत्वादद्वयात्मदर्शनं सम्यग्दर्शनं तद्बाह्यत्वान्मिथ्यादर्शनमन्यत् ।

शास्त्र और युक्तिसे निश्चित होनेके कारण अद्वितीय आत्मदर्शन ही सम्यग्दर्शन है, उससे बाह्य होनेके कारण और सब दर्शन मिथ्या हैं । द्वैतवादियोंके दर्शन इसलिये

इतश्च मिथ्यादर्शनं द्वैतिनां रागद्वेषादिदोषास्पदत्वात् । कथम् ?

भी मिथ्या हैं, क्योंकि वे राग-द्वेषादि दोषोंके आश्रय हैं; किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं]—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥ १७ ॥

द्वैतवादी अपने-अपने सिद्धान्तोंकी व्यवस्थामें दृढ़ आग्रही होनेके कारण आपसमें विरोध रखते हैं; परन्तु यह [अद्वैतात्मदर्शन] उनसे विरोध नहीं रखता ॥ १७ ॥

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु स्वसिद्धान्तरचनानियमेषु कपिलकणादबुद्धार्हतादिदृष्ट्यनुसारिणो द्वैतिनो निश्चिताः । एवमेवैष परमार्थो नान्यथेति तत्र तत्रानुरक्ताः प्रतिपक्षं चात्मनः पश्यन्तस्तं द्विषन्त इत्येवं रागद्वेषोपेताः स्वसिद्धान्तदर्शननिमित्तम् एव परस्परमन्योन्यं विरुध्यन्ते ।

तैरन्योन्यविरोधिभिरस्मदीयोऽयं वैदिकः सर्वानन्यत्वादात्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते यथा स्वहस्तपादादिभिः । एवं

स्वसिद्धान्तव्यवस्थामें अर्थात् अपने-अपने सिद्धान्तकी रचनाके नियमोंमें कपिल, कणाद, बुद्ध और अर्हत् (जिन) की दृष्टियोंका अनुसरण करनेवाले द्वैतवादी निश्चित हैं, अर्थात् यह परमार्थतत्त्व इसी प्रकार है अन्यथा नहीं—इस प्रकार अपने-अपने सिद्धान्तमें अनुरक्त हो अपने प्रतिपक्षीको देखकर उससे द्वेष करते हैं । इस तरह रागद्वेषसे युक्त हो अपने-अपने सिद्धान्तके दर्शनके कारण ही परस्पर एक-दूसरेसे विरोध मानते हैं ।

उन परस्पर विरोध माननेवालोंसे हमारा यह आत्मैकत्वदर्शनरूप वैदिक सिद्धान्त सबसे अभिन्न होनेके कारण विरोध नहीं मानता, जिस प्रकार कि अपने हाथ-पाँव आदिसे किसीका विरोध नहीं होता । इस

रागद्वेषादिदोषानास्पदत्वादात्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनमित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

प्रकार राग-द्वेषादि दोषोंका आश्रय न होनेके कारण आत्मैकत्वबुद्धि ही सम्यग्दृष्टि है—यह इसका तात्पर्य है ॥ १७ ॥

अद्वैतात्मदर्शनके अविरोधी होनेमें हेतु

केन हेतुना तैर्न विरुध्यत इत्युच्यते—

किस कारण उनसे इसका विरोध नहीं है—इसपर कहते हैं—

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते ॥ १८ ॥

अद्वैत परमार्थ है और द्वैत उसीका भेद (कार्य) कहा जाता है, तथा उन (द्वैतवादियों) के मतमें [परमार्थ और अपरमार्थ] दोनों प्रकारसे द्वैत ही है; इसलिये उनसे इसका विरोध नहीं है ॥ १८ ॥

अद्वैतं परमार्थो हि यस्माद्द्वैतं नानात्वं तस्याद्वैतस्य भेदस्तद्भेदस्तस्य कार्यमित्यर्थः । "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । २) "तत्तेजोऽसृजत" (छा० उ० ६ । २ । ३) इति श्रुतेरुपपत्तेश्च स्वचित्तस्पन्दनाभावे समाधौ मूर्छायां सुषुप्तौ चाभावात् । अतस्तद्भेद उच्यते द्वैतम् ।

अद्वैत परमार्थ है, और क्योंकि द्वैत यानी नानात्व उस अद्वैतका भेद अर्थात् उसका कार्य है, जैसा कि "एकमेवाद्वितीयम्" "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि श्रुतियोंसे तथा समाधि मूर्छा अथवा सुषुप्तिमें अपने चित्तके स्फुरणका अभाव हो जानेपर द्वैतका भी अभाव हो जानेके कारण युक्तिसे भी सिद्ध होता है; इसलिये द्वैत उसका भेद कहा जाता है ।

द्वैतिनां तु तेषां परमार्थतश्चापरमार्थतश्चोभयथापि द्वैतमेव । यदि च तेषां भ्रान्तानां द्वैतदृष्टिरस्माकमद्वैतदृष्टिरभ्रान्ता-

किन्तु उन द्वैतवादियोंकी दृष्टिमें तो परमार्थतः और अपरमार्थतः दोनों प्रकार द्वैत ही है । यदि उन भ्रान्त पुरुषोंकी द्वैतदृष्टि है और हम

नाम्, तेनायं हेतुनासत्पक्षो न विरुध्यते तैः । "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २ । ५ । १९) "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) इति श्रुतेः ।

यथा मत्तगजारूढ उन्मत्तं भूमिष्ठं प्रति गजारूढोऽहं गजं वाहय मां प्रतीति ब्रुवाणमपि तं प्रति न वाहयत्यविरोधबुद्ध्या तद्वत् । ततः परमार्थतो ब्रह्मविदात्मैव द्वैतिनाम् । तेनायं हेतुनास्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः ॥ १८ ॥

भ्रमहीनोंकी अद्वैतदृष्टि है तो इस कारणसे ही हमारे पक्षका उनसे विरोध नहीं है । "इन्द्र मायासे अनेक रूप धारण करता है" "उससे भिन्न दूसरा है ही नहीं" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही प्रमाणित होता है ।

जिस प्रकार मतवाले हाथीपर चढ़ा हुआ पुरुष किसी उन्मत्त भूमिस्थ मनुष्यके प्रति, उसके ऐसा कहनेपर भी कि 'मैं तेरे प्रतिद्वन्द्वी हाथीपर चढ़ा हुआ हूँ तू अपना हाथी मेरी ओर बढ़ा दे' विरोधबुद्धि न होनेके कारण उसकी ओर हाथी नहीं ले जाता, उसी प्रकार [हमारा भी उनसे विरोध नहीं है] । तब, परमार्थतः तो ब्रह्मवेत्ता द्वैतवादियोंका भी आत्मा ही है । इसीसे अर्थात् इसी कारण उनसे हमारे पक्षका विरोध नहीं है ॥ १८ ॥

आत्मामें भेद मायाहीके कारण है

द्वैतमद्वैतभेद इत्युक्ते द्वैतमप्यद्वैतवत्परमार्थसदिति स्यात् कस्यचिदाशङ्केत्यत आह—

द्वैत-अद्वैतका भेद है—ऐसा कहनेपर किसी-किसीको शङ्का हो सकती है कि अद्वैतके समान द्वैत भी परमार्थ सत् ही होना चाहिये—इसलिये कहते हैं—

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन ।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत् ॥ १९ ॥

इस अजन्मा अद्वैतमें मायाहीके कारण भेद है और किसी प्रकार नहीं; यदि इसमें वास्तविक भेद होता तो यह अमृतस्वरूप मरणशीलताको प्राप्त हो जाता ॥ १९ ॥

यत्परमार्थसदद्वैतं मायया भिद्यते ह्येतत्तैमिरिकानेकचन्द्रवद्रज्जुः सर्पधारादिभिर्भेदैरिव न परमार्थतो निरवयवत्वादात्मनः । सावयवं ह्यवयवान्यथात्वेन भिद्यते । यथा मृद् घटादिभेदैः । तस्मान्निरवयवमजं नान्यथा कथञ्चन केनचिदपि प्रकारेण न भिद्यत इत्यभिप्रायः ।

जो परमार्थ सत् अद्वैत है वह तिमिरदोषसे प्रतीत होनेवाले अनेक चन्द्रमा और सर्प-धारादि भेदोंसे विभिन्न दीखनेवाली रज्जुके समान मायासे ही भेदवान् प्रतीत होता है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि आत्मा निरवयव है । जो वस्तु सावयव होती है वही अवयवोंके भेदसे भेदको प्राप्त होती है, जिस प्रकार घट आदि भेदोंसे मृत्तिका । अतः निरवयव और अजन्मा आत्मा [मायाके सिवा] और किसी प्रकार भेदको प्राप्त नहीं हो सकता—यह इसका अभिप्राय है ।

तत्त्वतो भिद्यमाने ह्यमृतमजमद्वयं स्वभावतः सन्मर्त्यतां व्रजेत्; यथाग्निः शीतताम् । तच्चानिष्टं स्वभाववैपरीत्यगमनम्, सर्वप्रमाणविरोधात् । अजमव्ययमात्मतत्त्वं माययैव भिद्यते न

यदि उसमें तत्त्वतः भेद हो तो अमृत अज अद्वय और स्वभावसे सत्स्वरूप होकर भी आत्मा मर्त्यताको प्राप्त हो जायगा, जिस तरह कि अग्नि शीतलताको प्राप्त हो जाय । और अपने स्वभावसे विपरीत अवस्थाको प्राप्त हो जाना सम्पूर्ण प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेके कारण किसीको इष्ट नहीं हो सकता । अतः अज और अद्वितीय आत्मतत्त्व मायासे ही भेदको प्राप्त

परमार्थतः। तस्मान्न परमार्थसद्द्वैतम् ॥ १९ ॥

होता है, परमार्थतः नहीं; इसलिये द्वैत परमार्थ सत् नहीं है ॥ १९ ॥

जीवोत्पत्ति सर्वथा असंगत है

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ २० ॥

द्वैतवादीलोग जन्महीन आत्माके भी जन्मकी इच्छा करते हैं; किंतु जो पदार्थ निश्चय ही अजन्मा और मरणहीन है वह मरणशीलताको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ॥ २० ॥

ये तु पुनः केचिदुपनिषद्व्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदूका अजातस्यैवात्मतत्त्वस्य अमृतस्य स्वभावतो जातिम् उत्पत्तिमिच्छन्ति परमार्थत एव तेषां जातं चेत्तदेव मर्त्यतामेष्यत्यवश्यम्। स चाजातो ह्यमृतो भावः स्वभावतः सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति? न कथञ्चन मर्त्यत्वं स्वभाववैपरीत्यमेष्यतीत्यर्थः ॥ २० ॥

किन्तु जो कोई उपनिषदोंकी व्याख्या करनेवाले बहुभाषी ब्रह्मवादी लोग अजात और अमृतस्वरूप आत्मतत्त्वकी जाति यानी उत्पत्ति परमार्थतः ही सिद्ध करना चाहते हैं उनके मतमें यदि वह उत्पन्न होता है तो अवश्य ही मरणशीलताको भी प्राप्त हो जायगा। किन्तु वह आत्मतत्त्व स्वभावसे अजात और अमृत होकर भी किस प्रकार मरणशीलताको प्राप्त हो सकता है? अतः तात्पर्य यह है कि वह किसी प्रकार अपने स्वभावसे विपरीत मरणशीलताको प्राप्त नहीं हो सकता ॥ २० ॥

यस्मात्—

क्योंकि

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥ २१ ॥

मरणहीन वस्तु कभी मरणशील नहीं होती; और मरणशील कभी अमर नहीं होती। किसी भी प्रकार स्वभावकी विपरीतता नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं लोके नापि मर्त्यममृतं तथा। ततः प्रकृतेः स्वभावस्यान्यथाभावः स्वतः प्रच्युतिर्न कथञ्चिद्भविष्यति, अग्नेरिवौष्ण्यस्य ॥ २१ ॥

लोकमें मरणहीन वस्तु मरणशील नहीं होती और न मरणशील वस्तु मरणहीन ही होती है। अतः अग्निकी उष्णताके समान प्रकृति अर्थात् स्वभावकी विपरीतता—अपने स्वरूपसे च्युति किसी प्रकार नहीं हो सकती ॥ २१ ॥

उत्पत्तिशील जीव अमर नहीं हो सकता

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम्।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥ २२ ॥

जिसके मतमें स्वभावसे मरणहीन पदार्थ भी मर्त्यत्वको प्राप्त हो जाता है उसके सिद्धान्तानुसार कृतक (जन्म) होनेके कारण वह अमृत पदार्थ चिरस्थायी कैसे हो सकता है ? ॥ २२ ॥

यस्य पुनर्वादिनः स्वभावेन अमृतो भावो मर्त्यतां गच्छति परमार्थतो जायते तस्य प्रागुत्पत्तेः स भावः स्वभावतोऽमृत इति प्रतिज्ञा मृषैव। कथं तर्हि कृतकेनामृतस्तस्य भावः ? कृतकेनावृतः स कथं स्थास्यति

किन्तु जिस वादीके मतमें स्वभावसे अमृत पदार्थ भी मर्त्यताको प्राप्त होता है अर्थात् परमार्थतः जन्म लेता है उसकी यह प्रतिज्ञा कि उत्पत्तिसे पूर्व वह पदार्थ स्वभावसे अमरणधर्मा है—मिथ्या ही है। [यदि ऐसा न मानें] तो फिर कृतक होनेके कारण उसका स्वभाव अमरत्व कैसे हो सकता है ? और इस प्रकार कृतक होनेसे ही वह अमृत पदार्थ निश्चल यानी अमृतस्वभाव भी कैसे रह

निश्चलोऽमृतस्वभावस्तथा न कथञ्चित्स्यात्स्यात्मजातिवादिनः सर्वदाजं नाम नास्त्येव; सर्वमेतन्मर्त्यम् । अतोऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

सकता है ; अर्थात् वह कभी ऐसा नहीं रह सकता । अतः आत्माका जन्म बतलानेवालेके मतमें तो अजन्मा वस्तु कोई है ही नहीं । उसके लिये यह सब मरणशील ही है । इससे यह अभिप्राय हुआ कि [उसके मतमें] मोक्ष होनेका प्रसंग है ही नहीं ॥ २२ ॥

सृष्टिश्रुतिकी संगति

नन्वजातिवादिनः सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिर्न संगच्छते प्रामाण्यम् ?

बाढं विद्यते सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिः; सा त्वन्यपरा । उपायः सोऽवतारायेत्यवोचाम । इदानीमुक्तेऽपि परिहारे पुनश्चोद्यपरिहारौ विवक्षितार्थं प्रति सृष्टिश्रुत्यक्षराणामानुलोम्यविरोधाशङ्कामात्रपरिहारार्थौ—

शङ्का—किन्तु अजातिवादीके मतमें सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती ?

समाधान—हाँ ठीक है, सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति भी है; किन्तु उसका उद्देश्य दूसरा है । "उपायः सोऽवतारायर्[1]" इस प्रकार हम उसका उद्देश्य पहले (अद्वैत० १५में) बता ही चुके हैं। इस प्रकार यद्यपि इस शङ्काका पहले समाधान किया जा चुका है तो भी 'सृष्टिश्रुतिके अक्षरोंकी अनुकूलताका हमारे विवक्षित अर्थसे विरोध है' इस शङ्काका परिहार करनेके लिये ही, इस समय तत्सम्बन्धी शङ्का और समाधानका पुनः उल्लेख किया जाता है—

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः ।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत् ॥ २३ ॥

१. वह ब्रह्मात्मैक्यमें बुद्धिका प्रवेश करानेके लिये उपाय है ।

पारमार्थिक अथवा अपारमार्थिक किसी भी प्रकारकी सृष्टि होनेमें श्रुति तो समान ही होगी। अतः उनमें जो निश्चित और युक्तियुक्त मत हो वही [श्रुतिका अभिप्राय] हो सकता है, अन्य नहीं ॥ २३ ॥

भूततः परमार्थतः सृज्यमाने वस्तुन्यभूततो मायया वा मायाविनेव सृज्यमाने वस्तुनि समा तुल्या सृष्टिश्रुतिः। ननु गौणमुख्ययोर्मुख्ये शब्दार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता। न, अन्यथा सृष्टेरप्रसिद्धत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्चेत्यवोचाम। अविद्यासृष्टिविषयैव सर्वा गौणी मुख्या च सृष्टिर्न परमार्थतः "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २। १। २) इति श्रुतेः।

तस्माच्छ्रुत्या निश्चितं यदेकमेवाद्वितीयमजममृतमिति युक्तियुक्तं च युक्त्या च सम्पन्नं तदेवेत्यवोचाम पूर्वैर्ग्रन्थैः। तदेव श्रुत्यर्थो भवति नेतरत्कदाचिदपि ॥ २३॥

वस्तुके भूततः यानी परमार्थतः रचे जानेमें अथवा अभूततः यानी मायासे मायावीद्वारा रचे जानेमें सृष्टि-श्रुति तो समान ही होगी। यदि कहो कि गौण और मुख्य दोनों अर्थ होनेपर शब्दका मुख्य अर्थ लेना ही उचित है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि अन्य प्रकारसे न तो सृष्टि सिद्ध ही होती है और न उसका कुछ प्रयोजन ही है—यह हम पहले कह चुके हैं। "आत्मा बाहर-भीतर विद्यमान और अजन्मा है" इस श्रुतिके अनुसार सब प्रकारकी गौण और मुख्य सृष्टि आविद्यक सृष्टिसम्बन्धिनी ही है, परमार्थतः नहीं।

अतः श्रुतिने जो एक, अद्वितीय, अजन्मा और अमृत तत्त्व निश्चित किया है वही युक्तियुक्त अर्थात् युक्तिसे भी सिद्ध होता है ऐसा प्रतिपादन कर चुके हैं वही श्रुतिका तात्पर्य हो सकता है; अन्य अर्थ कभी और किसी अवस्थामें नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

कथं श्रुतिनिश्चयः ? इत्याह—

यह श्रुतिका निश्चय किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥ २४ ॥

'नेह नानास्ति किंचन' 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' तथा 'अजायमानो बहुधा विजायते' इन श्रुतिवाक्योंके अनुसार वह परमात्मा मायासे ही उत्पन्न होता है ॥ २४ ॥

यदि हि भूतत एव सृष्टिः स्यात्ततः सत्यमेव नाना वस्त्विति तदभावप्रदर्शनार्थमाम्नायो न स्यात् । अस्ति च "नेह नानास्ति किंचन" (क० उ० २ । १ । ११) इत्यादिराम्नायो द्वैतभावप्रतिषेधार्थः । तस्मादात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्था कल्पिता सृष्टिरभूतैव प्राणसंवादवत् । "इन्द्रो मायाभिः" (बृ० उ० २ । ५ । १९) इत्यभूतार्थप्रतिपादकेन मायाशब्देन व्यपदेशात् ।

यदि वास्तवमें ही सृष्टि हुई है तो नाना वस्तु सत्य ही हैं; ऐसी अवस्थामें उनका अभाव प्रदर्शित करनेके लिये कोई शास्त्र-वचन नहीं होना चाहिये था । किन्तु द्वैतभावका निषेध करनेके लिये "यहाँ नाना वस्तु कुछ नहीं है" इत्यादि शास्त्र-वचन है ही । अतः प्राणसंवादके समान आत्मैकत्वकी प्राप्तिके लिये कल्पना की हुई सृष्टि अयथार्थ ही है; क्योंकि "इन्द्र मायासे [अनेक रूप हो जाता है]" इस श्रुतिमें सृष्टिका, अयथार्थत्वप्रतिपादक 'माया' शब्दसे निर्देश किया गया है ।

ननु प्रज्ञावचनो मायाशब्दः ।

शङ्का—'माया' शब्द तो प्रज्ञा-वाचक है [इसलिये इससे सृष्टिका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता] ।

सत्यम्; इन्द्रियप्रज्ञाया अविद्यामयत्वेन मायात्वाभ्युप-

समाधान—ठीक है, आविद्यक होनेके कारण इन्द्रियप्रज्ञाका मायात्व माना गया है; इसलिये उसमें कोई

गमाददोषः । मायाभिरिन्द्रियप्रज्ञाभिः अविद्यारूपाभिरित्यर्थः "अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतेः, तस्मान्माययैव जायते तु सः । तु शब्दोऽवधारणार्थः—माययैवेति । न ह्यजायमानत्वं बहुधा जन्म चैकत्र सम्भवति, अग्नाविव शैत्यमौष्ण्यं च ।

फलवत्त्वाच्चात्मैकत्वदर्शनमेव श्रुतिनिश्चितोऽर्थः "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इत्यादिमन्त्रवर्णात्; "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" (क० उ० २ । १ । १०) इति निन्दितत्वाच्च सृष्ट्यादिभेददृष्टेः॥२४॥

दोष नहीं है । अतः मायासे अर्थात् अविद्यारूप इन्द्रियप्रज्ञासे; जैसा कि "उत्पन्न न होकर भी अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । अतः वह मायासे ही उत्पन्न होता है । यहाँ 'तु' शब्द निश्चयार्थक है । अर्थात् मायासे ही [उत्पन्न होता है] अग्निमें शीतलता और उष्णताके समान जन्म न लेना और अनेक प्रकारसे जन्म लेना एक ही वस्तुमें सम्भव नहीं है ।

"उस अवस्थामें एकत्वका साक्षात्कार करनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है ?" इत्यादि श्रुतिके अनुसार फलयुक्त होनेके कारण तथा "[जो नानात्व देखता है] वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है" इस श्रुतिसे सृष्टि आदि भेददृष्टिकी निन्दा की जानेके कारण भी आत्मैकत्वदर्शन ही श्रुतिका निश्चित अर्थ है ॥ २४ ॥

श्रुति कार्य और कारण दोनोंका प्रतिषेध करती है

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते ।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ॥२५॥

श्रुतिमें सम्भूति (हिरण्यगर्भ) की निन्दाद्वारा कार्यवर्गका प्रतिषेध किया गया है तथा 'इसे कौन उत्पन्न करे' इस वाक्यद्वारा कारणका प्रतिषेध किया गया है ॥ २५ ॥

"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये संभूतिमुपासते" (ई० उ० १२) इति संभूतेरुपास्यत्वापवादात्संभवः प्रतिषिध्यते। न हि परमार्थतः संभूतायां संभूतौ तदपवाद उपपद्यते।

ननु विनाशेन संभूतेः समुच्चयविध्यर्थः संभूत्यपवादः। यथा "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते" (ई० उ० ९) इति।

सत्यमेव देवतादर्शनस्य संभूतिविषयस्य विनाशशब्दवाच्यस्य कर्मणः समुच्चयविधानार्थः संभूत्यपवादः। तथापि विनाशाख्यस्य कर्मणः स्वाभाविकाज्ञानप्रवृत्तिरूपस्य मृत्योरतितरणार्थत्ववद्देवतादर्शनकर्मसमुच्चयस्य पुरुषसंस्कारार्थस्य कर्मफलरागप्रवृत्तिरूपस्य साध्यसाधनैषणाद्वयलक्षणस्य मृत्योरतितरणार्थत्वम्। एवं ह्येषणाद्वयरूपा-

"जो सम्भूति (हिरण्यगर्भ) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं" इस प्रकार सम्भूतिके उपास्यत्वकी निन्दा की जानेके कारण कार्यवर्गका प्रतिषेध किया गया है। यदि सम्भूति परमार्थ-सत्स्वरूप होती तो उसकी निन्दा की जानी सम्भव नहीं थी।

शङ्का—सम्भूतिके उपास्यत्वकी जो निन्दा की गयी है वह तो विनाश (कर्म) के साथ सम्भूति (देवतोपासना) का समुच्चयविधान करनेके लिये है; जैसा कि "जो अविद्याकी उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं" इस वाक्यसे सिद्ध होता है।

समाधान—सचमुच ही, सम्भूतिविषयक देवतादर्शन और 'विनाश' शब्दवाच्य कर्मका समुच्चयविधान करनेके लिये ही सम्भूतिका अपवाद किया गया है; तथापि जिस प्रकार 'विनाश' संज्ञक कर्म स्वाभाविक अज्ञानजनित प्रवृत्तिरूप मृत्युको पार करनेके लिये है उसी प्रकार पुरुषके संस्कारके लिये विहित देवतादर्शन और कर्मका समुच्चय कर्मफलके रागसे होनेवाली प्रवृत्तिरूपा जो साध्य-साधनलक्षणा दो प्रकारकी वासनामयी मृत्यु है, उसे पार करनेके

न्मृत्योरशुद्धेर्वियुक्तः पुरुषः संस्कृतः स्यादतो मृत्योरतितरणार्था देवतादर्शनकर्मसमुच्चयलक्षणा ह्यविद्या ।

एवमेव एषणालक्षणाविद्याया मृत्योरतितीर्णस्य

संम्भूत्यपवादे हेतुः

विरक्तस्योपनिषच्छास्त्रार्थालोचनपरस्य नान्तरीयकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्यामृतत्वसाधनैकेन पुरुषेण सम्बध्यमानाविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते । अतोऽन्यार्थत्वादमृतत्वसाधनं ब्रह्मविद्यामपेक्ष्य निन्दार्थ एव भवति संभूत्यपवादः । यद्यप्यशुद्धिवियोगहेतुः अतन्निष्ठत्वात् । अत एव संभूतेः अपवादात्संभूतेरापेक्षिकमेव सत्त्वमिति परमार्थसदात्मैकत्वमपेक्ष्य अमृताख्यः संभवः प्रतिषिध्यते ।

लिये है । इस प्रकार एषणाद्वयरूप मृत्युकी अशुद्धिसे मुक्त हुआ पुरुष ही संस्कारसम्पन्न हो सकता है । अतः देवतादर्शन और कर्मसमुच्चयलक्षणा अविद्या मृत्युसे पार होनेके लिये ही है ।

इसी प्रकार एषणाद्वयलक्षणा अविद्यारूप मृत्युसे पार हुए तथा उपनिषच्छास्त्रके अर्थकी आलोचनामें तत्पर विरक्त पुरुषको ब्रह्मात्मैक्यरूप विद्याकी उत्पत्ति दूर नहीं है; इसीलिये ऐसा कहा जाता है कि पहले होनेवाली अविद्याकी अपेक्षासे पीछे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या, जो अमृतत्वका साधन है, एक ही पुरुषसे सम्बन्ध रखनेके कारण अविद्यासे समुच्चित की जाती है । अतः अमृतत्वके साक्षात् साधन ब्रह्मविद्याकी अपेक्षा अन्य प्रयोजनवाला होनेसे सम्भूतिका अपवाद निन्दाहीके लिये किया गया है । वह यद्यपि अशुद्धिके क्षयका कारण है, तो भी अतन्निष्ठ (मोक्षका साक्षात् हेतु न) होनेके कारण [उसकी निन्दा ही की गयी है] । इसलिये सम्भूतिका अपवाद किया जानेके कारण उसका सत्त्व आपेक्षिक ही है; इसी आशयसे परमार्थ सत् आत्मैकत्वकी अपेक्षासे अमृतसंज्ञक सम्भूतिका प्रतिषेध किया गया है ।

एवं मायानिर्मितस्यैव जीवस्याविद्यया प्रत्युपस्थापितस्याविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात्परमार्थतः को न्वेनं जनयेत् । न हि रज्ज्वामविद्यारोपितं सर्पं पुनर्विवेकतो नष्टं जनयेत्कश्चित् । तथा न कश्चिदेनं जनयेदिति को न्वित्याक्षेपार्थत्वात्कारणं प्रतिषिध्यते । अविद्योद्भूतस्य नष्टस्य जनयितृकारणं न किंचिदस्तीत्यभिप्रायः "नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्" (क० उ० १ । २ । १८) इति श्रुतेः ॥ २५ ॥

(विद्योत्पत्त्यनन्तरं जीवभावस्य अनुपपत्ति-प्रतिपादनम्)

इस प्रकार अविद्याद्वारा खड़ा किया गया मायारचित जीव जब अविद्याका नाश होनेपर अपने स्वरूपसे स्थित हो जाता है तब उसे परमार्थतः कौन उत्पन्न कर सकता है ? रज्जुमें अविद्यासे आरोपित सर्पको, विवेकसे नष्ट हो जानेपर, फिर कोई उत्पन्न नहीं कर सकता । उसी प्रकार इसे भी कोई उत्पन्न नहीं कर सकता । 'को न्वेनम्' इत्यादि श्रुति आक्षेपार्थक है [प्रश्नार्थक नहीं] इसलिये इससे कारणका प्रतिषेध किया जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि अविद्यासे उत्पन्न हुए इस जीवका विद्याद्वारा नाश हो जानेपर फिर इसे उत्पन्न करनेवाला कोई भी कारण नहीं है, जैसा कि "यह कहींसे (किसी कारणसे) किसी रूपमें उत्पन्न नहीं हुआ" इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ २५ ॥

अनात्म प्रतिषेधसे अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ॥ २६ ॥

क्योंकि 'स एष नेति नेति' (वह यह आत्मा यह नहीं है, यह नहीं है) इत्यादि श्रुति आत्माके कारण अग्राह्यत्वके कारण [उसके विषयमें] पहले बतलाये हुए सभी भावोंका निषेध करती है; अतः इस [निषेधरूप] हेतुके द्वारा ही अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥

सर्वविशेषप्रतिषेधेन "अथात आदेशो नेति नेति" (बृ० उ० २ । ३ । ६) इति प्रतिपादितस्यात्मनो दुर्बोध्यत्वं मन्यमाना श्रुतिः पुनः पुनरुपायान्तरत्वेन तस्यैव प्रतिपिपादयिषया यद्व्याख्यातं तत्सर्वं निह्नुते, ग्राह्यं जनिमद्बुद्धिविषयमपलपति । अर्थात् "स एष नेति नेति" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) इत्यात्मनोऽदृश्यतां दर्शयन्ती श्रुतिः उपायस्योपेयनिष्ठतामजानत उपायत्वेन व्याख्यातस्योपेयवद्ग्राह्यता मा भूदित्यग्राह्यभावेन हेतुना कारणेन निह्नुत इत्यर्थः । ततश्चैवमुपायस्योपेयनिष्ठतामेव जानत उपेयस्य च नित्यैकरूपत्वमिति तस्य सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वं प्रकाशते स्वयमेव ॥ २६ ॥

"अथात आदेशो नेति नेति"[1] इस प्रकार समस्त विशेषणोंके प्रतिषेधद्वारा प्रतिपादन किये हुए आत्माका दुर्बोध्यत्व माननेवाली श्रुति बारंबार दूसरे उपायसे उसीका प्रतिपादन करनेकी इच्छासे, पहले जो कुछ व्याख्या की है उस सभीका अपह्नव (असत्यता प्रतिपादन) करती है । वह ग्राह्य—बुद्धिके अन्य विषयोंका अपलाप करती है । अर्थात् "स एष नेति नेति" इस प्रकार आत्माकी अदृश्यता दिखलानेवाली श्रुति, उपायकी उपेयनिष्ठताको न जाननेवाले लोगोंको उपायरूपसे बतलाये हुए विषय उपेयके समान ग्राह्य न हो जायँ—इसलिये, अग्राह्यतारूप हेतुसे उनका निषेध करती है—यही उसका अभिप्राय है । तदनन्तर इस प्रकार उपायकी उपेयनिष्ठताको जाननेवाले और उपेयकी नित्यैकस्वरूपताको भी समझनेवाले पुरुषोंको यह बाहर-भीतर विद्यमान अजन्मा आत्मतत्त्व स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है ॥ २६ ॥

सद्वस्तुकी उत्पत्ति मायिक होती है

एवं हि श्रुतिवाक्यशतैः सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वमद्वयं

इस प्रकार सैकड़ों श्रुतिवाक्योंसे यही निश्चित होता है कि बाहर-

१. इस (मूर्त्त और अमूर्त्तके उपन्यास) के अनन्तर [निर्विशेष आत्माका बोध करानेके लिये] यह नहीं है, यह नहीं है—ऐसा उपदेश है ।

न ततोऽन्यदस्तीति निश्चितमेतत्। युक्त्या च अधुनैतदेव पुनर्निर्धार्यत इत्याह—

भीतर वर्तमान अजन्मा आत्मतत्त्व अद्वितीय है, उससे भिन्न और कुछ नहीं है। यही बात अब युक्तिसे फिर निश्चय की जाती है; इसीसे कहते हैं—

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥ २७ ॥

सद्वस्तुका जन्म मायासे ही हो सकता है, वस्तुतः नहीं। जिसके मतमें वस्तुतः जन्म होता है उसके सिद्धान्तानुसार भी उत्पत्तिशील वस्तुका ही जन्म हो सकता है ॥ २७ ॥

तत्रैतत्स्यात्सदाग्राह्यमेव चेदसद्वैवात्मतत्त्वमिति। तन्न, कार्यग्रहणात्। यथा सतो मायाविनो मायया जन्म कार्यम्। एवं जगतो जन्म कार्यं गृह्यमाणं मायाविनमिव परमार्थसन्तम् आत्मानं जगज्जन्ममायास्पदम् अवगमयति। यस्मात्सतो हि विद्यमानात्कारणान्मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्येव जगज्जन्म युज्यते नासतः कारणात्। न तु तत्त्वत एवात्मनो जन्म युज्यते।

उस आत्मतत्त्वके विषयमें यह शङ्का होती है कि यदि आत्मतत्त्व सर्वदा अग्राह्य ही है तो वह असत् होना चाहिये। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसका कार्य देखा जाता है। जिस प्रकार सत्स्वरूप मायावीका मायासे जन्म लेना कार्य है उसी प्रकार यह दिखलायी देनेवाला जगत्का जन्मरूप कार्य जगज्जन्मरूप मायाके आश्रयभूत परमार्थ सत् मायावीके समान आत्माका बोध कराता है, क्योंकि मायासे रचे हुए हाथी आदि कार्यके समान सत् अर्थात् विद्यमान कारणसे ही जगत्का जन्म होना सम्भव है, किसी अविद्यमान कारणसे नहीं। तथा तत्त्वतः तो आत्माका जन्म होना सम्भव है ही नहीं।

अथ वा सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवत् मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतो यथा तथाग्राह्यस्यापि सत एवात्मनो रज्जुसर्पवज्जगद्रूपेण मायया जन्म युज्यते । न तु तत्त्वत एवाजस्यात्मनो जन्म ।

अथवा [यों समझो कि] जिस प्रकार रज्जु आदिसे सर्पादिके समान सत् अर्थात् विद्यमान वस्तुका जन्म मायासे ही हो सकता है, तत्त्वतः नहीं, उसी प्रकार अग्राह्य होनेपर भी सत्स्वरूप आत्माका, रज्जुसे सर्पके समान, जगत्‌रूपसे जन्म होना मायासे ही सम्भव है—उस अजन्मा आत्माका तत्त्वतः जन्म नहीं हो सकता ।

यस्य पुनः परमार्थसदजमात्मतत्त्वं जगद्रूपेण जायते वादिनो नहि तस्याजं जायत इति शक्यं वक्तुं विरोधात् । ततस्तस्यार्थाज्जातं जायत इत्यापन्नं ततश्चानवस्था जाताज्जायमानत्वेन । तस्मादजमेकमेवात्मतत्त्वमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

किन्तु जिस वादीके मतमें परमार्थ सत् आत्मतत्त्व ही जगत्‌रूपसे उत्पन्न होता है उसके सिद्धान्तानुसार यह नहीं कहा जा सकता कि अजन्मा वस्तुका ही जन्म होता है, क्योंकि इससे विरोध उपस्थित होता है। अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि उसके मतानुसार किसी जन्मशीलका ही जन्म होता है । किन्तु इस प्रकार जन्मशीलसे ही जन्म माननेपर अनवस्था उपस्थित हो जाती है; अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मतत्त्व अजन्मा और एक ही है ॥ २७ ॥

असद्वस्तुकी उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥ २८ ॥

असद्वस्तुका जन्म तो मायासे अथवा तत्त्वतः किसी प्रकार भी होना सम्भव नहीं है। बन्ध्याका पुत्र न तो वस्तुतः उत्पन्न होता है और न मायासे ही ॥ २८ ॥

असद्वादिनामसतो भावस्य मायया तत्त्वतो वा न कथंचन जन्म युज्यते, अदृष्टत्वात् । न हि बन्ध्यापुत्रो मायया तत्त्वतो वा जायते तस्मादत्रासद्वादो दूरत एवानुपपन्न इत्यर्थः ॥ २८ ॥

असद्वादियोंके पक्षमें भी, असत् वस्तुका जन्म मायासे अथवा वस्तुतः किसी प्रकार होना सम्भव नहीं, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता। बन्ध्याका पुत्र न तो मायासे उत्पन्न होता है और न वस्तुतः ही। अतः तात्पर्य यह हुआ कि असद्वाद तो सर्वथा ही अयुक्त है ॥ २८ ॥

कथं पुनः सतो माययैव जन्मेत्युच्यते—

सत् वस्तुका जन्म मायासे ही कैसे हो सकता है—इसपर कहते हैं—

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार स्वप्नकालमें मन मायासे ही द्वैताभासरूपसे स्फुरित होता है उसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी वह मायासे ही द्वैताभासरूपसे स्फुरित होता है ॥ २९ ॥

यथा रज्ज्वां विकल्पितः सर्पो रज्जुरूपेणावेक्ष्यमाणः सन्नेवं मनः परमार्थविज्ञप्त्यात्मरूपेणावेक्ष्यमाणं सद् ग्राह्यग्राहकरूपेण द्वयाभासं स्पन्दते स्वप्ने मायया,

जिस प्रकार रज्जुमें कल्पना किया हुआ सर्प रज्जुरूपसे देखे जानेपर सत् है उसी प्रकार मन भी परमार्थज्ञानरूप आत्मस्वरूपसे देखा जानेपर सत् है। वह रज्जुमें सर्पके समान स्वप्नावस्थामें मायासे ही ग्राह्य-ग्राहकरूप द्वैतके आभासरूपसे स्फुरित होता है। इसी प्रकार यह मन ही जाग्रत्-

रज्ज्वामिव सर्पः। तथा तद्वदेव जाग्रज्जागरिते स्पन्दते मायया मनः स्पन्दत इवेत्यर्थः ॥ २९ ॥

अवस्थामें भी मायासे [विविध रूपोंमें] स्फुरित होता है; अर्थात् स्फुरित होता-सा मालूम होता है [वास्तवमें स्फुरित भी नहीं होता] ॥ २९ ॥

स्वप्न और जागृति मनके ही विलास हैं

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥ ३० ॥

इसमें सन्देह नहीं स्वप्नावस्थामें अद्वय मन ही द्वैतरूपसे भासनेवाला है; इसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी निःसन्देह अद्वय मन ही द्वैतरूपसे भासता है ॥ ३० ॥

रज्जुरूपेण सर्प इव परमार्थत आत्मरूपेणाद्वयं सद्द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः। न हि स्वप्ने हस्त्यादि ग्राह्यं तद्ग्राहकं वा चक्षुरादिद्वयं विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति। जाग्रदपि तथैवेत्यर्थः। परमार्थसद्विज्ञानमात्राविशेषात् ३०

रज्जुरूपसे सत् सर्पके समान परमार्थतः अद्वय आत्मरूपसे सत् मन ही स्वप्नमें द्वैतरूपसे भासनेवाला है—इसमें सन्देह नहीं। स्वप्नमें हाथी आदि ग्राह्य पदार्थ और उन्हें ग्रहण करनेवाला चक्षु आदि दोनों ही विज्ञानके सिवा और कुछ नहीं हैं; ऐसा ही जाग्रत्‌में भी है—यह इसका तात्पर्य है, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें परमार्थ सत् विज्ञान ही समानरूपसे विद्यमान है ॥ ३० ॥

रज्जुसर्पवद्विकल्पनारूपं द्वैतरूपेण मन एवेत्युक्तम्। तत्र

रज्जुमें सर्पके समान विकल्पनारूप यह मन ही द्वैतरूपसे स्थित है—ऐसा पहले कहा गया। इसमें

किं प्रमाणमित्यन्वयव्यतिरेकलक्षणमनुमानमाह । कथम्—

प्रमाण क्या है? इसके लिये अन्वय-व्यतिरेकरूप अनुमान प्रमाण कहा जाता है; सो किस प्रकार—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित् सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥ ३१ ॥

यह जो कुछ चराचर द्वैत है सब मनका दृश्य है, क्योंकि मनका अमनीभाव (संकल्पशून्यत्व) हो जानेपर द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती ॥ ३१ ॥

तेन हि मनसा विकल्प्यमानेन दृश्यं मनोदृश्यमिदं द्वैतं सर्वं मन इति प्रतिज्ञा । तद्भावे भावात्तदभावेऽभावात् । मनसो ह्यमनीभावे निरोधे विवेकदर्शनाभ्यासवैराग्याभ्यां रज्ज्वामिव सर्पे लयं गते वा सुषुप्ते द्वैतं नैवोपलभ्यत इत्यभावात्सिद्धं द्वैतस्यासत्त्वमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

उस विकल्पित होनेवाले मनद्वारा दिखायी देने योग्य यह सम्पूर्ण द्वैत मन ही है—यह प्रतिज्ञा है, क्योंकि उसके वर्तमान रहनेपर यह भी वर्तमान रहता है तथा उसका अभाव हो जानेपर इसका भी अभाव हो जाता है । मनका अमनीभाव—निरोध अर्थात् विवेकदृष्टिके अभ्यास और वैराग्यद्वारा रज्जुमें सर्पके समान लय हो जानेपर, अथवा सुषुप्ति-अवस्थामें द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती । इस प्रकार अभाव हो जानेके कारण द्वैतकी असत्ता सिद्ध ही है—यह इसका तात्पर्य है ॥ ३१ ॥

तत्त्वबोधसे अमनीभाव

कथं पुनरमनीभावः ? इति उच्यते—

किन्तु यह अमनीभाव होता किस प्रकार है । इस विषयमें कहा जाता है—

आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ॥३२॥

जिस समय आत्मसत्यकी उपलब्धि होनेपर मन संकल्प नहीं करता उस समय वह अमनीभावको प्राप्त हो जाता है; उस अवस्थामें ग्राह्यका अभाव हो जानेके कारण वह ग्रहण करनेके विकल्पसे रहित हो जाता है ॥ ३२ ॥

आत्मैव सत्यमात्मसत्यं मृत्तिकावत् "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुतेः तस्य शास्त्राचार्योपदेशमन्ववबोधः आत्मसत्यानुबोधः । तेन सङ्कल्प्याभावतया न सङ्कल्पयते, दाह्याभावे ज्वलनमिवाग्नेः, यदा यस्मिन्काले तदा तस्मिन्कालेऽमनस्ताममनोभावं याति; ग्राह्याभावे तन्मनोऽग्रहं ग्रहणविकल्पनावर्जितमित्यर्थः ॥३२॥

"[घटादि] वाणीसे आरम्भ होनेवाला विकार नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है" इस श्रुतिके अनुसार मृत्तिकाके समान आत्मा ही 'सत्य' है । उस आत्म-सत्यका शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनन्तर बोध होना आत्मसत्यानुबोध है । उसके कारण सङ्कल्पयोग्य वस्तुका अभाव हो जानेसे, दाह्य वस्तुका अभाव हो जानेपर अग्निके दाहकत्वके अभावके समान, जिस समय चित्त सङ्कल्प नहीं करता उस समय वह अमनस्कता अर्थात् अमनीभावको प्राप्त हो जाता है । ग्राह्य वस्तुका अभाव हो जानेसे वह मन अग्रह अर्थात् ग्रहण-विकल्पनासे रहित हो जाता है ॥ ३२ ॥

आत्मज्ञान किसे होता है ?

यद्यसदिदं द्वैतं केन स्वमजमात्मतत्त्वं विबुध्यते ? इति उच्यते—

यदि यह सम्पूर्ण द्वैत असत्य है तो प्रकृत सत्य आत्मतत्त्वका ज्ञान किसे होता है ? इसपर कहते हैं—

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ॥ ३३ ॥

उस सर्वकल्पनाशून्य अजन्मा ज्ञानको विवेकी लोग ज्ञेय ब्रह्मसे अभिन्न बतलाते हैं। ब्रह्म जिसका विषय है वह ज्ञान अजन्मा और नित्य है। उस अजन्मा ज्ञानसे अजन्मा आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है ॥ ३३ ॥

अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितमत एवाजं ज्ञानं ज्ञप्तिमात्रं ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणाभिन्नं प्रचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः। न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽग्न्युष्णवत् "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३ । ९ । २८) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः।

तस्यैव विशेषणं ब्रह्म ज्ञेयं यस्य स्वस्य तदिदं ब्रह्मज्ञेयमौष्ण्यस्येवाग्निवदभिन्नम्। तेनात्मस्वरूपेणाजेन ज्ञानेनाजं ज्ञेयमात्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यतेऽवगच्छति। नित्यप्रकाशस्वरूप इव सविता नित्यविज्ञानैकरसघनत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अकल्पक—सम्पूर्ण कल्पनाओंसे रहित अतएव अजन्मा अर्थात् ज्ञप्तिमात्र ज्ञानको ब्रह्मवेत्ता लोग ज्ञेय यानी परमार्थसत्स्वरूप ब्रह्मसे अभिन्न बतलाते हैं। अग्निकी उष्णताके समान विज्ञाताके ज्ञानका कभी लोप नहीं होता। "ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है" "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है" इत्यादि श्रुतियोंसे यही बात प्रमाणित होती है।

उस (ज्ञान) के ही विशेषण बतलाते हैं—'ब्रह्मज्ञेयम्' अर्थात् ब्रह्म जिसका ज्ञेय है वह ज्ञान अग्निसे उष्णताके समान ब्रह्मसे अभिन्न है। उस आत्मस्वरूप अजन्मा ज्ञानसे अजन्मा ज्ञेयरूप आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है। तात्पर्य यह है कि नित्यप्रकाशस्वरूप सूर्यके समान नित्यविज्ञानैकरसघनरूप होनेके कारण वह किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता ॥ ३३ ॥

शान्तवृत्तिका स्वरूप

आत्मसत्यानुबोधेन सङ्कल्पमकुर्वद्बाह्यविषयाभावे निरिन्धनाग्निवत्प्रशान्तं निगृहीतं निरुद्धं मनो भवतीत्युक्तम् । एवं च मनसो ह्यमनीभावे द्वैताभावश्चोक्तः । तस्यैवम्—

आत्मसत्यकी उपलब्धि होनेसे संकल्प न करता हुआ चित्त, बाह्यविषयका अभाव हो जानेसे, इन्धनरहित अग्निके समान शान्त होकर निगृहीत अर्थात् निरुद्ध हो जाता है—ऐसा कहा गया। इस प्रकार मनका अमनीभाव हो जानेपर द्वैतका भी अभाव बतलाया गया। उस इस प्रकार—

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥ ३४ ॥

निगृहीत, निर्विकल्प और विवेकसम्पन्न चित्तका जो व्यापार है वह विशेषरूपसे ज्ञातव्य है। सुषुप्ति-अवस्थामें जो चित्तकी वृत्ति है वह अन्य प्रकारकी है, वह उस (निरुद्धावस्था) के समान नहीं है ॥ ३४ ॥

निगृहीतस्य निरुद्धस्य मनसो निर्विकल्पस्य सर्वकल्पनावर्जितस्य धीमतो विवेकवतः प्रचारो यः स तु प्रचारो विशेषेण ज्ञेयो योगिभिः ।

निगृहीत—रोके हुए, निर्विकल्प—सब प्रकारकी कल्पनाओंसे रहित और धीमान्—विवेकसम्पन्न चित्तका जो प्रचार-व्यापार है, योगियोंको उसका वह व्यापार विशेषरूपसे जानना चाहिये।

ननु सर्वप्रत्ययाभावे यादृशः सुषुप्तस्थस्य मनसः प्रचारस्तादृश

शङ्का—सब प्रकारकी प्रतीतियोंका अभाव हो जानेपर जैसा व्यापार सुषुप्तिस्थ चित्तका होता है वैसा ही निरुद्धका भी होगा, क्योंकि प्रतीतिका अभाव दोनों ही अवस्थाओंमें

एव निरुद्धस्यापि प्रत्ययाभावाविशेषात्किं तत्र विज्ञेयमिति ।

अत्रोच्यते—नैवम्; यस्मात् सुषुप्तेऽन्यः प्रचारोऽविद्यामोहतमोग्रस्तस्यान्तर्लीनानेकानर्थप्रवृत्तिबीजवासनावतो मनस आत्मसत्यानुबोधहुताशविप्लुष्टाविद्यानर्थप्रवृत्तिबीजस्य निरुद्धस्यान्य एव प्रशान्तसर्वक्लेशरजसः स्वतन्त्रः प्रचारः । अतो न तत्समः । तस्माद्युक्तः स विज्ञातुमित्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

समान है । उसमें विशेषरूपसे जाननेयोग्य कौन-सी बात है ?

समाधान—इस विषयमें हमारा कहना है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें अविद्या-मोहरूप अन्धकारसे ग्रस्त हुए तथा जिसके भीतर अनेकों अनर्थ-प्रवृत्तिकी बीजभूत वासनाएँ लीन हैं उस मनका व्यापार दूसरे प्रकारका है और आत्मसत्यके बोधरूप अग्निसे जिसकी अविद्यारूपी अनर्थ-प्रवृत्तिका बीज दग्ध हो गया है तथा जिसके सब प्रकारके क्लेशरूप दोष शान्त हो गये हैं उस निरुद्ध चित्तका स्वतन्त्र प्रचार दूसरे ही प्रकारका है । अतः वह उसके समान नहीं है । इसलिये तात्पर्य यह है कि उसका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये ॥ ३४ ॥

सुषुप्ति और समाधिका भेद

प्रचारभेदे हेतुमाह—

उन दोनोंके प्रचारभेदमें हेतु बतलाते हैं—

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते ।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥ ३५ ॥

सुषुप्ति-अवस्थामें मन [अविद्यामें] लीन हो जाता है, किन्तु निरुद्ध होनेपर वह उसमें लीन नहीं होता । उस समय तो सब ओरसे चित्प्रकाशमय निर्भय ब्रह्म ही रहता है ॥ ३५ ॥

लीयते सुषुप्तौ हि यस्मात्सर्वाभिरविद्यादिप्रत्ययबीजवासनाभिः सह तमोरूपमविशेषरूपं बीजभावमापद्यते तद्विवेकविज्ञानपूर्वकं निरुद्धं निगृहीतं सन्न लीयते तमोबीजभावं नापद्यते। तस्माद्युक्तः प्रचारभेदः सुषुप्तस्य समाहितस्य मनसः।

क्योंकि सुषुप्तिमें मन अविद्यादि सम्पूर्ण प्रतीतियोंकी बीजभूता वासनाओंके सहित तमःस्वभाव अविशेषरूप बीजभावको प्राप्त हो जाता है और उसके विवेक ज्ञानपूर्वक निरुद्ध किया जानेपर लीन नहीं होता, अर्थात् अज्ञानरूप बीजभावको प्राप्त नहीं होता। अतः सुषुप्त और समाहित चित्तका प्रचारभेद ठीक ही है।

यदा ग्राह्यग्राहकाविद्याकृतमलद्वयवर्जितं तदा परमद्वयं ब्रह्मैव तत्संवृत्तमित्यतस्तदेव निर्भयं द्वैतग्रहणस्य भयनिमित्तस्याभावात्। शान्तमभयं ब्रह्म, यद्विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।

जिस समय चित्त ग्राह्य-ग्राहकरूप अविद्यासे होनेवाले दोनों प्रकारके मलोंसे रहित हो जाता है उस समय वह परम अद्वितीय ब्रह्मरूप ही हो जाता है। अतः द्वैतग्रहणरूप भयके कारणका अभाव हो जानेसे [उस अवस्थामें] वही निर्भय होता है। ब्रह्म शान्त और अभयपद है, जिसे जान लेनेपर पुरुष किसीसे नहीं डरता।

तदेव विशेष्यते ज्ञप्तिर्ज्ञानमात्मस्वभावचैतन्यं तदेव ज्ञानमालोकः प्रकाशो यस्य तद्ब्रह्म ज्ञानालोकं विज्ञानैकरसघनमित्यर्थः। समन्ततः समन्तात्सर्वतो व्योमवन्नैरन्तर्येण व्यापकमित्यर्थः॥ ३५॥

उसीका विशेषण बतला रहे हैं—ज्ञानका अर्थ ज्ञप्ति अर्थात् आत्मस्वरूप चैतन्य है; वह ज्ञान ही जिसका आलोक यानी प्रकाश है वह ब्रह्म ज्ञानालोक अर्थात् विज्ञानैकरसस्वरूप है। समन्ततः—सब ओर अर्थात् आकाशके समान निरन्तरतासे सब ओर व्यापक है॥ ३५॥

ब्रह्मका स्वरूप

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम् ।
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ॥ ३६ ॥

वह ब्रह्म जन्मरहित, [अज्ञानरूप] निद्रारहित, स्वप्नशून्य, नाम-रूपसे रहित, नित्य प्रकाशस्वरूप और सर्वज्ञ है; उसमें किसी प्रकारका कर्तव्य नहीं है ॥ ३६ ॥

जन्मनिमित्ताभावात्सबाह्याभ्यन्तरमजम् । अविद्यानिमित्तं हि जन्म रज्जुसर्पवदित्यवोचाम । सा चाविद्यात्मसत्यानुबोधेन निरुद्धा यतोऽजमत एवानिद्रम् । अविद्यालक्षणानादिर्माया निद्रा । स्वापात्प्रबुद्धोऽद्वयस्वरूपेणात्मनातः अस्वप्नम् । अप्रबोधकृते ह्यस्य नामरूपे । प्रबोधाच्च ते रज्जुसर्पवद्विनष्टे इति न नाम्नाभिधीयते ब्रह्म रूप्यते वा न केनचित्प्रकारेणेत्यनामकरूपकं च तत् । "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ४ । १) इत्यादिश्रुतेः ।

जन्मके कारणका अभाव होनेसे ब्रह्म बाह्याभ्यन्तरवर्ती और अजन्मा है । रज्जुमें सर्पके समान जीवका जन्म अविद्याके कारण है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं; क्योंकि आत्मसत्यका अनुभव होनेसे उस अविद्याका निरोध हो गया है; इसलिये ब्रह्म अजन्मा है और इसीसे अनिद्र भी है ! यहाँ अविद्यारूप अनादिमाया ही निद्रा है । अपने अद्वयस्वरूपसे वह स्वप्नसे जगा हुआ है; इसलिये अस्वप्न है । उसके नामरूप भी अज्ञानके ही कारण हैं । ज्ञान होनेपर वे रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्पके समान नष्ट हो जाते हैं । अत: ब्रह्म किसी नामद्वारा कथन नहीं किया जाता और न किसी प्रकार उसका रूप ही बतलाया जाता है, इसीलिये वह अनाम और अरूप है; जैसा कि "जहाँसे वाणी लौट आती है" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

किं च सकृद्विभातं सदैव विभातं सदा भारूपमग्रहणान्यथा-

यही नहीं, वह अग्रहण, अन्यथा-ग्रहण तथा आविर्भाव-तिरोभावसे

ग्रहणाविर्भावतिरोभाववर्जितत्वात् । ग्रहणाग्रहणे हि रात्र्यहनी तमश्चाविद्यालक्षणं सदाप्रभातत्वे कारणम् । तदभावान्नित्यचैतन्यभारूपत्वाच्च युक्तं सकृद्विभातमिति । अत एव सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम् । नेह ब्रह्मण्येवंविध उपचरणमुपचारः कर्तव्यः । यथान्येषामात्मस्वरूपव्यतिरेकेण समाधानाद्युपचारः । नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद्ब्रह्मणः कथंचन न कथंचिदपि कर्तव्यसंभवोऽविद्यानाश इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

रहित होनेके कारण सकृद्विभात—सदा ही भासनेवाला अर्थात् नित्यप्रकाशस्वरूप है । ग्रहण और अग्रहण ही रात्रि और दिन हैं तथा अविद्यारूप अन्धकार ही सर्वदा ब्रह्मके प्रकाशित न होनेमें कारण है । उसका अभाव होनेसे और नित्य चैतन्यस्वरूप होनेसे ब्रह्मका नित्यप्रकाशस्वरूप होना ठीक ही है । अतः सर्व और ज्ञप्तिरूप होनेसे वह सर्वज्ञ है । इस प्रकारके ब्रह्ममें कोई उपचार यानी कर्त्तव्य नहीं है, जिस प्रकार कि दूसरोंको आत्मस्वरूपसे भिन्न समाधि आदि कर्त्तव्य हैं । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है; इसलिये अविद्याका नाश हो जानेपर विद्वान्‌को कुछ भी कर्त्तव्य रहना सम्भव नहीं है ॥ ३६ ॥

अनामकत्वाद्युक्तार्थसिद्धये हेतुमाह—

अनामकत्व आदि उपर्युक्त अर्थकी सिद्धिके लिये कारण बतलाते हैं—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥ ३७ ॥

वह सब प्रकारके वाग्व्यापारसे रहित; सब प्रकारके चिन्तन (अन्तःकरणके व्यापार) से ऊपर, अत्यन्त शान्त, नित्यप्रकाश, समाधिस्वरूप, अचल और निर्भय है ॥ ३७ ॥

अभिलप्यतेऽनेनेत्यभिलापो वाक्करणं सर्वप्रकारस्याभिधानस्य, तस्माद्विगतः। वागत्रोपलक्षणार्था सर्वबाह्यकरणवर्जित इत्येतत्।

तथा सर्वचिन्तासमुत्थितः। चिन्त्यतेऽनयेति चिन्ता बुद्धिस्तस्याः समुत्थितोऽन्तःकरणवर्जित इत्यर्थः "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः" (मु० उ० २। १। २) इत्यादिश्रुतेः।

यस्मात्सर्वविषयवर्जितोऽतः सुप्रशान्तः, सकृज्ज्योतिः सदैव ज्योतिरात्मचैतन्यस्वरूपेण, समाधिः समाधिनिमित्तप्रज्ञावगम्यत्वात्, समाधीयतेऽस्मिन्निति वा समाधिः, अचलोऽविक्रियः, अत एवाभयो विक्रियाभावात् ३७

जिसके द्वारा शब्दोच्चारण किया जाता है वह 'अभिलाप' अर्थात् 'वाक्' है, जो सब प्रकारके शब्दोच्चारणका साधन है, उससे रहित। यहाँ वागिन्द्रिय उपलक्षणके लिये है, अतः तात्पर्य यह है कि वह सब प्रकारकी बाह्य इन्द्रियोंसे रहित है।

तथा सब प्रकारकी चिन्तासे उठा हुआ है। जिससे चिन्तन किया जाता है वह बुद्धि ही चिन्ता है, उससे उठा हुआ है अर्थात् अन्तःकरणसे रहित है; जैसा कि "प्राणरहित, मनोरहित और शुद्ध है तथा पर अक्षरसे भी पर है" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है।

क्योंकि वह सम्पूर्ण विषयोंसे रहित है इसलिये अत्यन्त शान्त है, सकृज्ज्योति अर्थात् आत्मचैतन्यस्वरूपसे सदा ही प्रकाशस्वरूप है, समाधिके कारणसे होनेवाली प्रज्ञासे उपलब्ध होनेके कारण समाधि है, अथवा इसमें चित्त समाहित किया जाता है इसलिये इसे समाधि कहते हैं, अचल अर्थात् अविकारी है और इसीसे विकारका अभाव होनेके कारण ही अभय है ॥ ३७ ॥

यस्माद्ब्रह्मैव समाधिरचलोऽभय इत्युक्तमतः—

क्योंकि ब्रह्म ही 'समाधिस्वरूप, अचल और अभय है' ऐसा कहा गया है, इसलिये—

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥ ३८ ॥

जिस (ब्रह्मपद) में किसी प्रकारका चिन्तन नहीं है उसमें किसी तरहका ग्रहण और त्याग भी नहीं है। उस अवस्थामें आत्मनिष्ठ ज्ञान जन्मरहित और समताको प्राप्त हुआ रहता है ॥ ३८ ॥

न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि ग्रहो ग्रहणमुपादानम्, नोत्सर्ग उत्सर्जनं हानं वा विद्यते । यत्र हि विक्रिया तद्विषयत्वं वा तत्र हानोपादाने स्यातां न तद्द्वयमिह ब्रह्मणि संभवति । विकारहेतोरन्यस्याभावान्निरवयवत्वाच्च । अतो न तत्र हानोपादाने इत्यर्थः । चिन्ता यत्र न विद्यते । सर्वप्रकारैव चिन्ता न संभवति यत्रामनस्त्वात्कुतस्तत्र हानोपादाने इत्यर्थः ।

वहाँ—उस ब्रह्ममें न तो ग्रह—ग्रहण यानी उपादान है और न उत्सर्ग—उत्सर्जन अर्थात् त्याग ही है। जहाँ विकार अथवा विकारकी विषयता (विकृत होनेकी योग्यता) होती है वहीं ग्रहण और त्याग भी रहते हैं; किन्तु यहाँ ब्रह्ममें उन दोनोंहीकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि उसमें विकारका हेतुभूत कोई अन्य पदार्थ है नहीं और वह स्वयं निरवयव है। इसलिये तात्पर्य यह है कि उसमें ग्रहण और त्याग भी सम्भव नहीं हैं। जहाँ चिन्ता नहीं है अर्थात् मनोरहित होनेके कारण जिसमें किसी प्रकारकी चिन्ता सम्भव नहीं है वहाँ त्याग और ग्रहण कैसे रह सकते हैं ?

यदैवात्मसत्यानुबोधो जातस्तदैवात्मसंस्थं विषयाभावा-

जिस समय भी आत्मसत्यका बोध होता है उसी समय आत्मसंस्थ

दग्न्युष्णवदात्मन्येव स्थितं ज्ञानम्, अजाति जातिवर्जितम्, समतां गतं परं साम्यमापन्नं भवति ।

यदादौ प्रतिज्ञातमतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतमितीदं तदुपपत्तितः शास्त्रतश्चोक्तमुपसंह्रियते, अजाति समतां गतमिति । एतस्मादात्मसत्यानुबोधात्कार्पण्यविषयमन्यत् "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" (बृ० उ० ३ । ८ । १०) इति श्रुतेः । प्राप्यैतत्सर्वः कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः ॥३८॥

अर्थात् विषयका अभाव होनेके कारण अग्निकी उष्णताके समान आत्मामें ही स्थित ज्ञान अजाति—जन्मरहित और समताको प्राप्त हो जाता है ।

पहले (इस प्रकरणके दूसरे श्लोकमें) जो प्रतिज्ञा की थी कि 'इसलिये मैं समान भावको प्राप्त, अजन्मा अकृपणताका वर्णन करूँगा' उस पूर्वकथनका ही यहाँ 'अजाति समतां गतम्' ऐसा कहकर युक्ति और शास्त्रद्वारा उपसंहार किया गया है । "हे गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षर ब्रह्मको बिना जाने ही इस लोकसे चला जाता है वह कृपण है" इस श्रुतिके अनुसार कृपणताका विषय तो इस आत्मसत्यके बोधसे भिन्न ही है । तात्पर्य यह है कि इस तत्त्वको प्राप्त कर लेनेपर तो हर कोई कृतकृत्य ब्राह्मण (ब्रह्मनिष्ठ) हो जाता है ॥ ३८ ॥

अस्पर्शयोगकी दुर्गमता

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम्

यद्यपि यह परमार्थ तत्त्व ऐसा है तथापि—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ ३९ ॥

[सब प्रकारके स्पर्शसे रहित] यह अस्पर्शयोग निश्चय ही योगियोंके लिये कठिनतासे दिखायी देनेवाला है । इस अभय पदमें भय देखनेवाले योगीलोग इससे भय मानते हैं ॥ ३९ ॥

अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसंबन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु । दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिः । आत्मसत्यानुबोधायासलभ्य एवेत्यर्थः ।

यह अस्पर्शयोग नामवाला है अर्थात् सर्वसम्बन्धरूप स्पर्शसे रहित होनेके कारण यह उपनिषदोंमें स्पर्शयोग नामसे प्रसिद्ध होकर स्मरण किया गया है । यह वेदान्त-विज्ञानसे रहित सभी योगियोंको कठिनतासे दिखायी देता है, इसलिये उनके लिये दुर्दर्श है । तात्पर्य यह है कि यह एकमात्र आत्मसत्यके अनुभव और [श्रवण-मनन एवं प्राणायामादि] आयासोंके द्वारा ही प्राप्त होने योग्य है ।

योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

क्योंकि सम्पूर्ण भयसे रहित होनेपर भी इस योगको आत्मनाशरूप माननेके कारण इस अभय योगमें भय देखनेवाले—भयका निमित्तभूत आत्मनाश देखनेवाले अर्थात् अविवेकी योगीलोग इससे भय मानते हैं ॥ ३९ ॥

अन्य योगियोंकी शान्ति मनोनिग्रहके अधीन है

येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो

जिनकी दृष्टिमें ब्रह्मस्वरूपसे अतिरिक्त मन और इन्द्रिय आदि रज्जुमें सर्पके समान कल्पित ही

विद्यते तेषां ब्रह्मस्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एव सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथंचनेत्यवोचाम । ये त्वतोऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्तमात्मसंबन्धि पश्यन्ति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानाम्-

है—परमार्थतः हैं ही नहीं, उन ब्रह्मभूतोंकी निर्भयता और मोक्ष-संज्ञक अक्षय शान्ति तो स्वभावसे ही सिद्ध है, किसी अन्यके अधीन नहीं है; जैसा कि 'उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है' ऐसा हम पहले (छत्तीसवें श्लोकमें) कह चुके हैं । किन्तु जो इनसे अन्य परमार्थ-पथमें चलनेवाले हीन और मध्यम दृष्टिवाले योगी मनको आत्मासे भिन्न आत्माका सम्बन्धी मानते हैं, उन आत्मसत्यके बोधसे रहित—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥ ४० ॥

समस्त योगियोंके अभय, दुःखक्षय, प्रबोध और अक्षय शान्ति मनके निग्रहके ही अधीन हैं ॥ ४० ॥

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम् । किं च दुःखक्षयोऽपि, न ह्यात्मसंबन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्ति अविवेकिनाम् । किं चात्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव । तथाक्षयापि मोक्षाख्या शान्तिः तेषां मनोनिग्रहायत्तैव ॥ ४० ॥

समस्त योगियोंका अभय मनके निग्रहके अधीन है । यही नहीं, दुःखक्षय भी [मनोनिग्रहके ही अधीन है], क्योंकि आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाले मनके चलायमान रहते हुए अविवेकी पुरुषोंका दुःख-क्षय नहीं हो सकता । इसके सिवा उनका आत्मज्ञान भी मनके निग्रहके ही अधीन है तथा मोक्षनाम्नी उनकी अक्षय शान्ति भी मनोनिग्रहके ही अधीन है ॥ ४० ॥

मनोनिग्रह धैर्यपूर्वक ही हो सकता है

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार [उद्विग्नता छोड़कर] कुशाके अग्रभागसे एक-एक बूँदद्वारा समुद्रको उलीचा जा सकता है उसी प्रकार सब प्रकारकी खिन्नताका त्याग कर देनेपर मनका निग्रह हो सकता है ॥ ४१ ॥

मनोनिग्रहोऽपि तेषामुदधेः कुशाग्रेणैकबिन्दुना उत्सेचनेन शोषणव्यवसायवद्व्यवसायवतामनवसन्नान्तःकरणानामनिर्वेदादपरिखेदतो भवतीत्यर्थः ॥४१॥

कुशके अग्रभागसे एक-एक बूँदके द्वारा समुद्रके उत्सेचन अर्थात् सुखानेके प्रयत्नके समान अखिन्नचित्त और उद्यमशील रहनेवाले उन योगियोंके मनका निग्रह भी खेदशून्य रहनेसे ही होता है—यह इसका तात्पर्य है ॥ ४१ ॥

मनोनिग्रहके विघ्न

किमपरिखिन्नव्यवसायमात्रमेव मनोनिग्रह उपायः ? न, इत्युच्यते ।

तो क्या खेदरहित उद्योग ही मनोनिग्रहका उपाय है ? इसपर कहते हैं—'नहीं'

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥ ४२ ॥

काम्यविषय और भोगोंमें विक्षिप्त हुए चित्तका उपायपूर्वक निग्रह करे तथा लयावस्थामें अत्यन्त प्रसन्नताको प्राप्त हुए चित्तका भी संयम करे, क्योंकि जैसा [अनर्थकारक] काम है वैसा ही लय भी है ॥ ४२ ॥

अपरिखिन्नव्यवसायवान्सन् वक्ष्यमाणेनोपायेन कामभोगविषयेषु विक्षिप्तं मनो निगृह्णी-

अथक उद्योगशील होकर आगे कहे जानेवाले उपायसे काम और भोगरूप विषयोंमें विक्षिप्त हुए चित्तका

यान्निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः । किं च लीयतेऽस्मिन्निति सुषुप्तो लयस्तस्मिँल्लये च सुप्रसन्नम् आयासवर्जितम् अपि इत्येतत्, निगृह्णीयादित्यनुवर्तते ।

निग्रह करे, अर्थात् उसका आत्मामें ही निरोध करे । तथा, जिस अवस्थामें चित्त लीन हो जाता है उस सुषुप्तिका नाम लय है, उस लयावस्थामें अत्यन्त प्रसन्न अर्थात् आयासरहित स्थितिको प्राप्त हुए चित्तका भी निग्रह करे । यहाँ 'निगृह्णीयात्' इस पदकी अनुवृत्ति की जाती है ।

सुप्रसन्नं चेत्कस्मान्निगृह्यत इत्युच्यते । यस्माद्यथा कामोऽनर्थहेतुस्तथा लयोऽपि । अतः कामविषयस्य मनसो निग्रहवल्लयादपि निरोद्धव्यमित्यर्थः॥४२॥

यदि उस अवस्थामें चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है तो उसका निग्रह क्यों करना चाहिये ? इसपर कहा जाता है—क्योंकि जिस प्रकार काम अनर्थका कारण है उसी प्रकार लय भी है; इसलिये तात्पर्य यह है कि कामविषयक मनके निग्रहके समान उसका लयसे भी निरोध करना चाहिये ॥ ४२ ॥

कः स उपायः ? इत्युच्यते—

वह उपाय क्या है ? इस विषयमें कहा जाता है—

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ ४३ ॥

सम्पूर्ण द्वैत दुःखरूप है—ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए चित्तको कामजनित भोगोंसे हटावे । इस प्रकार निरन्तर सब वस्तुओंको अजन्मा ब्रह्मरूप स्मरण करता हुआ फिर कोई जात पदार्थ नहीं देखता ॥ ४३ ॥

सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य कामभोगा-

अविद्यासे प्रतीत होनेवाला सारा द्वैत दुःखरूप ही है—ऐसा निरन्तर

त्कामनिमित्तो भोग इच्छाविषयस्तस्माद्विप्रसृतं मनो निवर्तयेद्वैराग्यभावनयेत्यर्थः । अजं ब्रह्म सर्वमित्येतच्छास्त्राचार्योपदेशतोऽनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं नैव तु पश्यति, अभावात् ॥ ४३ ॥

स्मरण करता हुआ कामभोगसे—कामनानिमित्तक भोगसे अर्थात् इच्छाजनित विषयसे उसमें फैले हुए चित्तको वैराग्यभावनाद्वारा निवृत्त करे—यह इसका तात्पर्य है । फिर 'यह सब अजन्मा ब्रह्म ही है' ऐसा शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार निरन्तर स्मरण करता हुआ उससे विपरीत द्वैतजातको—उसका अभाव हो जानेके कारण—वह नहीं देखता ॥ ४३ ॥

लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥ ४४ ॥

चित्त [सुषुप्तिमें] लीन होने लगे तो उसे आत्मविवेकमें नियुक्त करे, यदि विक्षिप्त हो जाय तो उसे पुनः शान्त करे और [यदि इन दोनोंके बीचकी अवस्थामें रहे तो उसे] सकषाय—रागयुक्त समझे । तथा साम्यावस्थाको प्राप्त हुए चित्तको चञ्चल न करे ॥ ४४ ॥

एवमनेन ज्ञानाभ्यासवैराग्यद्वयोपायेन लये सुषुप्ते लीनं संबोधयेन्मन आत्मविवेकदर्शनेन योजयेत् । चित्तं मन इत्यनर्थान्तरम् । विक्षिप्तं च कामभोगेषु शमयेत्पुनः । एवं पुनः पुनरभ्यस्यतो लयात्संबोधितं

इस प्रकार ज्ञानाभ्यास और वैराग्य—इन दो उपायोंसे, लय अर्थात् सुषुप्तिमें लीन हुए चित्तको सम्बोधित अर्थात् आत्मविवेकदर्शनमें नियुक्त करे । चित्त और मन—ये कोई भिन्न पदार्थ नहीं हैं । तथा कामना और भोगोंमें विक्षिप्त हुए चित्तको पुनः शान्त करे । इस प्रकार बारंबार अभ्यासद्वारा लयावस्थासे सम्बोधित

विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं नापि साम्यापन्नमन्तरालावस्थं सकषायं सरागं बीजसंयुक्तं मन इति विजानीयात् । ततोऽपि यत्नतः साम्यमापादयेत् । यदा तु समप्राप्तं भवति समप्राप्त्यभिमुखीभवतीत्यर्थः, ततस्तन्न विचालयेद्विषयाभिमुखं न कुर्यादित्यर्थः ॥ ४४ ॥

और विषयोंसे निवृत्त किया हुआ चित्त जब अन्तरालावस्थामें स्थित होकर समताको भी प्राप्त न हो तो यह समझे कि इस समय मन सकषाय—रागयुक्त अर्थात् बीजावस्थासंयुक्त है । उस अवस्थासे भी उसे यत्नपूर्वक साम्यावस्थामें स्थित करे । किन्तु जिस समय वह समताको प्राप्त हो अर्थात् साम्यावस्थाप्राप्तिके अभिमुख हो उस समय उस अवस्थामें उसे विचलित न करे, अर्थात् विषयाभिमुख न करे ॥४४॥

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ ४५ ॥

उस साम्यावस्थामें [प्राप्त होनेवाले] सुखका आस्वादन न करे, बल्कि विवेकवती बुद्धिके द्वारा उससे निःसङ्ग रहे । फिर यदि चित्त बाहर निकलने लगे तो उसे प्रयत्नपूर्वक निश्चल और एकाग्र करे ॥ ४५ ॥

समाधित्सतो योगिनो यत्सुखं जायते तन्नास्वादयेत्, तत्र न रज्येतेत्यर्थः । कथं तर्हि ? निःसङ्गो निःस्पृहः प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या यदुपलभ्यते सुखं तदविद्यापरिकल्पितं मृषैवेति विभावयेत् । ततोऽपि सुखरागान्निगृह्णीयादित्यर्थः ।

समाधिकी इच्छावाले योगीको जो सुख प्राप्त होता है उसका आस्वादन न करे अर्थात् उसमें राग न करे । तो फिर कैसे रहे ? निःसङ्ग अर्थात् निःस्पृह होकर प्रज्ञा—विवेकवती बुद्धिसे ऐसी भावना करे कि यह जो कुछ सुख अनुभव हो रहा है वह अविद्यापरिकल्पित और मिथ्या ही है । तात्पर्य यह कि उस सुखके रागसे भी चित्तका निग्रह करे ।

यदा पुनः सुखरागान्निवृत्तं निश्चलस्वभावं सन्निश्चरद्बहिर्निर्गच्छद्भवति चित्तं ततस्ततो नियम्योक्तोपायेनात्मन्येवैकीकुर्यात्प्रयत्नतः । चित्तस्वरूपसत्तामात्रमेवापादयेदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

जिस समय सुखके रागसे निवृत्त होकर निश्चलस्वभाव हुआ चित्त फिर बाहर निकलने लगे तब उसे उपर्युक्त उपायसे वहाँसे भी रोककर प्रयत्नपूर्वक आत्मामें एकाग्र करे । तात्पर्य यह है कि उसे चित्स्वरूप सत्तामात्र ही सम्पादित करे ॥ ४५ ॥

मन कब ब्रह्मरूप होता है ?

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥ ४६ ॥

जिस समय चित्त सुषुप्तिमें लीन न हो और फिर विक्षिप्त भी न हो तथा निश्चल और विषयाभाससे रहित हो जाय उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है ॥ ४६ ॥

यथोक्तोपायेन निगृहीतं चित्तं यदा सुषुप्ते न लीयते न च पुनर्विषयेषु विक्षिप्यते, अनिङ्गनमचलं निवातप्रदीपकल्पम्, अनाभासं न केनचित्कल्पितेन विषयभावेनावभासत इति, यदैवंलक्षणं चित्तं तदा निष्पन्नं ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपेण निष्पन्नं चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

उपर्युक्त उपायसे निग्रह किया हुआ चित्त जिस समय सुषुप्तिमें लीन नहीं होता और न फिर विषयोंमें ही विक्षिप्त होता है तथा वायुशून्य स्थानमें रखे हुए दीपकके समान निश्चल और अनाभास अर्थात् जो किसी भी कल्पित विषयभावसे प्रकाशित नहीं होता—ऐसा जिस समय यह चित्त हो जाता है उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है, अर्थात् उस अवस्थामें चित्त ब्रह्मरूपसे निष्पन्न हो जाता है ॥ ४६ ॥

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम् ।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ॥ ४७ ॥

[उस अवस्थामें जो आनन्द अनुभव होता है उसे ब्रह्मज्ञ लोग] स्वस्थ, शान्त, निर्वाणयुक्त, अकथनीय, निरतिशयसुखस्वरूप, अजन्मा, अजन्मा ज्ञेय (ब्रह्म) से अभिन्न और सर्वज्ञ बतलाते हैं ॥ ४७ ॥

यथोक्तं परमार्थसुखमात्मसत्यानुबोधलक्षणं स्वस्थं स्वात्मनि स्थितम्, शान्तं सर्वानर्थोपशमरूपम्, सनिर्वाणं निर्वृतिर्निर्वाणं कैवल्यं सह निर्वाणेन वर्तते, तच्चाकथ्यं न शक्यते कथयितुम्, अत्यन्तासाधारणविषयत्वात्; सुखमुत्तमं निरतिशयं हि तद्योगिप्रत्यक्षमेव । न जातमित्यजं यथा विषयविषयम् । अजेनानुत्पन्नेन ज्ञेयेनाव्यतिरिक्तं सत्स्वेन सर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञं ब्रह्मैव सुखं परिचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः ॥ ४७ ॥

उपर्युक्त आत्मसत्यानुबोधरूप परमार्थ-सुख 'स्वस्थम्'—अपने आत्मामें ही स्थित' 'शान्तम्'—सब प्रकारके अनर्थकी निवृत्तिरूप, 'सनिर्वाणम्'—निर्वाण—निर्वृति अर्थात् कैवल्यको कहते हैं, उस निर्वाणके सहित, तथा 'अकथ्यम्'—जो कहा न जा सके, क्योंकि उसका विषय अत्यन्त असाधारण है, 'सुखमुत्तमम्'—योगियोंको ही प्रत्यक्ष होनेवाला होनेके कारण निरतिशय सुख है । तथा 'अजम्'—जो उत्पन्न न हो, जिस प्रकार कि विषयसम्बन्धी सुख हुआ करता है, और अज यानी उत्पन्न न होनेवाले ज्ञेयसे अभिन्न होनेके कारण अपने सर्वज्ञरूपसे स्वयं ब्रह्म ही वह सुख है—ऐसा ब्रह्मज्ञलोग [उसके विषयमें] कहते हैं ॥ ४७ ॥

परमार्थसत्य क्या है ?

सर्वोऽप्ययं मनोनिग्रहादिर्मृल्लोहादिवत्सृष्टिरुपासना चोक्ता

मृत्तिका और लोहादिके समान ये मनोनिग्रहादि सम्पूर्ण सृष्टि तथा

परमार्थस्वरूपप्रतिपत्त्युपायत्वेन न परमार्थसत्येति। परमार्थसत्यं तु

उपासना परमार्थस्वरूपकी प्राप्तिके उपायरूपसे ही कहे गये हैं; ये परमार्थसत्य नहीं हैं। परमार्थसत्य तो यही है कि—

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ ४८ ॥

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है। जिस अजन्मा ब्रह्ममें किसीकी उत्पत्ति नहीं होती वही सर्वोत्तम सत्य है ॥ ४८ ॥

न कश्चिज्जायते जीवः कर्ता भोक्ता च नोत्पद्यते केनचिदपि प्रकारेण। अतः स्वभावतोऽजस्यास्यैकस्यात्मनः संभवः कारणं न विद्यते नास्ति। यस्मान्न विद्यतेऽस्य कारणं तस्मान्न कश्चिज्जायते जीव इत्येतत्। पूर्वेषूपायत्वेनोक्तानां सत्यानामेतत्तदुत्तमं सत्यं यस्मिन्सत्यस्वरूपे ब्रह्मण्यणुमात्रमपि किंचिन्न जायत इति ॥ ४८ ॥

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता—अर्थात् किसी भी प्रकारसे कर्ता-भोक्ताकी उत्पत्ति नहीं होती। अतः स्वभावसे ही इस एक अजन्मा आत्माका कोई सम्भव—कारण नहीं है। और क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है इसलिये किसी जीवकी उत्पत्ति भी नहीं होती—यही इसका तात्पर्य है। पहले उपायरूपसे बतलाये हुए सत्योंमें यही उत्तम सत्य है, जिस सत्यस्वरूप ब्रह्ममें कोई भी वस्तु अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होती ॥ ४८ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रभाष्येऽद्वैताख्यं तृतीयं प्रकरणम् ॥ ३ ॥

ॐ तत्सत्

अलातशान्तिप्रकरण

ओङ्कारनिर्णयद्वारेणागमतः प्रतिज्ञातस्याद्वैतस्य बाह्यविषयभेदवैतथ्या- च्च सिद्धस्य पुनरद्वैते शास्त्रयुक्तिभ्यां साक्षान्निर्धारित- स्यैतदुत्तमं सत्यमित्युपसंहारः कृतोऽन्ते । तस्यैतस्यागमार्थस्या- द्वैतदर्शनस्य प्रतिपक्षभूता द्वैतिनो वैनाशिकाश्च तेषां चान्योन्य- विरोधाद्रागद्वेषादिक्लेशास्पदं दर्शनमिति मिथ्यादर्शनत्वं सूचितम् । क्लेशानास्पदत्वा- त्सम्यग्दर्शनमित्यद्वैतदर्शनं स्तूयते । तदिह विस्तरेणान्योन्य- विरुद्धतयासम्यग्दर्शनत्वं प्रदर्श्य

प्रकरण-प्रयोजनम्

ओङ्कारके निर्णयद्वारा आगम- प्रकरणमें प्रतिज्ञा किये अद्वैतका— जिसे कि [वैतथ्यप्रकरणमें] बाह्य विषयभेदके मिथ्यात्वद्वारा सिद्ध किया है और फिर अद्वैतप्रकरणमें शास्त्र और युक्तियोंसे साक्षात् निश्चय किया है, [पिछले प्रकरणके] अन्तमें 'एतदुत्तमं सत्यम्' ऐसा कहकर उपसंहार किया गया । वेद- के तात्पर्यभूत इस अद्वैतदर्शनके विरोधी जो द्वैतवादी और वैनाशिक (बौद्ध आदि) हैं उनके दर्शन परस्पर विरोधी होनेके कारण राग-द्वेषादि क्लेशोंके आश्रय हैं, अतः उनका मिथ्यादर्शनत्व सूचित होता है । और राग-द्वेषादि क्लेशोंका आश्रय न होनेके कारण अद्वैतदर्शन ही सम्यग्दर्शन है—इस प्रकार उसकी स्तुति की जाती है । अब यहाँ, परस्पर विरोधी होनेके कारण विस्तारपूर्वक उन (द्वैतवादी आदि दार्शनिकोंके दर्शन) का मिथ्या- दर्शनत्व प्रदर्शित कर उनके प्रति- षेधद्वारा आवीतन्यायसे* अद्वैतदर्शन-

*अनुमान दो प्रकारका है—अन्वयी और व्यतिरेकी । अन्वयी अनुमान- में एक वस्तुकी सत्तासे दूसरी वस्तुकी सत्ता सिद्ध की जाती है तथा व्यतिरेकीमें एक वस्तुके अभावसे दूसरी वस्तुका अभाव सिद्ध किया जाता है । इस व्यतिरेकी अनुमानका ही दूसरा नाम 'आवीत अनुमान' भी है ।

तत्प्रतिषेधेनाद्वैतदर्शनसिद्धिरुपसंहर्तव्यावीतन्यायेनेत्यलातशान्तिरारभ्यते।

तत्राद्वैतदर्शनसम्प्रदायकर्तुः अद्वैतस्वरूपेणैव नमस्कारार्थोऽयमाद्यश्लोकः । आचार्यपूजा ह्यभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थेष्यते शास्त्रारम्भे ।

की सिद्धिका उपसंहार करना है—इसीलिये अलातशान्तिप्रकरणका आरम्भ किया जाता है ।

उसमें अद्वैतदर्शनसम्प्रदायके कर्ताको अद्वैतरूपसे ही नमस्कार करनेके लिये यह पहला श्लोक है, क्योंकि शास्त्रके आरम्भमें आचार्यकी पूजा अभिप्रेत अर्थकी सिद्धिके लिये इष्ट ही है ।

नारायण-नमस्कार

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥ १ ॥

जिसने ज्ञेय (आत्मा) से अभिन्न आकाशसदृश ज्ञानसे आकाशसदृश धर्मों (जीवों) को जाना है उस पुरुषोत्तमको नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

आकाशेनेषदसमाप्तमाकाशकल्पमाकाशतुल्यमेतत् । तेनाकाशकल्पेन ज्ञानेन, किम् ? धर्मानात्मनः, किंविशिष्टान्गगनोपमान्गगनमुपमा येषां ते गगनोपमास्तानात्मनो धर्मान् ।

जो आकाशकी अपेक्षा कुछ असम्पूर्ण हो* उसे आकाशकल्प अर्थात् आकाशतुल्य कहते हैं । उस आकाशसदृश ज्ञानसे—किसे ? आत्माके धर्मोंको । किस प्रकारके धर्मोंको ? गगनोपम धर्मोंको—गगन (आकाश) जिनकी उपमा हो उन्हें गगनोपम कहते हैं—ऐसे आत्मा-

* असम्पूर्णका यह भाव नहीं समझना चाहिये कि ब्रह्म आकाशकी अपेक्षा कुछ न्यून है । इसका केवल यही भाव है कि वह सर्वथा आकाशरूप ही नहीं है—आकाशसे कुछ मिलता-जुलता है ।

ज्ञानस्यैव पुनर्विशेषणम्—ज्ञेयैर्धर्मैरात्मभिरभिन्नमग्न्युष्णवत्सवितृप्रकाशवच्च ज्ञानं तेन ज्ञेयाभिन्नेन ज्ञानेनाकाशकल्पेन ज्ञेयात्मस्वरूपाव्यतिरिक्तेन गगनोपमान्धर्मान्यः संबुद्धः संबुद्धवानिति, अयमेवेश्वरो यो नारायणाख्यस्तं वन्देऽभिवादये द्विपदां वरं द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणां वरं प्रधानं पुरुषोत्तममित्यभिप्रायः ।

उपदेष्टृनमस्कारमुखेन ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनमिह प्रकरणे प्रतिपिपादयिषितं प्रतिपक्षप्रतिषेधद्वारेण प्रतिज्ञातं भवति ॥ १ ॥

के धर्मोंको । ज्ञानका ही फिर विशेषण देते हैं—अग्निसे उष्णता और सूर्यसे प्रकाशके समान जो ज्ञान ज्ञेय धर्मों अर्थात् आत्माओंसे अभिन्न है उस ज्ञेयाभिन्न अर्थात् ज्ञेय आत्माके स्वरूपसे अव्यतिरिक्त आकाशसदृश ज्ञानसे जिसने आकाशोपम धर्मोंको सदा ही सम्यक् प्रकार जाना है—ऐसा जो नारायणसंज्ञक* ईश्वर है उस द्विपदां वर—दो पदोंसे उपलक्षित पुरुषोंमें श्रेष्ठ यानी प्रधान पुरुषोत्तमकी वन्दना—अभिवादन करता हूँ ।

उपदेष्टाको नमस्कार करनेसे यह प्रतिज्ञा की जाती है कि इस प्रकरणमें विरुद्ध पक्षके प्रतिषेधद्वारा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके भेदसे रहित परमार्थदर्शनका प्रतिपादन करना अभीष्ट है ॥ १ ॥

अद्वैतदर्शनकी वन्दना

अधुना अद्वैतदर्शनयोगस्य नमस्कारस्तत्स्तुतये—

अब अद्वैतदर्शनयोगको, उसकी स्तुतिके लिये, नमस्कार किया जाता है—

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

* यहाँ अद्वैतसम्प्रदायके आदि आचार्य बदरिकाश्रमाधीश्वर तापसाग्रगण्य श्रीनारायणकी वन्दना की गयी है ।

[शास्त्रोंमें] जिस सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये सुखकर, हितकारी, निर्विवाद और अविरोधी अस्पर्शयोगका उपदेश किया गया है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

स्पर्शनं स्पर्शः सम्बन्धो न विद्यते यस्य योगस्य केनचित्कदाचिदपि सोऽस्पर्शयोगो ब्रह्मस्वभाव एव वै नामेति ब्रह्मविदामस्पर्शयोग इत्येवंप्रसिद्ध इत्यर्थः । स च सर्वसत्त्वसुखः । भवति कश्चिदत्यन्तसुखसाधनविशिष्टोऽपि दुःखरूपः, यथा तपः । अयं तु न तथा । किं तर्हि सर्वसत्त्वानां सुखः ।

तथेह भवति कश्चिद्विषयोपभोगः सुखो न हितः अयं तु सुखो हितश्च नित्यमप्रचलितस्वभावत्वात् । किं चाविवादो विरुद्धवदनं विवादः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यस्मिन्न विद्यते सोऽविवादः । कस्मात् ? यतोऽविरुद्धश्च । य ईदृशो योगो

जिस योगका किसीसे कभी स्पर्श यानी सम्बन्ध नहीं है उसे 'अस्पर्शयोग' कहते हैं; वह ब्रह्मस्वभाव ही है। 'वै' 'नाम' इन पदोंका यह तात्पर्य है कि वह 'ब्रह्मवेत्ताओंका अस्पर्शयोग' इस नामसे प्रसिद्ध है और वह समस्त प्राणियोंके लिये सुखकर होता है। कोई विषय तो अत्यन्त सुखसाधनविशिष्ट होनेपर भी दुःखरूप होता है, जैसा कि तप। किन्तु यह ऐसा नहीं है। तो फिर कैसा है? यह सभी प्राणियोंके लिये सुखदायक है।

इसी प्रकार इस लोकमें कोई-कोई विषयसामग्री सुखदायक तो होती है किन्तु हितकर नहीं होती। किन्तु यह तो सर्वदा अविचलस्वभाव होनेके कारण सुखदायक भी है और हितकर भी। यही नहीं, यह अविवाद भी है। जिसमें पक्ष-प्रतिपक्ष स्वीकार करके विरुद्ध कथनरूप विवाद नहीं होता उसे अविवाद कहते हैं। ऐसा यह क्यों है? क्योंकि यह सबसे अविरुद्ध है। ऐसे जिस योगका शास्त्रने उपदेश

देशितः उपदिष्टः शास्त्रेण तं नमाम्यहं प्रणमामीत्यर्थः ॥ २ ॥

किया है, उसे मैं नमस्कार यानी प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

द्वैतवादियोंका पारस्परिक विरोध

कथं द्वैतिनः परस्परं विरुध्यन्ते ? इत्युच्यते

द्वैतवादियोंमें परस्पर किस प्रकार विरोध है ? सो बतलाया जाता है—

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ॥ ३ ॥

उनमेंसे कोई-कोई वादी तो सत् पदार्थकी उत्पत्ति मानते हैं और कोई दूसरे बुद्धिशाली परस्पर विवाद करते हुए असत्पदार्थकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

भूतस्य विद्यमानस्य वस्तुनो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि सांख्या न सर्व एव द्वैतिनः । यस्मादभूतस्याविद्यमानस्यापरे वैशेषिका नैयायिकाश्च धीरा धीमन्तः प्राज्ञाभिमानिन इत्यर्थो विवदन्तो विरुद्धं वदन्तो ह्यन्योन्यमिच्छन्ति जेतुमित्यभिप्रायः ॥ ३ ॥

कोई-कोई वादी—केवल सांख्यमतावलम्बी, सम्पूर्ण द्वैतवादी नहीं—भूत यानी विद्यमान वस्तुकी जाति—उत्पत्ति मानते हैं; और क्योंकि दूसरे धीर—बुद्धिमान् यानी प्राज्ञाभिमानी वैशेषिक और नैयायिक-लोग अभूत अर्थात् अविद्यमान वस्तुका जन्म स्वीकार करते हैं, इसलिये परस्पर विवाद यानी विरुद्ध भाषण करते हुए वे एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा करते रहते हैं—यह इसका तात्पर्य है ॥ ३ ॥

तैरेवं विरुद्धवदनेनान्योन्यपक्षप्रतिषेधं कुर्वद्भिः किं ख्यापितं भवत्युच्यते—

परस्पर विवाद करके एक-दूसरेके पक्षका खण्डन करनेवाले उन वादियोंद्वारा किस सिद्धान्तका प्रकाश किया जाता है सो बतलाते हैं—

भूतं न जायते किंचिदभूतं नैव जायते ।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ॥ ४ ॥

[किन्हींका मत है—] 'कोई सद्वस्तु उत्पन्न नहीं होती' और [कोई कहते हैं—] 'असद्वस्तुका जन्म नहीं होता'—इस प्रकार परस्पर विवाद करनेवाले ये अद्वैतवादी* अजाति (अजातवाद) को ही प्रकाशित करते हैं ॥ ४ ॥

भूतं विद्यमानं वस्तु न जायते किंचिद्विद्यमानत्वादेवात्मवदित्येवं वदन्नसद्वादी सांख्यपक्षं प्रतिषेधति सज्जन्म । तथाभूतमविद्यमानमविद्यमानत्वान्नैव जायते शशविषाणवदित्येवं वदन्सांख्योऽप्यसद्वादिपक्षमसज्जन्म प्रतिषेधति । विवदन्तो विरुद्धं वदन्तोऽद्वया अद्वैतिनो ह्येते अन्योन्यस्य पक्षौ सदसतोर्जन्मनी प्रतिषेधन्तोऽजातिमनुत्पत्तिमर्थात्ख्यापयन्ति प्रकाशयन्ति ते ॥ ४ ॥

कोई भी भूत अर्थात् विद्यमान वस्तु विद्यमान होनेके कारण ही, उत्पन्न नहीं होती; जैसे कि आत्मा—इस प्रकार कहकर असद्वादी, सांख्यके पक्ष सद्वादका खण्डन करता है । तथा सांख्य भी 'अभूत—अविद्यमान वस्तु अविद्यमान होनेके कारण ही शशश्रृङ्गके समान उत्पन्न नहीं हो सकती'—ऐसा कहकर असद्वादीके पक्ष असत्की उत्पत्तिका प्रतिषेध करता है । इस प्रकार परस्पर विवाद यानी विरुद्ध भाषण करनेवाले ये अद्वैतवादी—क्योंकि वस्तुतः ये अद्वैतवादी ही हैं—एक-दूसरेके पक्ष सज्जन्म और असज्जन्मका खण्डन करते हुए अर्थतः अजाति—अनुत्पत्तिको ही प्रकाशित करते हैं ॥ ४ ॥

द्वैतवादियोंद्वारा प्रदर्शित अजातिका अनुमोदन

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥ ५ ॥

* यहाँ द्वैतवादियोंको ही व्यंगसे 'अद्वैतवादी' कहा है ।

उनके द्वारा प्रकाशित की हुई अजातिका हम भी अनुमोदन करते हैं। हम उनसे विवाद नहीं करते अतः तुम उस निर्विवाद [परमार्थ-दर्शन] को अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

तैरेवं ख्याप्यमानामजातिमेवमस्त्वित्यनुमोदामहे केवलं न तैः सार्धं विवदामः पक्षप्रतिपक्षग्रहणेन; यथा तेऽन्योन्यमित्यभिप्रायः। अतस्तमविवादं विवादरहितं परमार्थदर्शनमनुज्ञातमस्माभिर्निबोधत हे शिष्याः ॥ ५ ॥

उनके द्वारा इस प्रकार प्रकाशित की गयी अजातिका हम 'ऐसा ही हो' इस प्रकार केवल अनुमोदन करते हैं। तात्पर्य यह है कि पक्ष-प्रतिपक्ष लेकर उनके साथ विवाद नहीं करते, जैसा कि वे आपसमें किया करते हैं। अतः हे शिष्यगण ! हमारेद्वारा उपदेश किये हुए उस अविवाद—विवादरहित परमार्थदर्शन-को तुम अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ ६ ॥

वे वादीलोग अजात वस्तुका ही जन्म होना स्वीकार करते हैं। किन्तु जो पदार्थ निश्चय ही अजात और अमृत है वह मरणशीलताको कैसे प्राप्त हो सकता है ? ॥ ६ ॥

सदसद्वादिनः सर्वेऽपीति पुरस्तात्कृतभाष्यश्लोकः ॥ ६ ॥

यहाँ ['वादिनः' पदसे] सभी सद्वादी और असद्वादी अभिप्रेत हैं। इस श्लोकका भाष्य पहले* किया जा चुका है ॥ ६ ॥

स्वभावविपर्यय असम्भव है

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥ ७ ॥

* देखिये अद्वैतप्रकरण श्लोक २० का अर्थ ।

मरणरहित वस्तु कभी मरणशील नहीं हो सकती और मरणशील मरणहीन नहीं हो सकती, क्योंकि किसीके स्वभावका विपर्यय किसी प्रकार होनेवाला नहीं है ॥ ७ ॥

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥ ८ ॥

जिसके मतमें स्वभावसे ही मरणहीन धर्म मरणशीलताको प्राप्त हो जाता है; उसके सिद्धान्तानुसार कृतक (जन्म) होनेके कारण वह अमृत पदार्थ निश्चल (चिरस्थायी) कैसे रह सकेगा ? ॥ ८ ॥

उक्तार्थानां श्लोकानामिहोपन्यासः परवादिपक्षणामन्योन्यविरोधख्यापितानुत्पत्त्यनुमोदनप्रदर्शनार्थः ॥ ७-८ ॥

जिनका अर्थ पहले कहा जा चुका है ऐसे उपर्युक्त [तीन] श्लोकोंका उल्लेख यहाँ विपक्षी वादियोंके पक्षोंके पारस्परिक विरोधसे प्रकाशित अजातिका अनुमोदन प्रदर्शित करनेके लिये किया गया है ॥ ७-८ ॥

यस्माल्लौकिक्यपि प्रकृतिर्न विपर्येति, कासावित्याह—

क्योंकि लौकिकी प्रकृतिका भी विपर्यय नहीं होता [फिर पारमार्थिकीका तो कैसे होगा ?] किन्तु वह प्रकृति है क्या ? इसपर कहते हैं—

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या ।
प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ॥ ९ ॥

जो उत्तम सिद्धिद्वारा प्राप्त, स्वभावसिद्धा, सहजा और अकृता है तथा कभी अपने स्वभावका परित्याग नहीं करती वही 'प्रकृति' है—ऐसा जानना चाहिये ॥ ९ ॥

सम्यक्सिद्धिः संसिद्धिस्तत्र भवा सांसिद्धिकी यथा योगिनां

सम्यक् सिद्धिका नाम संसिद्धि है; उससे होनेवालीको 'सांसिद्धिकी'

सिद्धानाम् अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः प्रकृतिः । सा भूतभविष्यत्कालयोरपि योगिनां न विपर्येति तथैव सा । तथा स्वाभाविकी द्रव्यस्वभावत एव यथाग्न्यादीनाम् उष्णप्रकाशादिलक्षणा, सापि न कालान्तरे व्यभिचरति देशान्तरे च । तथा सहजा आत्मना सहैव जाता यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिलक्षणा ।

अन्यापि या काचिदकृता केनचिन्न कृता यथापां निम्नदेशगमनादिलक्षणा । अन्यापि या काचित्स्वभावं न जहाति सा सर्वा प्रकृतिरिति विज्ञेया लोके । मिथ्याकल्पितेषु लौकिकेष्वपि वस्तुषु प्रकृतिर्नान्यथा भवति किमुताजस्वभावेषु परमार्थवस्तुष्वमृतत्वलक्षणा प्रकृतिर्नान्यथा भवतीत्यभिप्रायः ॥ ९ ॥

कहते हैं; जिस प्रकारकी सिद्धि योगियोंको अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्ति उनकी प्रकृति है । योगियोंकी उस प्रकृतिका भूत और भविष्यत् कालमें भी विपर्यय नहीं होता—वह जैसी-की-तैसी ही रहती है । तथा 'स्वाभाविकी' वस्तुके स्वभावसे सिद्ध; जैसी कि अग्नि आदिकी उष्णता एवं प्रकाशादिरूपा प्रकृति होती है । उसका भी कालान्तर और देशान्तरमें व्यभिचार नहीं होता । तथा 'सहजा'—अपने साथ ही उत्पन्न होनेवाली; जैसे कि पक्षी आदिकी आकाशगमनादिरूपा प्रकृति होती है ।

और भी जो कोई 'अकृता'—किसीके द्वारा सम्पादन न की हुई; जैसे कि जलोंकी प्रकृति निम्न प्रदेशकी ओर जानेकी है । तथा इसके सिवा अन्य भी जो कोई अपने स्वभावको नहीं छोड़ती उस सबको लोकमें 'प्रकृति' नामसे ही जानना चाहिये । मिथ्या कल्पना की हुई लौकिक वस्तुओंमें भी उनकी प्रकृति अन्यथा नहीं होती; फिर अजस्वभाव परमार्थवस्तुओंमें उनकी अमृतत्वलक्षणा प्रकृति अन्यथा नहीं हो सकती—इसमें तो कहना ही क्या है ? यह इसका अभिप्राय है ॥ ९ ॥

जीवका जरा-मरण माननेमें दोष

किंविषया पुनः सा प्रकृतिर्यस्या अन्यथाभावो वादिभिः कल्प्यते कल्पनायां वा को दोष इत्याह—

वादीलोग जिसके अन्यथाभावकी कल्पना करते हैं उस प्रकृतिका विषय क्या है ? और उनकी कल्पनामें क्या दोष है ? इसपर कहते हैं—

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ॥ १० ॥

समस्त जीव स्वभावसे ही जरा-मरणसे रहित हैं । उनके जरा-मरण स्वीकार करनेवाले लोग, इस विचारके कारण ही, स्वभावसे च्युत हो जाते हैं ॥ १० ॥

जरामरणनिर्मुक्ताः—जरामरणादिसर्वविक्रियावर्जिता इत्यर्थः । के ? सर्वे धर्माः सर्व आत्मान इत्येतत्स्वभावतः प्रकृतितः । एवंस्वभावाः सन्तो धर्मा जरामरणमिच्छन्त इच्छन्त इवेच्छन्तो रज्ज्वामिव सर्वमात्मनि कल्पयन्तश्च्यवन्ते स्वभावतश्चलन्तीत्यर्थः, तन्मनीषया जन्ममरणचिन्तया तद्भावभावितत्वदोषेणेत्यर्थः ॥ १० ॥

'जरामरणनिर्मुक्ताः' अर्थात् जरा-मरणादि सम्पूर्ण विकारोंसे रहित हैं ! कौन ? सम्पूर्ण धर्म अर्थात् समस्त जीवात्मा, स्वभावतः यानी प्रकृतिसे ही । ऐसे स्वभाववाले होनेपर भी जरा-मरणके इच्छुकके समान इच्छा करनेवाले अर्थात् रज्जुमें सर्पकी भाँति आत्मामें जरा-मरणकी कल्पना करनेवाले जीव, उसकी मनीषा-जरामरणकी चिन्तासे अर्थात् उस भावसे भावित होनेके दोषवश अपने स्वभावसे च्युत –विचलित हो जाते हैं ॥ १० ॥

सांख्यमतपर वैशेषिककी आपत्ति

कथं सज्जातिवादिभिः सांख्यैरनुपपन्नमुच्यत इत्याह वैशेषिकः—

सज्जातिवादी सांख्यमतावलम्बियोंका कथन किस प्रकार असङ्गत है ? सो वैशेषिकमतावलम्बी बतलाते हैं—

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।
जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ॥ ११ ॥

जिस (सांख्यमतावलम्बी) के मतमें कारण ही कार्य है उसके सिद्धान्तानुसार कारण ही उत्पन्न होता है । किन्तु जब कि वह जन्म लेनेवाला है तो अजन्मा कैसे हो सकता है और भिन्न (विदीर्ण) होनेपर भी नित्य कैसे हो सकता है ॥ ११ ॥

कारणं मृद्वदुपादानलक्षणं यस्य वादिनो वै कार्यं कारणमेव कार्याकारेण परिणमते यस्य वादिन इत्यर्थः, तस्याजमेव सत्प्रधानादि कारणं महदादिकार्यरूपेण जायत इत्यर्थः । महदाद्याकारेण चेज्जायमानं प्रधानं कथमजमुच्यते तैर्विप्रतिषिद्धं चेदं जायतेऽजं चेति । नित्यं च तैरुच्यते प्रधानं भिन्नं विदीर्णं स्फुटितमेकदेशेन सत्कथं नित्यं भवेदित्यर्थः । न हि सावयवं घटादि एकदेशस्फुटनधर्मि नित्यं दृष्टं लोक

जिस वादीके मतमें मृत्तिकाके समान उपादान कारण ही कार्य है अर्थात् जिसके मतमें कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है उसके सिद्धान्तानुसार प्रधानादि कारण अजन्मा होता हुआ भी महदादि कार्यरूपसे उत्पन्न होता है ऐसा इसका तात्पर्य है । किन्तु यदि प्रधान महदादिरूपसे उत्पन्न होनेवाला है तो वे उसे अजन्मा कैसे बतलाते हैं ? उत्पन्न होता है और अजन्मा भी है--ऐसा कथन तो परस्पर विरुद्ध है ।

इसके सिवा वे प्रधानको नित्य भी बतलाते हैं । किन्तु वह भिन्न—विदीर्ण अर्थात् एक देशमें स्फुटित यानी विकृत होनेवाला* होकर भी नित्य कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह कि घटादि सावयव पदार्थ, जो एक देशमें स्फुटित होनेवाले हैं, लोकमें

* जैसे बीज अङ्कुररूपसे फूटता है ।

इत्यर्थः । विदीर्णं च स्यादेकदेशे- नाजं नित्यं चेति एतद्विप्रतिषिद्धं तैरभिधीयत इत्यभिप्रायः ॥११॥

कभी नित्य नहीं देखे गये । वह अपने एक देशमें विदीर्ण होता है तथा अज और नित्य भी है—यह तो उनका विरुद्ध कथन ही है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ११ ॥

उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टीकरणार्थमाह—

उपर्युक्त अभिप्रायका ही स्पष्टीकरण करनेके लिये कहते हैं—

कारणाद्यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि ।
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम् ॥ १२ ॥

यदि कारणसे कार्यकी अभिन्नता है तब तो तुम्हारे मतमें कार्य भी अजन्मा है; और यदि ऐसी बात है तो उत्पन्न होनेवाले कार्यसे अभिन्न होनेपर कारण भी किस प्रकार निश्चल रह सकता है ? ॥ १२ ॥

कार्यकारणयोः अभिन्नत्वे विप्रतिपत्तिः

कारणादजात्कार्यस्य यद्यनन्यत्वमिष्टं त्वया ततः कार्यमजमिति प्राप्तम् । इदं चान्यद्विप्रतिषिद्धं कार्यमजं चेति तव । किं चान्यत्कार्यकारणयोरनन्यत्वे जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणमनन्यन्नित्यं ध्रुवं च ते कथं भवेत् । न हि कुकुट्या एकदेशः पच्यत एकदेशः प्रसवाय कल्प्यते ॥ १२ ॥

यदि तुम्हें अजन्मा कारणसे कार्यकी अनन्यता इष्ट है तो [तुम्हारे मतमें] यह बात सिद्ध होती है कि कार्य भी अजन्मा है । किन्तु कार्य है और अजन्मा है यह तुम्हारे कथनमें एक दूसरा विरोध है । इसके सिवा, कार्य और कारणकी अनन्यता होनेपर उत्पत्तिशील कार्यसे अभिन्न उसका कारण नित्य और निश्चल कैसे रह सकता है ? ऐसा कभी नहीं हो सकता कि मुर्गीका एक अंश तो पकाया जाय और दूसरा सन्तानोत्पत्तिके योग्य बनाये रखा जाय ॥ १२ ॥

किं चान्यत्— इसके सिवा और भी—

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥ १३ ॥

जिसके मतमें अजन्मा वस्तुसे ही किसी कार्यकी उत्पत्ति होती है उसके पास निश्चय ही इसका कोई दृष्टान्त नहीं है । और यदि जात पदार्थसे ही कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो अनवस्था उपस्थित हो जाती है ॥ १३ ॥

अजादनुत्पन्नाद्वस्तुनो जायते यस्य वादिनः कार्यं जाताजातयोः उभयोरपि कारणत्वानुपपत्तेः दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै, दृष्टान्ताभावेऽर्थादजान्न किंचिज्जायत इति सिद्धं भवतीत्यर्थः । यदा पुनर्जाताज्जायमानस्य वस्तुनः अभ्युपगमः तदप्यन्यस्मात् जातात्तदप्यन्यस्मादिति न व्यवस्था प्रसज्यते । अनवस्थानं स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

जिस वादीके मतमें अज—अनुत्पन्न वस्तुसे कार्यकी उत्पत्ति होती है उसके पास निश्चय ही कोई दृष्टान्त नहीं है । अतः तात्पर्य यह हुआ कि दृष्टान्तका अभाव होनेके कारण यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि अज वस्तुसे किसीकी उत्पत्ति नहीं होती । और जब किसी जात—उत्पन्न होनेवाली वस्तुसे कार्यवर्गकी उत्पत्ति मानी जाती है तो वह भी किसी अन्य जात वस्तुसे उत्पन्न होनी चाहिये और वह किसी औरहीसे उत्पन्न होनी चाहिये—इस प्रकार कोई व्यवस्था ही नहीं रहती; अर्थात् अनवस्था उपस्थित हो जाती है ॥ १३ ॥

हेतु और फलके अन्योन्यकारणत्वमें दोष

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इति

"जिस अवस्थामें इसकी दृष्टिमें सब आत्मा ही हो गया है" इस

परमार्थतो द्वैताभावः श्रुत्योक्तस्तमाश्रित्याह—

श्रुतिने जो परमार्थतः द्वैतका अभाव बतलाया है, उसीको आश्रित करके कहते हैं—

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ॥ १४ ॥

जिनके मतमें हेतुका कारण फल है और फलका कारण हेतु है वे हेतु और फलके अनादित्वका प्रतिपादन कैसे करते हैं ? ॥ १४ ॥

हेतोर्धर्मादेरादिः कारणं देहादिसंघातः फलं येषां वादिनाम् । तथादिः कारणं हेतुर्धर्माधर्मादिः फलस्य च देहादिसंघातस्य । एवं हेतुफलयोरितरेतरकार्यकारणत्वेनादिमत्त्वं ब्रुवद्भिरेवं हेतोः फलस्य चानादित्वं कथं तैरुपवर्ण्यते ? विप्रतिषिद्धमित्यर्थः । न हि नित्यस्य कूटस्थस्यात्मनो हेतुफलात्मता सम्भवति ॥ १४ ॥

जिन वादियोंके मतमें हेतु अर्थात् धर्मादिका आदि—कारण देहादि संघातरूप फल है तथा देहादि संघातरूप फलका आदि-कारण धर्माधर्मादि हेतु है*—इस प्रकार हेतु और फलका एक-दूसरेके कार्य-कारणरूपसे सकारणत्व बतलानेवाले उन लोगोंद्वारा हेतु और फलका अनादित्व किस प्रकार प्रतिपादन किया जाता है ? अर्थात् उनका यह कथन सर्वथा विरुद्ध है । नित्य कूटस्थ आत्माकी हेतुफलात्मकता तो किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥ १४ ॥

कथं तैर्विरुद्धमभ्युपगम्यत इत्युच्यते—

वे किस प्रकार विरुद्ध मतको मानते हैं, सो बतलाया जाता है—

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ॥ १५ ॥

---

* अर्थात् जो धर्मादिको शरीरादिकी प्राप्तिका कारण और शरीरको धर्मादि-सम्पादनका कारण मानते हैं ।

जिनके मतमें हेतुका कारण फल है और फलका कारण हेतु है उनकी [मानी हुई] उत्पत्ति ऐसी ही है जैसे पुत्रसे पिताका जन्म होना ॥ १५ ॥

हेतुजन्यादेव फलाद्धेतोर्जन्माभ्युपगच्छतां तेषामीदृशो विरोध उक्तो भवति यथा पुत्राज्जन्म पितुः ॥ १५ ॥

हेतुसे उत्पन्न होनेवाले फलसे ही हेतुका जन्म माननेवाले उन लोगोंके मतमें ऐसा ही विरोध कहा जाता है जैसे पुत्रसे पिताका जन्म बतलानेमें ॥ १५ ॥

यथोक्तो विरोधो न युक्तोऽभ्युपगन्तुमिति चेन्मन्यसे—

यदि तुम ऐसा मानते हो कि उपर्युक्त विरोध मानना उचित नहीं है तो—

संभवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया ।
युगपत्संभवे यस्मादसंबन्धो विषाणवत् ॥ १६ ॥

तुम्हें हेतु और फलकी उत्पत्तिमें क्रम स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि उनके साथ-साथ उत्पन्न होनेमें तो [दायें-बायें] सींगोंके समान परस्पर [कार्य-कारणरूप] सम्बन्ध ही नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

संभवे हेतुफलयोरुत्पत्तौ क्रम एषितव्यस्त्वयान्वेष्टव्यो हेतुः पूर्वं पश्चात्फलं चेति । इतश्च युगपत्संभवे यस्माद्धेतुफलयोः कार्यकारणत्वेनासंबन्धः, यथा युगपत्संभवतोः सव्येतरगोविषाणयोः ॥ १६ ॥

तुम्हें हेतु और फलकी उत्पत्तिमें क्रम अर्थात् पहले हेतु होता है और फिर फल—इस प्रकार दोनोंका पौर्वापर्य खोजना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार गौके साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले दायें और बायें सींगोंका परस्पर सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार साथ-साथ उत्पन्न होनेपर तो हेतु और फलका परस्पर कार्य-कारणरूपसे सम्बन्ध ही नहीं होगा ॥ १६ ॥

कथमसंबन्धः ? इत्याह—

उनका किस प्रकार सम्बन्ध नहीं होगा ? सो बतलाते हैं—

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति ।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ॥ १७ ॥

तुम्हारे मतमें यदि हेतु फलसे उत्पन्न होता है तो वह [हेतुरूपसे] सिद्ध ही नहीं हो सकता; और असिद्ध हेतु फलको उत्पन्न कैसे करेगा ? ॥ १७ ॥

जन्यात्स्वतोऽलब्धात्मकात् फलादुत्पद्यमानः सञ्शशविषाणादेरिवासतो न हेतुः प्रसिध्यति जन्म न लभते । अलब्धात्मकोऽप्रसिद्धः सञ्शशविषाणादिकल्पस्तव कथं फलमुत्पादयिष्यति ? न हीतरेतरापेक्षसिद्ध्योः शशविषाणकल्पयोः कार्यकारणभावेन संबन्धः क्वचिद् दृष्टः; अन्यथा वेत्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

जन्य अर्थात् जो स्वतः प्राप्त नहीं है उस शशशृङ्गके समान असत् फलसे उत्पन्न होनेवाला होनेपर तो हेतु ही सिद्ध नहीं होता अर्थात् उसीका जन्म नहीं हो सकता । इस प्रकार शशशृङ्गके समान जिसकी स्वतः उपलब्धि नहीं है वह अप्रसिद्ध हेतु तुम्हारे मतमें किस प्रकार फल उत्पन्न कर देगा ? एक-दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होनेवाले तथा शशशृङ्गके समान सर्वथा असत् पदार्थोंका कार्य-कारणभावसे अथवा किसी और प्रकार कभी सम्बन्ध नहीं देखा गया—यह इसका अभिप्राय है ॥ १७ ॥

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।
कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥ १८ ॥

[तुम्हारे मतमें] यदि फलसे हेतुकी सिद्धि होती है और हेतुसे फलकी सिद्धि होती है तो उनमें पहले कौन हुआ ? जिसकी अपेक्षासे कि दूसरेका आविर्भाव माना जाय ? ॥ १८ ॥

असंबन्धतादोषेणापोदितेऽपि हेतुफलयोः कार्यकारणभावे यदि हेतुफलयोरन्योन्यसिद्धिरभ्युपगम्यत एव त्वया कतरत्पूर्वं निष्पन्नं हेतुफलयोर्यस्यपश्चाद्भाविनः सिद्धिः स्यात्पूर्वसिद्ध्यपेक्षया तद् ब्रूहीत्यर्थः ॥ १८ ॥

हेतु और फलके कार्यकारणभावका असम्बन्धतादोषसे निराकरण कर दिया जानेपर भी यदि तुम हेतु और फलकी एक-दूसरेसे सिद्धि मानते ही हो तो इन हेतु और फलमेंसे पहले कौन हुआ—सो बतलाओ; जिसकी पूर्वसिद्धिकी अपेक्षासे पीछे होनेवालेकी सिद्धि मानी जाय?—यह इसका तात्पर्य है ॥ १८ ॥

अथैतन्न शक्यते वक्तुमिति मन्यसे—

और यदि तुम ऐसा मानते हो कि यह नहीं बतलाया जा सकता तो—

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथ वा पुनः ।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ॥ १९ ॥

यह अशक्ति (असामर्थ्य) अज्ञान है, अथवा फिर तो इससे उपर्युक्त क्रमका भी विपर्यय हो जाता है [क्योंकि इनके पूर्वापरत्वका ज्ञान न होनेसे इनमें जो पूर्ववर्ती है वह कारण है और पीछे होनेवाला कार्य है ऐसा कोई नियम भी नहीं रह सकता] । इस प्रकार उन बुद्धिमानोंने सर्वथा अजातिको ही प्रकाशित किया है ॥ १९ ॥

सेयमशक्तिरपरिज्ञानं तत्त्वाविवेको मूढतेत्यर्थः । अथ वा योऽयं त्वयोक्तः क्रमो हेतोः फलस्य सिद्धिः फलाच्च हेतोः सिद्धिरितीतरेतरानन्तर्यलक्षणस्तस्य कोपो विपर्यासोऽन्यथाभावः

यह अशक्ति [तुम्हारा] अपरिज्ञान—तत्त्वका अविवेक अर्थात् मूढ़ता ही है । अथवा तुमने जो एक-दूसरेका पौर्वापर्यरूप यह क्रम बतलाया है कि हेतुसे फलकी सिद्धि होती है और फलसे हेतुकी, उसका कोप—विपर्यास अर्थात् अन्यथाभाव

स्यादित्यभिप्रायः । एवं हेतुफलयोः कार्यकारणभावानुपपत्तेरजातिः सर्वस्यानुत्पत्तिः परिदीपिता प्रकाशितान्योन्यपक्षदोषं ब्रुवद्भिर्वादिभिर्बुद्धैः पण्डितैरित्यर्थः ॥ १९ ॥

हो जायगा—ऐसा इसका अभिप्राय है। इस प्रकार हेतु और फलका कार्य-कारणभाव असम्भव होनेके कारण एक-दूसरेके पक्षका दोष बतलानेवाले प्रतिपक्षी बुद्धिमानों अर्थात् पण्डितोंने सबकी अजाति—अनुत्पत्ति ही प्रकाशित की है ॥ १९ ॥

ननु हेतुफलयोः कार्यकारणभाव इत्यस्माभिरुक्तं शब्दमात्रमाश्रित्यच्छलमिदं त्वयोक्तं पुत्राज्जन्म पितुर्यथा, विषाणवच्चासंबन्ध इत्यादि । न ह्यस्माभिरसिद्धाद्धेतोः फलसिद्धिरसिद्धाद्वा फलाद्धेतुसिद्धिरभ्युपगता । किं तर्हि ? बीजाङ्कुरवत्कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यत इति ।

अत्रोच्यते—

पूर्व०—हमने जो कहा कि हेतु और फलका परस्पर कार्य-कारणभाव है, सो तुमने हमारे शब्दमात्रको पकड़कर छलपूर्वक ऐसा कह दिया कि 'जैसे पुत्रसे पिताका जन्म होना है' '[दायें-बायें] सींगोंके समान [उनका परस्पर] सम्बन्ध ही नहीं हो सकता' इत्यादि । हमने असिद्ध हेतुसे फलकी सिद्धि कभी नहीं मानी । तो फिर क्या माना है ? हम तो बीज और अङ्कुरके समान केवल उनका कार्य-कारणभाव मानते हैं ।

सिद्धान्ती—इसपर हमें यह कहना है कि—

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः ।
न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ॥ २० ॥

बीजाङ्कुर नामका जो दृष्टान्त है वह तो सदा साध्यके ही समान है । और जो हेतु साध्यके ही सदृश होता है वह साध्यकी सिद्धिमें उपयोगी नहीं होता ॥ २० ॥

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तो यः

बीजाङ्कुर दृष्टान्तस्य साध्यसमत्वम्

स साध्ये तुल्यो ममेत्यभिप्रायः । ननु प्रत्यक्षः कार्यकारणभावो बीजाङ्कुरयोरनादिः ? न, पूर्वस्य पूर्वस्यापरवदादिमत्त्वाभ्युपगमात् । यथेदानीमुत्पन्नोऽपरोऽङ्कुरो बीजादादिमान्बीजं चापरमन्यस्मादङ्कुरादिति क्रमेणोत्पन्नत्वादादिमत् । एवं पूर्वः पूर्वोऽङ्कुरो बीजं च पूर्वं पूर्वमादिमदेवेति प्रत्येकं सर्वस्य बीजाङ्कुरजातस्यादिमत्त्वात्कस्यचिदप्यनादित्वानुपपत्तिः । एवं हेतुफलानाम् ।

अथ बीजाङ्कुरसन्ततेरनादिमत्त्वमिति चेत् ? न, एकत्वानुपपत्तेः । न हि बीजाङ्कुरव्यतिरेकेण बीजाङ्कुरसन्ततिर्नामैकाभ्युपगम्यते हेतुफलसन्ततिर्वा तदनादित्ववादिभिः तस्मात्सूक्तं

बीजाङ्कुर-संततिनिरासः

बीजाङ्कुर नामका जो दृष्टान्त है वह तो साध्यके ही समान है—ऐसा मेरा अभिप्राय है । यदि कहो कि बीज और अङ्कुरका कार्य-कारणभाव तो प्रत्यक्ष ही अनादि है, तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि उनमेंसे पूर्व-पूर्व [अङ्कुर और फल] को परवर्तियोंके समान आदिमान् माना गया है । जिस प्रकार इस समय बीजसे उत्पन्न हुआ दूसरा अङ्कुर आदिमान् है उसी प्रकार क्रमशः दूसरे अङ्कुरसे उत्पन्न हुआ दूसरा बीज भी आदिमान् है । इस प्रकार पूर्व-पूर्व अङ्कुर और पूर्व-पूर्व बीज आदिमान् ही है । अतः सम्पूर्ण बीजाङ्कुरवर्गका प्रत्येक बीज और अङ्कुर आदिमान् होनेके कारण किसीका भी अनादि होना असम्भव है । यही न्याय हेतु और फलके विषयमें भी समझना चाहिये ।

यदि कहो कि बीजाङ्कुरपरम्परा तो अनादि हो ही सकती है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि उसका एकत्व नहीं माना गया । हेतु-फलका अनादित्व प्रतिपादन करनेवालोंने बीज और अङ्कुरसे भिन्न बीजाङ्कुरपरम्परा अथवा हेतु-फलपरम्परा नामका कोई एक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना । अतः

हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यत इति । तथा चान्यदप्यनुपपत्तेर्नच्छलमित्यभिप्रायः। न च लोके साध्यसमो हेतुः साध्यसिद्धौ सिद्धिनिमित्तं प्रयुज्यते प्रमाणकुशलैरित्यर्थः । हेतुरिति दृष्टान्तोऽत्राभिप्रेतः, गमकत्वात् । प्रकृतो हि दृष्टान्तो न हेतुरिति ॥ २० ॥

'वे लोग हेतु और फलका अनादित्व किस प्रकार प्रतिपादन करते हैं' यह कथन बहुत ठीक है। इसके सिवा अनुपपत्ति होनेके कारण भी हमारा कथन छल नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है । अभिप्राय यह है कि लोकमें प्रमाणकुशल पुरुषोंद्वारा साध्यकी सिद्धिके लिये साध्यके ही सदृश हेतुका प्रयोग नहीं किया जाता । यहाँ 'हेतु' शब्दका अभिप्राय दृष्टान्त है, क्योंकि वह उसीका ज्ञापक है; यहाँ दृष्टान्तका ही प्रकरण भी है—हेतुका नहीं ॥ २० ॥

अजातवाद निरूपण

कथं बुद्धैरजातिः परिदीपितेत्याह—

पण्डितोंने अजातिको ही किस प्रकार प्रकाशित किया है ? इसपर कहते हैं—

पूर्वापरापरिज्ञानमजाते परिदीपकम् ।
जायमानाद्धि वै धर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते ॥ २१ ॥

[हेतु और फलके] पौर्वापर्यका जो अज्ञान है वह अनुत्पत्तिका ही प्रकाशक है, क्योंकि यदि कार्य [सचमुच] उत्पन्न हुआ होता तो उसका कारण क्यों न ग्रहण किया जाता ॥ २१ ॥

यदेतद्धेतुफलयोःपूर्वापरापरिज्ञानं तच्चैतदजातेः परिदीपकमवबोधकमित्यर्थः । जायमानो हि

यह जो हेतु और फलके पौर्वापर्यका अज्ञान है वह अजातिका ही परिदीपक अर्थात् ज्ञापक है । यदि कार्य उत्पन्न होता ग्रहण किया

चेद्धर्मो गृह्यते, कथं तस्मात्पूर्वं कारणं न गृह्यते। अवश्यं हि जायमानस्य ग्रहीत्रा तज्जनकं ग्रहीतव्यम् । जन्यजनकयोः संबन्धस्यानपेतत्वात् । तस्माद्-जातिपरिदीपकं तदित्यर्थः ॥२१॥

जाता है । तो उससे पूर्ववर्ती कारण क्यों नहीं ग्रहण किया जाता ? उत्पन्न होनेवाली वस्तुको ग्रहण करनेवाले पुरुषद्वारा उसकी उत्पत्तिका कारण भी अवश्य ही ग्रहण किया जाना चाहिये, क्योंकि जन्य और जनक पदार्थोंका सम्बन्ध अनिवार्य है । इसलिये तात्पर्य यह है कि यह अजातिका ही प्रकाशक है ॥ २१ ॥

सदसदादिवादोंकी अनुपपत्ति

इतश्च न जायते किंचित्, यज्जायमानं वस्तु—

इसलिये भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती क्योंकि उत्पन्न होनेवाली वस्तु—

स्वतो वा परतो वापि न किंचिद्वस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वापि न किंचिद्वस्तु जायते ॥ २२ ॥

स्वतः अथवा परतः [किसी भी प्रकार] कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती; क्योंकि सत्, असत् अथवा सदसत् ऐसी कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती ॥ २२ ॥

स्वतः परत उभयतो वा सदसत्सदसद्वा न जायते न तस्य केनचिदपि प्रकारेण जन्म संभवति । न तावत्स्वयमेवापरिनिष्पन्नात्स्वतः स्वरूपात्स्वयमेव जायते यथा घटस्तस्मादेव घटात् । नापि परतोऽन्यस्मादन्यो यथा

अपनेसे, दूसरेसे अथवा दोनोंहीसे सत्, असत् अथवा सदसद्रूपसे उत्पन्न नहीं होती—किसी भी प्रकार उसका जन्म होना सम्भव नहीं है । जिस प्रकार घड़ा उसी घड़ेसे उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार कोई भी वस्तु स्वयं अपने अपरिनिष्पन्न (पूर्णतया तैयार न हुए) स्वरूपसे स्वतः ही उत्पन्न नहीं हो सकती । और न किसी अन्यसे ही अन्यकी

घटात्पटः पटात्पटान्तरम् । तथा नोभयतः, विरोधात्; यथा घटपटाभ्यां घटः पटो वा न जायते ।

उत्पत्ति हो सकती है; जैसे घटसे पटकी अथवा पटसे पटान्तरकी । तथा इसी तरह विरोध होनेके कारण दोनोंसे भी किसीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; जिस प्रकार कि घट और पट दोनोंसे घट या पट कोई उत्पन्न नहीं हो सकता ।

ननु मृदो घटो जायते पितुश्च पुत्रः । सत्यम्, अस्ति जायत इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम् । तावेव शब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परीक्ष्येते किं सत्यमेव तावुत मृषेति । यावता परीक्ष्यमाणे शब्दप्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं शब्दमात्रमेव तत् । "वाचारम्भणम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुतेः ।

यदि कहो कि मिट्टीसे घड़ा उत्पन्न होता है और पितासे पुत्रका जन्म होता है तो, ठीक है, परन्तु 'उत्पन्न होता है' ऐसा शब्द और उसकी प्रतीति मूर्खोंको ही हुआ करती है । विवेकी लोग तो उन शब्द और प्रतीतिकी—वे सत्य हैं अथवा मिथ्या—इस प्रकार परीक्षा किया करते हैं । किन्तु परीक्षा की जानेपर तो शब्द और उसकी प्रतीतिकी विषयभूत घट अथवा पुत्रादिरूप वस्तु केवल शब्दमात्र ही है; जैसा कि "वाचारम्भणम्" इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है ।

सच्चेन्न जायते सत्त्वान्मृत्पित्रादिवत् । यद्यसत्तथापि न जायतेऽसत्त्वादेव शशविषाणादिवत् ।

यदि वस्तु सत् (विद्यमान) है तो मृत्तिका और पिता आदिके समान सत् होनेके कारण ही उत्पन्न नहीं हो सकती । यदि असत् है, तो भी शशशृङ्गादिके समान असत् होनेके कारण ही उत्पन्न नहीं हो सकती । और यदि सदसत् है तो

अथ सदसत्तथापि न जायते विरुद्धस्यैकस्यासंभवात् । अतो न किंचिद्वस्तु जायत इति सिद्धम् ।

भी उत्पन्न नहीं हो सकती; क्योंकि एक ही वस्तु विरुद्ध स्वभाववाली होनी असम्भव है । अतः यही सिद्ध हुआ कि कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती ।

येषां पुनर्जनिरेव जायत इति क्रियाकारकफलैकत्वम् अभ्युपगम्यते क्षणिकत्वं च वस्तुनः, ते दूरत एव न्यायापेताः । इदमित्थमित्यत्र-धारणक्षणान्तरानवस्थानादननु-भूतस्य स्मृत्यनुपपत्तेश्च ॥ २२ ॥

इसके विपरीत जिन (बौद्धों) के मतमें जन्मक्रियाका ही जन्म होता है—इस प्रकार जो क्रिया, कारक और फलकी एकता तथा वस्तुका क्षणिकत्व स्वीकार करते हैं वे तो बिल्कुल ही युक्तिशून्य हैं; क्योंकि 'यह ऐसा है' इस प्रकार निश्चय करनेके क्षणसे दूसरे ही क्षणमें स्थिति न रहनेके कारण [पदार्थका अनुभव नहीं हो सकता]; और बिना अनुभव हुए पदार्थकी स्मृति होना असम्भव है ॥ २२ ॥

हेतु-फलका अनादित्व उनकी अनुत्पत्तिका सूचक है

किं च हेतुफलयोरनादित्वम-भ्युपगच्छता त्वया बलाद्धेतुफल-योरजन्मैवाभ्युपगतं स्यात् । तत्कथम् ?

यही नहीं, हेतु और फलका अनादित्व स्वीकार करनेवाले तुम्हारे द्वारा तो बलात्कारसे हेतु और फलकी अनुत्पत्ति ही स्वीकार कर ली गयी है । सो किस प्रकार ?—

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः ।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥ २३ ॥

अनादि फलसे कोई हेतु उत्पन्न नहीं हो सकता और इसी प्रकार स्वभावसे ही [अनादि हेतुसे] फलकी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती,

क्योंकि जिस वस्तुका कोई आदि (कारण) नहीं होता उसका आदि (जन्म) भी नहीं होता ॥ २३ ॥

उत्पन्नादनादिरहितात्फलाद्धेतुर्न जायते । न ह्यनुत्पन्नादनादेः फलाद्धेतोर्जन्मेष्यते त्वया । फलं चादिरहितादनादेर्हेतोरजात्स्वभावत एव निर्निमित्तं जायत इति नाभ्युपगम्यते ।

अनादि अर्थात् आदिरहित फलसे हेतु उत्पन्न नहीं होता । जिसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई ऐसे अनादि फलसे तो तुम हेतुका जन्म मानते ही नहीं हो; और न ऐसा ही मानते हो कि अनादि—आदिरहित अर्थात् अजन्मा हेतुसे बिना किसी निमित्तके स्वभावतः ही फलकी उत्पत्ति हो जाती है ।

तस्मादनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया हेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगम्यते । यस्मादादिः कारणं न विद्यते यस्य लोके तस्य ह्यादिः पूर्वोक्ता जातिर्न विद्यते । कारणवत एव ह्यादिरभ्युपगम्यते नाकारणवतः ॥ २३ ॥

अतः हेतु और फलका अनादित्व माननेवाले तुम्हारे द्वारा उनकी अनुत्पत्ति ही स्वीकार कर ली जाती है, क्योंकि लोकमें जिस वस्तुका आदि–कारण नहीं होता उसका आदि अर्थात् पूर्वोक्त जन्म भी नहीं होता । जिसका कोई कारण होता है उसीका जन्म भी माना जाता है; कारणरहित पदार्थका नहीं ॥ २३ ॥

बाह्यार्थवाद निरूपण

उक्तस्यैवार्थस्य दृढीकरणचिकीर्षया पुनराक्षिपति—

पूर्वोक्त अर्थको ही पुष्ट करनेकी इच्छासे फिर दोष प्रदर्शित करते हैं—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥ २४ ॥

प्रज्ञप्ति (शब्दस्पर्शादि ज्ञान) को सनिमित्त (बाह्यविषययुक्त) मानना चाहिये; नहीं तो [शब्दस्पर्शादि] द्वैतका नाश हो जायगा ।

इसके सिवा [अग्निदाह आदि] क्लेशकी उपलब्धिसे भी अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रद्वारा प्रतिपादित द्वैतकी सत्ता मानी गयी है ॥ २४ ॥

प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिस्तस्याः सनिमित्तत्वम्; निमित्तं कारणं विषय इत्येतत्सनिमित्तत्वं सविषयत्वं स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येतत् प्रतिजानीमहे । न हि निर्विषया प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः स्यात्, तस्याः सनिमित्तत्वात् । अन्यथा निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीतलोहितादिप्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य नाशतो नाशोऽभावः प्रसज्येतेत्यर्थः । न च प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्याभावोऽस्ति प्रत्यक्षत्वात् । अतः प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य दर्शनात्, परेषां तन्त्रं परतन्त्रमित्यन्यशास्त्रम्, तस्य परतन्त्रस्य परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता मताभिप्रेता ।

प्रज्ञान अर्थात् शब्दादि-प्रतीतिका नाम प्रज्ञप्ति है । वह सनिमित्त है । निमित्त—कारण अर्थात् विषयको कहते हैं; अतः सनिमित्त—सविषय यानी अपनेसे अतिरिक्त विषयके सहित है—ऐसी हम [उसके विषयमें] प्रतिज्ञा करते हैं । [अर्थात् हमारा कथन है कि] प्रज्ञप्ति यानी शब्दादि-प्रतीति निर्विषया नहीं हो सकती, क्योंकि वह सनिमित्ता है । अन्यथा उसे निर्विषय माननेपर तो शब्द, स्पर्श एवं नील, पीत और लोहित आदि प्रतीतिकी विचित्रतारूप द्वैतका नाश हो जायगा अर्थात् उसके नाश यानी अभावका प्रसंग उपस्थित हो जायगा और प्रत्यक्ष-सिद्ध होनेके कारण प्रत्ययवैचित्र्यरूप द्वैतका अभाव है नहीं । अतः प्रत्ययवैचित्र्यरूप द्वैतकी उपलब्धिसे, परतन्त्र यानी दूसरोंके शास्त्र; उन परकीय तन्त्रोंका अर्थात् परकीय तन्त्रोंके आश्रित जो प्रज्ञानके अतिरिक्त अन्य बाह्य पदार्थ हैं उनका अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है ।

न हि प्रज्ञप्तेः प्रकाशमात्रस्वरूपाया नीलपीतादिबाह्यालम्बन-

केवल प्रकाशमात्रस्वरूपा प्रज्ञप्तिकी यह विचित्रता नील-पीतादि

वैचित्र्यमन्तरेण स्वभावभेदेनैव वैचित्र्यं संभवति । स्फटिकस्येव नीलाद्युपाध्याश्रयैर्विना वैचित्र्यं न घटत इत्यभिप्रायः ।

इतश्च परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता । संक्लेशनं संक्लेशो दुःखमित्यर्थः । उपलभ्यते ह्यग्निदाहादिनिमित्तं दुःखम् । यद्यग्न्यादिबाह्यं दाहादिनिमित्तं विज्ञानव्यतिरिक्तं न स्यात्ततो दाहादिदुःखं नोपलभ्येत । उपलभ्यते तु । अतस्तेन मन्यामहेऽस्ति बाह्योऽर्थ इति । न हि विज्ञानमात्रे संक्लेशो युक्तः, अन्यत्रादर्शनादित्यभिप्रायः ॥२४॥

बाह्य आलम्बनोंकी विचित्रताके सिवा केवल स्वभावभेदसे ही होनी सम्भव नहीं है । तात्पर्य यह है कि स्फटिकके समान, नील-पीतादि उपाधियोंको आश्रय किये बिना, यह विचित्रता नहीं हो सकती ।

इसके सिवा इसलिये भी दूसरोंके शास्त्रोंके आश्रित ज्ञानव्यतिरिक्त बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार किया गया है कि अग्निदाहादिके कारणसे होनेवाला संक्लेश यानी दुःख उपलब्ध होता है । संक्लेशका अर्थ संक्लेशन अर्थात् दुःख है । यदि विज्ञानसे अतिरिक्त दाहादिका निमित्तभूत अग्नि आदि कोई बाह्य पदार्थ न होता तो दाहादिजनित दुःख उपलब्ध नहीं होना चाहिये था । किन्तु उपलब्ध होता ही है; इससे हम मानते हैं कि बाह्य पदार्थ अवश्य है । अभिप्राय यह है कि केवल विज्ञानमात्रमें क्लेश होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्यत्र ऐसा नहीं देखा गया ॥ २४ ॥

विज्ञानवादिकर्तृक बाह्यार्थवादनिषेध

अत्रोच्यते—

इस विषयमें हमारा कथन है कि—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार तुम प्रज्ञप्तिका सविषयत्व स्वीकार करते हो। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे हम उस विषयका अविषयत्व मानते हैं ॥ २५ ॥

बाढमेवं प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं द्वयसंक्लेशोपलब्धियुक्तिदर्शनादिष्यते त्वया। स्थिरीभव तावत्त्वं युक्तिदर्शनं वस्तुनस्तथात्वाभ्युपगमे कारणमित्यत्र।

ब्रूहि किं तत इति।

उच्यते। निमित्तस्य प्रज्ञप्त्यालम्बनाभिमतस्य घटादेरनिमित्तत्वमनालम्बनत्वं वैचित्र्याहेतुत्वमिष्यतेऽस्माभिः। कथम्? भूतदर्शनात्परमार्थदर्शनादित्येतत्। न हि घटो यथाभूतमृद्रूपदर्शने सति तद्व्यतिरेकेणास्ति, यथाश्वान्महिषः घटो वा तन्तुव्यतिरेकेण, तन्तवश्चांशुव्यतिरेकेणेत्येवमुत्तरोत्तरभूतदर्शन आ शब्दप्रत्ययनिरोधान्नैव निमित्तमुपलभामह इत्यर्थः।

ठीक है, इस प्रकार दुःखमय द्वैतकी उपलब्धिरूप युक्तिके अनुसार तुम प्रज्ञप्तिको सविषयत्व स्वीकार करते हो; परन्तु 'युक्तिदर्शन वस्तुकी यथार्थताके ज्ञानमें कारण है'—अपने इस सिद्धान्तमें तुम स्थिर हो जाओ।

बाह्यार्थवादी—कहिये, उससे क्या आपत्ति होती है?

विज्ञानवादी—हमारा कथन है कि प्रज्ञप्तिके आश्रयरूपसे स्वीकार किये हुए घटादि विषयका हम अविषयत्व—प्रतीतिका अनाश्रयत्व अर्थात् विचित्रताका अहेतुत्व मानते हैं। कैसे मानते हैं? भूतदृष्टिसे अर्थात् परमार्थदृष्टिसे। जिस प्रकार अश्वसे महिष पृथक् है, उस प्रकार मृत्तिकाके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेपर, घट उससे पृथक् सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार तन्तुसे पृथक् पट और अंशुसे पृथक् तन्तु भी सिद्ध नहीं होते। तात्पर्य यह है कि इसी तरह उत्तरोत्तर यथार्थ तत्त्वको देखते-देखते शब्द-प्रतीतिका निरोध हो जानेपर हम कोई भी विषय नहीं देखते।

अथ वाभूतदर्शनाद्बाह्यार्थस्यानिमित्तत्वमिष्यते, रज्ज्वादाविव सर्पादेरित्यर्थः । भ्रान्तिदर्शनविषयत्वाच्च निमित्तस्यानिमित्तत्वं भवेत् । तदभावेऽभावात् न हि सुषुप्तसमाहितमुक्तानां भ्रान्तिदर्शनाभाव आत्मव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थ उपलभ्यते । न ह्युन्मत्तावगतं वस्त्वनुन्मत्तैरपि तथाभूतं गम्यते । एतेन द्वयदर्शनं संक्लेशोपलब्धिश्च प्रत्युक्ता ॥ २५ ॥

अथवा [यों समझो कि] जिस प्रकार रज्जु आदिमें आरोपित सर्पादि वस्तुतः प्रतीतिके आलम्बन नहीं हैं उसी प्रकार अभूतदर्शनके कारण हम बाह्यार्थोंको प्रतीतिका आलम्बन नहीं मानते । भ्रान्तिदृष्टिके विषय होनेके कारण इन निमित्तोंका अनिमित्तत्व है, क्योंकि उसका अभाव होनेपर इनकी भी उपलब्धि नहीं होती । सोये हुए, समाधिस्थ और मुक्त पुरुषोंको, उनकी भ्रान्तिदृष्टिका अभाव हो जानेपर, आत्मासे अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थकी उपलब्धि नहीं होती । उन्मत्त पुरुषको दिखायी देनेवाली वस्तु उन्मादशून्य मनुष्यको भी यथार्थ नहीं जान पड़ती । इस कथनसे द्वैतदर्शन और क्लेशकी उपलब्धि दोनोंहीका निराकरण किया गया है ॥ २५ ॥

यस्मान्नास्ति बाह्यं निमित्तमतः—

क्योंकि बाह्य विषय है ही नहीं, इसलिये—

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक् ॥ २६ ॥

चित्त किसी पदार्थका स्पर्श नहीं करता और इसी प्रकार न किसी अर्थाभासका ही ग्रहण करता है । क्योंकि पदार्थ है ही नहीं इसलिये पदार्थाभास भी उस चित्तसे पृथक् नहीं है ॥ २६ ॥

चित्तं न स्पृशत्यर्थं बाह्यालम्बनविषयम्, नाप्यर्थाभासं चित्तत्वात्स्वप्नचित्तवत् । अभूतो हि जागरितेऽपि स्वप्नार्थवदेव बाह्यः शब्दाद्यर्थो यत उक्तहेतुत्वाच्च । नाप्यर्थाभासश्चित्तात्पृथक्चित्तमेव हि घटाद्यर्थवदवभासते यथा स्वप्ने ॥ २६ ॥

चित्त, चित्त होनेके कारण ही स्वप्नचित्तके समान, बाह्य आलम्बनके विषयभूत किसी पदार्थको स्पर्श नहीं करता और न अर्थाभासको ही ग्रहण करता है, क्योंकि उपर्युक्त हेतुसे ही स्वप्नगत पदार्थोंके समान जागरित अवस्थामें भी शब्दादि बाह्य पदार्थ हैं नहीं, और न चित्तसे पृथक् अर्थाभास ही है । घटादि पदार्थोंके समान चित्त ही भासता है, जैसा कि वह स्वप्नमें भासा करता है ॥ २६ ॥

ननु विपर्यासस्तर्ह्यसति घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य । तथा च सत्यविपर्यासः क्वचिद्वक्तव्य इति । अत्रोच्यते—

घटादिके न होनेपर भी चित्तको घटादिकी प्रतीति होना—यह तो विपरीत ज्ञान है । ऐसी अवस्थामें अविपरीत (सम्यक्) ज्ञान कब होगा ? यह बतलाना चाहिये । इसपर कहते हैं—

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु ।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

[भूत, भविष्यत् और वर्तमान] तीनों अवस्थाओंमें चित्त कभी किसी विषयको स्पर्श नहीं करता । फिर उसे बिना निमित्तके ही विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता है ? ॥ २७ ॥

निमित्तं विषयमतीतानागतवर्तमानाध्वसु त्रिष्वपि सदा चित्तं न स्पृशेदेव हि । यदि हि

अतीत, अनागत और वर्तमान—इन तीनों ही अवस्थाओंमें चित्त कभी निमित्त यानी विषयको स्पर्श नहीं

क्वचित् संस्पृशेत् सोऽविपर्यासः परमार्थ इति । अतस्तदपेक्षया-सति घटे घटाद्याभासता विपर्यासः स्यान्न तु तदस्ति कदाचिदपि चित्तस्यार्थसंस्पर्शनम् । तस्माद-निमित्तो विपर्यासः कथं तस्य चित्तस्य भविष्यति; न कथंचिद्वि-पर्यासोऽस्तीत्यभिप्रायः । अयमेव हि स्वभावश्चित्तस्य यदुतासति निमित्ते घटादौ तद्वदवभासनम् २७

करता । यदि वह कभी उसे स्पर्श करता तो 'वह अविपर्यास अर्थात् परमार्थ है' ऐसा माना जाता । अतः उसकी अपेक्षासे ही घटके न होनेपर भी घटका प्रतीत होना विपर्यास कहलाता । किन्तु चित्तका पदार्थके साथ कभी स्पर्श है ही नहीं । अतः बिना निमित्तके ही उस चित्तको विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि उसे किसी प्रकार विपरीत ज्ञान है ही नहीं । चित्तका यही स्वभाव है कि घटादि निमित्तके न होनेपर भी उनकी प्रतीति होती रहे ॥ २७ ॥

विज्ञानवादका खण्डन

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमित्याद्ये-तदन्तं विज्ञानवादिनो बौद्धस्य वचनं बाह्यार्थवादिपक्षप्रतिषेध-परमाचार्येणानुमोदितम् । तदेव हेतुं कृत्वा तत्पक्षप्रतिषेधाय तदिदमुच्यते—

'प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वम्' इस (पचीसवें) श्लोकसे लेकर यहाँतक आचार्यने विज्ञानवादी बौद्धके बाह्यार्थवादीके पक्षका प्रतिषेध करने-वाले वचनका अनुमोदन किया । अब उसीको हेतु बनाकर उसीके पक्षका प्रतिषेध करनेके लिये इस प्रकार कहा जाता है—

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥ २८ ॥

इसलिये चित्त भी उत्पन्न नहीं होता और न चित्तका दृश्य ही उत्पन्न होता है । जो लोग उसका जन्म देखते हैं वे निश्चय ही आकाशमें [पक्षी आदिके] चरण (चरण-चिह्न) देखते हैं ॥ २८ ॥

यस्मादसत्येव घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य विज्ञानवादिनाभ्युपगता तदनुमोदितम् अस्माभिरपि भूतदर्शनात्, तस्मात्तस्यापि चित्तस्य जायमानावभासतासत्येव जन्मनि युक्ता भवितुमित्यतो न जायते चित्तम्, यथा चित्तदृश्यं न जायते ।

क्योंकि विज्ञानवादीने घटादिके न होनेपर भी चित्तको घटादिकी प्रतीति होनी स्वीकार की है और यथार्थदृष्टि होनेके कारण उसका हमने भी अनुमोदन किया है, इसलिये उसकी मानी हुई चित्तकी उत्पत्तिकी प्रतीति भी उसकी उत्पत्तिके अभावमें ही होनी सम्भव है। अतः जिस प्रकार चित्तके दृश्यका जन्म नहीं होता उसी प्रकार चित्तकी भी उत्पत्ति नहीं होती।

अतस्तस्य चित्तस्य ये जातिं पश्यन्ति विज्ञानवादिनः क्षणिकत्वदुःखित्वशून्यत्वानात्मत्वादि च, तेनैव चित्तेन चित्तस्वरूपं द्रष्टुमशक्यं पश्यन्तः खे वै पश्यन्ति ते पदं पक्ष्यादीनाम्। अत इतरेभ्योऽपि द्वैतिभ्योऽत्यन्तसाहसिका इत्यर्थः येऽपि शून्यवादिनः पश्यन्त एव सर्वशून्यतां स्वदर्शनस्यापि शून्यतां प्रतिजानते ते ततोऽपि साहसिकतराः खं मुष्टिनापि जिघृक्षन्ति ॥ २८ ॥

इसलिये जो विज्ञानवादी उस चित्तकी उत्पत्ति तथा उसके क्षणिकत्व, दुःखित्व, शून्यत्व एवं अनात्मत्व आदि देखते हैं—उस चित्तसे ही, जिसका देखना सर्वथा असम्भव है ऐसे चित्तके स्वरूपको देखनेवाले वे निश्चय ही आकाशमें पक्षी आदिके चरण देखते हैं। अतः तात्पर्य यह है कि वे अन्य द्वैतवादियोंकी अपेक्षा भी अधिक साहसी हैं और जो शून्यवादी सबकी शून्यता देखते हुए अपने दर्शनकी भी शून्यताकी प्रतिज्ञा करते हैं वे तो उनसे भी बढ़कर साहसी हैं—वे आकाशको मुट्ठीसे ही पकड़ना चाहते हैं ॥ २८ ॥

उपक्रमका उपसंहार

उक्तैर्हेतुभिरजमेकं ब्रह्मेति सिद्धं यत्पुनरादौ प्रतिज्ञातं तत्फलोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः—

पूर्वोक्त हेतुओंसे यह सिद्ध हुआ कि एक अजन्मा ब्रह्म ही है। अब, पहले जिसकी प्रतिज्ञा की है उसके फलका उपसंहार करनेके लिये यह श्लोक है—

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥२९॥

क्योंकि अजन्मा [चित्त] का ही जन्म होता है इसलिये अजाति ही उसका स्वभाव है; और स्वभावकी विपरीतता किसी प्रकार नहीं होगी ॥ २९ ॥

अजातं यच्चित्तं ब्रह्मैव जायत इति वादिभिः परिकल्प्यते तदजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्तस्य। ततस्तस्मादजातरूपायाः प्रकृतेरन्यथाभावो जन्म न कथंचिद्भविष्यति ॥ २९ ॥

अजात जो ब्रह्मरूप चित्त है वही उत्पन्न होता है—ऐसी वादियों-द्वारा कल्पना की जाती है; क्योंकि उस अजातका ही जन्म होता है इसलिये अजाति उसका स्वभाव है। तब, इसीलिये उस अजातरूप स्वभाव-का जन्मरूप विपरीतभाव किसी प्रकार नहीं होगा ॥ २९ ॥

अयं चापर आत्मनः संसार-मोक्षयोः परमार्थसद्भाववादिनां दोष उच्यते—

आत्माके संसार और मोक्ष—दोनोंहीका पारमार्थिक-अस्तित्व स्वीकार करनेवाले वादियोंके पक्षका यह एक दूसरा दोष बतलाया जाता है—

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥ ३० ॥

अनादि संसारका तो कभी अन्तवत्त्व सिद्ध नहीं हो सकेगा और सादि मोक्षकी कभी अनन्तता नहीं हो सकेगी ॥ ३० ॥

अनादेरतीतकोटिरहितस्य संसारस्यान्तवत्त्वं समाप्तिर्न सेत्स्यति युक्तितः सिद्धिं नोपयास्यति । न ह्यनादिः सन्नन्तवान्कश्चित्पदार्थो दृष्टो लोके । बीजाङ्कुरसंबन्धनैरन्तर्यविच्छेदो दृष्ट इति चेत्, न; एकवस्त्वभावेनापोदितत्वात् ।

तथानन्ततापि विज्ञानप्राप्तिकालप्रभवस्य मोक्षस्यादिमतो न भविष्यति, घटादिष्वदर्शनात् । घटादिविनाशवदवस्तुत्वाददोष इति चेत्, तथा च मोक्षस्य परमार्थसद्भावप्रतिज्ञाहानिः ।

अनादि—अतीतकोटिसे रहित संसारका अन्तवत्त्व अर्थात् समाप्त होना युक्तिसे सिद्ध नहीं होगा। लोकमें कोई भी पदार्थ अनादि होकर अन्तवान् होता नहीं देखा गया है । यदि कहो कि बीजाङ्कुरसम्बन्धकी निरन्तरताका विच्छेद होता देखा गया है ? तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि बीजाङ्कुरसन्तति कोई एक पदार्थ न होनेके कारण उसके अनादित्वका निराकरण तो पहले कर दिया गया है ।

इसी प्रकार विज्ञानप्राप्तिके समय होनेवाले सादि मोक्षकी अनन्तता भी नहीं होगी, क्योंकि घटादि [जन्य पदार्थों] में ऐसा देखा नहीं गया। यदि कहो कि घटादिनाशके समान अवस्तुरूप होनेसे [मोक्षमें] यह दोष नहीं आ सकता तो इससे मोक्षके पारमार्थिक सद्भावविषयक प्रतिज्ञाकी हानि होगी । इसके सिवा [यदि मोक्षको असद्रूप ही माना जाय तो भी] शशशृङ्गके समान असत्

असत्त्वादेव शशविषाणस्येवादिमत्त्वाभावश्च ॥ ३० ॥

होनेके कारण भी उसके आदिमत्त्वका अभाव ही है ॥ ३० ॥

प्रपञ्चके असत्यत्वमें हेतु

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ ३१ ॥

जो आदि और अन्तमें नहीं है वह वर्तमानमें भी वैसा [अर्थात् असद्रूप] ही है । ये पदार्थसमूह असत्के समान होकर भी सत्-जैसे दिखायी देते हैं ॥ ३१ ॥

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ३२ ॥

उन (जाग्रत्-पदार्थों) की सप्रयोजनता स्वप्नावस्थामें असिद्ध हो जाती है । अतः आदि-अन्तयुक्त होनेके कारण वे निश्चय ही मिथ्या माने गये हैं ॥ ३२ ॥

वैतथ्ये कृतव्याख्यानौ श्लोकाविह संसारमोक्षाभावप्रसङ्गेन पठितौ ॥ ३१-३२ ॥

वैतथ्यप्रकरणमें इन दोनों श्लोकोंकी व्याख्या की जा चुकी है । यहाँ संसार और मोक्षके अभावके प्रसङ्गमें उन्हें फिर पढ़ दिया है ॥ ३१-३२ ॥

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात् ।
संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥ ३३ ॥

जब कि शरीरके भीतर देखे जानेके कारण स्वप्नावस्थामें सभी पदार्थ मिथ्या हैं तो इस संकुचित स्थानमें (निरवकाश ब्रह्ममें) ही भूतोंका दर्शन कैसे हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनादित्ययमर्थः प्रपञ्च्यत एतैः श्लोकैः ॥ ३३ ॥

इन श्लोकोंद्वारा "निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात्" (४ । २५) इस श्लोकके ही अर्थका विस्तार किया गया है ॥ ३३ ॥

स्वप्नका मिथ्यात्वनिरूपण

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद्गतौ ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥ ३४ ॥

देशान्तरमें जानेमें जो समय लगता है, [स्वप्नावस्थामें] उसका नियम न होनेके कारण स्वप्नके पदार्थोंको उनके पास जाकर देखना तो सम्भव नहीं है। इसके सिवा जागनेपर भी कोई उस (स्वप्नदृष्टि) देशमें नहीं रहता ॥ ३४ ॥

जागरिते गत्यागमनकालो नियतो देशः प्रमाणतो यस्तस्य नियमान्नियमस्याभावात्स्वप्ने न देशान्तरगमनमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

जागृतिमें जो आने-जानेके समय और प्रमाणसिद्ध देश नियत हैं उनका नियम न होनेके कारण स्वप्नावस्थामें देशान्तरमें जाना नहीं होता—यह इसका अभिप्राय है ॥ ३४ ॥

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य संबुद्धो न प्रपद्यते ।
गृहीतं चापि यत्किंचित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥ ३५ ॥

[स्वप्नावस्थामें] मित्रादिके साथ मन्त्रणा कर [वह स्वप्नदर्शी पुरुष] जागनेपर उसे नहीं पाता; तथा उसने जो कुछ [स्वप्नावस्थामें] ग्रहण किया होता है उसे जागनेपर नहीं देखता ॥ ३५ ॥

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य तदेव मन्त्रणं प्रतिबुद्धो न प्रपद्यते ।

[स्वप्नमें] मित्रादिके साथ मन्त्रणा करके जाग पड़नेपर फिर उसी मन्त्रणाको नहीं पाता और

गृहीतं च यत्किंचिद्धिरण्यादि न प्राप्नोति । अतश्च न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥ ३५ ॥

[उस समय] उसने जो कुछ स्वर्णादि ग्रहण किया होता है उसे भी प्राप्त नहीं करता । इसलिये भी स्वप्नावस्थामें वह किसी देशान्तरको नहीं जाता ॥ ३५ ॥

स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात् ।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥ ३६ ॥

स्वप्नमें जो शरीर होता है वह भी अवस्तु है, क्योंकि उससे भिन्न एक दूसरा शरीर [शय्यापर पड़ा हुआ] देखा जाता है । जैसा वह शरीर है वैसा ही सम्पूर्ण चित्तदृश्य अवस्तुरूप है ॥ ३६ ॥

स्वप्ने चाटन्दृश्यते यः कायः सोऽवस्तुकस्ततोऽन्यस्य स्वापदेशस्थस्य पृथक्कायान्तरस्य दर्शनात् । यथा स्वप्नदृश्यः कायोऽसंस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकं जागरितेऽपि चित्तदृश्यत्वादित्यर्थः । स्वप्नसमत्वादसज्जागरितमपीति प्रकरणार्थः ॥ ३६ ॥

स्वप्नमें घूमता हुआ जो शरीर देखा जाता है वह अवस्तु है, क्योंकि उस स्वप्नप्रदेशस्थ शरीरसे भिन्न एक और शरीर [शय्यापर पड़ा हुआ] देखा जाता है । जिस प्रकार स्वप्नमें दिखायी देनेवाला शरीर असत् है उसी प्रकार जागरित अवस्थामें सारा चित्तदृश्य, केवल चित्तका ही दृश्य होनेके कारण, असत् है—यह इसका तात्पर्य है । प्रकृत अर्थ यह हुआ कि स्वप्नके समान होनेके कारण जाग्रत्-अवस्था भी असत् ही है ॥ ३६ ॥

स्वप्न और जाग्रत्का कार्य-कारणत्व व्यावहारिक है

इतश्चासत्त्वं जाग्रद्वस्तुनः—

जाग्रत्पदार्थोंकी असत्ता इसलिये भी है कि—

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते ।
यद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ॥३७॥

जाग्रत्‌के समान ग्रहण किया जानेके कारण स्वप्न उसका कार्य माना जाता है । किन्तु जाग्रत्‌का कार्य होनेके कारण स्वप्नद्रष्टाके लिये ही जाग्रत्-अवस्था सत्य मानी जाती है ॥ ३७ ॥

जागरितवज्जागरितस्य इव ग्रहणाद्ग्राह्यग्राहकरूपेण स्वप्नस्य तज्जागरितं हेतुरस्य स्वप्नस्य स स्वप्नस्तद्धेतुर्जागरितकार्यमिष्यते । तद्धेतुत्वाज्जागरितकार्यत्वात्तस्यैव स्वप्नदृश्य एव सज्जागरितं न त्वन्येषाम् । यथा स्वप्न इत्यभिप्रायः ।

जागरितके समान ही ग्राह्य-ग्राहकरूपसे स्वप्नका भी ग्रहण होनेसे इस स्वप्नावस्थाका जाग्रत् कारण है, इसलिये वह स्वप्नावस्था तद्धेतुक यानी जाग्रत्‌का कार्य मानी जाती है । तद्धेतुक अर्थात् जाग्रत्‌का कार्य होनेके कारण उस स्वप्नद्रष्टाके ही लिये जाग्रत् अवस्था सत्य है, औरोंके लिये नहीं; जैसा कि स्वप्न—यह इसका तात्पर्य है ।

यथा स्वप्नः स्वप्नदृश्य एव सन्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासते तथा तत्कारणत्वात्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासमानं न तु साधारणं विद्यमानवस्तु स्वप्नवदेवेत्यभिप्रायः ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार स्वप्न स्वप्नद्रष्टाको ही सत् अर्थात् साधारण विद्यमान वस्तुके समान भासता है उसी प्रकार उसका कारण होनेसे जाग्रत्‌की भी साधारण विद्यमान वस्तुके समान प्रतीति होती है । किन्तु वस्तुतः स्वप्नके समान ही वह साधारण विद्यमान वस्तु है नहीं—यह इसका अभिप्राय है ॥ ३७ ॥

ननु स्वप्नकारणत्वेऽपि जागरितवस्तुनो न स्वप्नवद्-

शङ्का—स्वप्नके कारण होनेपर भी जाग्रत्पदार्थोंका स्वप्नके समान

वस्तुत्वम् । अत्यन्तचलो हि स्वप्नो जागरितं तु स्थिरं लक्ष्यते ।

अवस्तुत्व नहीं है, क्योंकि स्वप्न तो अत्यन्त चञ्चल है, किन्तु जाग्रत्-अवस्था स्थिर देखी जाती है ।

सत्यमेवमविवेकिनां स्यात् । विवेकिनां तु न कस्यचिद्वस्तुन उत्पादः प्रसिद्धोऽतः—

समाधान—ठीक है, अविवेकियोंके लिये ऐसी बात हो सकती है; किन्तु विवेकियोंको तो किसी वस्तुकी उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं है । अतः—

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम् ।
न च भूतादभूतस्य संभवोऽस्ति कथंचन ॥३८॥

उत्पत्तिके प्रसिद्ध न होनेके कारण सब कुछ अज ही कहा जाता है । इसके सिवा सत् वस्तुसे असत्की उत्पत्ति किसी प्रकार हो भी नहीं सकती ॥ ३८ ॥

अप्रसिद्धत्वादुत्पादस्यात्मैव सर्वमित्यजं सर्वमुदाहृतं वेदान्तेषु "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २ । १ । २) इति । यद्यपि मन्यसे जागरितात्सतोऽसत्स्वप्नो जायत इति तदसत् । न भूताद्विद्यमानादभूतस्यासतः सम्भवोऽस्ति लोके । न ह्यसतः शशविषाणादेः सम्भवो दृष्टः कथञ्चिदपि ॥ ३८ ॥

उत्पत्तिके सिद्ध न होनेसे सब कुछ आत्मा ही है; इसलिये वेदान्तोंमें "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" इत्यादि रूपसे सबको अज ही कहा है । और तुम जो मानते हो कि सत् जाग्रत्से असत् स्वप्नकी उत्पत्ति होती है, सो भी ठीक नहीं; क्योंकि लोकमें भूत-विद्यमान वस्तुसे असत्का जन्म नहीं हुआ करता । शशशृङ्गादि असत्पदार्थोंका जन्म किसी भी प्रकार देखनेमें नहीं आता ॥३८॥

ननूक्तं त्वयैव स्वप्नो जागरित-

शङ्का—यह तो तुम्हींने कहा था कि स्वप्न जागरितका कार्य है; फिर

कार्यमिति तत्कथमुत्पादोऽप्रसिद्ध इत्युच्यते ?

ऐसा क्यों कहते हो कि उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं होती ?

शृणु तत्र यथा कार्यकारणभावोऽस्माभिरभिप्रेत इति—

समाधान—हम जिस प्रकार उनका कार्य-कारणभाव मानते हैं, सो सुनो—

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।
असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥३९॥

[जीव] जाग्रत्-अवस्थामें असत्पदार्थोंको देखकर उन्हींके संस्कारसे युक्त हो उन्हें स्वप्नमें देखता है, किन्तु स्वप्नावस्थामें भी असत्पदार्थोंको ही देखकर जागनेपर उन्हें नहीं देखता ॥ ३९ ॥

असदविद्यमानं रज्जुसर्पवद्विकल्पितं वस्तु जागरिते दृष्ट्वा तद्भावभावितस्तन्मयः स्वप्नेऽपि जागरितवद्ग्राह्यग्राहकरूपेण विकल्पयन्पश्यति । तथासत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यत्यविकल्पयन् । चशब्दात्तथा जागरितेऽपि दृष्ट्वा स्वप्ने न पश्यति कदाचिदित्यर्थः । तस्माज्जागरितं स्वप्नहेतुरुच्यते न तु परमार्थसदिति कृत्वा ॥३९॥

जागरित अवस्थामें असत् अर्थात् रज्जुमें सर्पके समान कल्पना किये हुए अविद्यमान पदार्थोंको देखकर उनके भावसे भावित हो स्वप्नमें भी तन्मयभावसे जागरितके समान ग्राह्य-ग्राहकरूपसे विकल्प करता हुआ उन्हें देखता है । तथा स्वप्नमें भी असत्पदार्थोंको देखकर जागनेपर विकल्प न करनेके कारण उन्हें नहीं देखता । 'च' शब्दसे यह अभिप्राय है कि इसी प्रकार कभी जाग्रत्‌में देखकर भी उन पदार्थोंको स्वप्नमें नहीं देखता । इसीलिये यह कहा जाता है कि जाग्रत्-अवस्था स्वप्नका कारण है, उसे परमार्थसत् मानकर ऐसा नहीं कहा जाता ॥ ३९ ॥

परमार्थतस्तु न कस्यचित्केनचिदपि प्रकारेण कार्यकारणभाव उपपद्यते । कथम् ?—

परमार्थतः तो किसीका किसी भी प्रकार कार्य-कारणभाव होना सम्भव नहीं है । किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—]

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा ।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः ॥ ४० ॥

न तो असत्पदार्थ ही असत् कारणवाला है और न सत् पदार्थ ही असत् कारणवाला है । इसी प्रकार सत् पदार्थ भी सत् कारणवाला नहीं है; फिर असत् पदार्थ ही सत् कारणवाला कैसे हो सकता है ? ॥ ४० ॥

नास्त्यसद्धेतुकमसच्छशविषाणादि हेतुः कारणं यस्यासत एव खकुसुमादेस्तदसद्धेतुकमसन्न विद्यते । तथा सदपि घटादिवस्तु असद्धेतुकं शशविषाणादिकार्यं नास्ति । तथा सच्च विद्यमानं घटादि विद्यमानघटादिवस्त्वन्तरकार्यं नास्ति । सत्कार्यमसत्कुत एव सम्भवति ? न चान्यः कार्यकारणभावः सम्भवति शक्यो वा कल्पयितुम् ? अतो विवेकिनामसिद्ध एव कार्यकारणभावः कस्यचिदित्यभिप्रायः ॥ ४० ॥

असत् कारणवाला असत्पदार्थ भी नहीं है—जिस आकाशपुष्प आदि असत्पदार्थका कोई शशशृङ्गादि असत् कारण हो ऐसा कोई असद्धेतुक असत् पदार्थ भी विद्यमान नहीं है । तथा घटादि सद्वस्तु भी असद्धेतुक अर्थात् शशविषाणादि [असत्पदार्थ] का कार्य नहीं है । इसी प्रकार सत् यानी विद्यमान घट आदि किसी अन्य सद्वस्तुका भी कार्य नहीं है । फिर सत्का कार्य असत् ही कैसे हो सकता है; इनके सिवा किसी अन्य कार्य-कारणभावकी न तो सम्भावना है और न कल्पना ही की जा सकती है । अतः तात्पर्य यह है कि विवेकियोंके लिये तो किसी वस्तुका भी कार्य-कारणभाव सिद्ध है ही नहीं ॥ ४० ॥

पुनरपि जाग्रत्स्वप्नयोरसतोरपि कार्यकारणभावाशङ्कामपनयन् आह—

जाग्रत् और स्वप्न असत् होनेपर भी उनके कार्य-कारणभावके सम्बन्ध-में जो शङ्का है उसकी निवृत्ति करते हुए फिर भी कहते हैं—

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत् ।
तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मांस्तत्रैव पश्यति ॥४१॥

जिस प्रकार मनुष्य भ्रान्तिवश जाग्रत्कालीन अचिन्त्य पदार्थोंको यथार्थवत् ग्रहण करता है उसी प्रकार स्वप्नमें भी भ्रान्तिवश [स्वप्नकालीन] पदार्थोंको वहीं (उसी अवस्थामें) देखता है ॥ ४१ ॥

विपर्यासादविवेकतो यथा जाग्रज्जागरितेऽचिन्त्यान्भावान-शक्यचिन्तनीयान् रज्जुसर्पादीन् भूतवत्परमार्थवत्स्पृशन्निव वि-कल्पयेदित्यर्थः कश्चिद्यथा, तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धस्त्यादीन्धर्मान् पश्यन्निव विकल्पयति; तत्रैव पश्यति न तु जागरितादुत्पद्य-मानानित्यर्थः ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार कोई पुरुष विपर्यास अर्थात् अविवेकके कारण जाग्रत्-अवस्थामें रज्जु-सर्पादि अचिन्तनीय अर्थात् जिनका चिन्तन नहीं किया जा सकता ऐसे पदार्थोंको भूत—परमार्थवत् स्पर्श करते हुए-से कल्पना करता है। उसी प्रकार स्वप्नमें विपर्यासके कारण ही वह हाथी आदिको देखता हुआ-सा कल्पना करता है; अर्थात् उन्हें वह उसी अवस्थामें देखता है, न कि जाग्रत्से उत्पन्न होते हुए ॥ ४१ ॥

जगदुत्पत्तिका उपदेश किनके लिये है ?

उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ॥४२॥

[वस्तुओंकी] उपलब्धि और [वर्णाश्रमादि] आचारके कारण जो पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करते हैं तथा अजातिसे भय मानते हैं, विद्वानोंने सर्वदा उन्हींके लिये जातिका उपदेश दिया है ॥ ४२ ॥

यापि बुद्धैरद्वैतवादिभिर्जातिर्देशितोपदिष्टा, उपलम्भनम् उपलम्भस्तस्मादुपलब्धेरित्यर्थः, समाचाराद्वर्णाश्रमादिधर्मसमाचरणात्, ताभ्यां हेतुभ्यामस्तिवस्तुत्ववादिनाम् अस्ति वस्तुभाव इत्येवं वदनशीलानां दृढाग्रहवतां श्रद्दधानानां मन्दविवेकिनामर्थोपायत्वेन सा देशिता जातिः। तां गृह्णन्तु तावत्। वेदान्ताभ्यासिनां तु स्वयमेवाजाद्वयात्मविषयो विवेको भविष्यतीति न तु परमार्थबुद्ध्या। ते हि श्रोत्रियाः स्थूलबुद्धित्वादजातेः अजातिवस्तुनः सदा त्रसन्त्यात्मनाशं मन्यमाना अविवेकिन इत्यर्थः। उपायः सोऽवतारायेत्युक्तम् ॥ ४२ ॥

तथा बुद्ध यानी अद्वैतवादी विद्वानोंने जो जाति (जगत्की उत्पत्ति) का उपदेश दिया है [उसका यह कारण है—] उपलम्भनका नाम उपलम्भ है उस उपलम्भ अर्थात् उपलब्धिसे और समाचार—वर्णाश्रमादि धर्मोंके सम्यक् आचरणसे—इन दोनों कारणोंसे वस्तुओंका अस्तित्व माननेवाले अर्थात् '[द्वैत-पदार्थोंका] वस्तुत्व है' ऐसा कहनेवाले दृढ आग्रही, श्रद्धालु और मन्द विवेकशील पुरुषोंको [ब्रह्मात्मैक्य-बोधकी प्राप्तिरूप] अर्थके उपायरूपसे उस जातिका उपदेश दिया है। [उसमें उनका यही तात्पर्य है कि] 'अभी वे भले ही उसे स्वीकार कर लें, परन्तु वेदान्तका अभ्यास करते-करते उन्हें स्वयं ही अजन्मा और अद्वितीय आत्मा-सम्बन्धी विवेक हो जायगा' उन्होंने परमार्थबुद्धिसे उसका उपदेश नहीं दिया; क्योंकि वे केवल श्रुति-परायण अविवेकी लोग स्थूलबुद्धि होनेके कारण अपना नाश मानते हुए अजाति अर्थात् जन्मरहित वस्तुसे सदा भय मानते हैं—यह इसका तात्पर्य है। यही बात हमने 'उपायः सोऽवताराय' इत्यादि श्लोकमें (अद्वैतप्रकरण श्लोक १५ में) कही है ॥ ४२ ॥

सन्मार्गगामी द्वैतवादियोंकी गति

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये ।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ॥४३॥

द्वैतकी उपलब्धिके कारण जो विपरीत मार्गमें प्रवृत्त होते हैं अजातिसे भय माननेवाले उन लोगोंके लिये जातिसम्बन्धी दोष सिद्ध नहीं हो सकते [क्योंकि द्वैतवादी होनेपर भी वे सन्मार्गमें प्रवृत्त तो हुए ही रहते हैं] । [और यदि होगा भी तो] थोड़ा-सा ही दोष होगा ॥४३॥

ये चैवमुपलम्भात्समाचाराच्चाजातेरजातिवस्तुनस्त्रसन्तोऽस्तिवस्त्वित्यद्वयादात्मनो वियन्ति विरुद्धं यन्ति द्वैतं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । तेषामजातेस्त्रसतां श्रद्धधानानां सन्मार्गावलम्बिनां जातिदोषा जात्युपलम्भकृता दोषा न सेत्स्यन्ति सिद्धिं नोपयास्यन्ति, विवेकमार्गप्रवृत्तत्वात् । यद्यपि कश्चिद्दोषः स्यात्सोऽप्यल्प एव भविष्यति । सम्यग्दर्शनाप्रतिपत्तिहेतुक इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

जो लोग इस प्रकार [पदार्थोंकी] उपलब्धि और [वर्णाश्रमादिके] आचारोंके कारण अजन्मा वस्तुसे डरनेवाले हैं और 'द्वैत पदार्थ है' ऐसा समझकर अद्वय आत्मासे विरुद्ध चलते हैं, अर्थात् द्वैत स्वीकार करते हैं, उन अजातिसे भय माननेवाले श्रद्धालु और सन्मार्गावलम्बी पुरुषोंको जातिदोष—जातिकी उपलब्धिके कारण होनेवाले दोष सिद्ध नहीं होंगे, क्योंकि वे विवेकमार्गमें प्रवृत्त हैं । और यदि कुछ दोष होगा भी तो वह भी अल्प ही होगा; अर्थात् केवल सम्यग्दर्शनकी अप्राप्तिके कारण होनेवाला दोष ही होगा ॥४३॥

उपलब्धि और आचरणकी अप्रमाणता

ननूपलम्भसमाचारयोःप्रमाण-

यदि कहो कि उपलब्धि और आचरण तो प्रमाण **हैं,** इसलिये

त्वादस्त्येव द्वैतं वस्त्विति, न; उपलम्भसमाचारयोर्व्यभिचारात्।

कथं व्यभिचार इत्युच्यते—

द्वैतवस्तु है ही, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि उपलब्धि और आचरणका तो व्यभिचार भी होता है। किस प्रकार व्यभिचार होता है? सो बतलाया जाता है—

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।
उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥ ४४॥

उपलब्धि और आचरणके कारण जिस प्रकार मायाजनित हाथीको ['हाथी है'—इस प्रकार] कहा जाता है उसी प्रकार उपलब्धि और आचरणके कारण 'वस्तु है' ऐसा कहा जाता है ॥ ४४ ॥

उपलभ्यते हि मायाहस्ती हस्तीव हस्तिनमिवात्र समाचरन्ति, बन्धनारोहणादिहस्तिसम्बन्धिभिर्धर्मैर्हस्तीति चोच्यतेऽसन्नपि यथा तथैवोपलम्भात्समाचाराद्द्वैतं भेदरूपमस्ति वस्त्वित्युच्यते । तस्मान्नोपलम्भसमाचारौ द्वैतवस्तुसद्भावे हेतू भवत इत्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

हाथीके समान ही मायाजनित हाथी भी देखनेमें आता है। हाथीके समान ही यहाँ [मायाहस्तीके साथ] भी बन्धन-आरोहण आदि हस्तिसम्बन्धी धर्मोंद्वारा व्यवहार करते हैं। जिस प्रकार असत् होनेपर भी वह 'हाथी है' ऐसा कहा जाता है, उसी प्रकार उपलब्धि और आचरणके कारण भेदरूप द्वैतवस्तु है—ऐसा कहा जाता है। अतः अभिप्राय यह है कि उपलब्धि और आचरण द्वैत वस्तुके सद्भावमें कारण नहीं हैं ॥ ४४ ॥

परमार्थ वस्तु क्या है ?

किं पुनः परमार्थसद्वस्तु

अच्छा तो जिसके आश्रयसे जाति आदि असद्बुद्धियाँ होती हैं वह

यदास्पदा जात्याद्यसद्बुद्धय इत्याह—

परमार्थ वस्तु क्या है ? इसपर कहते हैं—

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥४५॥

जो कुछ जातिके समान भासनेवाले; चलके समान भासनेवाला और वस्तुके समान भासनेवाला है वह अज अचल और अवस्तुरूप शान्त एवं अद्वितीय विज्ञान ही है ॥ ४५ ॥

अजाति सज्जातिवदवभासत इति जात्याभासम् । तद्यथा देवदत्तो जायत इति । चलाभासं चलमिवाभासत इति । यथा स एव देवदत्तो गच्छतीति । वस्त्वाभासं वस्तु द्रव्यं धर्मि तद्वदवभासत इति वस्त्वाभासम् । यथा स एव देवदत्तो गौरो दीर्घ इति जायते देवदत्तः स्पन्दते दीर्घो गौर इत्येवमवभासते । परमार्थतस्त्वजमचलमवस्तुत्वमद्रव्यं च किं तदेवंप्रकारम् ? विज्ञानं विज्ञप्तिः । जात्यादिरहितत्वाच्छान्तम् । अत एवाद्वयं च तदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

जो अजाति होकर भी जातिवत् प्रतीत हो उसे जात्याभास कहते हैं; उसका उदाहरण, जैसे—देवदत्त उत्पन्न होता है । जो चलके समान प्रतीत हो उसे चलाभास कहते हैं; जैसे—वही देवदत्त जाता है । 'वस्त्वाभासम्'—वस्तु धर्मी द्रव्यको कहते हैं, जो उसके समान प्रतीत हो वह वस्त्वाभास है । जैसे—वही देवदत्त गौर और दीर्घ है । देवदत्त उत्पन्न होता है, चलता है तथा वह गौर और दीर्घ है—इस प्रकार भासता है, किन्तु परमार्थतः तो अज, अचल, अवस्तुत्व और अद्रव्यत्व ही है । ऐसा वह कौन है ? [इसपर कहते हैं—] विज्ञान अर्थात् विज्ञप्ति तथा वह जाति आदिसे रहित होनेके कारण शान्त है और इसीसे अद्वय भी है—ऐसा इनका तात्पर्य है ॥ ४५ ॥

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः ।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ॥४६॥

इस प्रकार चित्त उत्पन्न नहीं होता; इसीसे आत्मा अजन्मा माने गये हैं । ऐसा जाननेवाले लोग ही भ्रममें नहीं पड़ते ॥ ४६ ॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न जायते चित्तमेवं धर्मा आत्मानोऽजाः स्मृता ब्रह्मविद्भिः । धर्मा इति बहुवचनं देहभेदानुविधायित्वादद्वयस्यैवोपचारतः ।

एवमेव यथोक्तं विज्ञानं जात्यादिरहितमद्वयमात्मतत्त्वं विजानन्तस्त्यक्तबाह्यैषणाः पुनर्न पतन्त्यविद्याध्वान्तसागरे विपर्यये । "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इत्यादिमन्त्रवर्णात् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओंसे ही चित्तका जन्म नहीं होता, और इसीसे ब्रह्मवेत्ताओंने धर्म यानी आत्माओंको अजन्मा माना है । भिन्न-भिन्न देहोंका अनुवर्तन करनेवाला होनेसे एक अद्वितीय आत्माके लिये ही उपचारसे 'धर्माः' इस बहुवचनका प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार—उपर्युक्त विज्ञानको अर्थात् जाति आदिरहित अद्वितीय आत्मतत्त्वको जाननेवाले बाह्य एषणाओंसे मुक्त हुए लोग फिर विपर्यय अर्थात् अविद्यारूप अन्धकारके समुद्रमें नहीं गिरते । "उस अवस्थामें एकत्व देखनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है ?" इत्यादि मन्त्रवर्णसे यही बात प्रमाणित होती है ॥ ४६ ॥

विज्ञानाभासमें अलातस्फुरणका दृष्टान्त

यथोक्तं परमार्थदर्शनं प्रपञ्चयिष्यन्नाह—

पूर्वोक्त परमार्थज्ञानका ही विस्तारसे निरूपण करेंगे, इसलिये कहते हैं—

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा ।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥ ४७॥

जिस प्रकार अलात (उल्का) का घूमना ही सीधे-टेढ़े आदि रूपोंमें भासित होता है उसी प्रकार विज्ञानका स्फुरण ही ग्रहण और ग्राहक आदिरूपोंमें भास रहा है ॥ ४७ ॥

यथा हि लोके ऋजुवक्रादिप्रकाराभासमलातस्पन्दितमुल्काचलनं तथा ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासमित्यर्थः । किं तद्विज्ञानस्पन्दितम् । स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया । न ह्यचलस्य विज्ञानस्य स्पन्दनमस्ति । अजाचलमिति ह्युक्तम् ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार लोकमें सीधे-टेढ़े आदि रूपोंमें भासमान होनेवाला अलातका स्पन्द अर्थात् उल्का (जलती हुई बनैती) का घूमना ही है, उसी प्रकार ग्रहण और ग्राहकरूपसे भासनेवाला अर्थात् इन्द्रिय और विषयरूपसे भासनेवाला भी है । वह कौन है ? विज्ञानका स्पन्द, जो अविद्याके कारण ही स्पन्दके समान स्पन्द-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः अविचल विज्ञानका स्पन्दन नहीं हो सकता, क्योंकि [उपर्युक्त श्लोक ४५ में ही] 'वह अज और अचल है' ऐसा कहा जा चुका है ॥ ४७ ॥

अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा ।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥ ४८॥

जिस प्रकार स्पन्दनरहित अलात आभासशून्य और अज है उसी प्रकार स्पन्दनरहित विज्ञान भी आभासशून्य और अज है ॥ ४८ ॥

अस्पन्दमानं स्पन्दनवर्जितं तदेवालातमृज्वाद्याकारेणाजाय-

जिस प्रकार वही अलात अस्पन्दमान—स्पन्दनसे रहित होनेपर ऋजु

मानमनाभासमजं यथा; तथाविद्यया स्पन्दमानमविद्योपरमेऽस्पन्दमानं जात्याद्याकारेणानाभासमजमचलं भविष्यतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आदि आकारोंमें भासित न होनेके कारण अनाभास और अज रहता है उसी प्रकार अविद्यासे स्पन्दित होनेवाला विज्ञान अविद्याकी निवृत्ति होनेपर जाति आदि रूपसे स्पन्दित न होकर अनाभास, अज और अचल हो जायगा—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ४८ ॥

किं च—

इसके सिवा—

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥ ४९॥

अलातके स्पन्दित होनेपर भी वे आभास किसी अन्य कारणसे नहीं होते, तथा उसके स्पन्दरहित होनेपर भी कहीं अन्य नहीं चले जाते और न वे अलातमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ४९ ॥

तस्मिन्नेवालाते स्पन्दमान ऋजुवक्राद्याभासा अलातादन्यतः कुतश्चिदागत्यालाते नैव भवन्ति इति नान्यतोभुवः । न च तस्मान्निस्पन्दादलातादन्यत्र निर्गताः। न च निस्पन्दमलातमेव प्रविशन्ति ते ॥ ४९ ॥

उस अलातके स्पन्दित होनेपर भी वे सीधे-टेढ़े आदि आभास अलातसे भिन्न कहीं अन्यत्रसे आकर अलातमें उपस्थित नहीं हो जाते; अतः वे किसी अन्यसे होनेवाले भी नहीं हैं । तथा निस्पन्द हुए उस अलातसे वे कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न उस निस्पन्द अलातमें ही प्रवेश कर जाते हैं ॥ ४९ ॥

किं च—

इसके अतिरिक्त—

न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥ ५०॥

उनमें द्रव्यत्वके अभावका योग होनेके कारण वे अलातसे भी नहीं निकलते हैं । इसी प्रकार आभासत्वमें समानता होनेके कारण विज्ञानके विषयमें भी समझना चाहिये ॥ ५० ॥

न निर्गता अलातात्त आभासा गृहादिवद्द्रव्यत्वाभावयोगतः—द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्, तदभावो द्रव्यत्वाभावः, द्रव्यत्वाभावयोगतो द्रव्यत्वाभावयुक्तेर्वस्तुत्वाभावादित्यर्थः, वस्तुनो हि प्रवेशादि सम्भवति नावस्तुनः । विज्ञानेऽपि जात्याद्याभासास्तथैव स्युराभासस्याविशेषतस्तुल्यत्वात् ॥ ५० ॥

द्रव्यत्वाभावयोगके कारण—द्रव्यके भावका नाम द्रव्यत्व है । उसके अभावको द्रव्यत्वाभाव कहते हैं, उस द्रव्यत्वाभावयोग अर्थात् द्रव्यत्वाभावरूप युक्तिके कारण यानी वस्तुत्वका अभाव होनेसे वे आभास घर आदिसे निकलनेके समान अलातसे भी नहीं निकले; क्योंकि प्रवेशादि होने तो वस्तुके ही सम्भव हैं; अवस्तुके नहीं । विज्ञानमें [प्रतीत होनेवाले] जात्यादि आभास भी ऐसे ही समझने चाहिये, क्योंकि आभासकी सामान्यता होनेसे उनकी तुल्यता है ॥ ५० ॥

कथं तुल्यत्वमित्याह—

उनकी तुल्यता किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते॥ ५१॥
न निर्गतास्ते विज्ञानाद्द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते ॥ ५२॥

विज्ञानके स्पन्दित होनेपर भी उसके आभास किसी अन्य कारणसे नहीं होते तथा उसके स्पन्दरहित होनेपर कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न विज्ञानमें ही प्रवेश कर जाते हैं ॥ ५१ ॥ द्रव्यत्वके अभावका

योग होनेके कारण वे विज्ञानसे भी नहीं निकले, क्योंकि कार्य-कारणताका अभाव होनेके कारण वे सदा ही अचिन्तनीय (अनिर्वचनीय) हैं ॥५२॥

अलातेन समानं सर्वं विज्ञानस्य । सदाचलत्वं तु विज्ञानस्य विशेषः । जात्याद्याभासा विज्ञानेऽचले किंकृता इत्याह । कार्यकारणताः ।वाज्जन्यजनकत्वानुपपत्तेरभावरूपत्वादचिन्त्यास्ते यतः सदैव ।

यथासत्स्वृज्वाद्याभासेषु ऋज्वादिबुद्धिर्दृष्टालातमात्रे तथासत्स्वेव जात्यादिषु विज्ञानमात्रे जात्यादिबुद्धिर्मृषैवेति समुदायार्थः ॥ ५१-५२ ॥

विज्ञानके विषयमें भी सब कुछ अलातके ही समान है। नित्य अचल रहना—यही विज्ञानकी विशेषता है। अचल विज्ञानमें जाति आदि आभास किस कारणसे होते हैं? इसपर कहते हैं—क्योंकि कार्य-कारणताका अभाव अर्थात् अभावरूप होनेके कारण जन्य-जनकत्वकी अनुपपत्ति होनेसे वे सदा ही अचिन्तनीय हैं।

[इन दोनों श्लोकोंका] सम्मिलित अर्थ यह है कि जिस प्रकार ऋजु (सरल) आदि आभासोंके न होनेपर भी अलातमात्रमें ही ऋजु आदि बुद्धि होती देखी जाती है उसी प्रकार जाति आदिके न होनेपर भी केवल विज्ञानमात्रमें जाति आदि बुद्धि होना मिथ्या ही है ॥ ५१-५२ ॥

आत्मामें कार्य-कारणभाव क्यों असम्भव है ?

अजमेकमात्मतत्त्वमिति स्थितं तत्र यैरपि कार्यकारणभावः कल्प्यते तेषाम्—

यह निश्चय हुआ कि एक अजन्मा आत्मतत्त्व है। उसमें जो लोग कार्य-कारणभावकी कल्पना करते हैं उनके मतमें भी—

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि ।
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥ ५३ ॥

द्रव्यका कारण द्रव्य ही हो सकता है और वह भी अन्य द्रव्यका अन्य ही द्रव्य कारण होना चाहिये, किन्तु आत्माओंमें द्रव्यत्व और अन्यत्व दोनों ही सम्भव नहीं हैं ॥ ५३ ॥

द्रव्यं द्रव्यस्यान्यस्यान्यद्धेतुः कारणं स्यान्न तु तस्यैव तत्। नाप्यद्रव्यं कस्यचित्कारणं स्वतन्त्रं दृष्टं लोके। न च द्रव्यत्वं धर्माणामात्मनामुपपद्यतेऽन्यत्वं वा कुतश्चिद्येनान्यस्य कारणत्वं कार्यत्वं वा प्रतिपद्येत। अतोऽद्रव्यत्वादनन्यत्वाच्च न कस्यचित्कार्यं कारणं वात्मेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

अन्य द्रव्यका कारण अन्य द्रव्य ही हो सकता है, न कि उस द्रव्यका वही। और जो वस्तु द्रव्य नहीं है उसे लोकमें किसीका स्वतन्त्र कारण होता नहीं देखा। तथा आत्माओंका द्रव्यत्व अथवा अन्यत्व किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, जिससे कि वे किसी अन्य द्रव्यके कारणत्व अथवा कार्यत्वको प्राप्त हो सकें। अतः तात्पर्य यह है कि अद्रव्यत्व और अनन्यत्वके कारण आत्मा किसीका भी कार्य अथवा कारण नहीं है ॥ ५३ ॥

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वापि न धर्मजम्।
एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार न तो बाह्य पदार्थ ही चित्तसे हुए हैं और न चित्त ही बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ है। अतः मनीषी लोग कार्य-कारणकी अनुत्पत्ति ही निश्चित करते हैं ॥ ५४ ॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्य आत्मविज्ञानस्वरूपमेव चित्तमिति न चित्तजा बाह्यधर्मा नापि बाह्यधर्मजं चित्तम्। विज्ञानस्वरूपा-

इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओंसे चित्त आत्मविज्ञानस्वरूप ही है; न तो बाह्य पदार्थ ही चित्तसे उत्पन्न हुए हैं और न चित्त ही बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ है; क्योंकि सारे ही

भासमात्रत्वात्सर्वधर्माणाम् । एवं न हेतोः फलं जायते नापि फलाद्धेतुरिति हेतुफलयोरजातिं हेतुफलाजातिं प्रविशन्त्यध्यवस्यन्ति आत्मनि हेतुफलयोरभावमेव प्रतिपद्यन्ते ब्रह्मविद इत्यर्थः ॥५४॥

धर्म विज्ञानस्वरूपके आभासमात्र हैं। इस प्रकार न तो हेतुसे फलकी उत्पत्ति होती है और न फलसे हेतुकी अतः मनीषी लोग हेतु और फलकी अनुत्पत्ति ही निश्चित करते हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्मवेत्ता लोग आत्मामें हेतु और फलका अभाव ही देखते हैं ॥ ५४ ॥

हेतु-फलभावके अभिनिवेशका फल

ये पुनर्हेतुफलयोरभिनिविष्टास्तेषां किं स्यादित्युच्यते—धर्माधर्माख्यस्य हेतोरहं कर्ता मम धर्माधर्मौ तत्फलं कालान्तरे क्वचित्प्राणिनिकाये जातो भोक्ष्य इति—

किन्तु जिनका हेतु और फलमें अभिनिवेश है उनका क्या होगा ? इसपर कहा जाता है—धर्माधर्मसंज्ञक हेतुका मैं कर्ता हूँ, धर्म और अधर्म मेरे हैं, कालान्तरमें किसी प्राणीके शरीरमें उत्पन्न होकर उनका फल भोगूँगा—इस प्रकार—

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥ ५५॥

जबतक हेतु और फलका आग्रह है तबतक ही हेतु और फलकी उत्पत्ति भी है। हेतु और फलका आवेश क्षीण हो जानेपर फिर हेतु और फलरूप संसारकी उत्पत्ति भी नहीं होती ॥ ५५ ॥

यावद्धेतुफलयोरावेशो हेतुफलाग्रह आत्मन्यध्यारोपणं तच्चित्ततेत्यर्थः, तावद्धेतुफलयोरुद्भवो धर्माधर्मयोस्तत्फलस्य

जबतक हेतु और फलका आवेश—हेतुफलाग्रह अर्थात् उन्हें आत्मामें आरोपित करना यानी तच्चित्तता है, तबतक हेतु और फलकी उत्पत्ति भी है अर्थात् तबतक धर्माधर्म और

चानुच्छेदेन प्रवृत्तिरित्यर्थः । यदा पुनर्मन्त्रौषधिवीर्येणेव ग्रहावेशो यथोक्ताद्वैतदर्शनेनाविद्योद्भूतहेतुफलावेशोऽपनीतो भवति तदा तस्मिन्क्षीणे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥ ५५ ॥

उनके फलकी अविच्छिन्न प्रवृत्ति भी है किन्तु जिस समय मन्त्र और ओषधिकी सामर्थ्यसे ग्रहके आवेशके समान उपर्युक्त अद्वैतबोधसे अविद्याजनित हेतु और फलका आवेश निवृत्त हो जाता है उस समय उसके क्षीण हो जानेपर हेतु और फलकी उत्पत्ति भी नहीं होती ॥ ५५ ॥

हेतु-फलके अभिनिवेशमें दोष

यदि हेतुफलोद्भवस्तदा को दोष इत्युच्यते —

यदि हेतु और फलकी उत्पत्ति रहे तो इनमें दोष क्या है ? सो बतलाते हैं—

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥ ५६॥

जबतक हेतु और फलका आग्रह है तबतक संसार बढ़ा हुआ है । हेतु और फलका आवेश नष्ट होनेपर विद्वान् संसारको प्राप्त नहीं होता ॥ ५६ ॥

यावत्सम्यग्दर्शनेन हेतुफलावेशो न निवर्ततेऽक्षीणः संसारस्तावदायतो दीर्घो भवतीत्यर्थः । क्षीणे पुनर्हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते कारणाभावात् ॥ ५६ ॥

जबतक सम्यग्ज्ञानसे हेतु और फलका आग्रह निवृत्त नहीं होता तबतक संसार क्षीण न होकर विस्तृत होता जाता है । किन्तु हेतुफलावेशके क्षीण होनेपर, कोई कारण न रहनेसे, विद्वान् संसारको प्राप्त नहीं होता ॥ ५६ ॥

नन्वजादात्मनोऽन्यन्नास्त्येव तत्कथं हेतुफलयोः संसारस्य चोत्पत्तिविनाशावुच्येते त्वया ?

शृणु—

शङ्का—अजन्मा आत्मासे भिन्न तो और कोई है ही नहीं; फिर हेतु और फल तथा संसारके उत्पत्ति-विनाशका तुम कैसे वर्णन कर रहे हो ?

समाधान—अच्छा, सुनो—

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै ।
सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥ ५७॥

सारे पदार्थ व्यावहारिक दृष्टिसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे नित्य नहीं हैं । परमार्थदृष्टिसे तो सब कुछ अज ही है, इसलिये किसीका विनाश भी नहीं है ॥ ५७ ॥

संवृत्या संवरणं संवृतिरविद्याविषयो लौकिको व्यवहारस्तया संवृत्या जायते सर्वम् । तेनाविद्याविषये शाश्वतं नित्यं नास्ति वै । अत उत्पत्तिविनाशलक्षणः संसार आयत इत्युच्यते । परमार्थसद्भावेन त्वजं सर्वमात्मैव यस्मात् । अतो जात्यभावादुच्छेदस्तेन नास्ति वै कस्यचिद्धेतुफलादेरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

'संवृत्या'—संवरण अर्थात् अविद्याविषयक लौकिक व्यवहारका नाम संवृति है; उस संवृतिसे ही सबकी उत्पत्ति होती है । अतः उस अविद्याके अधिकारमें कोई भी वस्तु शाश्वत—नित्य नहीं है । इसीलिये उत्पत्ति-विनाशशील संसार विस्तृत है—ऐसा कहा जाता है; क्योंकि परमार्थसत्तासे तो सब कुछ अजन्मा आत्मा ही है । अतः जन्मका अभाव होनेके कारण किसी भी हेतु या फल आदिका उच्छेद नहीं होता—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ५७ ॥

जीवोंका जन्म मायिक है

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः ।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥ ५८॥

धर्म (जीव) जो उत्पन्न होते कहे जाते हैं वे वस्तुतः उत्पन्न नहीं होते । उनका जन्म मायाके सदृश है और वह माया भी [वस्तुतः] है नहीं ॥ ५८ ॥

येऽप्यात्मानोऽन्ये च धर्मा जायन्त इति कल्प्यन्ते त इत्येवं-प्रकारा यथोक्ता संवृतिर्निर्दिश्यत इति संवृत्यैव धर्मा जायन्ते; न ते तत्त्वतः परमार्थतो जायन्ते । यत्पुनस्तत्संवृत्या जन्म तेषां धर्माणां यथोक्तानां यथा मायया जन्म तथा तन्मायोपमं प्रत्ये-तव्यम् ।

माया नाम वस्तु तर्हि ? नैवम्; सा च माया न विद्यते, मायेत्य-विद्यमानस्याख्येत्यभिप्रायः ॥५८॥

जो भी आत्मा तथा दूसरे धर्म 'उत्पन्न होते हैं'—इस प्रकार कल्पना किये जाते हैं वे इस प्रकारके सभी धर्म संवृतिसे ही उत्पन्न होते हैं । यहाँ 'इति' शब्दसे इससे पहले श्लोकमें कही हुई संवृतिका निर्देश किया गया है । वे तत्त्वतः—परमार्थतः उत्पन्न नहीं होते । क्योंकि उन पूर्वोक्त धर्मोंका जो संवृतिसे होनेवाला जन्म है वह ऐसा है जैसे मायासे होनेवाला जन्म होता है, इसलिये उसे मायाके सदृश समझना चाहिये ।

तब तो माया एक सत्य वस्तु सिद्ध होती है ? नहीं, ऐसी बात नहीं है । वह माया भी है नहीं । तात्पर्य यह है कि 'माया' यह अविद्यमान वस्तुका ही नाम है ॥ ५८ ॥

कथं मायोपमं तेषां धर्माणां जन्मेत्याह—

उन धर्मोंका जन्म मायाके सदृश किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—

यथा मायामयाद्बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः ।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना ॥५९॥

जिस प्रकार मायामय बीजसे मायामय अङ्कुर उत्पन्न होता है और वह न तो नित्य ही होता है और न नाशवान् ही, उसी प्रकार धर्मोंके विषयमें भी युक्ति समझनी चाहिये ॥ ५९ ॥

यथा मायामयादाम्रादिबीजाज्जायते तन्मयो मायामयोऽङ्कुरो नासावङ्कुरो नित्यो न चोच्छेदी विनाशी वाभूतत्वात्तद्वदेव धर्मेषु जन्मनाशादियोजना युक्तिः । न तु परमार्थतो धर्माणां जन्म नाशो वा युज्यत इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार मायामय आम आदिके बीजसे तन्मय अर्थात् मायामय अङ्कुर उत्पन्न होता है और वह अङ्कुर न तो नित्य ही होता है और न नाशवान् ही, उसी प्रकार असत्य होनेके कारण धर्मोंमें भी जन्म-नाशादिकी योजना—युक्ति है। तात्पर्य यह है कि परमार्थतः धर्मोंका जन्म अथवा नाश होना सम्भव नहीं है ॥ ५९ ॥

आत्माकी अनिर्वचनीयता

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा ।
यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥६०॥

इन सम्पूर्ण अजन्मा धर्मोंमें नित्य-अनित्य नामोंकी प्रवृत्ति नहीं है। जहाँ शब्द ही नहीं है उस आत्मतत्त्वमें [नित्य-अनित्य] विवेक भी नहीं कहा जा सकता ॥ ६० ॥

परमार्थतस्त्वात्मस्वजेषु नित्यैकरसविज्ञप्तिमात्रसत्ताकेषु शाश्वतोऽशाश्वत इति वा नाभिधा नाभिधानं प्रवर्तत इत्यर्थः । यत्र येषु वर्ण्यन्ते यैरर्थास्ते वर्णाः शब्दा न प्रवर्तन्तेऽभिधातुं प्रकाशयितुं न प्रवर्तन्त इत्यर्थः ।

वास्तवमें तो नित्य एकरस विज्ञानमात्र सत्तास्वरूप अजन्मा आत्माओंमें नित्य-अनित्य—ऐसे अभिधान अर्थात् नामकी भी प्रवृत्ति नहीं है। जहाँ—जिन महात्माओंमें—जिनसे पदार्थोंका वर्णन किया जाता है वे वर्ण यानी शब्द भी नहीं हैं अर्थात् उसका वर्णन करनेके लिये प्रवृत्त नहीं होते हैं, उसमें

इदमेवमिति विवेको विविक्तता तत्र नित्योऽनित्य इति नोच्यते। "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २।४।१) इति श्रुतेः ॥६०॥

'यह ऐसा है अर्थात् नित्य है अथवा अनित्य है' इस प्रकारका विवेक भी नहीं कहा जाता; जैसा कि "जहाँसे वाणी लौट आती है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ॥ ६० ॥

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥६१॥

जिस प्रकार स्वप्नमें चित्त मायासे द्वैताभासरूपसे स्फुरित होता है उसी प्रकार जाग्रत्कालीन द्वैताभासरूपसे भी चित्त मायासे ही स्फुरित होता है ॥ ६१ ॥

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥६२॥

इसमें सन्देह नहीं, स्वप्नावस्थामें अद्वय चित्त ही द्वैतरूपसे भासनेवाला है; इसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी अद्वय मन ही द्वैतरूपसे भासनेवाला है—इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ६२ ॥

यत्पुनर्वाग्गोचरत्वं परमार्थतोऽद्वयस्य विज्ञानमात्रस्य तन्मनसः स्पन्दनमात्रं न परमार्थत इति। उक्तार्थौ श्लोकौ ॥६१-६२॥

परमार्थतः अद्वय विज्ञानमात्रका जो वाणीका विषय होना है वह मनका स्फुरणमात्र ही है, वह परमार्थतः है नहीं—इस प्रकार इन श्लोकोंकी व्याख्या पहले (अद्वैत० २९-३० में) की जा चुकी है ॥६१-६२॥

द्वैताभावमें स्वप्नका दृष्टान्त

इतश्च वाग्गोचरस्याभावो द्वैतस्य—

वाणीके विषयभूत द्वैतका इसलिये भी अभाव है—

स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥६३॥

स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमें घूमते-घूमते दशों दिशाओंमें स्थित जिन अण्डज अथवा स्वेदज जीवोंको सर्वदा देखा करता है [वे वस्तुतः उससे पृथक् नहीं होते] ॥ ६३ ॥

स्वप्नान्पश्यतीति स्वप्नदृक्प्रचरन्पर्यटन्स्वप्ने स्वप्नस्थाने दिक्षु वै दशसु स्थितान्वर्तमानाञ्जीवान्प्राणिनोऽण्डजान्स्वेदजान्वा यान्सदा पश्यति ॥ ६३ ॥

जो स्वप्नोंको देखता है उसे स्वप्नद्रष्टा कहते हैं, वह स्वप्न अर्थात् स्वप्नस्थानोंमें घूमता हुआ दशों दिशाओंमें स्थित जिन स्वेदज अथवा अण्डज प्राणियोंको सर्वदा देखता है [वे वस्तुतः उससे भिन्न नहीं होते] ॥६३॥

यद्येवं ततः किम् ? उच्यते—

यदि ऐसा है तो इससे सिद्ध क्या हुआ ? सो बतलाते हैं—

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥६४॥

वे सब स्वप्नद्रष्टाके चित्तके दृश्य उससे पृथक् नहीं होते । इसी प्रकार उस स्वप्नद्रष्टाका यह चित्त भी उसीका दृश्य माना जाता है ॥६४॥

स्वप्नदृशश्चित्तं स्वप्नदृक्चित्तम् । तेन दृश्यास्ते जीवास्ततस्तस्मात्स्वप्नदृक्चित्तात्पृथङ्न विद्यन्ते न सन्तीत्यर्थः । चित्तमेव ह्यनेकजीवादिभेदाकारेण विकल्प्यते । तथा तदपि स्वप्नदृक्चित्तमिदं

स्वप्नद्रष्टाका चित्त 'स्वप्नदृक्चित्त' कहलाता है, उससे देखे जानेवाले वे जीव उस स्वप्नद्रष्टाके चित्तसे पृथक् नहीं हैं—यह इसका तात्पर्य है । अनेक जीवादिभेदरूपसे चित्त ही कल्पना किया जाता है । इसी प्रकार उस स्वप्नद्रष्टाका यह चित्त भी उसका दृश्य ही है ।

तद्दृश्यमेव, तेन स्वप्नदृशा दृश्यं तद्दृश्यम् । अतः स्वप्नदृग्व्यतिरेकेण चित्तं नाम नास्तीत्यर्थः ॥६४॥

उस स्वप्नद्रष्टासे देखा जाता है, इसलिये उसका दृश्य है। अतः तात्पर्य यह है कि स्वप्नद्रष्टासे भिन्न चित्त भी कुछ है नहीं ॥ ६४ ॥

चरञ्जागरिते जाग्रद्दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥ ६५ ॥
जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ॥ ६६ ॥

जाग्रत्-अवस्थामें घूमते-घूमते जाग्रत्-अवस्थाका साक्षी दशों दिशाओंमें स्थित जिन अण्डज अथवा स्वेदज जीवोंको सर्वदा देखता है ॥ ६५ ॥ वे जाग्रच्चित्तके दृश्य उससे पृथक् नहीं हैं। इसी प्रकार वह जाग्रच्चित्त भी उसीका दृश्य माना जाता है ॥ ६६ ॥

जाग्रतो दृश्या जीवास्तच्चित्ताव्यतिरिक्ताश्चित्तेक्षणीयत्वात्स्वप्नदृक्चित्तेक्षणीयजीववत् । तच्च जीवेक्षणात्मकं चित्तं द्रष्टुरव्यतिरिक्तं द्रष्टृदृश्यत्वात्स्वप्नचित्तवत् । उक्तार्थमन्यत् ॥ ६५-६६ ॥

जाग्रत् पुरुषको दिखलायी देनेवाले जीव उसके चित्तसे अपृथक् हैं, क्योंकि स्वप्नद्रष्टाके चित्तसे देखे जानेवाले जीवोंके समान वे उसके चित्तसे ही देखे जाते हैं। तथा जीवोंको देखनेवाला वह चित्त भी द्रष्टासे अभिन्न है, क्योंकि स्वप्नचित्तके समान वह भी जाग्रद्द्रष्टाका दृश्य है। शेष अर्थ पहले कहा जा चुका है ॥ ६५-६६ ॥

उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति नोच्यते ।
लक्षणाशून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते ॥ ६७ ॥

वे [जीव और चित्त] दोनों एक-दूसरेके दृश्य हैं; वे हैं क्या वस्तु—सो कहा नहीं जा सकता। ये दोनों ही प्रमाणशून्य हैं और केवल तच्चित्तताके कारण ही ग्रहण किये जाते हैं ॥ ६७ ॥

जीवचित्ते उभे चित्तचैत्ये ते अन्योन्यदृश्ये इतरेतरगम्ये। जीवादिविषयापेक्षं हि चित्तं नाम भवति। चित्तापेक्षं हि जीवादि दृश्यम्। अतस्ते अन्योन्यदृश्ये। तस्मान्न किंचिदस्तीति चोच्यते चित्तं वा चित्तेक्षणीयं वा किं तदस्तीति विवेकिनोच्यते। न हि स्वप्ने हस्ती हस्तिचित्तं वा विद्यते तथेहापि विवेकिनामित्यभिप्रायः।

जीव और चित्त अर्थात् चित्त और चित्तके विषय—ये दोनों ही अन्योन्यदृश्य अर्थात् एक-दूसरेके विषय हैं। जीवादि विषयकी अपेक्षासे चित्त है और चित्तकी अपेक्षासे जीवादि दृश्य। अतः वे एक-दूसरेके दृश्य हैं। इसलिये ऐसा प्रश्न होनेपर कि वे हैं क्या? विवेकी लोग यही कहते हैं कि चित्त अथवा चित्तका दृश्य—इनमेंसे कोई भी वस्तु है नहीं। इससे उन विवेकी पुरुषोंका यही अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्वप्नमें हाथी और हाथीको ग्रहण करनेवाला चित्त नहीं होता उसी प्रकार यहाँ (जाग्रत्-अवस्थामें) भी उनका अभाव है।

कथम्? लक्षणाशून्यं लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा प्रमाणं प्रमाणशून्यमुभयं चित्तं चैत्यं द्वयं यतस्तन्मतेनैव तच्चित्ततयैव तद् गृह्यते। न हि घटमतिं प्रत्याख्याय घटो गृह्यते नापि घटं प्रत्याख्याय घटमतिः। न हि

किस प्रकार नहीं हैं? क्योंकि वे चित्त और चैत्य दोनों ही लक्षणाशून्य—प्रमाणरहित हैं। जिससे कोई पदार्थ लक्षित होता है उसे 'लक्षणा' यानी 'प्रमाण' कहते हैं। और वे तन्मत—तच्चित्ततासे ही ग्रहण किये जाते हैं, क्योंकि न तो घटबुद्धिको त्यागकर घटका ही ग्रहण किया जाता है और न घटको त्यागकर घटबुद्धिका ही। तात्पर्य यह कि

तत्र प्रमाणप्रमेयभेदः शक्यते कल्पयितुमित्यभिप्रायः ॥ ६७ ॥

उनमें प्रमाण और प्रमेयके भेदकी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ ६७ ॥

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६८ ॥

जिस प्रकार स्वप्नका जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है उसी कार ये सब जीव भी उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं ॥ ६८ ॥

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६९ ॥

जिस प्रकार मायामय जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है उसी प्रकार ये सब जीव उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं ॥ ६९ ॥

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि वा ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ७० ॥

जिस प्रकार मन्त्रादिसे रचा हुआ जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है उसी प्रकार ये सब जीव उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं ॥ ७० ॥

मायामयो मायाविना यः कृतो निर्मितको मन्त्रौषध्यादिभिर्निष्पादितः । स्वप्नमायानिर्मितका अण्डजादयो जीवा यथा जायन्ते म्रियन्ते च तथा मनुष्यादिलक्षणा अविद्यमाना एव चित्तविकल्पनामात्रा इत्यर्थः ॥ ६८—७० ॥

मायामय—जिसे मायावीने रचा हो, निर्मितक—मन्त्र और ओषधि आदिसे सम्पादन किया हुआ । स्वप्न, माया और मन्त्रादिसे निष्पन्न हुए अण्डज आदि जीव जिस प्रकार उत्पन्न होते और मरते भी हैं उसी प्रकार मनुष्यादिरूप जीव वर्तमान होते हुए भी चित्तके विकल्पमात्र ही हैं—यह इसका अभिप्राय है ॥ ६८—७० ॥

अजाति ही उत्तम सत्य है

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥ ७१ ॥

[वस्तुतः] कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, उसके जन्मकी सम्भावना ही नहीं है । उत्तम सत्य तो यही है कि जिसमें किसी वस्तुकी उत्पत्ति ही नहीं होती ॥ ७१ ॥

व्यवहारसत्यविषये जीवानां जन्ममरणादिः स्वप्नादिजीववदित्युक्तम् । उत्तमं तु परमार्थसत्यं न कश्चिज्जायते जीव इति । उक्तार्थमन्यत् ॥ ७१ ॥

व्यावहारिक सत्तामें भी जीवोंके जो जन्म-मरणादि हैं वे स्वप्नादिके जीवोंके ही समान हैं—ऐसा पहले कहा जा चुका है; किन्तु उत्तम सत्य तो यही है कि कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता । शेष अंशकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥ ७१ ॥

चित्तकी असंगता

चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम् ।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥ ७२ ॥

विषय और इन्द्रियोंके सहित यह सम्पूर्ण द्वैत चित्तका ही स्फुरण है; किन्तु चित्त निर्विषय है; इसीसे उसे नित्य असङ्ग कहा गया है ॥ ७२ ॥

सर्वं ग्राह्यग्राहकवच्चित्तस्पन्दितमेव द्वयं चित्तं परमार्थत आत्मैवेति निर्विषयं तेन निर्विषयत्वेन नित्यमसङ्गं कीर्तितम् । 'असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृ० उ०

विषय और इन्द्रियोंसे युक्त सम्पूर्ण द्वैत चित्तका ही स्फुरण है । किन्तु चित्त परमार्थतः आत्मा ही है, इसलिये वह निर्विषय है । उस निर्विषयताके कारण उसे सर्वदा असङ्ग कहा गया है; जैसा कि "यह पुरुष

४ । ३ । १५, १६) इति श्रुतेः । सविषयस्य हि विषये सङ्गः । निर्विषयत्वाच्चित्तमसङ्गमित्यर्थः ॥ ७२ ॥

असङ्ग ही है" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है । जो सविषय होता है उसीका अपने विषयसे सङ्ग हो सकता है । अतः तात्पर्य यह है कि निर्विषय होनेके कारण चित्त असङ्ग है ॥ ७२ ॥

ननु निर्विषयत्वेन चेदसङ्गत्वं चित्तस्य न निःसङ्गता भवति यस्माच्छास्ता शास्त्रं शिष्यश्चेत्येवमादेर्विषयस्य विद्यमानत्वात् । नैष दोषः; कस्मात्—

शङ्का—यदि निर्विषयताके कारण ही असङ्गता होती है तो चित्तकी असङ्गता तो हो नहीं सकती, क्योंकि शास्ता (गुरु), शास्त्र और शिष्य इत्यादि उसके विषय विद्यमान हैं ।

समाधान—यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि—

व्यावहारिक वस्तु परमार्थतः नहीं होती

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।
परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥ ७३ ॥

जो पदार्थ कल्पित व्यवहारके कारण होता है वह परमार्थतः नहीं होता; और यदि अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रोंकी परिभाषाके अनुसार हो तो भी वह परमार्थतः नहीं हो सकता ॥ ७३ ॥

यः पदार्थः शास्त्रादिर्विद्यते स कल्पितसंवृत्या; कल्पिता च सा परमार्थप्रतिपत्त्युपायत्वेन संवृतिश्च सा, तया योऽस्ति परमार्थेन

जो भी शास्त्रादि पदार्थ हैं वे कल्पित व्यवहारसे ही हैं; अर्थात् जिस व्यवहारकी परमार्थतत्त्वकी उपलब्धिके उपायरूपसे कल्पना की गयी है उसके कारण जिस पदार्थकी सत्ता है वह परमार्थसे नहीं है । "ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता"

नास्त्यसौ न विद्यते। ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम्।

यश्च परतन्त्राभिसंवृत्या परशास्त्रव्यवहारेण स्यात्पदार्थः स परमार्थतो निरूप्यमाणो नास्त्येव। तेन युक्तमुक्तमसङ्गं तेन कीर्तितमिति ॥ ७३ ॥

(आगम० श्लो० १८) ऐसा हम पहले कह ही चुके हैं।

इसके सिवा जो पदार्थ परतन्त्रादिसंवृतिसे—अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रव्यवहारसे सिद्ध है वह परमार्थतः निरूपण किये जानेपर नहीं है। अतः 'इसीसे उसे असङ्ग कहा गया है'—यह कथन ठीक ही है ॥ ७३ ॥

आत्मा अज है—यह कल्पना भी व्यावहारिक है

ननु शास्त्रादीनां संवृतित्वेऽज इतीयमपि कल्पना संवृतिः स्यात्?

सत्यमेवम्।

शङ्का—शास्त्रादिको व्यावहारिक माननेपर तो 'अज है' ऐसी कल्पना भी व्यावहारिक ही सिद्ध होगी?

समाधान—हाँ, बात तो ऐसी ही है।

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः ॥ ७४ ॥

आत्मा 'अज' भी कल्पित व्यवहारके कारण ही कहा जाता है परमार्थतः तो 'अज' भी नहीं है। अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रोंसे सिद्ध जो संवृति (भ्रमजनित व्यवहार) है उसके अनुसार उसका जन्म होता है। [अतः] उसका निषेध करनेके लिये ही उसे 'अज' कहा गया है ॥ ७४ ॥

शास्त्रादिकल्पितसंवृत्यैवाज इत्युच्यते। परमार्थेन नाप्यजः।

शास्त्रादिकल्पित व्यवहारके कारण ही उसे 'अज' ऐसा कहा जाता है। परमार्थतः तो वह अज

यस्मात्परतन्त्राभिनिष्पत्त्या परशास्त्रसिद्धिमपेक्ष्य योऽज इत्युक्तः स संवृत्या जायते । अतोऽज इतीयमपि कल्पना परमार्थविषये नैव क्रमत इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

भी नहीं है । क्योंकि यहाँ जिसे अन्य शास्त्रोंकी सिद्धिकी अपेक्षासे 'अज' ऐसा कहा है, वह संवृतिसे ही जन्म भी लेता है । अतः 'वह अज है' ऐसी कल्पनाका भी परमार्थ-राज्यमें प्रवेश नहीं हो सकता ॥ ७४ ॥

द्वैताभावसे जन्माभाव

यस्मादसद्विषयस्तस्मात् — | क्योंकि विषय असत् है, इसलिये—

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।
द्वयाभावं स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते ॥ ७५ ॥

लोगोंका असत्य [द्वैत] के विषयमें केवल आग्रह है । वहाँ [परमार्थतत्त्वमें] द्वैत है ही नहीं । जीव द्वैताभावका बोध प्राप्त करके ही, फिर कोई कारण न रहनेसे जन्म नहीं लेता ॥ ७५ ॥

असत्यभूते द्वैतेऽभिनिवेशोऽस्ति केवलम् । अभिनिवेश आग्रहमात्रम् । द्वयं तत्र न विद्यते । मिथ्याभिनिवेशमात्रं च जन्मनः कारणं यस्मात्तस्माद्द्वयाभाव बुद्ध्वा निर्निमित्तो निवृत्तमिथ्याद्वयाभिनिवेशो यः स न जायते ॥ ७५ ॥

मिथ्याभिनिवेश-निवृत्त्या जन्माभावः

असत्यभूत द्वैतमें लोगोंका केवल अभिनिवेश है । आग्रहमात्रका नाम अभिनिवेश है । वहाँ [परमार्थवस्तुमें] द्वैत है ही नहीं । क्योंकि मिथ्या अभिनिवेशमात्र ही जीवके जन्मका कारण है । अतः द्वैताभावको जानकर जो निर्निमित्त हो गया है अर्थात् जिसका मिथ्या द्वैतविषयक आग्रह निवृत्त हो गया है उस [अधिकारी जीव] का फिर जन्म नहीं होता ॥ ७५ ॥

यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान् ।
तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ॥ ७६ ॥

जिस समय चित्त उत्तम, मध्यम और अधम हेतुओंको प्राप्त नहीं करता, उस समय उसका जन्म भी नहीं होता; क्योंकि हेतुका अभाव होनेपर फिर फल कहाँ हो सकता है ? ॥ ७६ ॥

हेतुत्रयाभावा-ज्जन्माभावः

जात्याश्रमविहिता आशीर्वर्जितैरनुष्ठीयमाना धर्मा देवत्वादिप्राप्तिहेतव उत्तमाः केवलाश्च धर्माः । अधर्मव्यामिश्रा मनुष्यत्वादिप्राप्त्यर्था मध्यमाः । तिर्यगादिप्राप्तिनिमित्ता अधर्मलक्षणाः प्रवृत्तिविशेषाश्चाधमाः । तानुत्तममध्यमाधमानविद्यापरिकल्पितान्यदैकमेवाद्वितीयमात्मतत्त्वं सर्वकल्पनावर्जितं जानन्न लभते न पश्यति यथा बालैर्दृश्यमानं गगने मलं विवेकी न पश्यति तद्वत्तदा न जायते नोत्पद्यते चित्तं देवाद्याकारैरुत्तमाधममध्यमफलरूपेण न ह्यसति हेतौ फलमुत्पद्यते बीजाद्यभाव इव सस्यादि ॥ ७६ ॥

निष्काम मनुष्योंद्वारा अनुष्ठान किये जाते हुए देवत्वादिकी प्राप्तिके हेतुभूत वर्णाश्रमविहित धर्म, जो केवल धर्म ही हैं, उत्तम हेतु हैं और मनुष्यत्वादिकी प्राप्तिके हेतुभूत जो अधर्ममिश्रित धर्म हैं वे मध्यम हेतु हैं तथा तिर्यगादि योनियोंकी प्राप्तिकी हेतुभूत अधर्ममयी विशेष प्रवृत्तियाँ अधम हेतु हैं । जिस समय सम्पूर्ण कल्पनासे रहित एकमात्र अद्वितीय आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर उन उत्तम, मध्यम और अधम हेतुओंको मनुष्य इस प्रकार उपलब्ध नहीं करता, जैसे कि विवेकी पुरुष आकाशमें बालकोंको दिखायी देनेवाली मलिनताको नहीं देखता, उस समय चित्त उत्तम, मध्यम और अधम फलरूपसे देवादि शरीरोंमें उत्पन्न नहीं होता । बीजादिके अभावमें जैसे अन्नादि उत्पन्न नहीं होते उसी प्रकार हेतुके न होनेपर फलकी भी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ७६ ॥

हेत्वभावे चित्तं नोत्पद्यत इति

हेतुका अभाव हो जानेपर चित्त उत्पन्न नहीं होता—ऐसा पहले कहा

ह्युक्तम्। सा पुनरनुत्पत्तिश्चित्तस्य कीदृशीत्युच्यते--

गया। किन्तु वह चित्तकी अनुत्पत्ति कैसी होती है? इसपर कहा जाता है—

अनिमित्तस्य चित्तस्य यानुत्पत्तिः समाद्वया।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः॥ ७७॥

[इस प्रकार] निमित्तशून्य चित्तकी जो अनुत्पत्ति है वह सर्वथा निर्विशेष और अद्वितीय है। [क्योंकि पहले भी] वह सर्वदा अजात [अर्थात् अद्वितीय] चित्तकी ही होती है, क्योंकि यह जो कुछ [प्रतीयमान द्वैतवर्ग] है, सब चित्तका ही दृश्य है॥ ७७॥

परमार्थदर्शनेन निरस्तधर्माधर्माख्योत्पत्तिनिमित्तस्यानिमित्तस्य चित्तस्येति या मोक्षाख्यानुत्पत्तिः सा सर्वदा सर्वावस्थासु समा निर्विशेषाद्वया च। पूर्वमप्यजातस्यैवानुत्पन्नस्य चित्तस्य सर्वस्याद्वयस्येत्यर्थः। यस्मात्प्रागपि विज्ञानाच्चित्तदृश्यं तदद्वयं जन्म च तस्मादजातस्य सर्वस्य सर्वदा चित्तस्य समाद्वयैवानुत्पत्तिर्न पुनः कदाचिद्भवति कदाचिद्वा न भवति। सर्वदैकरूपैवेत्यर्थः॥७७॥

परमार्थज्ञानके द्वारा जिसका धर्माधर्मरूप उत्पत्तिका कारण निवृत्त हो गया है उस निमित्तशून्य चित्तकी जो मोक्षसंज्ञक अनुत्पत्ति है वह सर्वदा सब अवस्थाओंमें समान अर्थात् निर्विशेष और अद्वितीय है। वह पहलेसे ही अजात—अनुत्पन्न और सर्व अर्थात् अद्वय चित्तकी ही होती है। क्योंकि बोध होनेके पूर्व भी वह द्वैत और जन्म चित्तका ही दृश्य था अतः सम्पूर्ण अजात चित्तकी अनुत्पत्ति सर्वदा समान और अद्वय ही होती है। ऐसी नहीं है कि कभी होती है और कभी नहीं होती। तात्पर्य यह है कि वह सर्वदा एकरूपा ही है॥ ७७॥

विद्वान्‌की अभयपदप्राप्ति

यथोक्तेन न्यायेन जन्मनिमित्तस्य द्वयस्याभावात्—

उपर्युक्त न्यायसे जन्मके हेतुभूत द्वैतका अभाव होनेके कारण—

बुद्ध्वानिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन् ।
वीतशोकं तथाकाममभयं पदमश्नुते ॥ ७८ ॥

अनिमित्तताको ही सत्य जानकर और [देवादि योनिकी प्राप्तिके] किसी अन्य हेतुको न पाकर विद्वान् शोक और कामसे रहित अभयपद प्राप्त कर लेता है ॥ ७८ ॥

अनिमित्ततां च सत्यां परमार्थरूपां बुद्ध्वा हेतुं धर्मादिकारणं देवादियोनिप्राप्तये पृथगनाप्नुवन्ननुपाददानस्त्यक्तबाह्यैषणः सन्कामशोकादिवर्जितमविद्यादिरहितमभयं पदमश्नुते पुनर्न जायत इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अनिमित्तताको ही सत्य यानी परमार्थरूप जानकर तथा देवादि योनियोंकी प्राप्तिके लिये किसी अन्य धर्मादि कारणको न पाकर [विद्वान्] बाह्य एषणाओंसे मुक्त हो कामना एवं शोकादिसे रहित अविद्याशून्य अभयपदको प्राप्त कर लेता है; अर्थात् फिर जन्म नहीं लेता ॥ ७८ ॥

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते ।
वस्त्वभावं स बुद्ध्वैव निःसङ्गं विनिवर्तते ॥ ७९ ॥

चित्त असत्य [द्वैत] के अभिनिवेशसे ही तदनुरूप विषयोंमें प्रवृत्त होता है । तथा द्वैत वस्तुके अभावका बोध होनेपर ही वह उससे निःसङ्ग होकर लौट आता है ॥ ७९ ॥

यस्मादभूताभिनिवेशादसति द्वये द्वयास्तित्वनिश्चयोऽभूताभिनिवेशस्तस्मादविद्याव्यामोहरूपाद्धि सदृशे तदनुरूपे तच्चित्तं प्रवर्तते । तस्य द्वयस्य वस्तुनो-

क्योंकि अभूताभिनिवेशसे जो द्वैत वस्तुतः असत् है उसके अस्तित्वका निश्चय करना 'अभूताभिनिवेश' है—उस अविद्याजनित मोहरूप असत्याभिनिवेशके कारण ही चित्त तदनुरूप विषयोंमें प्रवृत्त होता है । जिस समय वह उस द्वैत वस्तुका

ऽभावं यदा बुद्धवांस्तदा तस्मान्निःसङ्गं निरपेक्षं सद्विनिवर्ततेऽभूताभिनिवेशविषयात् ॥ ७९ ॥

अभाव जान लेता है उस समय उस मिथ्या अभिनिवेशजनित विषयसे निःसङ्ग—निरपेक्ष होकर लौट आता है ॥ ७९ ॥

मनोवृत्तियोंकी सन्धिमें ब्रह्मसाक्षात्कार

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥ ८० ॥

इस प्रकार [द्वैतसे] निवृत्त और [विषयान्तरमें] प्रवृत्त न हुए चित्तकी उस समय निश्चल स्थिति रहती है । वह परमार्थदर्शी पुरुषोंका ही विषय है और वही परम साम्य, अज और अद्वय है ॥ ८० ॥

निवृत्तस्य द्वैतविषयाद्विषयान्तरे चाप्रवृत्तस्याभावदर्शनेन चित्तस्य निश्चला चलनवर्जिता ब्रह्मस्वरूपैव तदा स्थितिः । यैषा ब्रह्मस्वरूपा स्थितिश्चित्तस्याद्वयविज्ञानैकरसघनलक्षणा, स हि यस्माद्विषयो गोचरः परमार्थदर्शिनां बुद्धानां तस्मात्तत्साम्यं परं निर्विशेषमजमद्वयं च ॥८०॥

उस समय द्वैतविषयसे निवृत्त और विषयान्तरमें अप्रवृत्त चित्तकी अभावदर्शनके कारण निश्चला—चलनवर्जिता अर्थात् ब्रह्मस्वरूपा स्थिति रहती है । चित्तकी जो यह अद्वयविज्ञानैकरसघनस्वरूपा ब्रह्ममयी स्थिति है वह, क्योंकि परमार्थदर्शी ज्ञानियोंका विषय—गोचर है इसलिये, परमसाम्य—निर्विशेष अज और अद्वय है ॥ ८० ॥

पुनरपि कीदृशश्चासौ बुद्धानां विषय इत्याह—

वह ज्ञानियोंका विषय किस प्रकारका है ? सो फिर भी बतलाते हैं—

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् ।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः ॥ ८१ ॥

वह अज, अनिद्र, अस्वप्न और स्वयंप्रकाश है। यह [आत्मा-नामक] धर्म अपने वस्तु-स्वभावसे ही नित्यप्रकाशमान है ॥ ८१ ॥

स्वयमेव तत्प्रभातं भवति, नादित्याद्यपेक्षम्; स्वयंज्योतिःस्वभावमित्यर्थः । सकृद्विभातः सदैव विभात इत्येतदेष एवंलक्षण आत्माख्यो धर्मो धातुस्वभावतो वस्तुस्वभावत इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

वह स्वयं ही प्रकाशित होता है—आदित्य आदिकी अपेक्षासे नहीं अर्थात् वह स्वयं प्रकाशस्वभाव है। यह ऐसे लक्षणोंवाला आत्मानामक धर्म धातुस्वभाव—वस्तुस्वभावसे ही सकृद्विभात सदा भासमान है ॥८१॥

आत्माकी दुर्दर्शताका हेतु

एवमुच्यमानमपि परमार्थतत्त्वं कस्माल्लौकिकैर्न गृह्यत इत्युच्यते—

इस प्रकार कहे जानेपर भी लौकिक पुरुषोंको इस परमार्थतत्त्वका बोध क्यों नहीं होता? इसपर कहते हैं—

सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा ।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥ ८२ ॥

वे भगवान् जिस-किसी द्वैत वस्तुके आग्रहसे अनायास ही आच्छादित हो जाते हैं और सदा कठिनतासे प्रकट होते हैं ॥ ८२ ॥

यस्माद्यस्य कस्यचिद्द्वयवस्तुनो धर्मस्य ग्रहेण ग्रहणावेशेन मिथ्याभिनिविष्टतया सुखमाव्रियतेऽनायासेनाच्छाद्यत इत्यर्थः । द्वयोपलब्धिनिमित्तं हि तत्रावरणं न यत्नान्तरमपेक्षते । दुःखं च

क्योंकि जिस किसी धर्म—द्वैत वस्तुके ग्रहण—आग्रहसे मिथ्याभिनिवेशके कारण वे भगवान् अर्थात् अद्वय आत्मदेव सहज ही आवृत हो जाते हैं अर्थात् बिना आयासके ही आच्छादित हो जाते हैं—क्योंकि द्वैतोपलब्धिके निमित्तसे होनेवाला आवरण किसी अन्य यत्नकी अपेक्षा

विव्रियते प्रकटीक्रियते, परमार्थज्ञानस्य दुर्लभत्वात्। भगवानसावात्माद्वयो देव इत्यर्थः, अतो वेदान्तैराचार्यैश्च बहुश उच्यमानोऽपि नैव ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः। "आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" (क० उ० १। २। ७) इति श्रुतेः॥ ८२॥

नहीं करता—और परमार्थज्ञान दुर्लभ होनेके कारण दुःखसे प्रकट किये जाते हैं; इसलिये वेदान्ताचार्योंके अनेक प्रकार निरूपण करनेपर भी जाननेमें नहीं आ सकते—यह इसका तात्पर्य है। "इसका वर्णन करनेवाला आश्चर्यरूप है तथा इसे ग्रहण करनेवाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है" इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है॥ ८२॥

परमार्थका आवरण करनेवाले असदभिनिवेश

अस्ति नास्तीत्यादिसूक्ष्मविषया अपि पण्डितानां ग्रहा भगवतः परमात्मन आवरणा एव किमुत मूढजनानां बुद्धिलक्षणा इत्येवमर्थं प्रदर्शयन्नाह—

अस्ति-नास्ति इत्यादि सूक्ष्मविषय भी, जो पण्डितोंके आग्रह हैं, भगवान् परमात्माके आवरण ही हैं, फिर मूर्ख लोगोंके बुद्धिरूप आग्रहोंकी तो बात ही क्या है? इसी बातको दिखलाते हुए कहते हैं—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः॥ ८३॥

आत्मा है, नहीं है, है भी और नहीं भी है तथा नहीं है—नहीं है—इस प्रकार क्रमशः चल, स्थिर, उभयरूप और अभावरूप कोटियोंसे मूर्खलोग परमात्माको आच्छादित ही करते हैं॥ ८३॥

अस्त्यात्मेति वादी कश्चित्प्रतिपद्यते। नास्तीत्यपरो वैनाशिकः। अस्ति नास्तीत्यपरोऽर्ध-

कोई वादी कहता है—'आत्मा है'। दूसरा वैनाशिक कहता है—'नहीं है'। तीसरा अर्द्धवैनाशिक सदसद्वादी दिगम्बर कहता है—'है

वैनाशिकः सदसद्वादी दिग्वासाः। नास्ति नास्तीत्यत्यन्तशून्यवादी। तत्रास्तिभावश्चलः, घटाद्यनित्यविलक्षणत्वात्। नास्तिभावः स्थिरः सदाविशेषत्वात्। उभयं चलस्थिरविषयत्वात्सदसद्भावोऽभावोऽत्यन्ताभावः।

प्रकारचतुष्टयस्यापि तैरेतैश्चलस्थिरोभयाभावैः सदसदादिवादी सर्वोऽपि भगवन्तमावृणोत्येव बालिशोऽविवेकी। यद्यपि पण्डितो बालिश एव परमार्थतत्त्वानवबोधात्किमु स्वभावमूढो जन इत्यभिप्रायः॥८३॥

भी और नहीं भी है'। तथा अत्यन्त शून्यवादीका कथन है कि 'नहीं है—नहीं है'। इनमें अस्तिभाव 'चल' है, क्योंकि वह घट आदि अनित्य पदार्थोंसे भिन्न है। [तात्पर्य यह है कि घटादिका प्रमाता सुखादि विशेष धर्मोंसे युक्त होनेके कारण परिणामी—चल है] । सदा अविशेष रूप होनेसे नास्तिभाव 'स्थिर' है। चल और स्थिरविषयक होनेसे सदसद्भाव उभयरूप है तथा अभाव अत्यन्ताभावरूप है।

इन चल, स्थिर, चलस्थिर और अभावरूप चार प्रकारके भावोंसे सभी मूर्ख अर्थात् विवेकहीन सदसदादि वादीगण भगवान्को आच्छादित ही करते हैं। वे यद्यपि पण्डित हैं, तो भी परमार्थतत्त्वका ज्ञान न होनेके कारण मूर्ख ही हैं। अतः तात्पर्य यह है कि फिर स्वभावसे ही मूर्खलोगोंकी तो बात ही क्या है ? ॥८३॥

कीदृक्पुनः परमार्थतत्त्वं यदवबोधादबालिशः पण्डितो भवतीत्याह—

तो फिर वह परमार्थतत्त्व कैसा है जिसका ज्ञान होनेपर मनुष्य अबालिश अर्थात् पण्डित हो जाता है ? इसपर कहते हैं—

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक्॥८४॥

जिनके अभिनिवेशसे आत्मा सदा ही आवृत रहता है वे ये चार ही कोटियाँ हैं। इनसे असंस्पृष्ट (अछूते) भगवान्‌को जिसने देखा है वही सर्वज्ञ है ॥ ८४ ॥

चतुष्कोटिवर्जितात्मज्ञानस्य सार्वज्ञकारणत्वम्

कोट्यः प्रावादुकशास्त्रनिर्णयान्ता एता उक्ता अस्ति नास्तीत्याद्याश्चतस्रो यासां कोटीनां ग्रहैर्ग्रहणैरुपलब्धिनिश्चयैः सदा सर्वदावृत आच्छादितस्तेषामेव प्रावादुकानां यः स भगवानाभिरस्तिनास्तीत्यादिकोटिभिश्चतसृभिरप्यस्पृष्टोऽस्त्यादिविकल्पनावर्जित इत्येतद्येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेष्वौपनिषदः पुरुषः स सर्वदृक्सर्वज्ञः परमार्थपण्डित इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

उन प्रवाद करनेवाले वादियोंके शास्त्रोंद्वारा निर्णय की हुई ये अस्ति-नास्ति आदि चार ही कोटियाँ हैं। जिन कोटियोंके ग्रह—ग्रहणसे ही, अर्थात् उन प्रावादुकोंके इस उपलब्धि-जनित निश्चयसे ही जो भगवान् सदा आवृत है उसे जिस मुनिने इन अस्ति-नास्ति आदि चारों ही कोटियों-से असंस्पृष्ट अर्थात् अस्ति-नास्ति आदि विकल्पसे सर्वदा रहित देखा है, यानी उसे वेदान्तोंमें [प्रतिपादित] औपनिषद पुरुषरूपसे जाना है वही सर्वदृक्—सर्वज्ञ अर्थात् परमार्थको जाननेवाला है ॥८४॥

ज्ञानीका नैष्कर्म्य

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम्।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ॥८५॥

इस पूर्ण सर्वज्ञता और आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित अद्वितीय ब्राह्मण्य पदको पाकर भी क्या [वह विवेकी पुरुष] फिर कोई चेष्टा करता है ? ॥ ८५॥

प्राप्यैतां यथोक्तां कृत्स्नां समस्तां सर्वज्ञतां ब्राह्मण्यं पदं "स ब्राह्मणः" (बृ० उ०

इस उपर्युक्त सम्पूर्ण सर्वज्ञता और "[जो इस अक्षरको जानकर इस लोकसे जाता है] वह ब्राह्मण

३ । ८ । १०) "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) इति श्रुतेः; आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिलया अनापन्ना अप्राप्ता यस्याद्वयस्य पदस्य न विद्यन्ते तदनापन्नादिमध्यान्तं ब्राह्मण्यं पदम्, तदेव प्राप्य लब्ध्वा किमतः परमस्मादात्मलाभादूर्ध्वमीहते चेष्टते निष्प्रयोजनमित्यर्थः । "नैव तस्य कृतेनार्थः" (गीता ३ ।१८) इत्यादिस्मृतेः ।। ८५ ।।

है" "यह ब्राह्मणकी शाश्वती महिमा है" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार ब्राह्मण्यपदको प्राप्तकर—जिस अद्वय पदके आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय अनापन्न—अप्राप्त हैं, अर्थात् नहीं हैं वह अनापन्नादिमध्यान्त ब्राह्मण्यपद है, उसीको पाकर इससे पीछे—इस आत्मलाभके अनन्तर कोई प्रयोजन न रहनेपर भी क्या [वह विद्वान्] कोई चेष्टा करता है ? [अर्थात् नहीं करता] जैसा कि "उसका किसी कार्यसे प्रयोजन नहीं रहता" इस स्मृतिसे प्रमाणित होता है ।। ८५ ।।

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं व्रजेत् ॥ ८६ ॥

[आत्मस्वरूपमें स्थित रहना] यह उन ब्राह्मणोंका विनय है, यही उनका स्वाभाविक शम कहा जाता है तथा स्वभावसे ही दान्त (जितेन्द्रिय) होनेके कारण यही उनका दम भी है । इस प्रकार विद्वान् शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ८६ ॥

विप्राणां ब्राह्मणानां विनयो विनीतत्वं स्वाभाविकं यदेतदात्मस्वरूपेणावस्थानम् । एष विनयः शमोऽप्येष एव प्राकृतः स्वाभाविकोऽकृतक उच्यते । दमोऽप्येष

ब्राह्मणोंका जो यह आत्मस्वरूपसे स्थित होनारूप विनय—विनीतत्व है वह स्वाभाविक है । उनका यह विनय और यही प्राकृत—स्वाभाविक अर्थात् अकृतक शम भी कहा जाता है । ब्रह्मस्वभावसे ही उपशान्तरूप

एव प्रकृतिदान्तत्वात्स्वभावत एव चोपशान्तरूपत्वाद्ब्रह्मणः । एवं यथोक्तं स्वभावोपशान्तं ब्रह्म विद्वाञ्शममुपशान्तिं स्वाभाविकीं ब्रह्मस्वरूपां व्रजेद्ब्रह्मस्वरूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

है, अतः प्रकृतितः दान्त होनेके कारण यही उनका दम भी है । इस प्रकार उपर्युक्त स्वभावतः शान्त ब्रह्मको जाननेवाला पुरुष शम—ब्रह्मस्वरूपा स्वाभाविकी उपशान्तिको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है ॥ ८६ ॥

त्रिविध ज्ञेय

एवमन्योन्यविरुद्धत्वात्संसारकारणानि रागद्वेषदोषास्पदानि प्रावादुकानां दर्शनानि । अतो मिथ्यादर्शनानि तानीति तद्युक्तिभिरेव दर्शयित्वा चतुष्कोटिवर्जितत्वाद्रागादिदोषानास्पदं स्वभावशान्तमद्वैतदर्शनमेव सम्यग्दर्शनमित्युपसंहृतम् । अथेदानीं स्वप्रक्रियाप्रदर्शनार्थ आरम्भः—

इस प्रकार एक-दूसरेसे विरुद्ध होनेके कारण प्रावादुकों (वादियों) के दर्शन संसारके कारणस्वरूप राग-द्वेषादि दोषोंके आश्रय हैं । अतः वे मिथ्या दर्शन हैं—यह बात उन्हींकी युक्तियोंसे दिखलाकर चारों कोटियोंसे रहित होनेके कारण रागादि दोषोंका अनाश्रयभूत स्वभावतः शान्त अद्वैतदर्शन ही सम्यग्दर्शन है—इस प्रकार उपसंहार किया गया । अब यहाँसे अपनी प्रक्रिया दिखलानेके लिये आरम्भ किया जाता है—

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते ।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ॥ ८७ ॥

वस्तु और उपलब्धि दोनोंके सहित जो द्वैत है उसे लौकिक (जाग्रत्) कहते हैं तथा जो द्वैत वस्तुके बिना केवल उपलब्धिके सहित है उसे शुद्ध लौकिक (स्वप्न) कहते हैं ॥ ८७ ॥

सवस्तु संवृतिसता वस्तुना सह वर्तत इति सवस्तु, तथा चोपलब्धिरुपलम्भस्तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च शास्त्रादिसर्वव्यवहारास्पदं ग्राह्यग्राहकलक्षणं द्वयं लौकिकं लोकादनपेतं लौकिकं जागरितमित्येतत् । एवंलक्षणं जागरितमिष्यते वेदान्तेषु ।

लौकिकम्

अवस्तु संवृतेरप्यभावात् । सोपलम्भं वस्तुवदुपलम्भनमुपलम्भोऽसत्यपि वस्तुनि तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च । शुद्धं केवलं प्रविभक्तं जागरितात्स्थूलाल्लौकिकं सर्वप्राणिसाधारणत्वादिष्यते स्वप्न इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

शुद्धलौकिकम्

सवस्तु—व्यावहारिक सत् वस्तुके सहित रहता है, इसलिये जो सवस्तु है तथा उपलम्भ यानी उपलब्धिके सहित है, इसलिये जो 'सोपलम्भ' है ऐसा शास्त्रादि सम्पूर्ण व्यवहारका आश्रयभूत ग्राह्य-ग्रहणरूप जो द्वैत है वह 'लौकिक'—लोकसे दूर न रहनेवाला अर्थात् जाग्रत् कहलाता है । वेदान्तोंमें जागरितको ऐसे लक्षणोंवाला माना है।

संवृतिका भी अभाव होनेके कारण जो 'अवस्तु' है—किन्तु 'सोपलम्भ' है—वस्तुके न होनेपर भी वस्तुके समान उपलब्ध होना 'उपलम्भ' कहलाता है । उसके सहित होनेके कारण जो 'सोपलम्भ' है वह सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये साधारण होनेके कारण शुद्ध-केवल अर्थात् जागरितरूप स्थूल लौकिकसे भिन्न लौकिक माना जाता है; अर्थात् वह स्वप्नावस्था है ॥८७॥

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ॥ ८८ ॥

जो वस्तु और उपलब्धि दोनोंसे रहित है वह अवस्था लोकोत्तर (सुषुप्ति) मानी गयी है । इस प्रकार विद्वानोंने सर्वदा ही [अवस्था-त्रयरूप] ज्ञान और ज्ञेय तथा [तुरीयरूप] विज्ञेयका निरूपण किया है ॥८८ ॥

अवस्त्वनुपलम्भं च ग्राह्य-ग्रहणवर्जितमित्येतत्, लोकोत्तरम् अतएव लोकातीतम्। ग्राह्यग्रहण-विषयो हि लोकस्तदभावात्सर्व-प्रवृत्तिबीजं सुषुप्तमित्येतदेवं स्मृतम्।

लोकोत्तरम्

सोपायं परमार्थतत्त्वं लौकिकं शुद्धलौकिकं लोकोत्तरं च क्रमेण येन ज्ञानेन ज्ञायते तज्ज्ञानम्। ज्ञेयमेतान्येव त्रीणि। एतद्व्यति-रेकेण ज्ञेयानुपपत्तेः सर्वप्रावादुक-कल्पितवस्तुनोऽत्रैवान्तर्भावात्। विज्ञेयं परमार्थसत्यं तुर्याख्यमद्व-यमजमात्मतत्त्वमित्यर्थः। सदा सर्वदा एतल्लौकिकादिविज्ञेयान्तं बुद्धैः परमार्थदर्शिभिर्ब्रह्मविद्भिः प्रकीर्तितम् ॥ ८८ ॥

अवस्तु और अनुपलम्भ अर्थात् ग्राह्य और ग्रहणसे रहित जो अवस्था है वह 'लोकोत्तर' अतएव 'लोकातीत' कहलाती है, क्योंकि ग्राह्य और ग्रहणका विषय ही लोक है। उसका अभाव होनेके कारण वह सुषुप्त-अवस्था सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंकी बीजभूता है—ऐसा माना गया है।

उपायके सहित परमार्थतत्त्व तथा लौकिक, शुद्ध लौकिक और लोकोत्तर अवस्थाओंका जिस ज्ञानके द्वारा क्रमशः बोध होता है उसे 'ज्ञान' कहते हैं तथा ये तीनों अवस्थाएँ ही 'ज्ञेय' हैं, क्योंकि समस्त वादियोंकी कल्पना की हुई वस्तुओंका इन्हींमें अन्तर्भाव होनेके कारण इनके सिवा किसी अन्य ज्ञेयका होना सम्भव नहीं है। जो परमार्थ सत्य तुरीयसंज्ञक अद्वय अजन्मा आत्मतत्त्व है वही 'विज्ञेय' है। ऐसा इसका अभिप्राय है। उन लौकिकसे लेकर विज्ञेयपर्यन्त सम्पूर्ण वस्तुओंका परमार्थदर्शी विद्वानोंने सदा—सर्वदा ही निरूपण किया है ॥ ८८ ॥

त्रिविध ज्ञेय और ज्ञानका ज्ञाता सर्वज्ञ है

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम्।
सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः ॥ ८९ ॥

ज्ञान और तीन प्रकारके ज्ञेयको क्रमशः जान लेनेपर इस लोकमें उस महाबुद्धिमान्‌को स्वयं ही सर्वत्र सर्वज्ञता हो जाती है ॥ ८९ ॥

ज्ञाने च लौकिकादिविषये, ज्ञेये च लौकिकादौ त्रिविधे-- पूर्वं लौकिकं स्थूलम्, तदभावेन पश्चाच्छुद्धं लौकिकम्, तदभावेन लोकोत्तरमित्येवं क्रमेण स्थानत्रयाभावेन परमार्थसत्ये तुर्येऽद्वयेऽजेऽभये विदिते स्वयमेवात्मस्वरूपमेव सर्वज्ञता सर्वश्चासौ ज्ञश्च सर्वज्ञस्तद्भावः सर्वज्ञता, इहास्मिँल्लोके भवति महाधियो महाबुद्धेः । सर्वलोकातिशयवस्तुविषयबुद्धित्वादेवंविदः सर्वत्र सर्वदा भवति । सकृद्विदिते स्वरूपे व्यभिचाराभावादित्यर्थः । न हि परमार्थविदो ज्ञानोद्भवाभिभवौ स्तो यथान्येषां प्रावादुकानाम् ॥ ८९ ॥

लौकिकादिविषयक ज्ञान और लौकिकादि तीन प्रकारके ज्ञेयको जान लेनेपर, अर्थात् पहले स्थूल लौकिकको, फिर उसके अभावमें शुद्ध लौकिकको तथा उसके भी अभावमें लोकोत्तरको—इस प्रकार क्रमशः तीनों अवस्थाओंके अभावद्वारा परमार्थसत्य अद्वय, अजन्मा और अभयरूप तुरीयको जान लेनेपर, इस लोकमें उस महाबुद्धिको सर्वत्र यानी सर्वदा स्वयं आत्मस्वरूप ही सर्वज्ञता—जो सर्वरूप ज्ञ (ज्ञानी) हो उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं उसीकी भावरूपा सर्वज्ञता प्राप्त होती है, क्योंकि ऐसा जाननेवालेकी बुद्धि सम्पूर्ण लोकसे बढ़ी हुई वस्तुको विषय करनेवाली होती है । तात्पर्य यह है कि स्वरूपका एक बार ज्ञान हो जानेपर उसका कभी व्यभिचार न होनेके कारण [उसकी सर्वज्ञता सर्वदा रहती है], क्योंकि जिस प्रकार अन्य वादियोंके ज्ञानके उदय और अस्त होते रहते हैं उस प्रकार परमार्थवेत्ता ज्ञानीके ज्ञानके उदय और अस्त नहीं होते ॥ ८९ ॥

लौकिकादीनां क्रमेण ज्ञेयत्वेन निर्देशादस्तित्वाशङ्का परमार्थतो मा भूदित्याह—

[उपर्युक्त श्लोकमें] लौकिकादिको क्रमशः ज्ञेयरूपसे बतलाये जानेके कारण उनके परमार्थतः अस्तित्वकी आशङ्का न हो जाय—इसलिये कहते हैं—

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः ।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ॥ ९० ॥

[जाग्रदादि] हेय, [सत्यब्रह्मस्वरूप] ज्ञेय, [पाण्डित्यादि] प्राप्तव्य साधन और [राग-द्वेषादि] प्रशमनीय दोष—ये सबसे पहले जानने योग्य हैं । इनमेंसे ज्ञेय (ब्रह्म) को छोड़कर शेष तीनोंमें तो केवल उपलम्भ (अविद्याकल्पितत्व) ही माना गया है ॥ ९० ॥

हेयानि च लौकिकादीनि त्रीणि जागरितस्वप्नसुषुप्तान्यात्मन्यसत्त्वेन रज्ज्वां सर्पवद्धातव्यानीत्यर्थः । ज्ञेयमिह चतुष्कोटिवर्जितं परमार्थतत्त्वम् । आप्यान्याप्तव्यानि त्यक्तबाह्यैषणात्रयेण भिक्षुणा पाण्डित्यबाल्यमौनाख्यानि साधनानि । पाक्यानि रागद्वेषमोहादयो दोषाः कषायाख्यानि पक्तव्यानि । सर्वाण्येतानि हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञे-

लौकिकादि तीन हेय हैं । तात्पर्य यह है कि जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ रज्जुमें सर्पके समान आत्मामें असत् होनेके कारण त्यागने योग्य हैं । चारों कोटियोंसे रहित परमार्थतत्त्व ही यहाँ ज्ञेय माना गया है । बाह्य तीनों एषणाओंको त्याग देनेवाले मुमुक्षुके लिये पाण्डित्य बाल्य और मौन नामक तीन साधन ही आप्य—प्राप्तव्य हैं; तथा राग, द्वेष और मोह आदि कषायसंज्ञक दोष ही [उसके लिये] पाक्य—पाक (जीर्ण) करने योग्य हैं । तात्पर्य यह है कि मुमुक्षुको हेय, ज्ञेय, आप्य और पाक्य इन सबको ही अग्रयाणतः—

यानि भिक्षुणोपायत्वेनेत्यर्थः, अग्रयाणतः प्रथमतः ।

तेषां हेयादीनामन्यत्र विज्ञेयात्परमार्थसत्यं विज्ञेयं ब्रह्मैकं वर्जयित्वा, उपलम्भनमुपलम्भोऽविद्याकल्पनामात्रम् । हेयाप्यपाक्येषु त्रिष्वपि स्मृतो ब्रह्मविद्भिर्न परमार्थसत्यता त्रयाणामित्यर्थः ॥ ९० ॥

सबसे पहले अपने साधनरूपसे जानना चाहिये ।

उन हेय आदिमेंसे केवल एक परमार्थ सत्य ज्ञेय ब्रह्मको छोड़कर शेष हेय, आप्य और पाक्य—इन तीनोंमें ब्रह्मवेत्ताओंने केवल उपलम्भ—उपलम्भन यानी अविद्यामय कल्पनामात्र ही माना है, अर्थात् इन तीनोंकी परमार्थसत्यता स्वीकार नहीं की है ॥ ९० ॥

जीव आकाशके समान अनादि और अभिन्न हैं

परमार्थतस्तु—

वास्तवमें तो—

प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः ।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किंचन ॥ ९१ ॥

सम्पूर्ण जीवोंको स्वभावसे ही आकाशके समान और अनादि जानना चाहिये । उनका नानात्व कहीं कुछ भी नहीं है ॥ ९१ ॥

प्रकृत्या स्वभावत आकाशवदाकाशतुल्याः सूक्ष्मनिरञ्जनसर्वगतत्वैः सर्वे धर्मा आत्मानो ज्ञेया मुमुक्षुभिरनादयो नित्याः । बहुवचनकृतभेदाशङ्कां निराकुर्वन्नाह—क्वचन किंचन किंचि-

मुमुक्षुओंको सूक्ष्मत्व, निरञ्जनत्व और सर्वगतत्व आदिके कारण सभी धर्मों—जीवोंको प्रकृतिसे अर्थात् स्वभावतः आकाशवत्—आकाशके समान और अनादि यानी नित्य जानना चाहिये । यहाँ बहुवचनके कारण होनेवाले जीवात्माओंके भेदकी आशङ्काका निराकरण करते हुए कहते हैं—'उनका क्वचन—कहीं,

दणुमात्रमपि तेषां न विद्यते नानात्वमिति ॥ ९१ ॥

किञ्चन—कुछ भी अर्थात् अणुमात्र भी नानात्व नहीं है' ॥ ९१ ॥

आत्मतत्त्वनिरूपण

ज्ञेयतापि धर्माणां संवृत्यैव न परमार्थत इत्याह—

आत्माओंकी जो ज्ञेयता है वह भी व्यावहारिक ही है परमार्थतः नहीं—इसी अभिप्रायसे कहते हैं—

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः ।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ९२ ॥

सम्पूर्ण आत्मा स्वभावसे ही नित्य बोधस्वरूप और सुनिश्चित हैं—जिसे ऐसा समाधान हो जाता है वह अमरत्व (मोक्ष) प्राप्तिमें समर्थ होता है ॥ ९२ ॥

यस्मादादौ बुद्धा आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव स्वभावत एव यथा नित्यप्रकाशस्वरूपः सवितैवं नित्यबोधस्वरूपा इत्यर्थः सर्वे धर्माः सर्व आत्मानः । न च तेषां निश्चयः कर्तव्यो नित्यनिश्चितस्वरूपा इत्यर्थः । न संदिह्यमानस्वरूपा एवं नैवं चेति ।

यस्य मुमुक्षोरेवं यथोक्तप्रकारेण सर्वदा बोधनिश्चयनिरपेक्षतात्मार्थं परार्थं वा यथा सविता नित्यं प्रकाशान्तरनिरपेक्षः स्वार्थं

क्योंकि जिस प्रकार सूर्य नित्य प्रकाशस्वरूप है उसी प्रकार सम्पूर्ण धर्म यानी आत्मा प्रकृति—स्वभावसे ही आदिबुद्ध—आरम्भमें ही जाने हुए अर्थात् नित्यबोधस्वरूप हैं । उनका निश्चय भी नहीं करना है; अर्थात् वे नित्यनिश्चितस्वरूप हैं—'ऐसे हैं अथवा नहीं हैं' इस प्रकार सन्दिग्धस्वरूप नहीं हैं ।

जिस मुमुक्षुको इस तरह—उपर्युक्त प्रकारसे अपने अथवा परायेलिये सर्वदा बोधनिश्चय-सम्बन्धिनी निरपेक्षता है; जिस प्रकार सूर्य अपने अथवा परायेलिये सदा ही

परमार्थं चेत्येवं भवति क्षान्तिबोधकर्तव्यतानिरपेक्षता सर्वदा स्वात्मनि सोऽमृतत्वायामृतभावाय कल्पते मोक्षाय समर्थो भवतीत्यर्थः ॥ ९२ ॥

प्रकाशान्तरकी अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार जिसे सर्वदा अपने आत्मामें क्षान्ति–बोधकर्त्तव्यताकी निरपेक्षता रहती है वह अमृतत्व–अमृतभाव अर्थात् मोक्षके लिये समर्थ होता है ॥ ९२ ॥

तथा नापि शान्तिकर्तव्यतात्मनीत्याह—

इसी प्रकार आत्मामें शान्तिकर्तव्यता भी नहीं है—इसी आशयसे कहते हैं—

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः ।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम् ॥ ९३ ॥

सम्पूर्ण आत्मा नित्यशान्त, अजन्मा, स्वभावसे ही अत्यन्त उपरत तथा सम और अभिन्न हैं । [इस प्रकार क्योंकि] आत्मतत्त्व अज, समतारूप और विशुद्ध है [इसलिये उसकी शान्ति अथवा मोक्ष कर्तव्य नहीं है] ॥ ९३ ॥

यस्मादादिशान्ता नित्यमेव शान्ता अनुत्पन्ना अजाश्च प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः सुष्टूपरतस्वभावा इत्यर्थः, सर्वे धर्माः समाश्चाभिन्नाश्च समाभिन्नाः, अजं साम्यं विशारदं विशुद्धमात्मतत्त्वं यस्मात्तस्माच्छान्तिर्मोक्षो वा नास्ति कर्तव्य इत्यर्थः, न हि नित्यैक-

क्योंकि सम्पूर्ण धर्म आदिशान्त-सर्वदा ही शान्तस्वरूप, अनुत्पन्न–अजन्मा, स्वभावसे ही सुनिर्वृत अर्थात् अत्यन्त उपरत स्वभाववाले हैं; तथा सम और अभिन्न हैं; इस प्रकार, क्योंकि आत्मतत्त्व अजन्मा, समतारूप और विशुद्ध है, इसलिये उसकी शान्ति अथवा मोक्ष कर्तव्य नहीं है—यह इसका अभिप्राय है, क्योंकि उस नित्य एकस्वभावके लिये

स्वभावस्य कृतं किंचिदर्थवत्स्यात् ॥ ९३ ॥

कुछ भी करना सार्थक नहीं हो सकता ॥ ९३ ॥

आत्मज्ञ ही अकृपण है

ये यथोक्तं परमार्थतत्त्वं प्रतिपन्नास्ते एवाकृपणा लोके कृपणा एवान्य इत्याह—

जो लोग उपर्युक्त परमार्थतत्त्वको समझते हैं लोकमें वे ही अकृपण हैं, उनके सिवा और सब तो कृपण ही हैं—इसी भावको लेकर कहते हैं—

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा ।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥ ९४ ॥

जो लोग सर्वदा भेदमें ही विचरते रहते हैं, निश्चय ही उनकी विशुद्धि नहीं होती । द्वैतवादी लोग भेदकी ही ओर प्रवृत्त होनेवाले हैं इसलिये वे कृपण (दीन) माने गये हैं ॥९४॥

यस्माद्भेदनिम्ना भेदानुयायिनः संसारानुगा इत्यर्थः; के ? पृथग्वादाः पृथङ्नाना वस्त्वित्येवं वदनं येषां ते पृथग्वादा द्वैतिन इत्यर्थः, तस्मात्ते कृपणाः क्षुद्राः स्मृताः; यस्माद्वैशारद्यं विशुद्धिर्नास्ति तेषां भेदे विचरतां द्वैतमार्गेऽविद्याकल्पिते सर्वदा वर्तमानानामित्यर्थः । अतो युक्तमेव तेषां कार्पण्यमित्यभिप्रायः ॥ ९४ ॥

क्योंकि वे भेदनिम्न—भेदानुयायी अर्थात् संसारके अनुगामी हैं, कौन लोग ? पृथक्वादी—'पृथक् अर्थात् नाना वस्तु है'—ऐसा जिनका कथन है वे पृथक्वादी अर्थात् द्वैतीलोग, इसलिये वे कृपण—क्षुद्र माने गये हैं; क्योंकि भेद अर्थात् अविद्यापरिकल्पित द्वैतमार्गमें सर्वदा विचरनेवाले उन लोगोंका वैशारद्य अर्थात् विशुद्धि नहीं होती । अतः उनका कृपण होना ठीक ही है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥९४॥

आत्मज्ञका महाज्ञानित्व

यदिदं परमार्थतत्त्वममहात्मभिरपण्डितैर्वेदान्तबहिःष्ठैः क्षुद्रैरल्पप्रज्ञैरनवगाह्यमित्याह—

यह जो परमार्थतत्त्व है वह क्षुद्रचित्त अविवेकी तथा वेदान्तके अनधिकारी क्षुद्र और मन्दबुद्धि पुरुषोंकी समझमें नहीं आ सकता—इस आशयसे कहते हैं—

अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः ।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥९५॥

जो कोई उस अज और साम्यरूप परमार्थतत्त्वमें अत्यन्त निश्चित होंगे वे ही लोकमें परम ज्ञानी हैं । उस तत्त्वका सामान्य लोक अवगाहन नहीं कर सकता ॥ ९५ ॥

अजे साम्ये परमार्थतत्त्व एवमेवेति ये केचित्स्त्र्यादयोऽपि सुनिश्चिता भविष्यन्ति चेत्त एव हि लोके महाज्ञाना निरतिशयतत्त्वविषयज्ञाना इत्यर्थः ।

उस अज और साम्यरूप परमार्थतत्त्वमें जो कोई—स्त्री आदि भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार पूर्णतया निश्चित होंगे वे ही लोकमें महाज्ञानी अर्थात् निरतिशय तत्त्वविषयक ज्ञानवाले हैं ।

तच्च तेषां वर्त्म तेषां विदितं परमार्थतत्त्वं सामान्यबुद्धिरन्यो लोको न गाहते नावतरति न विषयीकरोतीत्यर्थः । "सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतहितस्य च । देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः । शकुनीनामिवाकाशे

उस—उनके मार्ग अर्थात् उन्हें विदित हुए परमार्थतत्त्वमें अन्य साधारण बुद्धिवाला मनुष्य अवगाहन—अवतरण नहीं करता अर्थात् उसे विषय नहीं कर सकता । "जो सम्पूर्ण भूतोंका आत्मभूत और सब प्राणियोंका हितकारी है उस पदरहित (प्राप्य पुरुषार्थहीन) महात्माके पदको जाननेकी इच्छावाले देवता भी उसके मार्गमें मोहको प्राप्त हो जाते हैं तथा आकाशमें

गतिर्नैवोपलभ्यते" (महा० शा० २३९ । २३, २४) इत्यादिस्मरणात् ॥ ९५ ॥

जैसे पक्षियोंका मार्ग नहीं मिलता उसी प्रकार उसकी गतिका पता नहीं चलता" इत्यादि स्मृतिसे भी यही प्रमाणित होता है ॥९५॥

कथं महाज्ञानत्वमित्याह—

उनका महाज्ञानित्व किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—

अजेष्वजमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते ।
यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥ ९६ ॥

अजन्मा आत्माओंमें स्थित अज (नित्य) ज्ञान असंक्रान्त (अन्य विषयोंसे न मिलनेवाला) माना जाता है । क्योंकि वह ज्ञान अन्य विषयोंमें संक्रमित नहीं होता इसलिये उसे असंग बतलाया गया है ॥ ९६ ॥

अजेष्वनुत्पन्नेष्वचलेषु धर्मेष्वात्मस्वजमचलं च ज्ञानमिष्यते सवितरीवौष्ण्यं प्रकाशश्च यतस्तस्मादसंक्रान्तमर्थान्तरे ज्ञानमजमिष्यते । यस्मान्न क्रमतेऽर्थान्तरे ज्ञानं तेन कारणेनासङ्गं तत्कीर्तितमाकाशकल्पमित्युक्तम् ॥९६॥

क्योंकि अज—अनुत्पन्न यानी अचल धर्मों—आत्माओंमें सूर्यमें उष्णता और प्रकाशके समान अज अर्थात् अचल ज्ञान माना जाता है अतः अर्थान्तरमें असंक्रान्त (अननुप्रविष्ट) ज्ञानको अजन्मा (नित्य) स्वीकार किया जाता है । क्योंकि वह ज्ञान दूसरे विषयोंमें संक्रमित नहीं होता इसलिये उसे असंग कहा गया है; अर्थात् वह आकाशके समान है—ऐसा कहा है ॥ ९६ ॥

जातवादमें दोषप्रदर्शन

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः ।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः ॥९७॥

[अन्य वादियोंके मतानुसार] किसी अणुमात्र भी विधर्मी वस्तुकी; उत्पत्ति माननेपर तो अविवेकी पुरुषकी असंगता भी कभी नहीं हो सकती; फिर उसके आवरणनाशके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥९७॥

इतोऽन्येषां वादिनामणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये वस्तुनि बहिरन्तर्वा जायमान उत्पाद्यमानेऽविपश्चितोऽविवेकिनोऽसङ्गता असङ्गत्वं सदा नास्ति किमुत वक्तव्यमावरणच्युतिर्बन्धनाशो नास्तीति।९७।

इससे भिन्न जो अन्य वादी हैं उनके मतानुसार अणुमात्र अर्थात् थोड़ी-सी भी विधर्मी वस्तुके बाहर या भीतर उत्पन्न होनेपर तो अविपश्चित—अविवेकी पुरुषकी कभी असङ्गता भी नहीं हो सकती फिर उसकी आवरणच्युति अर्थात् बन्धनाश नहीं होता—इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ? ॥९७॥

आत्माका स्वाभाविक स्वरूप

तेषामावरणच्युतिर्नास्तीति ब्रुवतां स्वसिद्धान्तेऽभ्युपगतं तर्हि धर्माणामावरणम् । नेत्युच्यते ।

उनकी आवरणच्युति नहीं होती—ऐसा कहकर तो तुमने अपने सिद्धान्तमें भी आत्माओंका आवरण स्वीकार कर लिया [—ऐसा यदि कोई कहे तो] इसपर हमारा कहना है—नहीं,

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः ।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायकाः ॥९८॥

समस्त आत्मा आवरणशून्य, स्वभावसे ही निर्मल तथा नित्य बुद्ध और मुक्त हैं । तथापि स्वामीलोग (वेदान्ताचार्यगण) 'वे जाने जाते हैं' ऐसा [उनके विषयमें कहते हैं] ॥ ९८ ॥

अलब्धावरणाः—अलब्धमप्राप्तमावरणमविद्यादिबन्धनं येषां

'अलब्धावरणाः'—जिन्हें आवरण अर्थात् अविद्यादिरूप बन्धन लाभ

ते धर्मा अलब्धावरणा बन्धनरहिता इत्यर्थः, प्रकृतिनिर्मलाः स्वभावशुद्धा आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता यस्मान्नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावाः ।

यद्येवं कथं तर्हि बुध्यन्त इत्युच्यते ?

नायकाः स्वामिनः समर्था बोद्धुं बोधशक्तिमत्स्वभावा इत्यर्थः, यथा नित्यप्रकाशस्वरूपोऽपि सविता प्रकाशत इत्युच्यते यथा वा नित्यनिवृत्तगतयोऽपि नित्यमेव शैलास्तिष्ठन्तीत्युच्यते तद्वत् ॥ ९८ ॥

अर्थात् प्राप्त नहीं हुआ है वे धर्म अलब्धावरण अर्थात् बन्धनरहित, प्रकृति, निर्मल—स्वभावसे ही शुद्ध और आरम्भमें ही बोधको प्राप्त हुए तथा मुक्तस्वरूप हैं, क्योंकि वे नित्य-शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाव हैं ।

शङ्का—यदि ऐसी बात है तो उनके विषयमें 'वे जाने जाते हैं' ऐसा क्यों कहा जाता है ?

समाधान—नायक—स्वामी लोग—जाननेमें समर्थ अर्थात् बोधशक्तियुक्त स्वभाववाले लोग उनके विषयमें उसी प्रकार ऐसा कहते हैं जैसे कि नित्य प्रकाशस्वरूप होनेपर भी सूर्यके विषयमें 'सूर्य प्रकाशमान है' ऐसा कहा जाता है तथा सर्वदा गतिशून्य होनेपर भी 'पर्वत खड़े हैं' ऐसा कहा जाता है ॥ ९८ ॥

अजातवाद बौद्धदर्शन नहीं है

क्रमते न हि बुद्धस्य ज्ञानं धर्मेषु तायिनः ।
सर्वे धर्मास्तथा ज्ञानं नैतद्बुद्धेन भाषितम् ॥ ९९ ॥

अखण्ड प्रज्ञानवान् परमार्थदर्शीका ज्ञान धर्मों (विषयों) में संक्रमित नहीं होता और न [उसके मतमें] सम्पूर्ण धर्म (आत्मा) ही कहीं जाते हैं । परन्तु ऐसा ज्ञान बुद्धदेवने नहीं कहा [अर्थात् यह बौद्ध सिद्धान्त नहीं है, बल्कि औपनिषद दर्शन है] ॥ ९९ ॥

यस्मान्न हि क्रमते बुद्धस्य परमार्थदर्शिनो ज्ञानं विषयान्तरेषु धर्मेषु धर्मसंस्थं सवितरीव प्रभा, तायिनः तायोऽस्यास्तीति तायी, संतानवतो निरन्तरस्याकाशकल्पस्येत्यर्थः, पूजावतो वा प्रज्ञावतो वा, सर्वे धर्मा आत्मानोऽपि तथा ज्ञानवदेवाकाशकल्पत्वान्न क्रमन्ते क्वचिदप्यर्थान्तर इत्यर्थः ।

यदादावुपन्यस्तं ज्ञानेनाकाशकल्पेनेत्यादि तदिदमाकाशकल्पस्य तायिनो बुद्धस्य तदनन्यत्वादाकाशकल्पं ज्ञानं न क्रमते क्वचिदप्यर्थान्तरे । तथा धर्मा इति । आकाशमिवाचलमविक्रियं निरवयवं नित्यमद्वितीयमसङ्गमदृश्यमग्राह्यमशनायाद्यतीतं ब्रह्मात्मतत्त्वम् । "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) इति श्रुतेः ।

ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं पर-

तायी—जिसका ताय यानी (विस्तार) हो उसे तायी कहते हैं। क्योंकि तायी—सन्तानवान्—निरन्तर अर्थात् आकाशसदृश पूजावान् अथवा प्रज्ञावान् बुद्ध—परमार्थदर्शीका ज्ञान धर्मोंमें—विषयान्तरोंमें संक्रमित नहीं होता अपितु सूर्यमें प्रकाशकी भाँति आत्मनिष्ठ रहता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण धर्म अर्थात् आत्मा भी ज्ञानके समान ही आकाशसदृश होनेके कारण कभी अर्थान्तरमें संक्रमित नहीं होते अर्थात् नहीं जाते।

इस प्रकरणके आरम्भमें जिसका 'ज्ञानेनाकाशकल्पेन' इत्यादि श्लोकद्वारा उपन्यास किया गया है, आकाशसदृश निरन्तर बोधवान्का—उससे अभिन्न होनेके कारण—वही यह आकाशसदृश ज्ञान कभी अर्थान्तरमें संक्रमित नहीं होता; और ऐसे ही धर्म भी हैं अर्थात् वे भी आकाशके समान अचल, अविक्रिय, निरवयव, नित्य, अद्वितीय, असङ्ग, अदृश्य, अग्राह्य और क्षुधा-पिपासादिसे रहित ब्रह्मात्मतत्त्व ही हैं; जैसा कि "द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है।

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके भेदसे

मार्थतत्त्वमद्वयम् एतन्न बुद्धेन भाषितम् । यद्यपि बाह्यार्थनिराकरणं ज्ञानमात्रकल्पना चाद्वयवस्तुसामीप्यमुक्तम् । इदं तु परमार्थतत्त्वमद्वैतं वेदान्तेष्वेव विज्ञेयमित्यर्थः ॥ ९९ ॥

रहित इस अद्वय परमार्थतत्त्वका बुद्धने निरूपण नहीं किया; यद्यपि उसने बाह्यवस्तुका निराकरण और केवल ज्ञानकी ही कल्पना—ये अद्वय वस्तुके समीपवर्ती ही विषय कहे हैं; तात्पर्य यह है कि इस अद्वैत परमार्थतत्त्वको तो वेदान्तका ही विषय जानना चाहिये ॥ ९९ ॥

परमार्थपद-वन्दना

शास्त्रसमाप्तौ परमार्थतत्त्वस्तुत्यर्थं नमस्कार उच्यते—

अब शास्त्रकी समाप्ति होनेपर परमार्थतत्त्वकी स्तुतिके लिये नमस्कार कहा जाता है—

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम् ।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥१००॥

दुर्दर्श, अत्यन्त गम्भीर, अज, निर्विशेष और विशुद्ध पदको भेदरहित जानकर हम उसे यथाशक्ति नमस्कार करते हैं ॥ १०० ॥

दुर्दर्शं दुःखेन दर्शनमस्येति दुर्दर्शम्, अस्ति नास्तीति चतुष्कोटिवर्जितत्वाद्दुर्विज्ञेयमित्यर्थः । अत एवातिगम्भीरं दुष्प्रवेशं महासमुद्रवदकृतप्रज्ञैः, अजं साम्यं विशारदम्, ईदृक्पदमनानात्वं नानात्ववर्जितं बुद्ध्वावगम्य तद्भूताः सन्तो नमस्कुर्मस्तस्मै पदाय, अव्यवहार्यमपि व्यवहारगोचरमापाद्य यथाबलं यथाशक्तीत्यर्थः ॥ १०० ॥

जिसका कठिनतासे दर्शन हो सकता है ऐसे दुर्दर्श अर्थात् अस्ति-नास्ति आदि चारों कोटियोंसे रहित होनेके कारण दुर्विज्ञेय, अतएव अति गम्भीर— मन्दबुद्धियोंके लिये महासमुद्रके समान दुष्प्रवेश्य तथा अजन्मा, साम्यरूप (निर्विशेष) और विशुद्ध—ऐसे पदको भेदरहित जानकर तद्रूप हो और उस अव्यवहार्यपदको भी व्यवहारका विषय बनाकर हम उसको यथाबल—यथाशक्ति नमस्कार करते हैं ॥ १०० ॥

भाष्यकारकर्तृक वन्दना

अजमपि जनियोगं प्रापदैश्वर्ययोगा-
दगति च गतिमत्तां प्रापदेकं ह्यनेकम् ।
विविधविषयधर्मग्राहिमुग्धेक्षणानां
प्रणतभयविहन्तृ ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥ १ ॥

जिसने अजन्मा होकर भी अपनी ईश्वरीय शक्तिके योगसे जन्म ग्रहण किया, गतिशून्य होनेपर भी गति स्वीकार की तथा जो नाना प्रकारके विषयरूप धर्मोंको ग्रहण करनेवाले मूढ़दृष्टि लोगोंके विचारसे एक होकर भी अनेक हुआ है और जो शरणागतभयहारी है उस ब्रह्मको मैं नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

प्रज्ञावैशाखवेधक्षुभितजलनिधेर्वेदनाम्नोऽन्तरस्थं
भूतान्यालोक्य मग्नान्यविरतजननग्राहघोरे समुद्रे ।
कारुण्यादुद्दधारामृतमिदममरैर्दुर्लभं भूतहेतो-
र्यस्तं पूज्याभिपूज्यं परमगुरुममुं पादपातैर्नतोऽस्मि ॥ २ ॥

जो निरन्तर जन्म-जन्मान्तररूप ग्राहोंके कारण अत्यन्त भयानक है ऐसे संसारसागरमें जीवोंको डूबे हुए देखकर जिन्होंने करुणावश अपनी विशुद्ध बुद्धिरूप मन्थनदण्डके आघातसे क्षुभित हुए वेद नामक महासमुद्रके भीतर स्थित इस देवदुर्लभ अमृतको प्राणियोंके कल्याणके लिये निकाला है, उन पूजनीयोंके भी पूजनीय परम गुरु (श्रीगौडपादाचार्य) को मैं उनके चरणोंमें गिरकर प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

यत्प्रज्ञालोकभासा प्रतिहतिमगमत्स्वान्तमोहान्धकारो
मज्जोन्मज्जच्च घोरे ह्यसकृदुपजनोदन्वति त्रासने मे ।
यत्पादावाश्रितानां श्रुतिशमविनयप्राप्तिरग्र्या ह्यमोघा
तत्पादौ पावनीयौ भवभयविनुदौ सर्वभावैर्नमस्ये ॥ ३ ॥

जिनके ज्ञानालोककी प्रभासे मेरे अन्तःकरणका मोहरूप अन्धकार नाशको प्राप्त हुआ तथा इस भयङ्कर संसारसागरमें बारंबार डूबना-उछलनारूप मेरी व्यथाएँ शान्त हो गयीं और जिनके चरणोंका आश्रय लेनेवालोंके लिये श्रुतिज्ञान, उपशम और विनयकी प्राप्ति अमोघ एवं पहले ही होनेवाली है उन [श्रीगुरुदेवके] भवभयहारी परम पवित्र चरण-युगलोंको मैं सर्वतोभावसे नमस्कार करता हूँ ॥ ३ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शङ्करभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रविवरणेऽलातशान्त्याख्यं चतुर्थं प्रकरणम् ॥ ४ ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

ॐ

शान्तिपाठ

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा

भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ।

स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवा ँ सस्तनूभि-

र्व्यशेम देवहितं यदायुः ॥

स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः

स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः ।

स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः

स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

॥ हरिः ॐ तत्सत् ॥

कारिकाप्रतीकानि		प्रकरणाङ्कः	कारिकाङ्कः	पृष्ठम्
कोट्यश्चतस्र एतास्तु	...	४	८४	२५८
क्रमते न हि बुद्धस्य	...	४	९९	२७३
ख्याप्यमानामजातिं तैः	...	४	५	१९२
ग्रहणाज्जागरितवत्	...	४	३७	२२३
ग्रहो न तत्र नोत्सर्गः	...	३	३८	१७६
घटादिषु प्रलीनेषु	...	३	४	१२६
चरञ्जागरिते जाग्रत्	...	४	६५	२४५
चित्तं न संस्पृशत्यर्थम्	...	४	२६	२१४
चित्तकाला हि येऽन्तस्तु	...	२	१४	९५
चित्तस्पन्दितमेवेदम्	...	४	७२	२४८
जरामरणनिर्मुक्ताः	...	४	१०	१९६
जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते	...	४	६६	२४५
जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तः	...	२	१०	९२
जात्याभासं चलाभासम्	...	४	४५	२३१
जीवं कल्पयते पूर्वम्	...	२	१६	९७
जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्	...	३	१४	१४१
जीवात्मनोरनन्यत्वम्	...	३	१३	१४०
ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये	...	४	८९	२६३
ज्ञानेनाकाशकल्पेन	...	४	१	१८८
तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा	...	२	३८	११९
तस्मादेवं विदित्वैनम्	...	२	३६	११७
तस्मान्न जायते चित्तम्	...	४	२८	२१६
तैजसस्योत्वविज्ञाने	...	१	२०	७४
त्रिषु धामसु यस्तुल्यम्	...	१	२२	७५
त्रिषु धामसु यद्भोज्यम्	...	१	५	४४
दक्षिणाक्षिमुखे विश्वः	...	१	२	३७
दुःखं सर्वमनुस्मृत्य	...	३	४३	१८१
दुर्दर्शमतिगम्भीरम्	...	४	१००	२७५
द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यात्	...	४	५३	२३६
द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने	...	३	१२	१३९
द्वैतस्याग्रहणं तुल्यम्	...	१	१३	६२
धर्मा य इति जायन्ते	...	४	५८	२४०
न कश्चिज्जायते जीवः	...	३	४८	१८६
न कश्चिज्जायते जीवः	...	४	७१	२४८

कारिकाप्रतीकानि		प्रकरणाङ्कः	कारिकाङ्कः	पृष्ठम्
न निरोधो न चोत्पत्तिः	...	२	३२	१०८
न निर्गता अलातात्ते	...	४	५०	२३४
न निर्गतास्ते विज्ञानात्	...	४	५२	२३५
न भवत्यमृतं मर्त्यम्	...	३	२१	१५३
न भवत्यमृतं मर्त्यम्	...	४	७	१९३
न युक्तं दर्शनं गत्वा	...	४	३४	२२१
नाकाशस्य घटाकाशः	...	३	७	१३४
नाजेषु सर्वधर्मेषु	...	४	६०	२४२
नात्मभावे नानेदम्	...	२	३४	११५
नात्मानं न परांश्चैव	...	१	१२	६१
नास्त्यसद्धेतुकमसत्	...	४	४०	२२६
नास्वादयेत्सुखं तत्र	...	३	४५	१८३
निःस्तुतिर्निर्नमस्कारः	...	२	३७	११८
निगृहीतस्य मनसः	...	३	३४	१७०
निमित्तं न सदा चित्तम्	...	४	२७	२१५
निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य	...	४	८०	२५५
निवृत्ते सर्वदुःखानाम्	...	१	१०	५९
निश्चितायां यथा रज्ज्वाम्	...	२	१८	९९
नेह नानेति चाम्नायात्	...	३	२४	१५७
पञ्चविंशक इत्येके	...	२	२६	१०३
पादा इति पादविदः	...	२	२१	१०१
पूर्वापरापरिज्ञानम्	...	४	२१	२०६
प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः	...	४	९१	२६६
प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वम्	...	४	२४	२१०
प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वम्	...	४	२५	२१२
प्रणवं हीश्वरं विद्यात्	...	१	२८	८०
प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म	...	१	२६	७९
प्रपञ्चो यदि विद्येत	...	१	१७	६६
प्रभवः सर्वभावानाम्	...	१	६	४५
प्राण इति प्राणविदः	...	२	२०	१०१
प्राणादिभिरनन्तैश्च	...	२	१९	१००
प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नाम्	...	४	८५	२५९
फलादुत्पद्यमानः सन्	...	४	१७	२०२
बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वः	...	१	१	३६
बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः	...	४	२०	२०४

कारिकाप्रतीकानि		प्रकरणाङ्कः	कारिकाङ्कः	पृष्ठम्
बुद्ध्वानिमित्ततां सत्याम्	...	४	७८	२५४
भावैरसद्भिरेवायम्	...	२	३३	११३
भूतं न जायते किञ्चित्	...	४	४	१९२
भूततोऽभूततो वापि	...	३	२३	१५५
भूतस्य जातिमिच्छन्ति	...	४	३	१९१
भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये	...	१	९	४९
मकारभावे प्राज्ञस्य	...	१	२१	७४
मन इति मनोविदः	...	२	२५	१०२
मनसो निग्रहायत्तम्	...	३	४०	१७९
मनोदृश्यमिदं द्वैतम्	...	३	३१	१६७
मरणे सम्भवे चैव	...	३	९	१३६
मायया भिद्यते ह्येतत्	...	३	१९	१५२
मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य	...	४	३५	२२१
मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः	...	३	१५	१४४
यं भावं दर्शयेद्यस्य	...	२	२९	१०४
यथा निर्मितको जीवः	...	४	७०	२४७
यथा भवति बालानाम्	...	३	८	१३५
यथा मायामयाद्बीजात्	...	४	५९	२४१
यथा मायामयो जीवः	...	४	६९	२४७
यथा स्वप्नमयो जीवः	...	४	६८	२४७
यथा स्वप्ने द्वयाभासम्	...	३	२९	१६५
यथा स्वप्ने द्वयाभासम्	...	४	६१	२४३
यथैकस्मिन्घटाकाशे	...	३	५	१२७
यदा न लभते हेतून्	...	४	७६	२५१
यदा न लीयते चित्तम्	...	३	४६	१८४
यदि हेतोः फलात्सिद्धिः	...	४	१८	२०२
यावद्धेतुफलावेशः	...	४	५६	२३९
यावद्धेतुफलावेशः	...	४	५५	२३८
युञ्जीत प्रणवे चेतः	...	१	२५	७८
योऽस्ति कल्पितसंवृत्या	...	४	७३	२४९
रसादयो हि ये कोशाः	...	३	११	१३८
रूपकार्यसमाख्याश्च	...	३	६	१३३
लये सम्बोधयेच्चित्तम्	...	३	४४	१८२
लीयते हि सुषुप्ते तत्	...	३	३५	१७१

कारिकाप्रतीकानि		प्रकरणाङ्कः	कारिकाङ्कः	पृष्ठम्
लोकाँल्लोकविदः प्राहुः	...	२	२७	१०३
विकरोत्यपरान्भावान्	...	२	१३	९४
विकल्पो विनिवर्तेत	...	१	१८	६७
विज्ञाने स्पन्दमाने वै	...	४	५१	२३५
विपर्यासाद्यथा जाग्रत्	...	४	४१	२२७
विप्राणां विनयो ह्येषः	...	४	८६	२६०
विभूतिं प्रसवं त्वन्ये	...	१	७	४७
विश्वस्यात्वविवक्षायाम्	...	१	१९	७३
विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यम्	...	१	३	४३
वीतरागभयक्रोधैः	...	२	३५	११६
वेदा इति वेदविदः	...	२	२२	१०२
वैतथ्यं सर्वभावानाम्	...	२	१	८२
वैशारद्यं तु वै नास्ति	...	४	९४	२६९
स एष नेति नेतीति	...	३	२६	१६१
संघाताः स्वप्नवत्सर्वे	...	३	१०	१३७
सम्भवे हेतुफलयोः	...	४	१६	२०१
सम्भूतेरपवादाच्च	...	३	२५	१५८
संवृत्या जायते सर्वम्	...	४	५७	२४०
सतो हि मायया जन्म	...	३	२७	१६३
सप्रयोजनता तेषाम्	...	२	७	८८
सप्रयोजनता तेषाम्	...	४	३२	२२०
सर्वस्य प्रणवो ह्यादिः	...	१	२७	८०
सर्वाभिलापविगतः	...	३	३७	१७४
सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने	...	४	३३	२२०
सवस्तु सोपलम्भं च	...	४	८७	६१
सांसिद्धिकी स्वाभाविकी	...	४	९	१९४
सुखमाव्रियते नित्यम्	...	४	८२	२५६
सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः	...	२	२३	१०२
सृष्टिरिति सृष्टिविदः	...	२	२८	१०३
स्थूलं तर्पयते विश्वम्	...	१	४	४३
स्वतो वा परतो वापि	...	४	२२	२०७
स्वप्नजागरितस्थाने	...	२	५	८६
स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते	...	४	६४	२४४
स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने	..	४	६३	२४४

कारिकाप्रतीकानि		प्रकरणाङ्कः	कारिकाङ्कः	पृष्ठम्
स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ	...	१	१४	६३
स्वप्नमाये यथा दृष्टे	...	२	३१	१०६
स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तः	...	२	९	९१
स्वप्ने चावस्तुकः कायः	...	४	३६	२२२
स्वभावेनामृतो यस्य	...	३	२२	१५४
स्वभावेनामृतो यस्य	...	४	८	१९४
स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु	...	३	१७	१४९
स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणम्	...	३	४७	१८५
हेतोरादिः फलं येषाम्	...	४	१४	२००
हेतोरादिः फलं येषाम्	...	४	१५	२००
हेतुर्न जायतेऽनादेः	...	४	२३	२०९
हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि	...	४	९०	२६५

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकानि		मन्त्राङ्कः	पृष्ठम्
अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः	...	१२	७६
एष सर्वेश्वरः	...	६	३५
ओमित्येतदक्षरमिदꣳसर्वम्	...	१	२४
जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः	...	३	२७
जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः	...	९	६९
नान्तःप्रज्ञम्	...	७	५२
यत्र सुप्तः	...	५	३३
सर्वꣳह्येतद्	...	२	२६
सुषुप्तस्थानः	...	११	७२
सोऽयमात्मा	...	८	६८
स्वप्नस्थानस्तैजसः	...	१०	७०
स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः	...	४	३१

ॐ

ऐतरेयोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित



गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९३ से २००४ तक १२,२५०
सं० २००९ पञ्चम संस्करण १०,०००
सं० २०१३ षष्ठ संस्करण ५,०००
कुल २७,२५०

मूल्य ।=) छः आना

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

श्रीहरिः

प्रस्तावना

ऋग्वेदीय ऐतरेयारण्यकान्तर्गत द्वितीय आरण्यकके अध्याय ४, ५ और ६ का नाम ऐतरेयोपनिषद् है। यह उपनिषद् ब्रह्मविद्याप्रधान है। भगवान् शंकराचार्यने इसके ऊपर जो भाष्य लिखा है वह बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। इसके उपोद्‌घात-भाष्यमें उन्होंने मोक्षके हेतुका निर्णय करते हुए कर्म और कर्मसमुच्चित ज्ञानका निराकरण कर केवल ज्ञानको ही उसका एकमात्र साधन बतलाया है। फिर ज्ञानके अधिकारीका निर्णय किया है और बड़े समारोहके साथ कर्मकाण्डीके अधिकारका निराकरण करते हुए संन्यासीको ही उसका अधिकारी ठहराया है। वहाँ वे कहते हैं कि 'गृहस्थाश्रम' अपने गृहविशेषके परिग्रहका नाम है और यह कामनाओंके रहते हुए ही हो सकता है तथा ज्ञानीमें कामनाओंका सर्वथा अभाव होता है। इसलिये यदि किसी प्रकार चित्तशुद्धि हो जानेसे किसीको गृहस्थाश्रममें ही ज्ञान हो जाय तो भी कामनाशून्य हो जानेसे अपने गृहविशेषके परिग्रहका अभाव हो जानेके कारण उसे स्वतः ही भिक्षुकत्वकी प्राप्ति हो जायगी। आचार्यका मत है कि 'यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति' आदि श्रुतियाँ केवल अज्ञानियोंके लिये हैं, बोधवान्‌के लिये इस प्रकारकी कोई विधि नहीं की जा सकती।

इस प्रकार विद्वान्‌के लिये पारिव्राज्यकी अनिवार्यता दिखलाकर वे जिज्ञासुके लिये भी उसकी अवश्यकर्तव्यताका विधान करते हैं। इसके लिये उन्होंने 'शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः' 'अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्' 'न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः' आदि श्रुति और 'ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्' 'ब्रह्माश्रमपदे वसेत्' आदि स्मृतियोंको उद्‌धृत किया है। ब्रह्मजिज्ञासु ब्रह्मचारीके लिये भी चतुर्थाश्रमका विधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि उसके विषयमें

यह शङ्का नहीं की जा सकती कि उसे ऋणत्रयकी निवृत्ति किये बिना संन्यासका अधिकार नहीं है; क्योंकि गृहस्थाश्रमको स्वीकार करनेसे पूर्व तो उसका ऋणी होना ही सम्भव नहीं है। अतः आचार्यका सिद्धान्त है कि जिसे आत्मतत्त्वकी जिज्ञासा है और जो साध्य-साधनरूप अनित्य संसारसे मुक्त होना चाहता है, वह किसी भी आश्रममें हो, उसे संन्यास ग्रहण करना ही चाहिये।

इस सिद्धान्तके मुख्य आधार दो ही हैं—(१) जिज्ञासुको तो इसलिये गृहत्याग करना चाहिये कि उसके लिये गृहस्थाश्रममें रहते हुए ज्ञानोपयोगिनी साधनसम्पत्तिको उपार्जन करना कठिन है और (२) बोधवान्‌में कामनाओंका सर्वथा अभाव हो जाता है, इसलिये उसका गृहस्थाश्रममें रहना सम्भव नहीं है। अतः ज्ञानोपयोगिनी साधन-सम्पत्तिको उपार्जन करना तथा कामनाओंका अभाव—ये ही गृहत्यागके मुख्य हेतु हैं। जो लोग घरमें रहते हुए ही शम-दमादि साधनसम्पन्न हो सकते हैं और जिन बोधवानोंकी निष्कामतामें अपने गृहविशेषमें रहना बाधक नहीं होता वे घरमें रहते हुए भी ज्ञानोपार्जन और ज्ञानरक्षा कर ही सकते हैं। वे स्वरूपसे संन्यासी न होनेपर भी वस्तुतः संन्यासधर्मसम्पन्न होनेके कारण आचार्यके मतका ही अनुसरण करनेवाले हैं। अस्तु।

इस उपनिषद्‌में तीन अध्याय हैं। उनमेंसे पहले अध्यायमें तीन खण्ड हैं तथा दूसरे और तीसरे अध्यायोंमें केवल एक-एक खण्ड है। प्रथम अध्यायमें यह बतलाया गया है कि सृष्टिके आरम्भमें केवल एक आत्मा ही था, उसके अतिरिक्त और कुछ भी नहीं था। उसने लोक-रचनाके लिये ईक्षण (विचार) किया और केवल सङ्कल्पसे ही अम्भ, मरीचि और मर—इन तीन लोकोंकी रचना की। इन्हें रचकर उस परमात्माने उनके लिये लोकपालोंकी रचना करनेका विचार किया और जलसे ही एक पुरुषकी रचनाकर उसे अवयवयुक्त किया। परमात्माके सङ्कल्पसे ही उस विराट् पुरुषके इन्द्रिय, इन्द्रियगोलक और इन्द्रियाधिष्ठाता

देव उत्पन्न हो गये । जब वे इन्द्रियाधिष्ठाता देवता इस महासमुद्रमें आये तो परमात्माने उन्हें भूख-प्याससे युक्त कर दिया । तब उन्होंने प्रार्थना की कि हमें कोई ऐसा आयतन प्रदान किया जाय जिसमें स्थित होकर हम अन्न-भक्षण कर सकें । परमात्माने उनके लिये एक गौका शरीर प्रस्तुत किया, किन्तु उन्होंने 'यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है' ऐसा कहकर उसे अस्वीकार कर दिया । तत्पश्चात् घोड़ेका शरीर लाया गया किन्तु वह भी अस्वीकृत हुआ । अन्तमें परमात्मा उनके लिये मनुष्यका शरीर लाया । उसे देखकर सभी देवताओंने एकस्वरसे उनका अनुमोदन किया और वे सब परमात्माकी आज्ञासे उसके भिन्न-भिन्न अवयवोंमें वाक्, प्राण, चक्षु आदि रूपसे स्थित हो गये । फिर उनके लिये अन्नकी रचना की गयी । अन्न उन्हें देखकर भागने लगा । देवताओंने उसे वाणी, प्राण, चक्षु एवं श्रोत्रादि भिन्न-भिन्न करणोंसे ग्रहण करना चाहा, परन्तु वे इसमें सफल न हुए । अन्तमें उन्होंने उसे अपानद्वारा ग्रहण कर लिया । इस प्रकार यह सारी सृष्टि हो जानेपर परमात्माने विचार किया कि अब मुझे भी इसमें प्रवेश करना चाहिये; क्योंकि मेरे बिना यह सारा प्रपञ्च अकिञ्चित्कर ही है । अतः वह उस पुरुषकी मूर्द्धसीमाको विदीर्णकर उसके द्वारा उसमें प्रवेश कर गया । इस प्रकार जीवभावको प्राप्त होनेपर उसका भूतोंके साथ तादात्म्य हो जाता है । पीछे जब गुरुकृपासे बोध होनेपर उसे अपने सर्वव्यापक शुद्ध स्वरूपका साक्षात्कार होता है तो उसे 'इदम्'—इस तरह अपरोक्षरूपसे देखनेके कारण उसकी 'इन्द्र' संज्ञा हो जाती है ।

इस प्रकार ईक्षणसे लेकर परमात्माके प्रवेशपर्यन्त जो सृष्टिक्रम बतलाया गया है, इसे ही विद्यारण्यस्वामीने ईश्वरसृष्टि कहा है । 'ईक्षणादिप्रवेशान्तः संसार ईशकल्पितः' । इस आख्यायिकामें बहुत-सी विचित्र बातें देखी जाती हैं । यों तो मायामें कोई भी बात कुतूहलजनक नहीं हुआ करती; तथापि आचार्यका तो कथन है कि यह केवल अर्थवाद है । इसका अभिप्राय आत्मबोध करानेमें है । यह केवल आत्माके अद्वितीयत्व-

का बोध करानेके लिये ही कही गयी है; क्योंकि समस्त संसार आत्मा-का ही सङ्कल्प होनेके कारण आत्मस्वरूप ही है। द्वितीय अध्यायके आरम्भमें इसी प्रकार उपक्रम कर भगवान् भाष्यकारने आत्मतत्त्वका बड़ा सुन्दर और युक्तियुक्त विवेचन किया है।

इस अध्यायमें आत्मज्ञानके हेतुभूत वैराग्यकी सिद्धिके लिये जीवकी तीन अवस्थाओंका— जिन्हें प्रथम अध्यायमें 'आवसथ' नामसे कहा है— वर्णन किया गया है। जीवके तीन जन्म माने गये हैं—(१) वीर्य-रूपसे माताकी कुक्षिमें प्रवेश करना, (२) बालकरूपसे उत्पन्न होना और (३) पिताका मृत्युको प्राप्त होकर पुनः जन्म ग्रहण करना। 'आत्मा वै पुत्रनामासि' (कौषी० २ । ११) इस श्रुतिके अनुसार पिता और पुत्रका अभेद है; इसीलिये पिताके पुनर्जन्मको भी पुत्रका तृतीय जन्म बतलाया गया है। वामदेव ऋषिने गर्भमें रहते हुए ही अपने बहुत-से जन्मोंका अनुभव बतलाया था और यह कहा था कि मैं लोहमय दुर्गोंके समान सैकड़ों शरीरमें बंदी रह चुका हूँ; किन्तु अब आत्मज्ञान हो जानेसे मैं श्येन पक्षीके समान उनका भेदन कर बाहर निकल आया हूँ। ऐसा ज्ञान होनेके कारण ही वामदेव ऋषि देहपातके अनन्तर अमरपदको प्राप्त हो गये थे। अतः आत्माको भूत एवं इन्द्रिय आदि अनात्मप्रपञ्चसे सर्वथा असङ्ग अनुभव करना ही अमरत्व-प्राप्तिका एकमात्र साधन है।

इस प्रकार द्वितीय अध्यायमें आत्मज्ञानको परमपद-प्राप्तिका एक-मात्र साधन बतलाकर तीसरे अध्यायमें उसीका प्रतिपादन किया गया है। वहाँ बतलाया है कि हृदय, मन, संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति, स्मृति, सङ्कल्प, क्रतु, असु, काम एवं वश—ये सब प्रज्ञानके ही नाम हैं। यह प्रज्ञान ही ब्रह्मा, इन्द्र, प्रजापति, समस्त देवगण, पञ्चमहाभूत तथा उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और जरायुज आदि सब प्रकारके जीव-जन्तु हैं। यही हाथी, घोड़े, मनुष्य तथा सम्पूर्ण स्थावर-जङ्गम जगत् है। इस प्रकार यह सारा संसार प्रज्ञानमें

स्थित है, प्रज्ञानसे ही प्रेरित होनेवाला है और स्वयं भी प्रज्ञानस्वरूप ही है, तथा प्रज्ञान ही ब्रह्म है। जो इस प्रकार जानता है वह इस लोकसे उत्क्रमण कर उस परमधाममें पहुँच समस्त कामनाओंको प्राप्तकर अमर हो जाता है।

यही इस उपनिषद्का सारांश है। इसका प्रधान उद्देश्य ब्रह्मका सार्वात्म्य-प्रतिपादन ही है। आदिसे अन्ततक इसका यही उद्देश्य रहा है। प्रथम अध्यायमें देवताओंके आयतन याचना करनेपर उन्हें क्रमशः गौ और अश्वके शरीर दिखलाये गये; परन्तु उन्हें वे अपने अनुरूप प्रतीत न हुए। उसके पश्चात् मनुष्य-शरीर दिखलाया गया। उसे देखकर वे बहुत प्रसन्न हुए और उसे ही अपने आयतनरूपसे स्वीकार भी किया। देवताओंकी उत्पत्ति विराट् शरीरके अवयवोंसे हुई थी; अतः विराट्के अनुरूप होनेके कारण उन्हें मानव-शरीर ही आयतनरूपसे प्राप्य हुआ। इससे यही सिद्ध होता है कि मानव-शरीर ही जीवके परमकल्याण-का आश्रय है; उसमें स्थित होनेपर ही वह परमपद प्राप्त कर सकता है। अकारणकरुणामय श्रीभगवान्की कृपासे हमें वह परमलाभ प्राप्त करनेका सौभाग्य हुआ है, अतः हमें ऐसा प्रयत्न करना चाहिये कि यह अत्यन्त दुर्लभ सुअवसर निष्फल न हो जाय।

अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय — पृष्ठ

१. शान्तिपाठ ··· ९

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

२. सम्बन्धभाष्य ··· १०
३. आत्माके ईक्षणपूर्वक सृष्टि ३२
४. सृष्टिक्रम ··· ··· ३५
५. पुरुषरूप लोकपालकी रचना ३८
६. इन्द्रियगोलक; इन्द्रिय और इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंकी उत्पत्ति ··· ··· ३९

द्वितीय खण्ड

७. देवताओंकी अन्न एवं आयतनयाचना ··· ४२
८. गो और अश्वशरीरकी उत्पत्ति तथा देवताओंद्वारा उनकी अस्वीकृति ··· ··· ४४
९. मनुष्यशरीरकी उत्पत्ति और देवताओंद्वारा उसकी स्वीकृति ४५
१०. देवताओंका अपने-अपने आयतनोंमें प्रवेश ··· ४६
११. क्षुधा और पिपासाका विभाग ४७

तृतीय खण्ड

१२. अन्नरचनाका विचार ··· ५०
१३. अन्नकी रचना ··· ५१
१४. अन्नका पलायन और उसके ग्रहणका उद्योग ··· ५१
१५. अपानद्वारा अन्नग्रहण ··· ५४
१६. परमात्माका शरीरप्रवेश-सम्बन्धी विचार ··· ५५
१७. परमात्माका मूर्द्धद्वारसे शरीरप्रवेश ··· ५८
१८. जीवका मोह और उसकी निवृत्ति ··· ··· ६१
१९. 'इन्द्र' शब्दकी व्युत्पत्ति ··· ६२

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

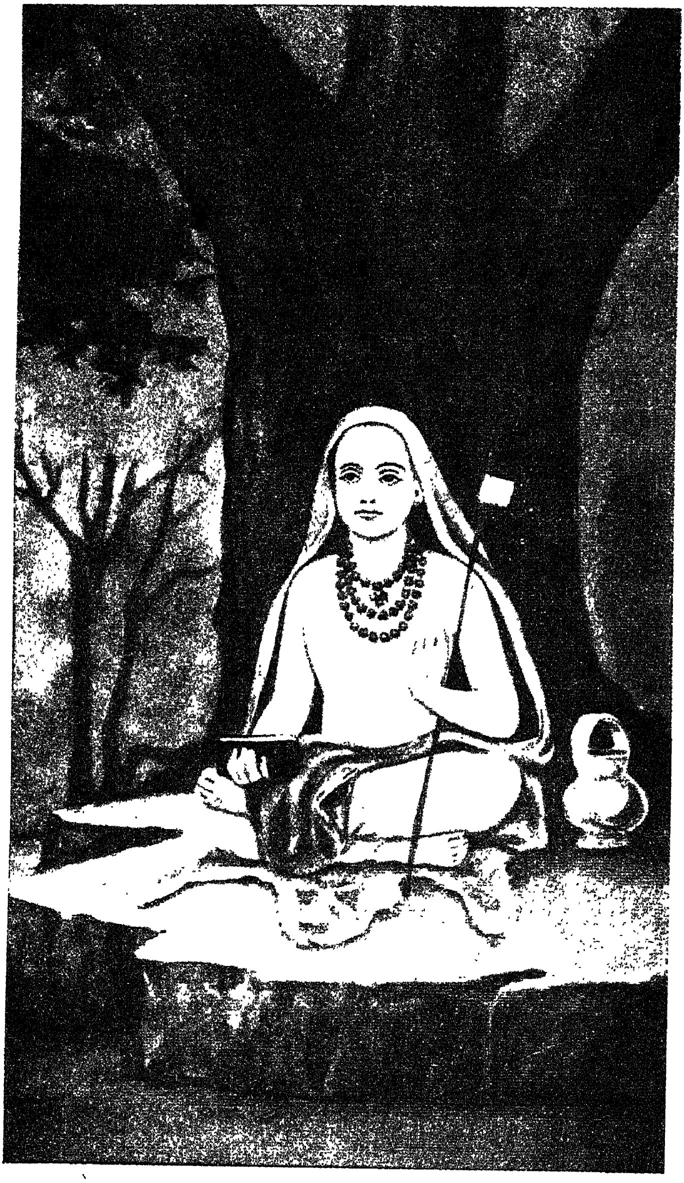
२०. प्रस्तावना ··· ६४
२१. पुरुषका पहला जन्म ··· ७९
२२. पुरुषका दूसरा जन्म ··· ८२
२३. पुरुषका तीसरा जन्म ··· ८५
२४. वामदेवकी उक्ति ··· ८७
२५. वामदेवकी गति ··· ८८

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

२६. आत्मसम्बन्धी प्रश्न ··· ९०
२७. प्रज्ञानसंज्ञक मनके अनेक नाम ९३
२८. प्रज्ञानकी सर्वरूपता ··· ९७
२९. आत्मैक्यवेत्ताकी अमृतत्व-प्राप्ति ··· १०१
३०. शान्तिपाठ ··· १०२

ऐतरेयोपनिषद्



श्रीश्रीशंकराचार्य

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

ऐतरेयोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

मनस्तापतमःशान्त्यै यस्य पादनखच्छटा ।
शरच्चन्द्रनिभा भाति तं वन्दे नीलचिन्मणिम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि । वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः । अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि । सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु । तद्वक्तारमवतु । अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्ति !! शान्तिः !!!

मेरी वागिन्द्रिय मनमें स्थित हो और मन वाणीमें स्थित हो [अर्थात् मेरी वागिन्द्रिय और मन एक-दूसरेके अनुकूल रहें] । हे स्वप्रकाश परमात्मन् ! तुम मेरे समक्ष आविर्भूत होओ । [हे वाक् और मन !] तुम मेरे प्रति वेदको लाओ । मेरा श्रवण किया हुआ मेरा परित्याग न करे । अपने इस अध्ययनके द्वारा मैं रात और दिनको एक कर दूँ [अर्थात् मेरा अध्ययन अहर्निश चलता रहे] । मैं ऋत (वाचिक सत्य) का भाषण करूँ और सत्य (मनमें निश्चय किया हुआ सत्य) बोलूँ । वह ब्रह्म मेरी रक्षा करे; वह वक्ताकी रक्षा करे । वह मेरी रक्षा करे और वक्ताकी रक्षा करे—वक्ताकी रक्षा करे । त्रिविध तापकी शान्ति हो ।

प्रथम अध्याय

प्रथम खण्ड

सम्बन्धभाष्य

परिसमाप्तं कर्म सहापरब्रह्मविषयविज्ञानेन । सैषा कर्मणो ज्ञानसहितस्य परा गतिरुक्थविज्ञानद्वारेणोपसंहृता । "एतत्सत्यं ब्रह्म प्राणाख्यम्" "एष एको देवः" "एतस्यैव प्राणस्य सर्वे देवा विभूतयः" "एतस्य प्राणस्यात्मभावं गच्छन्देवता अप्येति" इत्युक्तम् । सोऽयं देवताप्ययलक्षणः परः पुरुषार्थः, एष मोक्षः । स चायं यथोक्तेन

ग्रन्थस्य प्रयोजनम्

यहाँतक अपरब्रह्म (हिरण्यगर्भ) विषयक विज्ञान (उपासना) के सहित कर्मका निरूपण समाप्त हुआ* । उस ज्ञानसहित कर्मकी परा गतिका उक्थविज्ञानके † द्वारा उपसंहार किया गया है । [उस उपसंहारका मूलके वाक्योंद्वारा प्रदर्शन कराते हैं—] "यह प्राणसंज्ञक सत्यब्रह्म है" "यह एक देव है" "सम्पूर्ण देव इस प्राणकी ही विभूतियाँ हैं ।" "इस प्राणके तादात्म्यको प्राप्त होकर उपासक देवतामें लीन हो जाता है"—ऐसा कहा गया । यह देवतामें लय होना ही परम पुरुषार्थ है, यही मोक्ष है और वह यह (देवतालयरूप मोक्ष)

---

* ऐतरेय ब्राह्मणान्तर्गत द्वितीय आरण्यकके अध्याय ४, ५ और ६ का नाम ऐतरेयोपनिषद् है । इसमें केवल ब्रह्मविद्याका ही निरूपण किया गया है । इससे पूर्ववर्ती अध्यायोंमें अपर ब्रह्मकी उपासनाके सहित कर्मका वर्णन है । अतः इस वाक्यसे यहाँ उसका परामर्श किया है ।

† उक्थ प्राणको कहते हैं । अतः 'वह उक्थ यानी प्राण मैं हूँ' ऐसी दृढ़ भावनाके द्वारा उसीमें लय हो जाना 'उक्थविज्ञान' है ।

ज्ञानकर्मसमुच्चयसाधनेन प्राप्तव्यो नातः परमस्तीत्येके प्रतिपन्नाः । तान्निराचिकीर्षुरुत्तरं केवलात्मज्ञानविधानार्थम् 'आत्मा वा इदम्' इत्याद्याह ।

इस ज्ञानकर्म समुच्चयरूप यथोक्त साधनसे ही प्राप्त होने योग्य है; इससे परे और कुछ नहीं है—ऐसा कुछ लोग समझते हैं । उन [समुच्चयवादियोंके मत] का निराकरण करनेकी इच्छासे श्रुति केवल आत्मविज्ञानका विधान करनेके लिये 'आत्मा वा इदम्' इत्यादि ग्रन्थका उल्लेख करती है ।

प्रतिपाद्य-विचारः

कथं पुनरकर्मसंबन्धिकेवलात्मविज्ञानविधानार्थ उत्तरो ग्रन्थ इति गम्यते ?

पूर्व०—परन्तु यह कैसे ज्ञात होता है कि आगेका ग्रन्थ कर्मके सम्बन्धसे रहित केवल आत्मज्ञानका ही विधान करनेके लिये है ?

अन्यार्थानवगमात् । तथा च पूर्वोक्तानां देवतानामग्न्यादीनां संसारित्वं दर्शयिष्यत्यशनायादिदोषवत्त्वेन "तमशनापिपासाभ्यामन्ववार्जत्" (१ । २ । १) इत्यादिना । अशनायादिमत्सर्वं संसार एव; परस्य तु ब्रह्मणोऽशनायाद्यत्ययश्रुतेः ।

सिद्धान्ती—क्योंकि इससे [ब्रह्मज्ञानके सिवा] किसी और अर्थका ज्ञान नहीं होता । इसके सिवा श्रुति "उसे भूख और पिपासासे युक्त कर दिया" इत्यादि वाक्योंसे उन अग्नि आदि पूर्वोक्त देवताओंको क्षुधा आदि दोषोंसे युक्त दिखलाते हुए उनका संसारित्व भी प्रदर्शित करेगी । परब्रह्म भूख-प्यास आदिसे अतीत है—ऐसी श्रुति होनेके कारण क्षुधा आदिसे युक्त तो सब-का-सब संसार ही है ।

समुच्चयवादिन आक्षेपः

भवत्वेवं केवलात्मज्ञानं मोक्षसाधनं न त्वत्राकर्म्येवाधिक्रियते,

पूर्व०—इस प्रकार केवल आत्मज्ञान ही मोक्षका साधन भले ही हो; परन्तु उसमें केवल कर्मत्यागी पुरुषका ही अधिकार नहीं है, क्योंकि इस

विशेषाश्रवणात् । अकर्मिण आश्रम्यन्तरस्येहाश्रवणात् । कर्म च बृहतीसहस्रलक्षणं प्रस्तुत्यानन्तरमेवात्मज्ञानं प्रारभ्यते । तस्मात् कर्म्येवाधिक्रियते ।

न च कर्मासंबध्यात्मविज्ञानं पूर्ववदन्त उपसंहारात् । यथा कर्मसंबन्धिनः पुरुषस्य सूर्यात्मनः स्थावरजङ्गमादिसर्वप्राण्यात्मत्वमुक्तं ब्राह्मणेन मन्त्रेण च "सूर्य आत्मा" (ऋ० सं० १ । ११५ । १) इत्यादिना, तथैव 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः' (३ । १ । ३) इत्याद्युपक्रम्य सर्वप्राण्यात्मत्वम् 'यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्' (३ । १ । ३) इत्युपसंहरिष्यति ।

विषयमें कोई विशेष श्रुति नहीं है; अर्थात् किसी कर्मत्यागी आश्रमान्तरका यहाँ उल्लेख नहीं है। और बृहतीसहस्र नामक कर्मकी अवतारणाकर उसके अनन्तर ही आत्मज्ञानका प्रारम्भ कर दिया है। अतः इसमें कर्मठ पुरुषका ही अधिकार है।

इसके सिवा आत्मज्ञान कर्मसे सर्वथा असम्बद्ध भी नहीं है, क्योंकि यहाँ भी अन्तमें उसका पहलेहीके समान उपसंहार किया गया है। जिस प्रकार ब्राह्मणमन्त्रने "सूर्य आत्मा जगतस्तस्थुषश्च"[1] इस वाक्यद्वारा सूर्यके आत्मभावको प्राप्त हुए [सूर्यमण्डलान्तर्वर्ती] कर्मसम्बन्धी पुरुषको स्थावरजङ्गमादि सम्पूर्ण प्राणियोंका आत्मा बतलाया है उसी प्रकार श्रुति 'एष ब्रह्मैष इन्द्रः'[2] इत्यादि मन्त्रसे समस्त प्राणियोंके आत्मस्वरूपत्वका उपक्रम कर उसका 'यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम्'[3] इत्यादि वाक्यद्वारा उपसंहार करेगी ।*

१. सूर्य जङ्गम और स्थावरका आत्मा है। २. यह ब्रह्मा है, यह इन्द्र है। ३. जो कुछ स्थावर-जङ्गम है वह सब प्रज्ञा (चेतन) द्वारा प्रवृत्त होनेवाला है।

* इस प्रकार जैसे पूर्व अध्यायमें कर्मसम्बन्धी उपासनाका विषय होनेसे

तथा च संहितोपनिषदि "एतं ह्येव बह्वृचा महत्युक्थे मीमांसन्ते" (ऐ० आ० ३ । २ । ३ । १२) इत्यादिना कर्मसंबन्धित्वमुक्त्वा "सर्वेषु भूतेष्वेतमेव ब्रह्मेत्याचक्षते" इत्युपसंहरति । तथा तस्यैव "योऽयमशरीरः प्रज्ञात्मा" इत्युक्तस्य "यश्चासावादित्य एकमेव तदिति विद्यात्" इत्येकत्वमुक्तम् । इहापि "कोऽयमात्मा" (३ । १ । १) इत्युपक्रम्य प्रज्ञात्मत्वमेव "प्रज्ञानं ब्रह्म" (३ । १ । ३) इति दर्शयिष्यति । तस्मान्नाकर्मसंबन्ध्यात्मज्ञानम् ।

इसी प्रकार संहितोपनिषद्में भी "इसीको बह्वृच (ऋग्वेदी) बृहती-सहस्र नामक सत्रमें विचारते हैं" इत्यादि श्रुतिसे उसका कर्मसम्बन्धित्व प्रतिपादन कर "सम्पूर्ण भूतोंमें इसीको 'ब्रह्म' ऐसा कहते हैं" इस प्रकार उपसंहार किया है। तथा "जो यह अशरीरी चेतन आत्मा है" इस प्रकार बतलाये हुए उस आत्माका ही "जो यह सूर्यके अन्तर्गत है वह एक ही है—ऐसा जाने" इस वाक्यद्वारा एकत्व प्रतिपादन किया है। तथा यहाँ (इस उपनिषद्में) भी "यह आत्मा कौन है" इस प्रकार उपक्रम कर "प्रज्ञान ब्रह्म है" इस वाक्यसे इसका प्रज्ञास्वरूपत्व ही प्रदर्शित करेंगे । अतः आत्मज्ञान कर्मत्यागसे संबन्ध नहीं रखता ।

पुनरुक्त्यानर्थक्यमिति चेत् ।

यदि कहो कि पुनरुक्ति होनेके कारण तो यह प्रकरण व्यर्थ ही है;*

कथम् ? "प्राणो वा अहमस्म्यृषे" इत्यादिब्राह्मणेन "सूर्य आत्मा"

किस प्रकार [व्यर्थ है सो बतलाते हैं—] "हे ऋषे ! मैं निश्चय प्राण ही हूँ" इत्यादि ब्राह्मणसे तथा "सूर्य आत्मा है"

अन्तमें उपास्यका सर्वात्मत्व प्रतिपादन किया है उसी प्रकार इस अध्यायमें 'एष ब्रह्मा' इत्यादि वाक्योंसे बतलाया गया है । अतः जिस प्रकार वह देवताज्ञान कर्मसम्बन्धी था उसी प्रकार यह आत्मज्ञान भी कर्मसम्बन्धी ही है—ऐसा अनुमान होता है ।

* क्योंकि कर्मका तो पहले ही निरूपण किया जा चुका है ।

इति मन्त्रेण च निर्धारितस्यात्मनः "आत्मा वा इदम्" इत्यादि-ब्राह्मणेन "कोऽयमात्मा"(३ । १ । १) इति प्रश्नपूर्वकं पुनर्निर्धारणं पुनरुक्तमनर्थकमिति चेत्, न; तस्यैव धर्मान्तरविशेषनिर्धारणार्थत्वान्न पुनरुक्ततादोषः ।

कथम्? तस्यैव कर्मसंबन्धिनो जगत्सृष्टिस्थितिसंहारादिधर्मविशेषनिर्धारणार्थत्वात् केवलोपास्त्यर्थत्वाद्वा । अथवा आत्मेत्यादिपरो ग्रन्थसन्दर्भ आत्मनः कर्मिणः कर्मणोऽन्यत्रोपासनाप्राप्तौ कर्मप्रस्तावेऽविहितत्वात्केवलोऽप्यात्मोपास्य इत्येवमर्थः । भेदाभेदोपास्यत्वाद्धैक एवात्मा

इत्यादि मन्त्रद्वारा निश्चित किये आत्माका "यह आत्मा कौन है" इस प्रकार प्रश्न करके "[पहले] यह सब आत्मा ही [था]" इस प्रकार निश्चय करना पुनरुक्ति और निरर्थक ही है—यदि कोई ऐसा कहे तो उसका यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि उसीके किसी अन्य विशेष धर्मका निश्चय करनेके लिये होनेसे इसमें पुनरुक्तिका दोष नहीं है ।

वह किस प्रकार दोषयुक्त नहीं है [सो बतलाते हैं—] उस कर्मसम्बन्धी आत्माके ही जगत्की रचना, पालन और संहार आदि विशेष धर्मोंका निर्धारण करनेके लिये किंवा केवल उसकी उपासनाके [निरूपणके] लिये [इस प्रकारकी पुनरुक्ति सदोष नहीं है] अथवा यों समझो कि कर्मका निरूपण करते समय विधान न करनेके कारण कर्मी आत्माकी उपासना कर्मको छोड़कर प्राप्त नहीं होती थी; अतः "आत्मा वा इदमग्रे" आदि ग्रन्थसमूह यह बतलानेके लिये ही है कि केवल आत्मा भी उपासनीय है । भेद और अभेदरूपसे उपास्य होनेके कारण एक ही आत्मा कर्मके विषयमें

कर्मविषये भेददृष्टिभाक्, स एवाकर्मकालेऽभेदेनाप्युपास्य इत्येवमपुनरुक्तता ।

"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳसह । अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ई० उ० ११) इति, "कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः" (ई० उ० २) इति च वाजिनाम् । न च वर्षशतात्परमायुर्मर्त्यानाम् । येन कर्मपरित्यागेनात्मानमुपासीत । दर्शितं च "तावन्ति पुरुषायुषोऽह्नां सहस्राणि भवन्ति" इति । वर्षशतं चायुः कर्मणैव व्याप्तम् । दर्शितश्च मन्त्रः "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादिः ।

भेददृष्टिसे युक्त है और वही कर्मदृष्टिको छोड़ देनेके समय अभेदरूपसे भी उपासनीय है—इस प्रकार यह अपुनरुक्ति ही है ।

"जो पुरुष विद्या (उपासना) और अविद्या (कर्म) इन दोनोंको साथ-साथ जानता है वह अविद्यासे मृत्युको पार करके विद्यासे अमरत्व प्राप्त कर लेता है" तथा "इस लोकमें कर्म करता हुआ ही सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा करे" —ऐसा [ईशोपनिषद्में] वाजसनेयी शाखावालोंका कथन है । मनुष्योंकी परमायु भी सौ वर्षसे अधिक नहीं है, जिससे कि वह कर्मपरित्यागद्वारा आत्माकी उपासना कर सके । "पुरुषकी आयुके इतने (छत्तीस) ही* सहस्र दिन होते हैं" ऐसा [इस ऐतरेयारण्यकमें ही] दिखलाया भी गया है । और वह सौ वर्षकी आयु कर्मसे ही व्याप्त है; इसके लिये "कुर्वन्नेवेह कर्माणि" इत्यादि मन्त्र पहले दिखलाया ही है।†

* ऐतरेय आरण्यकमें छत्तीस-छत्तीस अक्षरके एक सहस्र बृहतीछन्द हैं । अतः उसमें कुल छत्तीस सहस्र अक्षर हुए । इतने ही दिन मनुष्यकी परमायुमें होते हैं ।

† इससे यह नहीं समझना चाहिये कि दशरथादिके समान जो सौ वर्षसे भी अधिक जीवित रहनेवाले पुरुष हैं वे तो सौ वर्षसे ऊपर जानेपर कर्मत्याग कर ही सकते हैं । उनके लिये भी आगेकी श्रुतियाँ जीवनपर्यन्त कर्मानुष्ठानकी आवश्यकता बतलाती हैं ।

तथा "यावज्जीवमग्निहोत्रं जुहोति" "यावज्जीवं दर्शपूर्णमासाभ्यां यजेत" इत्याद्याश्च । "तं यज्ञपात्रैर्दहन्ति" इति च । ऋणत्रयश्रुतेश्च । तत्र पारिव्राज्यादि शास्त्रं "व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" (बृ० उ० ३ । ५ । १, ४ । ४ । २२) इति आत्मज्ञानस्तुतिपरोऽर्थवादः । अनधिकृतार्थो वा ।

आक्षेपनिरासः

न; परमार्थविज्ञाने फलादर्शने क्रियानुपपत्तेः । यदुक्तं कर्मिण आत्मज्ञानं कर्मसंबन्धि च इत्यादि तन्न । परं ह्याप्तकामं सर्वसंसारदोषवर्जितं ब्रह्माहमस्मीत्यात्मत्वेन विज्ञाने, कृतेन कर्तव्येन वा प्रयोजनमात्मनो-

ऐसा ही "यावज्जीवन अग्निहोत्र करता है" "जीवनपर्यन्त दर्श-पूर्णमाससे यजन करे" इत्यादि तथा [वृद्धावस्थामें भी कर्मत्यागका निषेध सूचित करनेवाली] "उसको [मरनेके अनन्तर] यज्ञपात्रोंके सहित जलाते हैं" इत्यादि श्रुतियोंसे और ऋणत्रयकी सूचना देनेवाली श्रुतियोंसे सिद्ध होता है । श्रुतिमें जो "[यतिजन] सर्वसंग परित्याग करके भिक्षाटन किया करते हैं" इत्यादि संन्याससम्बन्धी शास्त्र है वह आत्मज्ञानकी स्तुति करनेवाला अर्थवाद है । अथवा जिसे कर्मका अधिकार नहीं है उसके लिये है ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उस परमार्थ—आत्मतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर क्रियाका कोई फल नहीं देखा जाता; इसलिये क्रिया नहीं हो सकती । तुमने जो कहा कि आत्मज्ञान कर्मीको ही होता है और वह कर्मसे सम्बन्ध रखनेवाला है, सो ठीक नहीं । 'सम्पूर्ण सांसारिक दोषोंसे रहित पूर्णकाम ब्रह्म मैं हूँ' इस प्रकार ब्रह्मका आत्मभावसे ज्ञान हो जानेपर कर्मफलको न देखनेके कारण कृत अथवा कर्तव्यसे अपना कोई प्रयोजन

ऽपश्यतः फलादर्शने क्रिया नोपपद्यते ।

न देखनेवाले पुरुषसे कोई क्रिया नहीं हो सकती ।

आत्मदर्शिनो नियोगाविषयत्वम्

फलादर्शनेऽपि नियुक्तत्वात्करोतीति चेन्न नियोगाविषयात्मदर्शनात् । इष्टयोगमनिष्टवियोगं चात्मनः प्रयोजनं पश्यंस्तदुपायार्थी यो भवति स नियोगस्य विषयो दृष्टो लोके । न तु तद्विपरीतनियोगाविषयब्रह्मात्मत्वदर्शी ।

यदि कहो कि फल दिखायी न देनेपर भी शास्त्राज्ञा होनेके कारण वह कर्म करता ही है तो ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि वह शास्त्राज्ञाके अविषयभूत आत्माका दर्शन कर लेता है । जो पुरुष अपना इष्टप्राप्ति और अनिष्टपरिहाररूप प्रयोजन देखकर उसके उपायका अर्थी होता है, लोकमें वही [विधि-निषेधरूप] नियोगका विषय होता देखा गया है; उसके विपरीत नियोगके अविषयभूत ब्रह्ममें आत्मत्वका दर्शन करनेवाला पुरुष नियोगका विषय होता नहीं देखा जाता ।

ब्रह्मात्मत्वदर्श्यपि संश्चेन्नियुज्येत नियोगाविषयोऽपि सन्न कश्चिन्न नियुक्त इति सर्वं कर्म सर्वेण सर्वदा कर्तव्यं प्राप्नोति । तच्चानिष्टम् । न च स नियोक्तुं शक्यते केनचित्; आम्नायस्यापि तत्प्रभवत्वात् । न हि

यदि ब्रह्मात्मत्व-दर्शन करनेवाला पुरुष नियोगका अविषय होनेपर भी शास्त्रसे नियुक्त हो तो कोई नियुक्त न होनेवाला तो रहा ही नहीं । इससे यही प्राप्त होता है कि सबको सर्वदा सम्पूर्ण कर्म करते रहना चाहिये । किन्तु यह अभीष्ट नहीं है । वह (आत्मदर्शी) तो किसीसे भी नियोजित नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र भी उसीसे उत्पन्न हुआ है । अपने विज्ञानसे

स्वविज्ञानोत्थेन वचसा स्वयं नि[?]ज्यते । नापि बहुवित्स्वाम्यविवेकिना भृत्येन ।

आम्नायस्य नित्यत्वे सति स्वातन्त्र्यात्सर्वान्प्रति नियोक्तृत्वसामर्थ्यमिति चेन्न उक्तदोषात् । तथापि सर्वेण सर्वदा सर्वमविशिष्टं कर्म कर्तव्यमित्युक्तो दोषोऽप्यपरिहार्य एव ।

तदपि शास्त्रेणैव विधीयत इति चेद् यथा कर्म-

शास्त्रस्य विरुद्धार्थबोधकत्वानुपपत्तिः

कर्तव्यता शास्त्रेण कृता तथा तदप्यात्मज्ञानं तस्यैव कर्मिणः शास्त्रेण विधीयत इति चेत्, न; विरुद्धार्थबोधकत्वानुपपत्तेः । न ह्येकस्मिन्कृताकृतसंबन्धित्वं तद्विपरीतत्वं च बोधयितुं शक्यम्, शीतोष्णतामिवाग्नेः ।

उत्पन्न हुए वचनसे ही कोई स्वयं नियुक्त नहीं हो सकता और न बहुज्ञ स्वामी ही अपने अल्पज्ञ सेवकसे नियुक्त हो सकता है ।

यदि कहो कि नित्य होनेके कारण वेदका नियोक्तृत्व-सामर्थ्य स्वतन्त्रतापूर्वक सबके प्रति है, तो उपर्युक्त दोषके कारण ऐसा कहना ठीक नहीं । ऐसी अवस्थामें भी 'सबको सब कर्म समानरूपसे करने चाहिये'—यह ऊपर बतलाया हुआ दोष अपरिहार्य ही रहता है ।

यदि कहो कि उसका विधान भी शास्त्रने ही किया है अर्थात् जिस प्रकार शास्त्रने कर्मकी कर्तव्यता बतलायी है उसी प्रकार उस कर्मीके लिये ही उस आत्मज्ञानका भी शास्त्रने ही विधान किया है तो ऐसा कहना भी उचित नहीं; क्योंकि उसका विरुद्ध-अर्थ-बोधकत्व सम्भव नहीं है । अग्निकी शीतलता और उष्णताके समान एक ही शास्त्रमें पाप-पुण्यके सम्बन्धित्व और उसके विपरीतत्वका बोध कराना—[ये दोनों विरुद्धधर्म] सम्भव नहीं हैं ।

न चेष्टयोगचिकीर्षा आत्मनोऽनिष्टवियोगचिकीर्षा च शास्त्रकृता, सर्वप्राणिनां तद्दर्शनात्। शास्त्रकृतं चेत्तदुभयं गोपालादीनां न दृश्येत, अशास्त्रज्ञत्वात्तेषाम्। यद्धि स्वतोऽप्राप्तं तच्छास्त्रेण बोधयितव्यम्। तच्चेत्कृतकर्तव्यताविरोध्यात्मज्ञानं शास्त्रेण कृतम्, कथं तद्विरुद्धां कर्तव्यतां पुनरुत्पादयेच्छीततामिवाग्नौ तम इव च भानौ।

सिद्धवस्तुनः शास्त्राबोध्यत्वम्

इसके सिवा अपनी इष्टवस्तुके संयोगकी इच्छा तथा अनिष्ट पदार्थके परित्यागकी अभिलाषा भी शास्त्रजनित नहीं है; क्योंकि यह सभी प्राणियोंमें [स्वभावसे ही] देखी जाती है। यदि शास्त्रजनित होतीं तो ये दोनों इच्छाएँ ग्वाले आदिमें दिखायी न देतीं; क्योंकि वे अशास्त्रज्ञ होते हैं। जो वस्तु स्वत: प्राप्त नहीं होती वही शास्त्रद्वारा बोद्धव्य होती है। इस प्रकार यदि शास्त्रने कृत और कर्तव्यताके विरोधी आत्मज्ञानका उपदेश किया है तो फिर वह अग्निमें शीतलताके समान तथा सूर्यमें अन्धकारके समान उसकी विरुद्ध कर्तव्यताको किस प्रकार उत्पन्न करेगा ?

न बोधयत्येवेति चेन्न, "स म आत्मेति विद्यात्" (कौ० उ० ३ । ९) "प्रज्ञानं ब्रह्म" (३।१।३) इति चोपसंहारात्। "तदात्मानमेवावेत्" (बृ० उ० १ । ४ । ९) "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८–१६) इत्येवमादिवाक्यानां तत्परत्वात्। उत्पन्नस्य

यदि कहो कि वह ऐसा बोध कराता ही नहीं है तो ऐसा कथन भी ठीक नहीं, क्योंकि "वह मेरा आत्मा है—ऐसा जाने" तथा "प्रज्ञान ही ब्रह्म है" इस प्रकार उपसंहार किया गया है, तथा "उस (जीवरूपसे अवस्थित ब्रह्म) ने अपनेको ही जाना" "वह तू ही है" इत्यादि वाक्य भी आत्मज्ञानपरक ही हैं। उत्पन्न हुआ ब्रह्मात्मविज्ञान

च आत्मविज्ञानस्याबाध्यमान-त्वान्नानुत्पन्नं भ्रान्तं वेति शक्यं वक्तुम् ।

त्यागेऽपि प्रयोजनाभावस्य तुल्यत्वमिति चेत्

प्रयोजनाभावे संन्यासस्य स्वतःसिद्धत्वम्

"नाकृतेनेह कश्चन" (गीता ३ । १८) इति स्मृतेः, य आहुर्विदित्वा ब्रह्म व्युत्थानमेव कुर्यादिति तेषामप्येष समानो दोषः प्रयोजनाभाव इति चेन्न; अक्रियामात्रत्वाद् व्युत्थानस्य । अविद्यानिमित्तो हि प्रयोजनस्य भावो न वस्तुधर्मः सर्वप्राणिनां तद्दर्शनात् । प्रयोजनतृष्णया च प्रेर्यमाणस्य वाङ्मनःकायैः प्रवृत्तिदर्शनात् । "सोऽकामयत जाया मे स्यात्" (बृ० उ० १ । ४ । १७) इत्यादिना पुत्रवित्तादि पाङ्क्तलक्षणं काम्यमेवेति "उभे ह्येते

भी बाधित होने योग्य न होनेके कारण अनुत्पन्न या भ्रान्तिजनित नहीं कहा जा सकता ।

यदि कहो कि "उसे इस लोकमें अकृत (कर्मत्याग) से भी कोई प्रयोजन नहीं है" इस स्मृतिके अनुसार बोधवान्को त्याग करनेमें भी प्रयोजनाभावकी समानता ही है; अर्थात् जो लोग कहते हैं कि ब्रह्मको जानकर व्युत्थान (कर्म-त्याग) ही करना चाहिये उनके लिये भी यह प्रयोजनाभावरूप दोष समान ही है, तो उनका यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि व्युत्थान तो अक्रिया ही है * । प्रयोजनका भाव तो अविद्याके कारण रहता है । वह वस्तुका धर्म नहीं है, क्योंकि यह बात सभी प्राणियोंमें देखी जाती है; अर्थात् प्रयोजनकी तृष्णासे प्रेरित होते हुए प्राणियोंकी वाणी मन और शरीरद्वारा प्रवृत्ति होती देखी गयी है तथा वाजसनेयी ब्राह्मणमें भी "उस (आदिपुरुष) ने इच्छा की कि मेरे पत्नी हो" इत्यादि कथनके द्वारा "ये दोनों (साध्य-साधनरूप)

* प्रयोजन तो क्रियाके लिये अपेक्षित होता है; इसलिये अक्रियारूप व्युत्थानके लिये किसी प्रयोजनकी अपेक्षा नहीं है ।

एषणे एव" (बृ० उ० ३ । ५ । १; ४ । ४ । २२) इति वाजसनेयिब्राह्मणेऽवधारणात् ।

अविद्याकामदोषनिमित्ताया वाङ्मनःकायप्रवृत्तेः पाङ्क्तलक्षणाया विदुषोऽविद्यादिदोषाभावादनुपपत्तेः क्रियाभावमात्रं व्युत्थानम्, न तु यागादिवदनुष्ठेयरूपं भावात्मकम् । तच्च विद्यावत्पुरुषधर्म इति न प्रयोजनमन्वेष्टव्यम् । न हि तमसि प्रवृत्तस्योदित आलोके यद्गर्तपङ्ककण्टकाद्यपतनं तत्किंप्रयोजनमिति प्रश्नार्हम् ।

व्युत्थानं तर्ह्यर्थप्राप्तत्वान्न

कामाभावे चोदनार्हमिति गा-
आत्मज्ञस्यापि र्हस्थ्ये चेत्परं ब्रह्म-
गार्हस्थ्यानुपपत्तिः विज्ञानं जातं तत्रै-

एषणाएँ ही हैं" इस निश्चयके अनुसार यही ज्ञात होता है कि पुत्र-वित्तादि पाङ्क्तलक्षण* कर्म काम्य ही है ।

अतः विद्वान्के अविद्या आदि दोषोंका अभाव हो जानेके कारण अविद्या एवं कामनारूप दोषसे होनेवाली मन, वाणी और शरीरकी पाङ्क्तरूपा प्रवृत्ति उत्पन्न नहीं है; इसलिये व्युत्थान क्रियाका अभावमात्र है, वह यागादिके समान अनुष्ठेयरूप और भावात्मक नहीं है । वह तो विद्यावान् पुरुषका धर्म ही है; अतः उसके लिये किसी प्रयोजनका अन्वेषण करनेकी आवश्यकता नहीं है । अन्धकारमें प्रवृत्त होनेवाला पुरुष यदि प्रकाशके उदित होनेपर गड्ढे, कीचड़ और काँटे आदिमें नहीं गिरता तो 'इस (उसके न गिरने) का क्या प्रयोजन है ?' ऐसा प्रश्न नहीं किया जा सकता ।

तब तो स्वभावतः प्राप्त होनेके कारण व्युत्थान चोदना (विधिवाक्य) का विषय नहीं है । इसपर यदि कहो कि यदि किसीको गृहस्थाश्रममें ही परब्रह्मका ज्ञान हो जाय तो उसे

* पंक्ति छन्द पाँच अक्षरका होता है । उससे सदृशता होनेके कारण जिस कर्ममें पत्नी, पुत्र, दैववित्त, मानुषवित्त और कर्म इन पाँच साधनोंका योग होता है वह पाङ्क्त कर्म कहलाता है ।

वास्त्वकुर्वत आसनं न ततोऽन्यत्र गमनमिति चेन्न, कामप्रयुक्तत्वाद्गार्हस्थ्यस्य; "एतावान्वै कामः" (बृ० उ० १।४।१७) इति "उभे ह्येते एषणे एव" (बृ० उ० ३।५।१; ४।४।२२) इत्यवधारणात्। कामनिमित्तपुत्रवित्तादिसंबन्धनियमाभावमात्रं न हि ततोऽन्यत्र गमनं व्युत्थानमुच्यते। अतो न गार्हस्थ्य एवाकुर्वत आसनमुत्पन्नविद्यस्य। एतेन गुरुशुश्रूषातपसोरप्युपपत्तिर्विदुषः सिद्धा।

उस आश्रममें ही कुछ न करते हुए बैठा रहना चाहिये, वहाँसे कहीं अन्यत्र नहीं जाना चाहिये, तो ऐसा कहना उचित नहीं; क्योंकि "इतनी ही कामना है" "ये दोनों एषणाएँ ही हैं" इत्यादि वाक्योंसे निश्चित किया जानेके कारण गृहस्थाश्रम तो कामनासे ही प्रयुक्त है। कामनाके निमित्तभूत पुत्र-वित्तादिके सम्बन्धके नियमका अभावमात्र ही 'व्युत्थान' है; उनके पाससे कहीं अन्यत्र चला जाना 'व्युत्थान' नहीं कहा जाता। अतः जिसे ज्ञान उत्पन्न हुआ है उसके लिये कुछ न करते हुए गृहस्थाश्रममें ही स्थित रहना सम्भव नहीं है। इससे विद्वान्‌के लिये गुरुशुश्रूषा और तपस्याकी भी अनुपपत्ति सिद्ध होती है।

गृहस्थानामाक्षेपः

अत्र केचिद् गृहस्था भिक्षाटनादिभयात्परिभवाच्च त्रस्यमानाः सूक्ष्मदृष्टितां दर्शयन्त उत्तरमाहुः भिक्षोरपि भिक्षाटनादिनियमदर्शनाद्देहधारणमात्रार्थिनो गृह-

इस विषयमें कोई-कोई गृहस्थ पुरुष भिक्षाटनादिके भय और तिरस्कारसे डरनेके कारण अपनी सूक्ष्मदर्शिता प्रकट करते हुए उत्तर देते हैं—'केवल देहधारणमात्रके इच्छुक भिक्षुके लिये भी भिक्षाटनादिका नियम देखा जाता है; अतः

स्थस्यापि साध्यसाधनैषणोभयविनिर्मुक्तस्य देहमात्रधारणार्थमशनाच्छादनमात्रमुपजीवतो गृह एवास्त्वासनमिति ।

[पुत्र-वित्तादि] साध्य और [कर्म-उपासना आदि] साधन दोनोंकी एषणाओंसे मुक्त हुए केवल देह-धारणके लिये भोजनाच्छादनमात्रसे निर्वाह करनेवाले गृहस्थको भी घरहीमें रहना चाहिये ।

तस्य निरासः

न, स्वगृहविशेषपरिग्रहनियमस्य कामप्रयुक्तत्वादित्युक्तोत्तरमेतत् । स्वगृहविशेषपरिग्रहाभावे च शरीरधारणमात्रप्रयुक्ताशनाच्छादनार्थिनः स्वपरिग्रहविशेषाभावेऽर्थाद्भिक्षुकत्वमेव ।

परन्तु उनका ऐसा कहना ठीक नहीं । क्योंकि अपने गृहविशेषके परिग्रहका नियम कामनाप्रयुक्त ही है—इस प्रकार इसका उत्तर पहले दिया ही जा चुका है । और अपने गृह-विशेषके परिग्रहका अभाव होनेपर तो केवल शरीरधारणमात्रके लिये भोजनाच्छादनकी इच्छा करनेवाले पुरुषको अपने परिग्रह-विशेषका अभाव होनेके कारण स्वतः भिक्षुत्व ही प्राप्त हो जाता है ।

विद्वन्न्यास-विचारः

शरीरधारणार्थायां भिक्षाटनादिप्रवृत्तौ यथा नियमो भिक्षोः शौचादौ च, तथा गृहिणोऽपि विदुषोऽकामिनोऽस्तु नित्यकर्मसु नियमेन प्रवृत्तिर्यावज्जीवादिश्रुतिनियुक्तत्वात् प्रत्यवायपरिहारायेति । एतन्नियोगाविषयत्वेन

जिस प्रकार भिक्षुके लिये शरीर-रक्षामें उपयोगी भिक्षाटनादिकी प्रवृत्ति एवं शौचादिका नियम है उसी प्रकार विद्वान् और निष्काम गृहस्थको भी 'यावज्जीवादि' श्रुतिसे नियुक्त होनेके कारण प्रत्यवायकी निवृत्तिके लिये नित्यकर्मोंमें नियमसे प्रवृत्ति हो सकती है [ऐसा यदि कोई कहे तो] इस कथनका तो पहले ही प्रतिवाद किया जा चुका है; क्योंकि नियोगका

विदुषः प्रत्युक्तमशक्यनियोज्यत्वाच्चेति ।

यावज्जीवादिनित्यचोदनानर्थक्यमिति चेत् ?

न, अविद्वद्विषयत्वेनार्थवत्त्वात् । यत्तु भिक्षोः शरीरधारणमात्रप्रवृत्तस्य प्रवृत्तेर्नियतत्वं तत्प्रवृत्तेर्न प्रयोजकम् । आचमनप्रवृत्तस्य पिपासापगमवन्नान्यप्रयोजनार्थत्वमवगम्यते । न चाग्निहोत्रादीनां तद्वदर्थप्राप्तप्रवृत्तिनियतत्वोपपत्तिः ।

अर्थप्राप्तप्रवृत्तिनियमोऽपि प्रयोजनाभावेऽनुपपन्न एवेति चेत् ?

न, तन्नियमस्य पूर्वप्रवृत्तिसिद्धत्वात्तदतिक्रमे यत्नगौरवात् ।

अविषय होनेके कारण विद्वान् नियुक्त नहीं किया जा सकता ।

पूर्व०—तब तो 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' इत्यादि नित्य विधिकी व्यर्थता ही सिद्ध होती है ।

सिद्धान्ती—नहीं, अविद्वान्-विषयक होनेके कारण वह सार्थक है । केवल शरीरधारणमात्रके लिये भिक्षाटनादिमें प्रवृत्त हुए यतिकी प्रवृत्तिका जो नियतत्व है वह प्रवृत्तिका प्रयोजक नहीं है । आचमनमें प्रवृत्त हुए पुरुषकी पिपासानिवृत्तिके समान उसके भिक्षाटनादिका [क्षुधानिवृत्ति आदिके सिवा] कोई अन्य प्रयोजन नहीं समझा जाता । परन्तु इसके समान अग्निहोत्रादि कर्मोंका स्वतःप्राप्त प्रवृत्तिको नियत करना नहीं माना जा सकता ।*

पूर्व०—परन्तु प्रयोजनका अभाव हो जानेपर तो स्वतःप्राप्त प्रवृत्तिका नियम भी व्यर्थ ही है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि यह [भिक्षाटनादिका] नियम पूर्वप्रवृत्तिसे सिद्ध होनेके कारण उसके उल्लङ्घनमें अधिक प्रयत्नकी आवश्यकता है ।

* क्योंकि वे तो स्वर्गादिकी कामनासे ही किये जाते हैं, उनकी प्रवृत्ति स्वाभाविक नहीं है।

अर्थप्राप्तस्य व्युत्थानस्य पुनर्वचनाद्विदुषः कर्तव्यत्वोपपत्तिः। अविदुषापि मुमुक्षुणा पारिव्राज्यं कर्तव्यमेव। तथा च "शान्तो दान्तः" (बृ० उ० ४। ४। २३) इत्यादिवचनं प्रमाणम्। शमदमादीनां चात्मदर्शनसाधनानामन्याश्रमेष्वनुपपत्तेः। "अत्याश्रमिभ्यः परमं पवित्रं प्रोवाच सम्यगृषिसंघजुष्टम्" (६। २१) इति च श्वेताश्वतरे विज्ञायते। "न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः" (कैवल्य २) इति च कैवल्यश्रुतिः। "ज्ञात्वा नैष्कर्म्यमाचरेत्" इति च स्मृतेः। "ब्रह्माश्रमपदे वसेत्" इति च

[margin: विविदिषा-संन्यासविधानम्]

और स्वभावतः प्राप्त व्युत्थानका ["व्युत्थायाथ भिक्षाचर्यं चरन्ति" आदि वाक्योंसे] पुनः विधान किया गया है, इसलिये विद्वान् मुमुक्षुके लिये उसकी कर्तव्यता उचित ही है। जिस मुमुक्षुको ज्ञान प्राप्त नहीं हुआ है उसे भी संन्यास करना ही चाहिये। इस विषयमें "शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः" आदि वचन प्रमाण हैं। तथा आत्मदर्शनके साधन शमदमादिका अन्य आश्रमोंमें होना सम्भव भी नहीं है, जैसा कि "मन्त्रद्रष्टा ऋषियोंद्वारा भलीप्रकार सेवित उस परम पवित्र तत्त्वका परमहंसोंको उपदेश किया" इत्यादि मन्त्रोंसे श्वेताश्वतरोपनिषद्में बतलाया गया है, तथा "कर्मसे, प्रजासे अथवा धनसे नहीं बल्कि त्यागसे ही किन्हीं-किन्हींने अमरत्व प्राप्त किया है" ऐसी कैवल्योपनिषद्की श्रुति भी है। और "ज्ञान प्राप्तकर नैष्कर्म्यका आचरण करे" इस स्मृतिसे भी यही सिद्ध होता है। "ब्रह्माश्रमपदे वसेत्"[1] इस स्मृतिके अनुसार ज्ञानप्राप्तिके

---

१. ब्रह्माश्रम [अर्थात् ब्रह्मज्ञानके साधनभूत संन्यासाश्रम] में निवास करे।

ब्रह्मचर्यादिविद्यासाधनानां च साकल्येनात्याश्रमिषूपपत्तेर्गार्हस्थ्येऽसंभवात् । न चासंपन्नं साधनं कस्यचिदर्थस्य साधनायालम् । यद्विज्ञानोपयोगीनि च गार्हस्थ्याश्रमकर्माणि तेषां परमफलमुपसंहृतं देवताप्ययलक्षणं संसारविषयमेव । यदि कर्मिण एव परमात्मविज्ञानमभविष्यत् संसारविषयस्यैव फलस्योपसंहारो नोपापत्स्यत् ।

साधन ब्रह्मचर्यादिकी सिद्धि भी सम्यक् रीतिसे संन्यासियोंमें ही हो सकती है; क्योंकि गृहस्थाश्रममें उन साधनोंका होना असम्भव है; और अपूर्ण साधन किसी अर्थको सिद्ध करनेमें समर्थ नहीं है। गृहस्थाश्रमके कर्म जिस विज्ञानमें उपयोगी हैं उसके देवतामें लय होनारूप संसारविषयक परम फलका उपसंहार किया जा चुका है। यदि कर्मीको ही परमात्माका साक्षात् ज्ञान हुआ करता तो संसारविषयक फलका उपसंहार (अन्त) होना कभी सम्भव ही न था।

देवताप्ययस्य ज्ञानाङ्गत्वनिरासः

अङ्गफलं तदिति चेन्न तद्विरोध्यात्मवस्तुविषयत्वादात्मविद्यायाः । निराकृतसर्वनामरूपकर्मपरमार्थात्मवस्तुविषयं ज्ञानममृतत्वसाधनम् । गुणफलसंबन्धे हि निराकृतसर्वविशेषात्मवस्तुविषयत्वं ज्ञानस्य न प्राप्नोति । तच्चानिष्टम्,

यदि कहो कि वह तो अङ्गफलमात्र है* तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि आत्मविद्या तो उसके विरोधी आत्मतत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाली है। सब प्रकारके नाम, रूप और कर्मसे रहित परमार्थ आत्मतत्त्वसे सम्बन्ध रखनेवाला आत्मज्ञान तो अमरत्वका साधन है। उससे गौण फलका सम्बन्ध माननेपर तो ज्ञानका सर्वविशेषशून्य आत्मवस्तुसे सम्बन्धित होना ही सिद्ध नहीं होता। और यह इष्ट नहीं है,

* अर्थात् देवतालयरूप जो संसारविषयक फल है वह कर्मका अङ्ग—गौण फल है; मुख्य फल तो परमात्माका साक्षात्कार ही है।

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्यधिकृत्य क्रियाकारकफलादिसर्वव्यवहारनिराकरणाद्विदुषः । तद्विपरीतस्याविदुषो "यत्र हि द्वैतमिव" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्युक्त्वा क्रियाकारकफलरूपस्यैव संसारस्य दर्शितत्वाच्च वाजसनेयिब्राह्मणे । तथेहापि देवताप्ययं संसारविषयं यत्फलमशनायादिमद्वस्त्वात्मकं तत्फलमुपसंहृत्य केवलं सर्वात्मवस्तुविषयं ज्ञानममृतत्वाय वक्ष्यामीति प्रवर्तते ।

ऋणप्रतिबन्ध-विचारः

ऋणप्रतिबन्धस्याविदुष एव मनुष्यपितृदेवलोकप्राप्तिं प्रति, न विदुषः । "सोऽयं मनुष्यलोकः पुत्रेणैव" (बृ० उ० १ । ५ । १६) इत्यादिलोकत्रयसाधननियमश्रुतेः । विदुषश्च ऋणप्रति-

क्योंकि "जहाँ इसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया है" इस प्रकार आरम्भ करके विद्वान्‌के लिये क्रिया, कारक और फल आदि सम्पूर्ण व्यवहारका निराकरण किया है । तथा उसके विपरीत अविद्वान्‌के लिये वाजसनेयिब्राह्मणमें "जहाँ कि द्वैतके समान होता है" ऐसा कहकर क्रिया, कारक और फलरूप संसारविषयको प्रदर्शित किया है । इसी प्रकार यहाँ (ऐतरेयोपनिषद्‌में) भी जो क्षुधा-पिपासादियुक्त वस्तुरूप संसारविषयक देवताल्यसंज्ञक फल है उसका उपसंहार कर अब केवल सर्वात्मक वस्तुविषयक ज्ञानका ही अमरत्व-प्राप्तिके लिये वर्णन करूँगी —ऐसे अभिप्रायसे श्रुति प्रवृत्त होती है ।

तथा देवलोक, पितृलोक और मनुष्यलोककी प्राप्तिमें ऋणोंका प्रतिबन्ध तो अज्ञानीके ही लिये है, ज्ञानीके लिये नहीं, जैसा कि "उस इस मनुष्यलोकको पुत्रके द्वारा ही [जीता जा सकता है]" इत्यादि लोकत्रयकी प्राप्तिके साधनका नियम करनेवाली श्रुतिसे सिद्ध होता है । तथा आत्मलोकके इच्छुक विद्वान्‌के लिये

बन्धाभावो दर्शित आत्मलोकार्थिनः "किं प्रजया करिष्यामः" (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादिना । तथा "एतद्ध स्म वै तद्विद्वांस आहुर्ऋषयः कावषेयाः" इत्यादि । "एतद्ध स्म वै तत्पूर्वे विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुहवाञ्चक्रुः" (कौषी० २ । ५) इति च कौषीतकिनाम् ।

अविदुषस्तर्हि ऋणानपाकरणे पारिव्राज्यानुपपत्तिरिति चेत् ?

न; प्राग्गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेर्ऋणित्वासंभवात् । अधिकारानारूढोऽप्यृणी चेत्स्यात् सर्वस्य ऋणित्वमित्यनिष्टं प्रसज्येत। प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि "गृहाद्वनी भूत्वा प्रव्रजेद्यदि वेतरथा ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेद्गृहाद्वा वनाद्वा" (जा० उ० ४) इत्यात्मदर्शनोपायसाधनत्वेनेष्यत एव पारिव्रा-

"हम प्रजासे क्या करेंगे ?" इत्यादि वाक्योंद्वारा ऋणोंके प्रतिबन्धका अभाव दिखलाया है, इसी प्रकार "वे प्रसिद्ध आत्मवेत्ता कावषेय ऋषि बोले—[मैं अध्ययन कैसे करूँ ? होम कैसे करूँ ?]" इत्यादि श्रुति है तथा ऐसी ही "उस इस आत्मतत्त्वको जाननेवाले पूर्ववर्ती विद्वान् अग्निहोत्र नहीं करते थे" यह कौषीतकी शाखाकी श्रुति है।

पूर्व०—तब अविद्वान्के लिये तो ऋणोंका परिशोध बिना किये संन्यास करना बन नहीं सकता ?

सिद्धान्ती—यह बात नहीं है, क्योंकि गृहस्थाश्रमकी प्राप्तिसे पूर्व तो ऋणित्व ही असम्भव है। यदि अधिकारारूढ न हुआ पुरुष भी ऋणी हो सकता है तो सभीका ऋणी होना सिद्ध होगा और इस प्रकार बड़ा अनिष्ट प्राप्त होगा। जो गृहस्थाश्रमको प्राप्त हो गया है उस पुरुषके लिये भी "गृहस्थाश्रमसे वानप्रस्थ होकर संन्यास करे अथवा [इस क्रमको छोड़कर] अन्य प्रकारसे यानी ब्रह्मचर्यसे, गृहस्थाश्रमसे अथवा वानप्रस्थाश्रमसे ही संन्यास कर दे" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा आत्मदर्शनके साधनके उपायरूपसे

ज्यम् । यावज्जीवादिश्रुतीनामविद्वदमुमुक्षुविषये कृतार्थता । छान्दोग्ये च केषांचिद् द्वादशरात्रमग्निहोत्रं हुत्वा तत ऊर्ध्वं परित्यागः श्रूयते ।

(यावज्जीवादिश्रुतीनाम् अविद्वद्विषयत्वम्)

संन्यास प्राप्त हो ही जाता है। अविद्वान् और अमुमुक्षु पुरुषोंके विषयमें "यावज्जीवन अग्निहोत्र करे" इत्यादि श्रुतियोंकी भी कृतार्थता है। छान्दोग्यमें तो किन्हीं-किन्हींके लिये बारह रात्रि अग्निहोत्र करके तदनन्तर उसका परित्याग करना सुना जाता है।

यत्त्वनधिकृतानां पारिव्राज्यमिति, तन्न, तेषां पृथगेव, "उत्सन्नाग्निरनग्निको वा" इत्यादिश्रवणात् । सर्वस्मृतिषु चाविशेषेणाश्रमविकल्पः प्रसिद्धः समुच्चयश्च ।

(संन्यासस्य कर्मानधिकारिविषयत्वनिरासः)

और तुमने जो कहा कि जिन्हें कर्मका अधिकार नहीं है उन्हींके लिये संन्यासका विधान है, सो ऐसी बात नहीं है, क्योंकि उनके विषयमें "उत्सन्नाग्निरनग्निको वा"* इत्यादि अलग ही श्रुति है। तथा समस्त स्मृतियोंमें भी आश्रमोंका विकल्प[1] और समुच्चय[2] सामान्यरूपसे प्रसिद्ध ही है।

यत्तु विदुषोऽर्थप्राप्तं व्युत्थानमित्यशास्त्रार्थत्वे, गृहे वने वा तिष्ठतो न विशेष इति,

(व्युत्थानविधिविचारः)

तथा यह जो कहा कि विद्वान्को जो कर्मत्यागकी स्वतः प्राप्ति बतलायी है, सो शास्त्रका विषय न होनेके कारण उसके घर या वनमें रहनेमें कोई विशेषता नहीं है;

* जिसके अग्निहोत्रकी अग्नि प्रमादवश शान्त हो गयी है अथवा जिसने अग्निका परिग्रह नहीं किया है।

१. क्रमकी अपेक्षा न करके जिस आश्रमसे संन्यास लेनेकी इच्छा हो उसीसे ले लेना।

२. एक आश्रमसे दूसरे आश्रममें क्रमानुसार जाना।

तदसत्; व्युत्थानस्यैवार्थप्राप्तत्वान्नान्यत्रावस्थानं स्यात् । अन्यत्रावस्थानस्य कामकर्मप्रयुक्तत्वं ह्यवोचाम, तदभावमात्रं व्युत्थानमिति च ।

ऐसा कहना ठीक नहीं । व्युत्थानके स्वतः प्राप्त होनेके कारण ही उसकी अन्यत्र [यानी गृहस्थाश्रममें] स्थिति नहीं हो सकती । अन्यत्र स्थितिको तो हमने कामना और कर्मसे प्रेरित ही बतलाया है; और उसके अभावको ही व्युत्थान कहा है ।

विदुषो यथाकामित्वनिषेधः

यथाकामित्वं तु विदुषोऽत्यन्तमप्राप्तं अत्यन्तमूढविषयत्वेनावगमात् । तथा शास्त्रचोदितमपि कर्म आत्मविदोऽप्राप्तं गुरुभारतयावगम्यते । किमुतात्यन्ताविवेकनिमित्तं यथाकामित्वम् । न हि उन्मादतिमिरदृष्ट्युपलब्धं वस्तु तदपगमेऽपि तथैव स्यात् । उन्मादतिमिरदृष्टिनिमित्तत्वादेव तस्य । तस्मादात्मविदो व्युत्थानव्यतिरेकेण न यथाकामित्वं न चान्यत्कर्तव्यमित्येतत्सिद्धम् ।

स्वेच्छाचार तो अत्यन्त मूढका विषय समझा गया है, इसलिये विद्वान्के लिये वह अत्यन्त अप्राप्त है । तथा विद्वान्के लिये तो अत्यन्त भाररूप होनेके कारण शास्त्रोक्त कर्मकी भी अप्राप्ति समझी जाती है । फिर अत्यन्त अविवेकके कारण होनेवाले स्वेच्छाचारकी तो बात ही क्या है ? उन्माद अथवा तिमिररोगसे दूषित दृष्टिद्वारा उपलब्ध हुई वस्तु उसके निवृत्त हो जानेपर भी वैसी ही नहीं रहती; क्योंकि वह तो उन्माद अथवा तिमिरदृष्टिके कारण ही वैसी प्रतीत होती है । अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मवेत्ताके लिये व्युत्थानको छोड़कर न तो स्वेच्छाचार ही है और न कोई अन्य कर्तव्य ही शेष रहता है ।

विदुषो ज्ञान-कर्मसमुच्चयानुपपत्तिः

यत्तु—"विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयꣳ सह" (ई० उ० ११) इति न विद्यावतो विद्यया सहाविद्यापि वर्तते इत्ययमर्थः; कस्तर्हि एकस्मिन्पुरुषे एते एकदैव न सह संबध्येयातामित्यर्थः। यथा शुक्तिकायां रजतशुक्तिकाज्ञाने एकस्य पुरुषस्य। "दूरमेते विपरीते विषूची अविद्या या च विद्येति ज्ञाता" (क० उ० १।२।४) इति हि काठके। तस्मान्न विद्यायां सत्यामविद्यासंभवोऽस्ति।

तथा ऐसा जो कहा है कि "जो पुरुष विद्या और अविद्या दोनोंको साथ-साथ जानता है" वह इसलिये नहीं है कि विद्वान्में विद्याके साथ अविद्या भी रहती है। तो फिर उसका क्या प्रयोजन है? उसका तात्पर्य तो यही है कि एक ही पुरुषमें ये दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते; जिस प्रकार कि सीपीमें एक पुरुषको [एक ही समय] चाँदी और सीपी दोनोंका ज्ञान नहीं हो सकता। कठोपनिषद्में भी कहा है—"जो विद्या और अविद्या नामसे जानी जाती हैं वे परस्पर अत्यन्त विपरीत (विरुद्ध स्वभाववाली) हैं।" अतः विद्याके रहते हुए अविद्याका रहना किसी प्रकार सम्भव नहीं है।

"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै० उ० ३।२) इत्यादिश्रुतेः, तपआदि विद्योत्पत्तिसाधनं गुरूपासनादि च कर्म अविद्यात्मकत्वादविद्योच्यते तेन विद्यामुत्पाद्य मृत्युं काममतितरति। ततो निष्कामस्त्यक्तैषणो ब्रह्मविद्यया अमृतत्वमश्नुत इत्ये-

"तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर" इत्यादि श्रुतिके अनुसार तप आदि विद्योत्पत्तिके साधन और गुरुकी उपासना आदि कर्म अविद्यामय होनेके कारण 'अविद्या' कहे जाते हैं। उस अविद्यारूप कर्मसे विद्याको उत्पन्न करके वह मृत्यु यानी कामनाको पार कर जाता है। तब वह निष्काम और एषणामुक्त पुरुष ब्रह्मविद्यासे अमरत्व प्राप्त कर लेता है—

तमर्थं दर्शयन्नाह—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ई० उ० ११) इति ।

उपसंहारः

यत्तु पुरुषायुः सर्वं कर्मणैव व्याप्तं 'कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः" (ई० उ० २) इति तदविद्वद्विषयत्वेन परिहृतमितरथासंभवात् । यत्तु वक्ष्यमाणमपि पूर्वोक्ततुल्यत्वात्कर्मणाविरुद्धमात्मज्ञानमिति, तत्सविशेषनिर्विशेषात्मतया प्रत्युक्तम्, उत्तरत्र व्याख्याने च दर्शयिष्यामः । अतः केवलनिष्क्रियब्रह्मात्मकत्वविद्यादर्शनार्थमुत्तरो ग्रन्थ आरभ्यते—

इसी अर्थको प्रदर्शित करते हुए कहते हैं कि "अविद्यासे मृत्युको पारकर विद्यासे अमरत्व प्राप्त कर लेता है।"

"कर्म करते हुए ही सौ वर्षतक जीवित रहनेकी इच्छा करे" इस मन्त्रद्वारा जो यह कहा गया था कि पुरुषकी सारी आयु कर्मसे ही व्याप्त है उसका 'वह अविद्वान्‌से सम्बन्ध रखनेवाला है'—ऐसा बतलाकर खण्डन कर दिया गया, क्योंकि अन्य प्रकार वैसा होना असम्भव है तथा तुमने जो कहा था कि आगे कहा जानेवाला आत्मज्ञान भी पूर्वोक्त [श्रुतिकथित] ज्ञानके तुल्य होनेके कारण कर्मसे अविरुद्ध ही है उस कथनको भी सविशेष और निर्विशेष आत्मविषयक बतलाकर खण्डन कर चुके हैं और आगेकी व्याख्यामें इसका दिग्दर्शन भी करायेंगे। अब यहाँसे केवल निष्क्रिय ब्रह्म और आत्माकी एकताका ज्ञान प्रदर्शित करनेके लिये आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है—

आत्माके ईक्षणपूर्वक सृष्टि

ॐ आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् । नान्यत्किंचन मिषत् । स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति ॥ १ ॥

पहले यह [जगत्] एकमात्र आत्मा ही था; उसके सिवा और कोई सक्रिय वस्तु नहीं थी। उसने यह सोचा कि 'लोकोंकी रचना करूँ' ॥ १ ॥

आत्मा आप्नोतेरत्तेरततेर्वा परः सर्वज्ञः सर्वशक्तिरशनायादिसर्वसंसारधर्मवर्जितो नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावोऽजोऽजरोऽमरोऽमृतोऽभयोऽद्वयो वै; इदं यदुक्तं नामरूपकर्मभेदभिन्नं जगदात्मैवैकोऽग्रे जगतः सृष्टेः प्रागासीत्।

किं नेदानीं स एवैकः ?

न।

कथं तर्ह्यासीदित्युच्यते ?

यद्यपीदानीं स एवैकस्तथाप्यस्ति विशेषः। प्रागुत्पत्तेरव्याकृतनामरूपभेदमात्मभूतमात्मैकशब्दप्रत्ययगोचरं जगदिदानीं

[व्याप्तिबोधक] 'आप्', [भक्षणार्थक] 'अद्' अथवा [सतत गमनबोधक] 'अत्' धातुसे 'आत्मा' शब्द निष्पन्न हुआ है। यह जो नाम, रूप और कर्मके भेदसे विविधरूप प्रतीत होनेवाला जगत् कहा गया है वह पहले यानी संसारकी सृष्टिसे पूर्व सर्वश्रेष्ठ, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, क्षुधा-पिपासा आदि सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोंसे रहित, नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत, अभय और अद्वयरूप आत्मा ही था।

पूर्व०—क्या इस समय भी एकमात्र वही नहीं है ?

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है।

पूर्व०—तो फिर 'आसीत् (था)' ऐसा क्यों कहा है ?

सिद्धान्ती—यद्यपि इस समय भी अकेला वही है तो भी कुछ विशेषता अवश्य है। [वह विशेषता यही है कि] उत्पत्तिसे पूर्व यह जगत् नाम-रूपादि भेदके व्यक्त न होनेके कारण आत्मभूत और एक 'आत्मा' शब्दकी प्रतीतिका ही

व्याकृतनामरूपभेदत्वादनेकश-ब्दप्रत्ययगोचरमात्मैकशब्दप्रत्य-यगोचरं चेति विशेषः ।

यथा सलिलात्पृथक्फेननाम-रूपव्याकरणात्प्राक्सलिलैकशब्द-प्रत्ययगोचरमेव फेनम्, यदा सलिलात्पृथङ्नामरूपभेदेन व्या-कृतं भवति तदा सलिलं फेनं चेत्यनेकशब्दप्रत्ययभाक्सलिल-मेवेति चैकशब्दप्रत्ययभाक्च फेनं भवति तद्वत् ।

नान्यत्किंचन न किंचिदपि मिषन्निमिषद्व्यापारवदितरद्वा । यथा सांख्यानामनात्मपक्षपाति स्वतन्त्रं प्रधानं यथा च काणा-दानामणवो न तद्वदिहान्य-दात्मनः किंचिदपि वस्तु विद्यते किं तर्हि ? आत्मैवैक आसीदित्य-भिप्रायः ।

विषय था और इस समय नाम-रूपादि भेदके व्यक्त हो जानेसे वह अनेक शब्दोंकी प्रतीतिका विषय तथा एकमात्र 'आत्मा' शब्दकी प्रतीतिका विषय भी हो रहा है;

जिस प्रकार जलसे पृथक् फेनके नाम और रूपकी अभिव्यक्ति होनेसे पूर्व फेन एकमात्र 'जल' शब्दकी प्रतीतिका ही विषय था; किन्तु जिस समय वह जलसे अलग नाम और रूप-के भेदसे व्यक्त हो जाता है उस समय वह फेन 'जल' और 'फेन' इस प्रकार अनेक शब्दोंकी प्रतीतिका विषय तथा केवल 'जल' इस एक शब्दकी प्रतीतिका विषय भी हो जाता है; उसी प्रकार [उपर्युक्त भेद भी समझना चाहिये] ।

उसके सिवा अन्य कोई व्यापार-युक्त अथवा निष्क्रिय वस्तु नहीं थी । जिस प्रकार सांख्यवादियोंके मतमें आत्माकी कोटिमें न आनेवाला उससे स्वतन्त्र प्रधान था, तथा कणादमताव-लम्बियोंके विचारमें परमाणु थे उस-प्रकार इस (औपनिषद सिद्धान्त) में आत्मासे अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं थी । तो फिर क्या था ? एकमात्र आत्मा ही था—यह इसका अभिप्राय है ।

स सर्वज्ञस्वाभाव्याद् आत्मा एक एव सन्नीक्षत । ननु प्रागुत्पत्तेरकार्यकरणत्वात्कथमीक्षितवान् । नायं दोषः, सर्वज्ञस्वाभाव्यात् तथा च मन्त्रवर्णः— "अपाणिपादो जवनो ग्रहीता" (श्वे० उ० ३ । १९) इत्यादिः । केनाभिप्रायेणेत्याह—लोकान् अम्भःप्रभृतीन् प्राणिकर्मफलोपभोगस्थानभूतान्नु सृजै सृजेऽहमिति ॥ १ ॥

सर्वज्ञस्वभाव होनेके कारण उस आत्माने अकेले होते हुए ही ईक्षण (चिन्तन) किया । यदि कहो कि जगत्‌की उत्पत्तिसे पूर्व कार्य और करणका अभाव रहते हुए भी उसने किस प्रकार ईक्षण किया ? तो यह कोई दोषकी बात नहीं है; क्योंकि वह आत्मा स्वभावसे ही सर्वज्ञ है । इस विषयमें "हाथ-पाँववाला न होकर भी वेगवान् और ग्रहण करनेवाला है" इत्यादि मन्त्र-वर्ण भी है । उसने किस अभिप्रायसे ईक्षण किया ? इसपर श्रुति कहती है—'मैं प्राणियोंके कर्मफलोपभोगके आश्रयभूत अम्भ आदि लोकोंकी रचना करूँ' इस प्रकार ईक्षण किया ॥ १ ॥

सृष्टिक्रम

एवमीक्षित्वा आलोच्य—

इस प्रकार ईक्षण यानी आलोचना करके—

स इमाँल्लोकानसृजत । अम्भो मरीचीर्मरमापोदोऽम्भः परेण दिवं द्यौः प्रतिष्ठान्तरिक्षं मरीचयः पृथिवी मरो या अधस्तात्ता आपः ॥ २ ॥

उसने अम्भ, मरीचि, मर और आप—इन लोकोंकी रचना की। जो द्युलोकसे परे है और स्वर्ग जिसकी प्रतिष्ठा है वह 'अम्भ' है, अन्तरिक्ष (भुवर्लोक) 'मरीचि' है, पृथिवी 'मर-लोक' है और जो [पृथिवी] नीचे है वह 'आप' है ॥ २ ॥

स आत्मेमाँल्लोकानसृजत सृष्टवान्। यथेह बुद्धिमांस्तक्षादिरेवंप्रकारान्प्रासादादीन्सृज इति ईक्षित्वेक्षानन्तरं प्रासादादीन्सृजति तद्वत्।

ननु सोपादानस्तक्षादिः प्रासादादीन्सृजतीति युक्तं निरुपादानस्त्वात्मा कथं लोकान् सृजति।

निरुपादानस्य आत्मनः सृष्टिकर्तृत्वम् नैष दोषः; सलिलफेनस्थानीये आत्मभूते नामरूपे अव्याकृते आत्मैकशब्दवाच्ये व्याकृतफेनस्थानीयस्य जगतः उपादानभूते संभवतः। तस्माद्

उस आत्माने इन लोकोंकी रचना की। जिस प्रकार इस लोकमें बुद्धिमान् शिल्पकार आदि 'मैं इस प्रकारके महल आदि बनाऊँ' ऐसा विचार करके उस विचारके अनन्तर ही महल आदिकी रचना करते हैं उसी प्रकार [उसने ईक्षण करके इन लोकादिकी रचना की]।

शङ्का—शिल्पकारादि तो उन महल आदिकी उपादान सामग्रीसे युक्त होते हैं इसलिये वे महल आदिकी रचना करते हैं—ऐसा कहना ठीक ही है; किन्तु उपादान (सामग्री) से रहित आत्मा किस प्रकार लोकोंकी रचना करता है?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि जलमें [व्यक्त न हुए] फेनस्थानीय अव्याकृत नाम और रूप, जो आत्मस्वरूप और एकमात्र 'आत्मा' शब्दके ही वाच्य हैं, व्याकृत फेनस्वरूप जगत्के उपादान हो सकते हैं। अतः वह सर्वज्ञ

आत्मभूतनामरूपोपादानभूतः सन्सर्वज्ञो जगन्निर्मिमीत इत्यविरुद्धम् ।

आत्मा अपने आत्मभूत नाम और रूपका उपादानस्वरूप होकर जगत्की रचना करता है—इसमें कोई विरोध नहीं है ।

अथवा, यथा विज्ञानवान्मायावी निरुपादान आत्मानमेव आत्मान्तरत्वेनाकाशेन गच्छन्तमिव निर्मिमीते, तथा सर्वज्ञो देवः सर्वशक्तिर्महामाय आत्मानमेवात्मान्तरत्वेन जगद्रूपेण निर्मिमीत इति युक्ततरम् । एवं च सति कार्यकारणोभयासद्वाद्यादिपक्षाश्च न प्रसज्जन्ते सुनिराकृताश्च भवन्ति ।

अथवा जिस प्रकार बुद्धियुक्त मायावी कोई उपादान न होनेपर भी स्वयं अपनेहीको अपने अन्यरूपसे आकाशमें चलता हुआ-सा बना लेता है, उसी प्रकार वह सर्वशक्तिमान्, महामायावी, सर्वज्ञ देव अपनेहीको जगत्रूप अपने अन्य स्वरूपसे रच लेता है—यह बहुत युक्तियुक्त ही है । ऐसा होनेपर कार्य और कारण—इन दोनोंको असत् बतलानेवालोंके [असद्वाद आदि] पक्षोंकी प्राप्ति नहीं होती और उनका पूर्णतया निराकरण हो जाता है ।

काँल्लोकानसृजतेत्याह—अम्भो मरीचीर्मरमाप इति ।

आत्मसृष्ट-लोकाख्यानम्

आकाशादिक्रमेण अण्डमुत्पाद्याम्भः प्रभृतीन् लोकानसृजत । तत्राम्भःप्रभृतीन् स्वयमेव व्याचष्टे श्रुतिः ।

उसने किन लोकोंकी रचना की ? इसपर कहते हैं—अम्भ, मरीची, मर और आप आदिकी । उसने आकाशादि क्रमसे अण्डको उत्पन्न कर अम्भ आदि लोकोंकी रचना की । उन अम्भ आदि लोकोंकी श्रुति स्वयं ही व्याख्या करती है ।

अदस्तदम्भः शब्दवाच्यो लोकः परेण दिवं द्युलोकात्परेण परस्तात्;सोऽम्भःशब्दवाच्यः,अम्भो-

अदः—वह 'अम्भ' शब्दसे कहा जानेवाला लोक है, जो द्युलोकसे परे है; वह जल (मेघों) को धारण

भरणात् । द्यौः प्रतिष्ठाश्रयस्तस्याम्भसो लोकस्य । द्युलोकादधस्तादन्तरिक्षं यत्तन्मरीचयः । एकोऽप्यनेकस्थानभेदत्वाद्बहुवचनभाक्—मरीचय इति; मरीचिभिर्वा रश्मिभिःसम्बन्धात् । पृथिवी मरो म्रियन्तेऽस्मिन् भूतानीति । या अधस्तात् पृथिव्यास्ता आप उच्यन्ते;आप्नोतेः,लोकाः । यद्यपि पञ्चभूतात्मकत्वं लोकानां तथाप्यब्बाहुल्यादब्नामभिरेवाम्भो मरीचीर्मरमाप इत्युच्यन्ते ॥२॥

करनेवाला होनेसे 'अम्भ' शब्दसे कहा जाता है । उस अम्भलोकका द्युलोक प्रतिष्ठा यानी आश्रय है । द्युलोकसे नीचे जो अन्तरिक्ष है वह मरीचि लोक है । वह एक होनेपर भी अनेकों स्थानभेदोंके कारण 'मरीचयः' इस प्रकार बहुवचनरूपसे प्रयुक्त हुआ है । अथवा किरणोंसे सम्बन्धित होनेके कारण वह 'मरीचि' कहलाता है । पृथिवी 'मर' है; क्योंकि उसमें प्राणी मरते हैं । जो लोक पृथिवीसे नीचेकी ओर हैं वे 'आप' कहलाते हैं; क्योंकि 'अप्' शब्द [नीचेके लोकोंमें रहनेवाले प्राणियों-द्वारा प्राप्य होनेके कारण प्राप्तिरूप अर्थवाले] 'आप्' धातुसे बना हुआ है यद्यपि सभी लोक पञ्चभूतमय हैं तथापि आप (जल) की अधिकता होनेके कारण ये अम्भ, मरीचि, मर और आप इन आप (जल) वाची नामोंसे कहे जाते हैं ॥ २ ॥

पुरुषरूप लोकपालकी रचना

सर्वप्राणिकर्मफलोपादानाधिष्ठानभूतांश्चतुरो लोकान् सृष्ट्वा—

सम्पूर्ण प्राणियोंके कर्मफलरूप उपादानके अधिष्ठानभूत चारों लोकोंकी रचना कर—

स ईक्षतेमे नु लोका लोकपालान्नु सृजा इति सोऽद्भ्य एव पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत् ॥ ३ ॥

उसने ईक्षण (विचार) किया कि—'ये लोक तो तैयार हो गये अब लोकपालोंकी रचना करूँ'—ऐसा सोचकर उसने जलमेंसे ही एक पुरुष निकालकर अवयवयुक्त किया ॥ ३ ॥

स ईश्वरः पुनरेवेक्षत । इमे नु अम्भःप्रभृतयो मया सृष्टा लोकाः परिपालयितृवर्जिता विनश्येयुः तस्मादेषां रक्षणार्थं लोकपालाँल्लोकानां पालयितृन्नु सृजै सृजेऽहमिति ।

उस ईश्वरने फिर भी ईक्षण (विचार) किया । मेरे रचे हुए ये अम्भ आदि लोक बिना किसी रक्षकके नष्ट हो जायँगे । अतः इनकी रक्षाके लिये मैं लोकपालोंकी—लोकोंकी रक्षा करनेवालोंकी रचना करूँ ।

एवमीक्षित्वा सोऽद्भ्य एव अप्प्रधानेभ्य एव पञ्चभूतेभ्यो येभ्योऽम्भःप्रभृतीन्सृष्टवांस्तेभ्य एवेत्यर्थः । पुरुषं पुरुषाकारं शिरःपाण्यादिमन्तं समुद्धृत्य अद्भ्यः समुपादाय मृत्पिण्डमिव कुलालः पृथिव्याः, अमूर्छयत् मूर्छितवान् संपिण्डितवान् स्वावयवसंयोजनेनेत्यर्थः ॥ ३ ॥

ऐसा सोचकर उसने जलसे—जलप्रधान पञ्चभूतोंसे अर्थात् जिनसे उसने अम्भ आदि लोकोंकी रचना की थी उन्हींसे पुरुष यानी शिर और हाथ आदिवाले पुरुषाकारको, जिस प्रकार कुम्हार पृथिवीसे मिट्टीका पिण्ड निकालता है, उसी प्रकार निकालकर मूर्छित किया अर्थात् अवयवोंकी योजना कर उसको बढ़ाया ॥ ३ ॥

इन्द्रियगोलक, इन्द्रिय और इन्द्रियाधिष्ठाता देवताओंकी उत्पत्ति

तमभ्यतपत्तस्याभितप्तस्य मुखं निरभिद्यत यथाण्डं मुखाद्वाग्वाचोऽग्निर्नासिके निरभिद्येतां नासिकाभ्यां प्राणः प्राणाद्वायुरक्षिणी निरभिद्येतामक्षिभ्यां चक्षुश्चक्षुष आदित्यः

कर्णौ निरभिद्येतां कर्णाभ्यां श्रोत्रं श्रोत्राद्दिशस्त्वङ्निरभिद्यत त्वचो लोमानि लोमभ्य ओषधिवनस्पतयो हृदयं निरभिद्यत हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमा नाभिनिरभिद्यत नाभ्या अपानोऽपानान्मृत्युः शिश्नं निरभिद्यत शिश्नाद्रेतो रेतस आपः ॥ ४ ॥

उस विराट् पुरुषके उद्देश्यसे ईश्वरने संकल्प किया। उस संकल्प किये पिण्डसे अण्डेके समान मुख उत्पन्न हुआ। मुखसे वाक् और वागिन्द्रियसे अग्नि उत्पन्न हुआ। [फिर] नासिकारन्ध्र प्रकट हुए, नासिकारन्ध्रोंसे प्राण हुआ और प्राणसे वायु। [इसी प्रकार] नेत्र प्रकट हुए तथा नेत्रोंसे चक्षु-इन्द्रिय और चक्षुसे आदित्य उत्पन्न हुआ। [फिर] कान उत्पन्न हुए तथा कानोंसे श्रोत्रेन्द्रिय और श्रोत्रसे दिशाएँ प्रकट हुईं [तदनन्तर] त्वचा प्रकट हुई तथा त्वचासे लोम और लोमोंसे ओषधि एवं वनस्पतियाँ उत्पन्न हुईं। [इसी प्रकार] हृदय उत्पन्न हुआ तथा हृदयसे मन और मनसे चन्द्रमा प्रकट हुआ। [फिर] नाभि उत्पन्न हुई तथा नाभिसे अपान और अपानसे मृत्युकी अभिव्यक्ति हुई। [तदनन्तर] शिश्न प्रकट हुआ तथा शिश्नसे रेतस् और रेतस्से आप उत्पन्न हुआ ॥ ४ ॥

तं पिण्डं पुरुषविधमुद्दिश्याभ्यतपत्। तदभिध्यानं संकल्पं कृतवानित्यर्थः, "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु० उ० १।१।९) इत्यादिश्रुतेः। तस्याभितप्तस्येश्वरसंकल्पेन तपसाभितप्तस्य पिण्डस्य मुखं निरभिद्यत मुखाकारं सुषिरमजायत यथा पक्षिणोऽण्डं निर्भिद्यत

उस पुरुषाकारपिण्डके उद्देश्यसे ईश्वरने तप किया। अर्थात् उसका अभिध्यान यानी संकल्प किया, जैसा कि "जिसका तप ज्ञानमय है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है। उस अभितप्त—ईश्वरके संकल्परूप तपसे तपे हुए पिण्डका मुख प्रकट हुआ अर्थात् उसमें मुखाकार छिद्र इस प्रकार उत्पन्न हो गया जैसे कि पक्षीका अण्डा फट जाता है उस

एवम् । तस्मान्निर्भिन्नान्मुखाद्वाक्करणमिन्द्रियं निरवर्तत; तदधिष्ठाताग्निस्ततो वाचो लोकपालः । तथा नासिके निरभिद्येताम् । नासिकाभ्यां प्राणः, प्राणाद्वायुः, इति सर्वत्राधिष्ठानं करणं देवता च त्रयं क्रमेण निर्भिन्नमिति । अक्षिणी कर्णौ त्वग् हृदयमन्तःकरणाधिष्ठानम्, मनोऽन्तःकरणम् । नाभिः सर्वप्राणबन्धनस्थानम् । अपानसंयुक्तत्वादपान इति पाय्विन्द्रियमुच्यते। तस्माद् तस्याधिष्ठात्री देवता मृत्युः । यथान्यत्र, तथा शिश्नं निरभिद्यत प्रजननेन्द्रियस्थानम् । इन्द्रियं रेतो रेतोविसर्गार्थत्वात्सह रेतसोच्यते । रेतस आप इति ॥ ४ ॥

छिद्ररूप मुखसे वाक्-इन्द्रिय उत्पन्न हुई और उस वाक्से वाणीका अधिष्ठाता लोकपाल अग्नि हुआ । इसी प्रकार नासिकारन्ध्र उत्पन्न हुए, उन नासिकारन्ध्रोंसे प्राण और प्राणसे वायु हुआ । इस प्रकार सभी जगह इन्द्रिय-गोलक, इन्द्रिय और उसके अधिष्ठाता देव—ये तीनों ही क्रमशः उत्पन्न हुए। दो नेत्र, दो कान और त्वचा [—ये इन्द्रियस्थान हैं], हृदय अन्तःकरणका अधिष्ठान है और मन अन्तःकरण है । नाभि सम्पूर्ण प्राणोंके बन्धनका स्थान है । अपान वायुयुक्त होनेके कारण पायु इन्द्रिय अपान कहलाती है; उससे उसकी अधिष्ठात्री देवता मृत्यु उत्पन्न हुई । जैसे कि अन्यत्र [इन्द्रिय, इन्द्रियस्थान और देवता] बतलाये गये हैं, उसी प्रकार प्रजननेन्द्रियका आश्रयस्थान शिश्न उत्पन्न हुआ । उसमें रेतः इन्द्रिय है, जो रेतोविसर्ग (वीर्यत्याग) की हेतुभूत होनेसे रेतः (वीर्य) के सम्बन्धसे 'रेतस्' कही जाती है और रेतःसे आप (वीर्यके अधिष्ठाता जल)का प्रादुर्भाव हुआ ॥ ४ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये प्रथमः खण्डः समाप्तः ॥ १ ॥

द्वितीय खण्ड

देवताओंकी अन्न एवं आयतनयाचना

ता एता देवताः सृष्टा अस्मिन् महत्यर्णवे प्रापतंस्त-मशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जत् ता एनमब्रुवन्नायतनं नः प्रजानीहि यस्मिन् प्रतिष्ठिता अन्नमदामेति ॥ १ ॥

वे ये [इस प्रकार] रचे हुए [इन्द्रियाभिमानी] देवगण इस महासमुद्रमें पतित हो गये। उस (पिण्ड) को [परमात्माने] क्षुधापिपासासे संयुक्त कर दिया। तब उन इन्द्रियाभिमानी देवताओंने उससे कहा—हमारे लिये कोई आश्रयस्थान बतलाइये, जिसमें स्थित होकर हम अन्न भक्षण कर सकें ॥ १ ॥

ता एता अग्न्यादयो देवता लोकपालत्वेन संकल्प्य सृष्टा ईश्वरेणास्मिन्संसारार्णवे संसार-समुद्रे महत्यविद्याकामकर्मप्रभव-दुःखोदके तीव्ररोगजरामृत्यु-महाग्राहेऽनादावनन्तेऽपारे निरा-लम्बे विषयेन्द्रियजनितसुखलवक्ष-णविश्रामे पञ्चेन्द्रियार्थतृण्मारुत-

ईश्वरद्वारा लोकपालरूपसे संकल्प करके रचे हुए वे ये अग्नि आदि देवगण इस अति महान् संसारार्णव—संसारसमुद्रमें [गिरे], जो (संसार-समुद्र) अविद्या, कामना और कर्मसे उत्पन्न हुए दुःखरूप जल तथा तीव्र रोग, जरा और मृत्युरूप महाग्राहोंसे पूर्ण है, अनादि, अनन्त, अपार एवं निरालम्ब है, विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे होनेवाला अणुमात्र सुख ही जिसकी क्षणिक विश्रान्तिका स्वरूप है, जिसमें पाँचों इन्द्रियोंकी विषय-

विक्षोभोत्थितानर्थशतमहोर्मौ महारौरवाद्यनेकनिरयगतहाहेत्यादिकूजिताक्रोशनोद्भूतमहारवे सत्यार्जवदानदयाहिंसाशमदमधृत्याद्यात्मगुणपाथेयपूर्णज्ञानोडुपे सत्सङ्गसर्वत्यागमार्गे मोक्षतीरे एतस्मिन्महत्यर्णवे प्रापतन्पतितवत्यः ।

तृष्णारूप पवनके विक्षोभसे उठी हुई अनर्थरूप सैकड़ों उत्ताल तरङ्गें हैं; जहाँ महारौरव आदि अनेकों नरकोंके 'हा हा' आदि क्रन्दन और चिल्लाहटसे बड़ा कोलाहल मचा हुआ है, जिसमें सत्य, सरलता, दान, दया, अहिंसा, शम, दम और धैर्य आदि आत्माके गुणरूप पाथेयसे भरी हुई ज्ञानरूप नौका है, सत्सङ्ग और सर्वत्याग ही जिसमें [नौकाओंके आने-जानेका] मार्ग है तथा मोक्ष ही जिसका तीर है—ऐसे [संसाररूप] महासागरमें पतित हुए—गिरे ।

तस्मादग्न्यादिदेवताप्ययलक्षणापि या गतिर्व्याख्याता ज्ञानकर्मसमुच्चयानुष्ठानफलभूता सापि नालं संसारदुःखोपशमाय, इत्ययं विवक्षितोऽर्थोऽत्र । यत्र एवं तस्मादेवं विदित्वा परं ब्रह्म आत्मात्मनः सर्वभूतानां च यो वक्ष्यमाणविशेषणः प्रकृतश्च जगदुत्पत्तिस्थितिसंहारहेतुत्वेन स

अतः यहाँ यही अर्थ कहना इष्ट है कि ज्ञान और कर्मके समुच्चयानुष्ठानकी फलस्वरूपा जिस अग्नि आदि देवतामें लीन होनारूप गतिकी [पूर्व अध्यायोंमें] व्याख्या की गयी है वह भी सांसारिक दुःखकी शान्तिके लिये पर्याप्त नहीं है। क्योंकि ऐसी बात है इसलिये [देवतालयरूप गति संसारदुःखकी शान्तिका उपाय नहीं है] ऐसा जानकर जो परब्रह्म अपना और सब प्राणियोंका आत्मा है, जिसके विशेषण आगे बतलाये जानेवाले हैं और संसारकी उत्पत्ति, स्थिति और संहारके कारणरूपसे जिसका यहाँ प्रकरण है उसे संसारके सम्पूर्ण

सर्वसंसारदुःखोपशमनाय वेदितव्यः । तस्मात् "एष पन्था एतत्कर्मैतद् ब्रह्मैतत् सत्यम्" (ऐ० उ० २ । १ । १) यदेतत्परब्रह्मात्मज्ञानम् "नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय" (श्वे० उ० ३ । ८, ६ । १५) इति मन्त्रवर्णात् ।

तं स्थानकरणदेवतोत्पत्तिबीजभूतं पुरुषं प्रथमोत्पादितं पिण्डमात्मानमशनायापिपासाभ्यामन्ववार्जदनुगमितवान्संयोजितवानित्यर्थः । तस्य कारणभूतस्याशनायादिदोषवत्त्वात्तत्कार्यभूतानामपि देवतानामशनायादिमत्त्वम् । तास्ततोऽशनायापिपासाभ्यां पीड्यमाना एनं पितामहं स्रष्टारमब्रुवन्नुक्तवत्यः—आयतनमधिष्ठानं नोऽस्मभ्यं प्रजानीहि विधत्स्व । यस्मिन्नायतने प्रतिष्ठिताः समर्थाः सत्योऽन्नमदाम भक्षयाम इति ॥ १ ॥

दुःखोंकी शान्तिके लिये जानना चाहिये । अतः "मोक्षप्राप्तिका और कोई मार्ग नहीं है" इस श्रुतिके अनुसार यह जो परब्रह्मका आत्मस्वरूपसे ज्ञान है "यही मार्ग है, यही कर्म है, यही ब्रह्म है और यही सत्य है ।"

स्थान (इन्द्रियगोलक), इन्द्रिय और इन्द्रियाभिमानी देवताओंकी उत्पत्तिके बीजभूत पुरुषरूपसे प्रथम उत्पन्न किये हुए उस पिण्ड अर्थात् आत्माको उसने क्षुधा और पिपासासे अन्ववार्जित—अनुगमित अर्थात् संयुक्त किया । उस कारणभूत पिण्डके क्षुधा आदि दोषोंसे युक्त होनेके कारण उसके कार्यभूत देवता आदि भी क्षुधा आदिसे युक्त हुए । तब क्षुधा-पिपासासे पीडित होकर उन्होंने उस जगद्रचयिता पितामहसे कहा—'हमारे लिये आयतन—आश्रयस्थानकी व्यवस्था करो, जिस आयतनमें प्रतिष्ठित होकर हम सामर्थ्यवान् हो अन्न भक्षण कर सकें' ॥ १ ॥

गो और अश्वशरीरकी उत्पत्ति तथा देवताओंद्वारा उनकी अस्वीकृति

एवमुक्त ईश्वरः—

ऐसा कहे जानेपर ईश्वर—

**ताभ्यो गामानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ।
ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति ॥ २ ॥**

उन देवताओंके लिये गौ ले आया । वे बोले—'यह हमारे लिये पर्याप्त नहीं है ।' [फिर वह] उनके लिये घोड़ा ले आया । वे बोले—'यह भी हमारे लिये पर्याप्त नहीं है' ॥ २ ॥

ताभ्यो देवताभ्यो गां गवाकृतिविशिष्टं पिण्डं ताभ्य एवाद्भ्यः पूर्ववत्पिण्डं समुद्धृत्य मूर्छयित्वानयद्दर्शितवान् । ताः पुनर्गवाकृतिं दृष्ट्वाब्रुवन्—न वै नोऽस्मदर्थमधिष्ठानायान्नमत्तुमयं पिण्डोऽलं न वै । अलं पर्याप्तः, अत्तुं न योग्य इत्यर्थः । गवि प्रत्याख्याते ताभ्योऽश्वमानयत्ता अब्रुवन्न वै नोऽयमलमिति पूर्ववत् ॥ २ ॥

उन देवताओंके लिये गौ—गौके आकारवाला पिण्ड पूर्ववत् उस जलसे निकालकर—अवयवोंकी योजनाद्वारा रचकर लाया अर्थात् उसे उन देवताओंको दिखलाया । उस गौके समान आकारवाले प्राणीको देखकर वे पुनः बोले यह पिण्ड हमारे लिये अन्न भक्षण करनेके निमित्त आश्रय बनानेके लिये पर्याप्त नहीं है । 'अलम्' का अर्थ पर्याप्त है । अर्थात् [यह आश्रय] भोजन करनेके योग्य नहीं है ।' गौका परित्याग कर देनेपर वह उनके लिये घोड़ा लाया । तब वे 'हमारे लिये यह भी पर्याप्त नहीं है' इस प्रकार पूर्ववत् कहने लगे ॥ २ ॥

मनुष्यशरीरकी उत्पत्ति और देवताओंद्वारा उसकी स्वीकृति

सर्वप्रत्याख्याने—

इस प्रकार सबका त्याग कर दिया जानेपर—

**ताभ्यः पुरुषमानयत्ता अब्रुवन् सुकृतं बतेति ।
पुरुषो वाव सुकृतम् । ता अब्रवीद्यथायतनं प्रविशतेति ॥ ३ ॥**

वह उनके लिये पुरुष ले आया। वे बोले—'यह सुन्दर बना है, निश्चय पुरुष ही सुन्दर रचना है।' उन (देवताओं) से ईश्वरने कहा—'अपने-अपने आयतन (आश्रयस्थानों) में प्रवेश कर जाओ' ॥ ३ ॥

ताभ्यः पुरुषमानयत्स्वयोनिभूतम्। ताः स्वयोनिं पुरुषं दृष्ट्वा अखिन्नाः सत्यः सुकृतं शोभनं कृतमिदमधिष्ठानं बतेत्यब्रुवन्। तस्मात्पुरुषो वाव पुरुष एव सुकृतं सर्वपुण्यकर्महेतुत्वात्।

स्वयं वा स्वेनैवात्मना स्वमायाभिः कृतत्वात्सुकृतमित्युच्यते।

ता देवता ईश्वरोऽब्रवीदिष्टमासामिदमधिष्ठानमिति मत्वा, सर्वे हि स्वयोनिषु रमन्ते, अतो यथायतनं यस्य यद्वदनादिक्रियायोग्यमायतनं तत्प्रविशतेति ॥३॥

[वह] उनके लिये उनका योनिस्वरूप पुरुष ले आया। अपने योनिभूत उस पुरुषको देखकर वे खेदरहित हो इस प्रकार बोले—'यह अधिष्ठान सुन्दर बना है। अतः सम्पूर्ण पुण्यकर्मोंका कारण होनेसे निश्चय पुरुष ही सुकृत है। अथवा स्वयं अपने-आप अपनी ही मायासे रचा होनेके कारण 'सुकृत' ऐसा कहा जाता है।'

ईश्वरने यह समझकर कि इन्हें यह आश्रयस्थान प्रिय है, क्योंकि सभी अपनी योनिमें सन्तुष्ट रहा करते हैं, उन देवताओंसे कहा—'जिसका जो आयतन है उस अपनी सम्भाषणादि क्रियाके योग्य आयतनमें तुम सब प्रविष्ट हो जाओ' ॥३॥

देवताओंका अपने-अपने आयतनोंमें प्रवेश

तथास्त्वित्यनुज्ञां प्रतिलभ्येश्वरस्य नगर्यामिव बलाधिकृतादयः—

'ऐसा ही हो' इस प्रकार राजाकी आज्ञा पाकर जिस प्रकार नगरीमें सेनाध्यक्षादि [प्रवेश कर जाते हैं उसी प्रकार]—

अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशद्वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशदादित्यश्चक्षुर्भूत्वाक्षिणी प्राविशद्दिशः श्रोत्रं भूत्वा कर्णौ प्राविशन्नोषधिवनस्पतयो लोमानि भूत्वा त्वचं प्राविशंश्चन्द्रमा मनो भूत्वा हृदयं प्राविशन्मृत्युरपानो भूत्वा नाभिं प्राविशदापो रेतो भूत्वा शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

अग्निने वागिन्द्रिय होकर मुखमें प्रवेश किया, वायुने प्राण होकर नासिका-रन्ध्रोंमें प्रवेश किया, सूर्यने चक्षु-इन्द्रिय होकर नेत्रोंमें प्रवेश किया, दिशाओंने श्रवणेन्द्रिय होकर कानोंमें प्रवेश किया, ओषधि और वनस्पतियोंने लोम होकर त्वचामें प्रवेश किया, चन्द्रमाने मन होकर हृदयमें प्रवेश किया, मृत्युने अपान होकर नाभिमें प्रवेश किया तथा जलने वीर्य होकर लिङ्गमें प्रवेश किया ॥ ४ ॥

अग्निर्वागभिमानी वागेव भूत्वा स्वां योनिं मुखं प्राविशत्तथोक्तार्थमन्यत् । वायुर्नासिके आदित्योऽक्षिणी दिशः कर्णौ ओषधिवनस्पतयस्त्वचं चन्द्रमा हृदयं मृत्युर्नाभिमापः शिश्नं प्राविशन् ॥ ४ ॥

वागिन्द्रियके अभिमानी अग्निने वाक् होकर अपने कारणस्वरूप मुखमें प्रवेश किया । इसी प्रकार औरोंका भी अर्थ समझना चाहिये । [इस प्रकार] वायुने नासिकामें, सूर्यने नेत्रोंमें, दिशाओंने कानोंमें, ओषधि और वनस्पतियोंने त्वचामें, चन्द्रमाने हृदयमें, मृत्युने नाभिमें और जलने शिश्न (लिङ्ग) में प्रवेश किया ॥ ४ ॥

क्षुधा और पिपासाका विभाग

एवं लब्धाधिष्ठानासु देवतासु—

इस प्रकार देवताओंके आश्रय पा लेनेपर—

तमशनायापिपासे अब्रूतामावाभ्यामभिप्रजानीहीति । ते अब्रवीदेतास्वेव वां देवतास्वाभजाम्येतासु भागिन्यौ करोमीति । तस्माद्यस्यै कस्यै च देवतायै हविर्गृह्यते भागिन्यावेवास्यामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

उस (ईश्वर) से क्षुधा-पिपासाने कहा—'हमारे लिये आश्रयकी योजना कीजिये ।' तब [उसने] उनसे कहा—'तुम दोनोंको मैं इन देवताओंमें ही भाग दूँगा अर्थात् मैं तुम्हें इन्हींमें भागीदार करूँगा ।' अतः जिस किसी देवताके लिये हवि दी जाती है उस देवताकी हविमें ये भूख-प्यास भी भागीदार होती ही हैं ॥ ५ ॥

निरधिष्ठाने सत्यौ अशनायापिपासे तमीश्वरमब्रूतामुक्तवत्यौ । आवाभ्यामधिष्ठानमभिप्रजानीहि चिन्तय विधत्स्वेत्यर्थः । स ईश्वर एवमुक्तस्ते अशनायापिपासे अब्रवीत् । न हि युवयोर्भावरूपत्वाच्चेतनावद्वस्त्वनाश्रित्यान्नात्तृत्वं संभवति । तस्मादेतास्वेवाग्न्याद्यासु वां युवां देवतास्वध्यात्माधिदेवतास्वाभजामि वृत्तिसंविभागेनानुगृह्णामि । एतासु

क्षुधा और पिपासाने आश्रयहीन होनेके कारण उस ईश्वरसे कहा—'हमारे लिये अधिष्ठानका अभिप्रज्ञान—चिन्तन अर्थात् विधान करो ।' ऐसा कहे जानेपर उस ईश्वरने उन क्षुधा-पिपासाओंसे कहा—'भावरूप होनेके कारण तुम दोनोंका किसी चेतन वस्तुको आश्रय किये बिना अन्न भक्षण करना सम्भव नहीं है । अतः मैं इन अध्यात्म और अधिदैव अग्नि आदि देवताओंमें ही तुम दोनोंको आभाजित करता हूँ अर्थात् तुम्हारी वृत्तिका विभाग करके अनुगृहीत करता

भागिन्यौ यद्देवत्यो यो भागो हविरादिलक्षणः स्यात्तस्यास्तेनैव भागेन भागिन्यौ भागवत्यौ वां करोमीति । सृष्ट्यादावीश्वर एवं व्यदधाद्यस्मात्तस्मादिदानीमपि यस्यै कस्यै च देवतायै अर्थाय हविर्गृह्यते चरुपुरोडाशादिलक्षणं भागिन्यावेव भागवत्यावेवास्यां देवतायामशनायापिपासे भवतः ॥ ५ ॥

हूँ । मैं तुम्हें इन देवताओंमें ही भागी करता हूँ—अर्थात् जिस देवताका जो हवि आदि भाग है उसके उसी भागसे मैं तुम्हें उनकी भागिनी—भाग ग्रहण करनेवाली बनाता हूँ । क्योंकि सृष्टिके आदिमें ईश्वरने ऐसी व्यवस्था कर दी थी इसलिये इस समय भी जिस किसी देवताके लिये चरु-पुरोडाशादि हवि ग्रहण की जाती है ये क्षुधा-पिपासा भी उस देवतामें भागिनी होती ही हैं ॥ ५ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये
द्वितीयः खण्डः समाप्तः ॥ २ ॥



तृतीय खण्ड

अन्नरचनाका विचार

स ईक्षतेमे नु लोकाश्च लोकपालाश्चान्नमेभ्यः सृजा इति ॥ १ ॥

उस (ईश्वर) ने विचारा ये लोक और लोकपाल तो हो गये, अब इनके लिये अन्न रचूँ ॥ १ ॥

स एवमीश्वर ईक्षत, कथम् ? इमे नु लोकाश्च लोकपालाश्च मया सृष्टा अशनायापिपासाभ्यां च संयोजिताः, अतो नैषां स्थितिरन्नमन्तरेण। तस्मादन्नमेभ्यो लोकपालेभ्यः सृजै सृज इति।

एवं हि लोके ईश्वराणामनुग्रहे निग्रहे च स्वातन्त्र्यं दृष्टं स्वेषु। तद्वन्महेश्वरस्यापि सर्वेश्वरत्वात्सर्वान्प्रति निग्रहानुग्रहेऽपि स्वातन्त्र्यमेव ॥ १ ॥

उस ईश्वरने इस प्रकार ईक्षण किया—किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—] मैंने इन लोक और लोकपालोंकी रचना तो कर दी और इन्हें क्षुधा-पिपासासे संयुक्त भी कर दिया। अतः अन्नके बिना इनकी स्थिति नहीं हो सकती; इसलिये इन लोकपालोंके लिये मैं अन्न रचूँ।

इस प्रकार लोकमें ईश्वरों (समर्थों) की अपने लोगोंके ऊपर अनुग्रह एवं निग्रह करनेकी स्वतन्त्रता देखी जाती है। इसी प्रकार सर्वेश्वर होनेके कारण महेश्वर (परमेश्वर) की भी सबके प्रति निग्रह एवं अनुग्रहमें स्वतन्त्रता ही है ॥ १ ॥

अन्नकी रचना

सोऽपोऽभ्यतपत्ताभ्योऽभितप्ताभ्यो मूर्तिरजायत । या वै सा मूर्तिरजायतान्नं वै तत् ॥ २ ॥

उसने आपों (जलों) को लक्ष्य करके तप किया । उन अभितप्त आपोंसे एक मूर्ति उत्पन्न हुई, यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई वही अन्न है ॥ २ ॥

स ईश्वरोऽन्नं सिसृक्षुस्ता एव पूर्वोक्ता अप उद्दिश्याभ्यतपत् । ताभ्योऽभितप्ताभ्य उपादानभूताभ्यो मूर्तिर्घनरूपं धारणसमर्थं चराचरलक्षणमजायतोत्पन्नम् । अन्नं वै तन्मूर्तिरूपं या वै सा मूर्तिरजायत ॥ २ ॥

अन्न रचनेकी इच्छावाले उस ईश्वरने उन पूर्वोक्त जलोंको ही उद्देश्य करके तप किया । उन उपादानभूत अभितप्त जलोंसे ही धारण करनेमें समर्थ चराचरभूत घनरूप मूर्ति उत्पन्न हुई । यह जो मूर्ति उत्पन्न हुई वह मूर्तिरूप अन्न ही है ॥ २ ॥

अन्नका पलायन और उसके ग्रहणका उद्योग

तदेनत्सृष्टं पराङ्त्यजिघांसत्तद्वाचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुम् । यद्धैनद्वाचाग्रहैष्यदभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ३ ॥

[लोकपालोंके आहारार्थ] रचे गये उस इस अन्नने उनकी ओरसे मुँह फेरकर भागना चाहा । तब उस (आदिपुरुष) ने उसे वागिन्द्रियद्वारा ग्रहण करना चाहा, किन्तु वह उसे वाणीसे ग्रहण न कर सका । यदि वह इसे वाणीसे ग्रहण कर लेता तो [उससे परवर्ती पुरुष भी] अन्नको बोलकर ही तृप्त हो जाया करते ॥ ३ ॥

तदेनदन्नं लोकलोकपालाना-मर्थेऽभिमुखे सृष्टं तद्यथा मूषकादिर्मार्जारादिगोचरे सन्मम मृत्युरन्नाद इति मत्वा परागञ्चतीति पराङ् सदत्यजिघांसदतिगन्तुमैच्छत् पलायितुं प्रारभतेत्यर्थः ।

लोक और लोकपालोंके निमित्त उनके सम्मुख निर्मित हुआ अन्न यह मानकर कि अन्न भक्षण करनेवाला तो मेरी मृत्यु है, उसकी ओरसे मुख मोड़कर, जिस प्रकार बिलाव आदिके सामनेसे [उसे अपनी मृत्यु समझकर] चूहे आदि भागना चाहते हैं उसी प्रकार उन अन्न भक्षण करनेवालोंका अतिक्रमण करके जानेकी इच्छा करने लगा; अर्थात् उसने उनके सामनेसे दौड़ना आरम्भ कर दिया ।

तदन्नाभिप्रायं मत्वा स लोकलोकपालसंघातः कार्यकरणलक्षणः पिण्डः प्रथमजत्वाद् अन्यांश्चान्नादानपश्यंस्तदन्नं वाचा वदनव्यापारेणाजिघृक्षद् ग्रहीतुमैच्छत् । तदन्नं नाशक्नोन्न समर्थोऽभवद्वाचा वदनक्रियया ग्रहीतुमुपादातुम् । स प्रथमजः शरीरी यद्यदि हैनद्वाचाग्रहैष्यद्गृहीतवान्स्यादन्नं सर्वोऽपि लोकस्तत्कार्यभूतत्वादभिव्याहृत्य हैवान्नमत्रप्स्यत्तृप्तोऽभविष्यत्, न चैतदस्ति,

अन्नके उस अभिप्रायको जानकर लोक और लोकपालोंके देह-इन्द्रियरूप संघात उस पिण्डने प्रथमोत्पन्न होनेके कारण अन्य अन्नभोक्ताओंको न देखकर उस अन्नको वाणी अर्थात् बोलनेकी क्रियासे ग्रहण करना चाहा । किन्तु वह वदनक्रियासे उस अन्नको ग्रहण करनेमें शक्त—समर्थ न हुआ । वह सबसे पहले उत्पन्न हुआ देहधारी यदि इस अन्नको वाणीसे ग्रहण कर लेता तो उसका कार्यभूत होनेके कारण सम्पूर्ण लोक अन्नको बोलकर ही तृप्त हो जाया करता । परन्तु बात यह है नहीं,

अतो नाशक्नोद्वाचा ग्रहीतुमित्यवगच्छामः पूर्वजोऽपि ॥ ३ ॥	अतः हमें जान पड़ता है कि वह पूर्वोत्पन्न विराट् पुरुष भी उसे वाणीसे ग्रहण करनेमें समर्थ नहीं हुआ था॥३॥
समानमुत्तरम्—	आगेका प्रसंग भी इसीके समान है—

तत्प्राणेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्प्राणेन ग्रहीतुं स यद्धैनत्प्राणेनाग्रहैष्यदभिप्राप्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ४ ॥

फिर उसने इसे प्राणसे ग्रहण करना चाहा; किन्तु इसे प्राणसे ग्रहण करनेमें समर्थ न हुआ। यदि वह इसे प्राणसे ग्रहण कर लेता तो [इस समय भी पुरुष] अन्नके उद्देश्यसे प्राणक्रिया करके तृप्त हो जाता ॥ ४ ॥

तच्चक्षुषाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्चक्षुषा ग्रहीतुं स यद्धैनच्चक्षुषाग्रहैष्यद् दृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ५ ॥

उसने इसे नेत्रसे ग्रहण करना चाहा; परन्तु नेत्रसे ग्रहण करनेमें समर्थ न हुआ। यदि वह इसे नेत्रसे ग्रहण कर लेता तो [इस समय भी पुरुष] अन्नको देखकर ही तृप्त हो जाया करता ॥ ५ ॥

तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छ्रोत्रेण ग्रहीतुं स यद्धैनच्छ्रोत्रेणाग्रहैष्यच्छ्रुत्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ६ ॥

उसने इसे श्रोत्रसे ग्रहण करना चाहा; किन्तु वह श्रोत्रसे ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे श्रोत्रसे ग्रहण कर लेता तो [इस समय भी पुरुष] अन्नको सुनकर ही तृप्त हो जाता ॥ ६ ॥

तत्त्वचाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोत्त्वचा ग्रहीतुं स यद्धै-
नत्त्वचाग्रहैष्यत्स्पृष्ट्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ७ ॥

उसने इसे त्वचासे ग्रहण करना चाहा; किन्तु वह त्वचासे ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे त्वचासे ग्रहण कर लेता तो [इस समय भी पुरुष] अन्नको स्पर्श करके तृप्त हो जाया करता ॥ ७ ॥

तन्मनसाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोन्मनसा ग्रहीतुं स यद्धै-
नन्मनसाग्रहैष्यद्ध्यात्वा हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ८ ॥

उसने इसे मनसे ग्रहण करना चाहा; किन्तु वह मनसे ग्रहण न कर सका। यदि वह इसे मनसे ग्रहण कर लेता तो [इस समय भी पुरुष] अन्नका ध्यान करके ही तृप्त हो जाया करता ॥ ८ ॥

तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्तन्नाशक्नोच्छिश्नेन ग्रहीतुं स
यद्धैनच्छिश्नेनाग्रहैष्यद्विसृज्य हैवान्नमत्रप्स्यत् ॥ ९ ॥

उसने इसे शिश्न (लिङ्ग) से ग्रहण करना चाहा; परन्तु वह शिश्नसे ग्रहण करनेमें समर्थ न हुआ। यदि वह इसे शिश्नसे ग्रहण कर लेता तो [इस समय भी पुरुष] अन्नका विसर्जन करके ही तृप्त हो जाता ॥ ९ ॥

अपानद्वारा अन्नग्रहण

तदपानेनाजिघृक्षत्तदावयत् सैषोऽन्नस्य ग्रहो यद्वा-
युरन्नायुर्वा एष यद्वायुः ॥ १० ॥

फिर उसने इसे अपानसे ग्रहण करना चाहा और इसे ग्रहण कर लिया। वह यह [अपान] ही अन्नका ग्रह (ग्रहण करनेवाला) है। जो वायु अन्नायु (अन्नद्वारा जीवन धारण करनेवाला) प्रसिद्ध है वह यह [अपान] वायु ही है ॥ १० ॥

तत्प्राणेन तच्चक्षुषा तच्छ्रोत्रेण तत्त्वचा तन्मनसा तच्छिश्नेन तेन तेन करणव्यापारेणान्नं ग्रहीतुमशक्नुवन्पश्चादपानेन वायुना मुखच्छिद्रेण तदन्नमजिघृक्षत् । तदावयत्तदन्नमेवं जग्राह आशितवान् । तेन स एषोऽपानवायुरन्नस्य ग्रहोऽन्नग्राहक इत्येतत् । यद्वायुर्यो वायुरन्नायुः अन्नबन्धनोऽन्नजीवनो वै प्रसिद्धः स एष यो वायुः ॥ ४–१० ॥

[इसी प्रकार उसने] उस अन्नको प्राणसे, नेत्रसे, श्रोत्रसे, त्वचासे, मनसे, शिश्नसे एवं भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंके व्यापारसे ग्रहण करनेमें असमर्थ होकर अन्तमें उसे मुखके छिद्रद्वारा अपानवायुसे ग्रहण करनेकी इच्छा की । तब उसे ग्रहण कर लिया; अर्थात् इस प्रकार इस अन्नको भक्षण कर लिया । उसी कारणसे वह यह अपानवायु अन्नका ग्रह अर्थात् अन्न ग्रहण करनेवाला है । जो वायु अन्नायु—अन्नरूप बन्धनवाला अर्थात् अन्नरूप जीवनवाला प्रसिद्ध है वह यह [अपान] वायु ही है ॥ ४–१० ॥

परमात्माका शरीरप्रवेशसम्बन्धी विचार

स ईक्षत कथं न्विदं मदृते स्यादिति स ईक्षत कतरेण प्रपद्या इति । स ईक्षत यदि वाचाभिव्याहृतं यदि प्राणेनाभिप्राणितं यदि चक्षुषा दृष्टं यदि श्रोत्रेण श्रुतं यदि त्वचा स्पृष्टं यदि मनसा ध्यातं यद्यपानेनाभ्यपानितं यदि शिश्नेन विसृष्टमथ कोऽहमिति ॥ ११ ॥

उस परमेश्वरने विचार किया 'यह (पिण्ड) मेरे बिना कैसे रहेगा ?' वह सोचने लगा 'मैं किस मार्गसे [इसमें] प्रवेश करूँ ?' उसने विचारा, 'यदि [मेरे बिना] वाणीसे बोल लिया जाय, यदि प्राणसे प्राणन किया कर ली जाय, यदि नेत्रेन्द्रियसे देख लिया जाय, यदि कानसे सुना जा

सके, यदि त्वचासे स्पर्श कर लिया जाय, यदि मनसे चिन्तन कर लिया जाय, यदि अपानसे भक्षण कर लिया जाय और यदि शिश्नसे विसर्जन किया जा सके तो मैं कौन रहा ? [अर्थात् यदि मेरे बिना ये सब इन्द्रियोंके व्यापार हो जाते तो मेरा तो कोई प्रयोजन ही न था; तात्पर्य यह कि राजाकी प्रेरणाके बिना नगरके कार्योंके समान मेरी प्रेरणाके बिना इनका होना असम्भव है]' ॥ ११ ॥

स एवं लोकलोकपालसंघातस्थितिमन्ननिमित्तां कृत्वा पुरपौरतत्पालयितृस्थितिसमां स्वामीव ईक्षत—कथं नु केन प्रकारेणेति वितर्कयन्निदं मदृते मामन्तरेण पुरस्वामिनम्, यदिदं कार्यकरणसंघातकार्यं वक्ष्यमाणं कथं नु खलु मामन्तरेण स्यात्परार्थं सत्। यदि वाचाभिव्याहृतमित्यादि केवलमेव वाग्व्यवहरणादि तन्निरर्थकं न कथंचन भवेद्बलिस्तुत्यादिवत्; पौरवन्द्यादिभिः प्रयुज्यमानं स्वाम्यर्थं सत्तत्स्वामिनमन्तरेणासत्येव स्वामिनि तद्वत्।

उस परमात्माने नगर, नगरनिवासी और उनके रक्षक [राजकर्मचारी आदि] की नियुक्तिके समान अन्नरूप निमित्तवाली लोक और लोकपालोंके संघातकी स्थिति कर नगरके स्वामीके समान विचार किया—'कथं नु' यानी किस प्रकारसे—इस प्रकार वितर्क करते हुए [उसने सोचा] यह जो आगे बतलाया जानेवाला कार्य (भूत) और करणों (इन्द्रियों) के संघातका कार्य (व्यापार) है वह परार्थ (दूसरेके लिये) होनेके कारण मेरे सिवा अर्थात् पुरके स्वामीरूप मेरे बिना कैसे होगा ? जिस प्रकार अपने स्वामीके लिये प्रयुक्त पुरवासी और बन्दीजन आदिकी बलि (कर) एवं स्तुति आदि स्वामीके बिना अर्थात् स्वामीके अभावमें निरर्थक ही है उसी प्रकार [मेरे बिना भी] यह जो वाणीसे बोलना आदि है अर्थात् केवल वाग्व्यापारादि है वह निरर्थक ही होगा यानी किसी प्रकार न हो सकेगा।

तस्मान्मया परेण स्वामिनाधिष्ठात्रा कृताकृतफलसाक्षिभूतेन भोक्त्रा भवितव्यं पुरस्येव राज्ञा। यदि नामैतत्संहतकार्यस्य परार्थत्वं परार्थिनं मां चेतनमन्तरेण भवेत्पुरपौरकार्यमिव तत्स्वामिनम्, अथ कोऽहं किंस्वरूपः कस्य वा स्वामी ?

अतः नगरके (अधिष्ठाता) राजाके समान इस देहरूप संघातके परम प्रभु और अधिष्ठाता मुझे भी इसके पाप-पुण्यके फलके साक्षी और भोक्तारूपसे स्थित होना चाहिये। यदि इस देहेन्द्रियसंघातका कार्य परार्थ (दूसरेके लिये) है और वह पुरस्वामीके बिना पुर और पुरवासियोंके कार्यके समान मुझ परार्थी अपने चेतन रक्षकके बिना हो सकता है तो मैं क्या रहा ? अर्थात् किस स्वरूपवाला अथवा किसका स्वामी रहा ?

यद्यहं कार्यकरणसंघातमनुप्रविश्य वागाद्यभिव्याहृतादिफलं नोपलभेय राजेव पुरमाविश्याधिकृतपुरुषकृताकृतावेक्षणम्; न कश्चिन्मामयं सन्नेवंरूपश्चेत्यधिगच्छेद्विचारयेत्। विपर्यये तु योऽयं वागाद्यभिव्याहृतादीदमिति वेद, स सन्वेदनरूपश्चेत्यधिगन्तव्योऽहं स्याम्; यदर्थ-

जिस प्रकार राजा नगरमें प्रवेशकर वहाँके अधिकारी पुरुषोंके कार्य-अकार्यादिका निरीक्षण करता है उसी प्रकार यदि मैं भी इस भूत और इन्द्रियोंके संघातमें प्रवेश करके वाणी आदिके उच्चारणादि फलको ग्रहण न करूँगा तो कोई भी मुझे 'यह सत् है और ऐसे स्वरूपवाला है' ऐसा अधिगम—विचार नहीं कर सकेगा। इसके विपरीत अवस्थामें ही मैं इस प्रकार जाना जा सकता हूँ कि जिस प्रकार स्तम्भ और भित्ति आदिसे मिलकर बने हुए मन्दिर आदि संघात अपने अवयवोंके सहित किसी अन्य असंहत वस्तुके लिये

मिदं संहतानां वागादीनामभिव्याहृतादि, यथा स्तम्भकुड्यादीनां प्रासादादिसंहतानां स्वावयवैरसंहतपरार्थत्वं तद्वदिति ।

एवमीक्षित्वातः कतरेण प्रपद्या इति । प्रपदं च मूर्धा चास्य संघातस्य प्रवेशमार्गौ । अनयोः कतरेण मार्गेणेदं कार्यकरणसंघातलक्षणं पुरं प्रपद्यै प्रपद्येयेति ॥ ११ ॥

होते हैं उसी प्रकार जिसके लिये इन संघातरूप वाणी आदिके उच्चारणादि व्यापार हैं और जो इन वाणी आदिके उच्चारणादिको 'इदम्' इस प्रकार जानता है वह मैं सत् और चेतनस्वरूप हूँ ।

इस प्रकार विचारकर [उसने सोचा] अतः मैं किस द्वारसे प्रवेश करूँ ? इस संघातमें प्रवेश करनेके दो मार्ग हैं—पदाग्र और मूर्धा । इनमेंसे मैं किस मार्गसे इस कार्यकरणके संघातरूप पुरमें प्रवेश करूँ ? ॥ ११ ॥

परमात्माका मूर्द्धद्वारसे शरीरप्रवेश

एवमीक्षित्वा न तावन्मद्भृत्यस्य प्राणस्य मम सर्वार्थाधिकृतस्य प्रवेशमार्गेण प्रपदाभ्यामधः प्रपद्ये । किं तर्हि पारिशेष्यादस्य मूर्धानं विदार्य प्रपद्येयमिति लोक इवेक्षितकारी—

इस प्रकार विचारकर परमेश्वरने निश्चय किया—'मैं सम्पूर्ण कार्योंके अधिकारी अपने सेवक प्राणके प्रवेश-मार्ग निम्नदेशीय चरणाग्रोंसे तो प्रवेश करूँगा नहीं । तो फिर किससे करूँगा ? अतः पदाग्रको त्याग कर बचे हुए मूर्धाको ही विदीर्ण करके प्रवेश करूँगा । इस प्रकार सोच-समझकर काम करनेवाले लोगोंके समान—

स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत । सैषा विदृतिर्नाम द्वास्तदेतन्नान्दनम् । तस्य त्रय आवसथा-

स्त्रयः स्वप्नाः, अयमावसथोऽयमावसथोऽयमावसथ इति ॥ १२ ॥

वह इस सीमा (मूर्द्धा) को ही विदीर्णकर इसीके द्वारा प्रवेश कर गया। वह यह द्वार 'विदृति' नामवाला है; यह नान्दन (आनन्दप्रद) है। यह आवसथ [नेत्र], यह आवसथ [कण्ठ], यह आवसथ [हृदय] इस प्रकार इसके तीन आवसथ (वासस्थान) और तीन स्वप्न हैं ॥ १२ ॥

स स्रष्टेश्वर एतमेव मूर्धसीमानं केशविभागावसानं विदार्यच्छिद्रीकृत्वैतया द्वारा मार्गेणेमं लोकं कार्यकरणसंघातं प्रापद्यत प्रविवेश। सेयं हि प्रसिद्धा द्वाः मूर्ध्नि तैलादिधारणकाले अन्तस्तद्रसादिसंवेदनात् । सैषा विदृतिर्विदारितत्वाद्विदृतिर्नाम् प्रसिद्धा द्वाः।

वह सृष्टिकर्ता ईश्वर इस मूर्धसीमाको ही, जिसका केशोंका विभाग ही अवसान है, विदीर्ण कर अर्थात् उसमें छिद्र कर उसीके द्वारा—उस मार्गसे ही इस लोक अर्थात् भूत और इन्द्रियोंके संघातमें प्रवेश कर गया। वही प्रसिद्ध द्वार है; क्योंकि शिरमें तैल आदि धारण करते समय भीतर उसके रसादिका अनुभव होता है। विदीर्ण किया जानेके कारण वह द्वार 'विदृति' अर्थात् विदृति नामसे प्रसिद्ध है।

इतराणि तु श्रोत्रादिद्वाराणि भृत्यादिस्थानीयसाधारणमार्गत्वान्न समृद्धीनि नानन्दहेतूनि। इदं तु द्वारं परमेश्वरस्यैव केवलस्येति तदेतन्नान्दनं नन्दनमेव

इससे भिन्न जो श्रोत्रादि द्वार हैं वे भृत्यादिरूप साधारण मार्ग होनेके कारण समृद्ध अर्थात् आनन्दके हेतु नहीं हैं। किन्तु यह मार्ग तो केवल परमेश्वरका ही है। अतः यह नान्दन (आनन्दप्रद) है। नन्दनको ही यहाँ नान्दन कहा है।

नान्दनमिति दैर्घ्यं छान्दसम्। नन्दत्यनेन द्वारेण गत्वा परस्मिन्ब्रह्मणीति।

तस्यैवं सृष्ट्वा प्रविष्टस्य जीवेनात्मना राज्ञ इव पुरं त्रय आवसथाः। जागरितकाल इन्द्रियस्थानं दक्षिणं चक्षुः, स्वप्नकालेऽन्तर्मनः, सुषुप्तिकाले हृदयाकाश इत्येतत्। वक्ष्यमाणा वा त्रय आवसथाः; पितृशरीरं मातृगर्भाशयः स्वं च शरीरमिति।

त्रयः स्वप्ना जाग्रत्स्वप्नसुषुप्त्याख्याः। ननु जागरितं प्रबोधरूपत्वान्न स्वप्नः; नैवम्, स्वप्न एव। कथम्? परमार्थस्वात्मप्रबोधाभावात्स्वप्नवदसद्वस्तुदर्शनाच्च। अयमेवावसथश्चक्षुर्दक्षिणं प्रथमः, मनोऽन्तरं द्वितीयः, हृदयाकाशस्तृतीयः।

'नान्दनम्' इस पद [के नकार] में दीर्घता वैदिक प्रक्रियाके अनुसार है। तात्पर्य यह है कि इस मार्गसे जाकर पुरुष परब्रह्ममें आनन्द प्राप्त करने लगता है।

पुरमें प्रविष्ट हुए राजाके समान इस प्रकार रचना करके उसमें जीवरूपसे प्रवेश करनेवाले उस ईश्वरके तीन आवसथ हैं—(१) जाग्रत् कालमें इन्द्रियोंका स्थान दक्षिण नेत्र; (२) स्वप्नकालमें मनके भीतर और (३) सुषुप्तिमें हृदयाकाशके अंदर। अथवा आगे बतलाये जानेवाले पितृदेह, मातृगर्भाशय और अपना ही शरीर—ये ही तीन आवसथ हैं।

तथा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति नामक तीन स्वप्न हैं। यदि कहो कि प्रबोधरूप होनेके कारण जाग्रत् स्वप्न नहीं है, तो ऐसी बात नहीं है; वह भी स्वप्न ही है। किस प्रकार? क्योंकि उस समय परमार्थ आत्मस्वरूपके बोधका अभाव होता है और स्वप्नके समान असत् वस्तुएँ दिखलायी दिया करती हैं। [उन आवसथोंमें] यह दक्षिण नेत्र ही प्रथम है, मनका अन्तर्भाग द्वितीय है और हृदयाकाश तृतीय है।

अयमावसथ इत्युक्तानुकीर्तनमेव। तेषु ह्ययमावसथेषु पर्यायेणात्मभावेन वर्तमानोऽविद्यया दीर्घकालं गाढप्रसुप्तः स्वाभाविक्या न प्रबुध्यतेऽनेकशतसहस्रानर्थसंनिपातजदुःखमुद्गराभिघातानुभवैरपि ॥ १२ ॥

अयमावसथः [ऐसा जो तीन बार कहा गया है] यह पूर्वकथितका ही अनुकीर्तन है । उन आवसथोंमें क्रमशः आत्मभावसे रहनेवाला यह जीव दीर्घकालतक स्वाभाविक अविद्यासे गाढ़ निद्रामें सोता रहता है और अनेकों शत-सहस्र अनर्थोंकी प्राप्तिसे होनेवाले दुःखरूप मुद्गरोंके आघातके अनुभवसे भी नहीं जगता ॥ १२ ॥

जीवका मोह और उसकी निवृत्ति

स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत् किमिहान्यं वावदिषदिति । स एतमेव पुरुषं ब्रह्म ततममपश्यत् । इदमदर्शमिती ३ ॥ १३ ॥

[इस प्रकार शरीरमें प्रवेश करके जीवरूपसे] उत्पन्न हुए उस परमेश्वरने भूतोंको [तादात्म्यभावसे] ग्रहण किया । और [गुरुकृपासे बोध होनेपर] 'यहाँ [मेरे सिवा] अन्य कौन है' ऐसा कहा । और मैंने इसे (अपने आत्मस्वरूपको) देख लिया है इस प्रकार उसने इस पुरुषको ही पूर्णतम ब्रह्मरूपसे देखा ॥ १३ ॥

स जातः शरीरे प्रविष्टो जीवात्मना भूतान्यभिव्यैख्यद्व्याकरोत् । स कदाचित्परमकारुणिकेनाचार्येणात्मज्ञानप्रबोधकृ-

उसने उत्पन्न होकर—जीवभावसे शरीरमें प्रविष्ट होकर भूतोंको व्याकृत किया [अर्थात् उन्हें तादात्म्यरूपसे ग्रहण किया] । फिर किसी समय परम कारुणिक आचार्यके द्वारा अपने कर्णमूलमें—जिसका शब्द आत्मज्ञानका दृढ़ बोध कराने-

च्छब्दिकायां वेदान्तमहावाक्य-भेर्यां तत्कर्णमूले ताड्यमानाया-मेतमेव सृष्ट्यादिकर्तृत्वेन प्रकृतं पुरुषं पुरि शयानमात्मानं ब्रह्म बृहत्ततमं तकारेणैकेन लुप्तेन ततमं व्याप्ततमं परिपूर्णमाका-शवत्प्रत्यबुध्यतापश्यत् । कथम् ? इदं ब्रह्म ममात्मनः स्वरूपमदर्शं दृष्टवानस्मि, अहो इति, विचार-णार्था प्लुतिः पूर्वम् ॥ १३ ॥

वाला है ऐसी—वेदान्तवाक्यरूप महा-भेरीके बजाये जानेपर उसने, जिस-का सृष्टि आदिके कर्तृत्वरूपसे प्रकरण चला हुआ है उस पुरुष—[शरीर-रूप] पुरमें शयन करनेवाले आत्मा-को ततम—इसमें एक तकारका लोप हुआ है। अतः तततम—व्याप्ततम अर्थात् आकाशके समान परिपूर्ण महान् ब्रह्मरूपसे जाना—साक्षात्कार किया। किस प्रकार साक्षात्कार किया [सो बतलाते हैं—] 'अहो ! मैंने अपने आत्माके स्वरूपको ही इस ब्रह्मरूपसे देखा है' इस प्रकार। यहाँ 'इती' पदमें जो प्लुत उच्चारण है वह विचार प्रदर्शित करनेके लिये है ॥ १३ ॥

'इन्द्र' शब्दकी व्युत्पत्ति

यस्मादिदमित्येव यत्साक्षाद-परोक्षाद्ब्रह्म सर्वान्तरमपश्यत् परोक्षेण—

क्योंकि जो [जीवरूपसे] सबके भीतर रहनेवाला ब्रह्म 'इदम् (यह)' इस प्रकार साक्षात् अपरोक्षरूपसे स्थित है उसे परोक्षरूपसे देखा था—

तस्मादिदन्द्रो नामेदन्द्रो ह वै नाम । तमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इत्याचक्षते परोक्षेण । परोक्षप्रिया इव हि देवाः परोक्षप्रिया इव हि देवाः ॥ १४ ॥

इसलिये उसका नाम 'इदन्द्र' हुआ, वह 'इदन्द्र' नामसे प्रसिद्ध है। 'इदन्द्र' होनेपर ही [ब्रह्मवेत्ता लोग] उसे परोक्षरूपसे 'इन्द्र' कहकर पुकारते हैं; क्योंकि देवगण परोक्षप्रिय ही होते हैं, देवता परोक्ष प्रिय ही होते हैं ॥ १४ ॥

तस्मादिदं पश्यतीतीदन्द्रो नाम परमात्मा । इदन्द्रो ह वै नाम प्रसिद्धो लोक ईश्वरः । तमेवमिदन्द्रं सन्तमिन्द्र इति परोक्षेण परोक्षाभिधानेनाचक्षते ब्रह्मविदः संव्यवहारार्थम्; पूज्यतमत्वात्प्रत्यक्षनामग्रहणभयात् । तथा हि परोक्षप्रियाः परोक्षनामग्रहणप्रिया इव एव हि यस्माद्देवाः; किमुत सर्वदेवानामपि देवो महेश्वरः । द्विर्वचनं प्रकृताध्यायपरिसमाप्त्यर्थम् ॥ १४ ॥

इसलिये जो इसे देखता है वह परमात्मा 'इदन्द्र' नामवाला है। लोकमें ईश्वर 'इदन्द्र' नामसे प्रसिद्ध है। इस प्रकार 'इदन्द्र' होनेपर भी ब्रह्मवेत्ता व्यवहारके लिये उसे 'इन्द्र' इस परोक्ष नामसे पुकारते हैं; क्योंकि पूज्यतम होनेके कारण उसका प्रत्यक्ष नाम लेनेमें उन्हें भय है। जब कि देवता लोग भी परोक्षप्रिय अर्थात् अपना परोक्ष नाम ग्रहण किया जाना ही प्रिय माननेवाले हैं तब सम्पूर्ण देवताओंके भी देव महेश्वरका तो कहना ही क्या है ? प्रकृत अध्यायकी समाप्ति सूचित करनेके लिये यहाँ दो बार कहा गया है ॥ १४ ॥

इति श्रीमत्परहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये प्रथमाध्याये
तृतीयः खण्डः समाप्तः ॥ ३ ॥

उपनिषत्क्रमेण प्रथमः, आरण्यकक्रमेण
चतुर्थोऽध्यायः समाप्तः ।

द्वितीय अध्याय

प्रथम खण्ड

प्रस्तावना

अतीताध्याय-विषयावलोकनम्

अस्मिंश्चतुर्थेऽध्याय एष वाक्यार्थः—जगदुत्पत्तिस्थितिप्रलयकृदसंसारी सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्ववित्सर्वमिदं जगत्स्वतोऽन्यद्वस्त्वन्तरमनुपादायैव आकाशादिक्रमेण सृष्ट्वा स्वात्मप्रबोधनार्थं सर्वाणि च प्राणादिमच्छरीराणि स्वयं प्रविवेश। प्रविश्य च स्वमात्मानं यथाभूतमिदं ब्रह्मास्मीति साक्षात्प्रत्यबुध्यत। तस्मात्स एव सर्वशरीरेष्वेक एवात्मा नान्य इति। अन्योऽपि "मम आत्मा ब्रह्मास्मीत्येवं विद्यात्" इति।

इस (पूर्वोक्त) चौथे* अध्यायमें यह वाक्यार्थ विवक्षित है—† जगत्की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करनेवाले असंसारी सर्वशक्तिमान् सर्वज्ञने अपनेसे भिन्न किसी अन्य वस्तुको ग्रहण किये बिना ही इस सम्पूर्ण जगत्की आकाशादिक्रमसे रचना कर अपनेको स्वयं ही जाननेके लिये सम्पूर्ण प्राणादियुक्त शरीरमें स्वयं ही प्रवेश किया। और प्रवेश करके 'मैं यह ब्रह्म हूँ' इस प्रकार अपने यथार्थ स्वरूपका साक्षात् बोध प्राप्त किया। अतः समस्त शरीरमें एकमात्र वही आत्मा है, उससे भिन्न नहीं। इसके सिवा "[सम्पूर्ण भूतोंमें] जो सम आत्मा ब्रह्म है वह मैं हूँ—ऐसा जाने"

* आरण्यकके क्रमसे यहाँ चौथी संख्या कही गयी है।

† पूर्व अध्यायमें आत्माकी एकता, लोक तथा लोकपालोंकी सृष्टि और क्षुधा-पिपासासे संयोग आदि अनेक विषयोंका वर्णन है। उनमें विवक्षित अभिप्रायका प्रतिपादन किया जाता है।

"आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत्" (१।१।१) इति "ब्रह्म ततमम्" (१।३।१३) इति चोक्तम्। अन्यत्र च।

"निश्चय पहले एक आत्मा ही था" तथा "[उसने] ब्रह्मको [आकाशके समान] अतिशय व्याप्त [जाना]" ऐसा भी कहा है। और [ऐसा ही] अन्य उपनिषदोंमें भी कहा है।

प्रवेशश्रुति-विचारः

सर्वगतस्य सर्वात्मनो बालाग्रमात्रमप्यप्रविष्टं नास्तीति कथं सीमानं विदार्य प्रापद्यत पिपीलिकेव सुषिरम्।

पूर्व०—उस सर्वगत सर्वात्माके लिये तो बालका अग्रभाग भी अप्रविष्ट नहीं है; फिर वह चींटीके बिलप्रवेशके समान मूर्धसीमाको विदीर्णकर किस प्रकार मनुष्य-शरीरमें प्रविष्ट हुआ?

नन्वल्पमिदं चोद्यं बहु चात्र चोदयितव्यम्। अकरणः सन्नीक्षत। अनुपादाय किंचिल्लोकानसृजत। अद्भ्यः पुरुषं समुद्धृत्यामूर्छयत्। तस्याभिध्यानान्मुखादि निर्भिन्नं मुखादिभ्यश्चाग्न्यादयो लोकपालास्तेषां चाशनायापिपासादिसंयोजनं तदायतनप्रार्थनं तदर्थं गवादि-

सिद्धान्ती—तुम्हारा यह प्रश्न तो अल्प है। अभी तो उपर्युक्त कथनमें बहुत कुछ पूछनेयोग्य बातें हैं। उसने इन्द्रियहीन होकर भी ईक्षण किया। किसी उपादानके बिना ही लोकोंकी रचना की। जलमेंसे पुरुष निकालकर उसे अवयवयोजनाद्वारा पुष्ट किया। अभिध्यानके द्वारा उसका मुख प्रकट हुआ तथा मुखादिसे अग्नि आदि लोकपाल प्रकट हुए। उनका क्षुधा-पिपासादिसे संयोग कराना, उनका आयतनके लिये प्रार्थना करना, उसके लिये गौ आदि

प्रदर्शनं तेषां यथायतनप्रवेशनं सृष्टस्यान्नस्य पलायनं वागादिभिस्तज्जिघृक्षा; एतत्सर्वं सीमाविदारणप्रवेशनसममेव ।

अस्तु तर्हि सर्वमेवेदमनुपपन्नम् ।

न; अत्रात्मावबोधमात्रस्य विवक्षितत्वात्सर्वोऽयमर्थवाद इत्यदोषः । मायाविवद्वा महामायावी देवः सर्वज्ञः सर्वशक्तिः सर्वमेतच्चकार । सुखावबोधनप्रतिपत्त्यर्थं लोकवदाख्यायिकादिप्रपञ्च इति युक्ततरः पक्षः । न हि सृष्ट्याख्यायिकादिपरिज्ञानात्किंचित्फलमिष्यते । ऐकात्म्यस्वरूपपरिज्ञानात्तु अमृतत्वं फलं सर्वोपनिषत्प्रसिद्धम् ।

दिखलाना, उन देवताओंका अपने-अपने अनुकूल आयतनोंमें प्रवेश करना, उत्पन्न हुए अन्नका भागना और उसे वाक् आदि इन्द्रियोंद्वारा ग्रहण करनेकी इच्छा करना—ये सब बातें भी सीमा विदीर्ण करने और शरीरमें प्रवेश करनेके समान ही [आश्चर्यजनक] हैं ।

पूर्व०—अच्छा तो, इन सभी बातोंको अनुपपन्न (असम्भव) मान लो ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि श्रुतिको यहाँ केवल आत्मावबोधमात्र कहना अभीष्ट होनेसे यह सब अर्थवाद है; अतः इसमें कोई दोष नहीं है । अथवा मायावीके समान महामायावी सर्वज्ञ सर्वशक्तिमान् प्रभुने इस सम्पूर्ण जगत्की रचना की है, और इस रहस्यका सरलतासे ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही लौकिक रीतिसे यह आख्यायिका आदिकी रचना की गयी है—इस प्रकार भी यह पक्ष युक्तियुक्त जान पड़ता है; क्योंकि केवल लोकरचनाकी आख्यायिका आदिके परिज्ञानसे कुछ भी फल नहीं मिलता । परन्तु आत्माके एकत्व और यथार्थ स्वरूपके ज्ञानसे अमरत्वरूप फल [प्राप्त होता है—यह] सभी उपनिषदोंमें प्रसिद्ध है ।

स्मृतिषु च गीताद्यासु "समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्" (गीता १३ । २७) इत्यादिना ।

तथा "सम्पूर्ण भूतोंमें समान भावसे स्थित परमेश्वरको" इत्यादि वाक्योंद्वारा गीता आदि स्मृतियोंमें भी [यही बात कही गयी है] ।

आत्मैकत्वे विचारः

ननु त्रय आत्मानः । भोक्ता कर्ता संसारी जीव एकः सर्वलोकशास्त्रप्रसिद्धः । अनेकप्राणिकर्मफलोपभोगयोग्यानेकाधिष्ठानवल्लोकदेहनिर्माणेन लिङ्गेन यथाशास्त्रप्रदर्शितेन पुरप्रासादादिनिर्माणलिङ्गेन तद्विषयकौशलज्ञानवांस्तत्कर्ता तक्षादिरिवेश्वरः सर्वज्ञो जगतः कर्ता द्वितीयश्चेतन आत्मा अवगम्यते । "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ४ । १) "नेति नेति" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) इत्यादिशास्त्रप्रसिद्ध औपनिषदः पुरुषस्तृतीयः । एवमेते त्रय आत्मानोऽन्योन्यविलक्षणाः । तत्र कथमेक एव आत्मा अद्वितीयः असंसारीति ज्ञातुं शक्यते ?

पूर्व०—आत्मा तो तीन हैं; उनमें एक तो सम्पूर्ण लोक और शास्त्रमें प्रसिद्ध कर्ता भोक्ता संसारी जीव है । नगर और प्रासादादिके निर्माणके लिङ्गसे जिस प्रकार तत्सम्बन्धी कौशलके ज्ञानवाले उनके रचयिता तक्षा (कारीगर) आदिका ज्ञान होता है उसी प्रकार अनेक प्राणियोंके कर्मफलके उपभोगयोग्य अनेकों अधिष्ठानोंवाले लोक और देहकी रचनाके शास्त्रप्रदर्शित लिङ्गसे दूसरे चेतन आत्मा—जगत्-कर्ता सर्वज्ञ ईश्वरका ज्ञान होता है । तथा तीसरा आत्मा "जहाँसे वाणी लौट आती है" एवं "यह नहीं यह नहीं" इत्यादि शास्त्रसे प्रसिद्ध औपनिषद पुरुष है । इस प्रकार ये तीनों आत्मा एक दूसरेसे विलक्षण हैं । अतः यह कैसे जाना जा सकता है कि आत्मा एक, अद्वितीय और असंसारी ही है ?

तत्र जीव एव तावत्कथं ज्ञायते ?

नन्वेवं ज्ञायते श्रोता मन्ता द्रष्टा आदेष्टा आघोष्टा विज्ञाता प्रज्ञातेति ।

ननु विप्रतिषिद्धं ज्ञायते यः श्रवणादिकर्तृत्वेनामतो मन्ताविज्ञातो विज्ञातेति च । तथा "न मतेर्मन्तारं मन्वीथा न विज्ञातेर्विज्ञातारं विजानीथाः" (बृ० उ० ३ । ४ । २)इत्यादि च ।

सत्यं विप्रतिषिद्धम्, यदि प्रत्यक्षेण ज्ञायेत सुखादिवत् । प्रत्यक्षज्ञानं च निवार्यते "न मतेर्मन्तारं मन्वीथाः" (बृ० उ० ३ । ४ । २) इत्यादिना । ज्ञायते तु श्रवणादिलिङ्गेन; तत्र कुतो विप्रतिषेधः ।

ननु श्रवणादिलिङ्गेनापि कथं ज्ञायते ? यावता यदा शृणोत्यात्मा श्रोतव्यं शब्दम्, तदा तस्य

सिद्धान्ती—इन तीनोंमें पहले[1] जीवका ही ज्ञान कैसे होता है ?

*पूर्व*०—इस प्रकार ज्ञान होता है कि 'वह श्रवण करनेवाला, मनन करनेवाला, द्रष्टा, आज्ञा करनेवाला, शब्द उच्चारण करनेवाला, विज्ञाता[2] और प्रज्ञाता[3] है ।'

सिद्धान्ती—परन्तु जिसका श्रवणादिके कर्तारूपसे ज्ञान होता है उसे 'अमत और मनन करनेवाला अविज्ञात और विशेष रूपसे जाननेवाला' इस प्रकार कहना तथा "मतिके मनन करनेवालेका मनन न करो, विज्ञातिके विज्ञाताको न जानो" इत्यादि श्रुतिवचन भी विरुद्ध होगा ।

*पूर्व*०—यदि उसे सुखादिके समान प्रत्यक्षरूपसे जाना जाय तो अवश्य विरुद्ध होगा । किन्तु "मतिके मनन करनेवालेका मनन न करो" इत्यादि वाक्यसे उसके प्रत्यक्षज्ञानका निवारण किया गया है । उसका ज्ञान तो श्रवणादि लिङ्गसे होता है; फिर इसमें विरोध कहाँ है ?

सिद्धान्ती—श्रवणादि लिङ्गसे भी आत्माका ज्ञान किस प्रकार हो सकता है ? क्योंकि जब और जिस समय आत्मा सुननेयोग्य शब्दको सुनता है उस समय श्रवणक्रियाके

१. सिद्धान्तीकी यह उक्ति पहले आत्मामें बतलाये हुए कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि धर्मोंका प्रतिषेध करनेके लिये है ।

२. विशेष जाननेवाला । ३. सबसे अधिक जाननेवाला ।

श्रवणक्रिययैव वर्तमानत्वान्मननविज्ञानक्रिये न संभवतः आत्मनि परत्र वा । तथान्यत्रापि मननादिक्रियासु । श्रवणादिक्रियाश्च स्वविषयेष्वेव । न हि मन्तव्यादन्यत्र मन्तुर्मननक्रिया संभवति ।

साथ ही वर्तमान रहनेके कारण उसके लिये अपनेमें अथवा अन्यत्र मनन या विज्ञानरूप क्रियाएँ संभव नहीं हैं। [इस प्रकार विजातीय क्रियाओंकी समकालीनताका निषेध करके अब सजातीय क्रियाओंका निषेध करते हैं—] इसी प्रकार अन्यत्र मनन आदि क्रियाओंमें भी समझना चाहिये । श्रवणादि क्रियाएँ भी अपने विषयोंमें ही प्रवृत्त हो सकती हैं [आश्रयमें नहीं] । मनन करनेवालेकी मननक्रिया मन्तव्यसे भिन्न स्थानमें सम्भव नहीं है ।

ननु मनसा सर्वमेव मन्तव्यम् ।

*पूर्व*०—मनसे तो सभीका मनन किया जाता है ।

सत्यमेवं तथापि सर्वमपि मन्तव्यं मन्तारमन्तरेण न मन्तुं शक्यम् ।

सिद्धान्ती—यह ठीक है; परन्तु जो कुछ मनन किया जाता है वह सब मननकर्ताके बिना नहीं किया जा सकता ।

यद्येवं किं स्यात् ?

*पूर्व*०—यदि ऐसा हो भी तो इससे क्या होगा ?

इदमत्र स्यात्; सर्वस्य योऽयं मन्ता स मन्तैवेति न स मन्तव्यः स्यात् । न च द्वितीयो मन्तुर्मन्तास्ति । यदा स आत्मनैव

सिद्धान्ती—इससे यहाँ यह होगा कि जो इस सबका मनन करनेवाला है वह मनन करनेवाला ही रहेगा, मन्तव्य नहीं होगा । तथा उस मनन करनेवालेका कोई दूसरा मननकर्ता भी नहीं है । यदि उसे

मन्तव्यत्वात् येन च मन्तव्यः आत्मा आत्मना यश्च मन्तव्य आत्मा तौ द्वौ प्रसज्येयाताम्। एक एवात्मा द्विधा मन्तृमन्तव्यत्वेन द्विशकलीभवेद्वंशादिवत्। उभयथाप्यनुपपत्तिरेव। यथा प्रदीपयोः प्रकाश्यप्रकाशकत्वानुपपत्तिः समत्वात्तद्वत्।

आत्माद्वारा ही मन्तव्य माना जाय तो जिस आत्मासे आत्मा मनन किया जाता है और जिस आत्माका मनन किया जाता है उनके दो होनेका प्रसंग उपस्थित हो जायगा। अथवा बाँस आदिके समान एक ही आत्मा मन्ता और मन्तव्यरूपसे दो भागोंमें विभक्त माना जायगा। किन्तु उपर्युक्त दोनों प्रकारसे अनुपपत्ति ही है। जैसे कि समानरूप होनेके कारण दो दीपकोंका परस्पर प्रकाश्य-प्रकाशकभाव नहीं बन सकता, उसी प्रकार [यहाँ समझना चाहिये]।

न च मन्तुर्मन्तव्ये मननव्यापारशून्यः कालोऽस्त्यात्ममननाय। यदापि लिङ्गेनात्मानं मनुते मन्ता; तदापि पूर्ववदेव लिङ्गेन मन्तव्य आत्मा यश्च तस्य मन्ता तौ द्वौ प्रसज्येयाताम् एक एव वा द्विधेति पूर्वोक्तदोषः। न प्रत्यक्षेण नाप्यनुमानेन ज्ञायते चेत् कथमुच्यते "स म आत्मेति विद्यात्" (कौषी० ३। ९) इति? कथं वा श्रोता मन्तेत्यादि?

इसके सिवा मन्ताको अपना मनन करनेके लिये मन्तव्य पदार्थोंका मनन करनेके व्यापारसे रहित कोई काल भी नहीं है। जिस समय भी किसी लिङ्गके द्वारा मन्ता अपना मनन करता है उस समय भी पहलेहीके समान लिङ्गसे मन्तव्य आत्मा और जो कोई उसका मनन करनेवाला है वे दो सिद्ध होते हैं; अथवा एक ही दो भागोंमें विभक्त है—इस प्रकार पूर्वोक्त दोष उपस्थित हो जाता है। और यदि वह न प्रत्यक्षसे जाना जाता है और न अनुमानसे तो ऐसा क्यों कहते हैं कि "वह मेरा आत्मा है—ऐसा जाने" और क्यों उसे श्रोता-मन्ता इत्यादि बतलाते हैं?

ननु श्रोतृत्वादिधर्मवानात्मा, अश्रोतृत्वादि च प्रसिद्धमात्मनः। किमत्र विषमं पश्यसि ?

पूर्व०—आत्मा तो श्रोतृत्वादि धर्मवाला है और आत्माके अश्रोतृत्व आदि धर्म भी [श्रुतिमें] प्रसिद्ध हैं। फिर इसमें तुम्हें विषमता क्या दिखलायी देती है ?

यद्यपि तव न विषमं तथापि मम तु विषमं प्रतिभाति। कथम् ? यदासौ श्रोता तदा न मन्ता यदा मन्ता तदा न श्रोता। तत्रैवं सति पक्षे श्रोता मन्ता पक्षे न श्रोता नापि मन्ता। तथान्यत्रापि च।

सिद्धान्ती—यद्यपि तुझे कोई विषमता ज्ञात नहीं होती, तथापि मुझे तो होती ही है। किस प्रकार कि जिस समय यह श्रोता होता है उस समय मन्ता नहीं होता और जब मन्ता होता है तब श्रोता नहीं होता। ऐसा होनेके कारण वह एक पक्षमें श्रोता और मन्ता है तो दूसरे पक्षमें न श्रोता है और न मन्ता ही है। ऐसा ही अन्यत्र (विज्ञाता आदिके सम्बन्धमें) भी समझना चाहिये।

यदैवं तदा श्रोतृत्वादिधर्मवानात्मा अश्रोतृत्वादिधर्मवान्वेति संशयस्थाने कथं तव न वैषम्यम्। यदा देवदत्तो गच्छति तदा न स्थाता गन्तैव। यदा तिष्ठति तदा न गन्ता स्थातैव। तदा अस्य पक्ष एव गन्तृत्वं स्थातृत्वं

जब कि ऐसी बात है तब आत्मा श्रोतृत्वादि धर्मवाला है अथवा अश्रोतृत्वादि धर्मवाला ? इस प्रकार संशयस्थान उपस्थित होनेपर तुझे विषमता क्यों नहीं दिखायी देती ? जिस समय देवदत्त चलता है उस समय वह चलनेवाला ही होता है ठहरनेवाला नहीं होता, तथा जिस समय वह ठहरता है उस समय वह ठहरनेवाला ही होता है, चलनेवाला नहीं होता। ऐसी अवस्थामें इसका गन्तृत्व और स्थातृत्व पाक्षिक

च । न नित्यं गन्तृत्वं स्थातृत्वं वा । तद्वत् ।

तथैवात्र काणादादयः पश्यन्ति । पक्षप्राप्तेनैव श्रोतृत्वादिना आत्मोच्यते श्रोता मन्तेत्यादिवचनात् । संयोगजत्वमयौगपद्यं च ज्ञानस्य ह्याचक्षते । दर्शयन्ति चान्यत्रमना अभूवं नादर्शमित्यादि युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिङ्गमिति च न्याय्यम् ।

भवत्वेवम्; किं तव नष्टं यद्येवं स्यात् ?

अस्त्वेवं तवेष्टं चेत् । श्रुत्यर्थस्तु न संभवति ।

किं न श्रोता मन्तेत्यादिश्रुत्यर्थः ?

न; न श्रोता न मन्तेत्यादिवचनात् ।

ही होता है, नित्यगन्तृत्व अथवा नित्यस्थातृत्व नहीं होता । इसी प्रकार [आत्माका श्रोतृत्वादि भी पाक्षिक ही सिद्ध होगा, नित्य नहीं] ।

काणाद आदि अन्य मतावलम्बी भी इस विषयमें ऐसा ही समझते हैं; क्योंकि इस विषयमें उनका कथन है कि पक्षमें प्राप्त होनेवाले श्रोतृत्वादिके कारण ही आत्मा श्रोता, मन्ता इत्यादि कहा जाता है । वे ज्ञानका संयोगजत्व (इन्द्रिय और मनके संयोगसे उत्पन्न होना) और अयौगपद्य (एक साथ न होना) प्रतिपादन करते हैं । और मनको एक साथ ज्ञान उत्पन्न न होनेमें वे 'मैं अन्यमनस्क था, इसलिये न देख सका' इत्यादि लिङ्ग प्रदर्शित करते हैं और यह युक्तिसङ्गत भी है ।

पूर्व०—ऐसा सिद्धान्त भले ही रहे; किन्तु यदि ऐसा हो भी तो तुम्हारी क्या हानि है ?

सिद्धान्ती—यदि तुम्हें अभिमत हो तो तुम्हारे लिये ऐसा भले ही हो; परन्तु यह श्रुतिका तात्पर्य तो हो नहीं सकता ।

पूर्व०—क्या श्रोता, मन्ता इत्यादि श्रुतिका अर्थ नहीं है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि [श्रुतिमें तो] 'न श्रोता है न मन्ता है' इत्यादि भी कहा है ।

ननु पाक्षिकत्वेन प्रत्युक्तं त्वया।

पूर्व०—परन्तु इस विरोधको तो तुमने पाक्षिक बतलाकर खण्डित कर दिया है।

न; नित्यमेव श्रोतृत्वाद्यभ्युपगमात्। "न हि श्रोतुः श्रुतेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४।३।२७) इत्यादिश्रुतेः।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि आत्माका श्रोतृत्व आदि तो नित्य ही माना गया है, जैसा कि "श्रोताकी श्रुतिका लोप कभी नहीं होता" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है।

एवं तर्हि नित्यमेव श्रोतृत्वाद्यभ्युपगमे प्रत्यक्षविरुद्धा युगपज्ज्ञानोत्पत्तिरज्ञानाभावश्चात्मनः कल्पितः स्यात्। तच्चानिष्टमिति।

पूर्व०—ऐसी दशामें तो आत्माका नित्य श्रोतृत्वादि माननेपर प्रत्यक्ष-विरुद्ध अनेक ज्ञानोंका एक साथ उत्पन्न होना और आत्मामें अज्ञानका अभाव ये दो बातें माननी पड़ेंगी। किन्तु यह किसीको अभीष्ट नहीं है।

नोभयदोषोपपत्तिः। आत्मनः श्रुत्यादिश्रोतृत्वादिधर्मवत्त्वश्रुतेः। अनित्यानां मूर्तानां च चक्षुरादीनां दृष्ट्याद्यनित्यमेव संयोगवियोगधर्मिणाम्, यथाग्नेर्ज्वलनं तृणादिसंयोगजत्वात्तद्वत्। न तु नित्यस्यामूर्तस्यासंयोगवियोगध-

सिद्धान्ती—इन दोनों दोषोंकी-सिद्धि नहीं हो सकती; क्योंकि श्रुतिके कथनानुसार आत्मा श्रुति आदिके श्रोतृत्वादि धर्मवाला है* जिस प्रकार अग्निका प्रज्वलित होना, तृणादिके संयोगसे होनेके कारण, अनित्य है; उसी प्रकार संयोग-वियोगधर्मी, मूर्त्त एवं अनित्य चक्षु आदिके धर्म दृष्टि आदि अनित्य ही हैं। किन्तु जो नित्य, अमूर्त्त और संयोग-वियोग-धर्मसे

* अर्थात् वह श्रुतिका श्रोता, मतिका मन्ता तथा विज्ञाता आदि रूपसे प्रसिद्ध है।

र्मिणः संयोगजदृष्ट्याद्यनित्यधर्मवत्त्वं संभवति । तथा च श्रुतिः "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) इत्याद्या । एवं तर्हि द्वे दृष्टी चक्षुषोऽनित्या दृष्टिर्नित्या चात्मनः । तथा च द्वे श्रुती श्रोत्रस्यानित्या नित्या चात्मस्वरूपस्य । तथा द्वे मती विज्ञाती बाह्याबाह्ये एवं ह्येव । तथा चेयं श्रुतिरुपपन्ना भवति "दृष्टेर्द्रष्टा श्रुतेः श्रोता" इत्याद्या ।

रहित है उस (आत्मा) का संयोगजनित दृष्टि आदि अनित्य धर्मोंसे युक्त होना सम्भव नहीं है। ऐसी ही "द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुति भी है। इस प्रकार दो दृष्टि सिद्ध होती हैं—(१) नेत्रकी अनित्य दृष्टि और (२) आत्माकी नित्य दृष्टि। इसी प्रकार दो श्रुति हैं—श्रोत्रकी अनित्य श्रुति और आत्माकी नित्य श्रुति । तथा इसी प्रकार बाह्य और अबाह्यरूप दो मति और दो विज्ञाति हैं। ऐसी अवस्थामें ही "दृष्टिका द्रष्टा है, श्रुतिका श्रोता है" इत्यादि श्रुति सार्थक हो सकती है ।

लोकेऽपि प्रसिद्धं चक्षुषस्तिमिरागमापाययोर्नष्टा दृष्टिर्जाता दृष्टिरिति चक्षुर्दृष्टेरनित्यत्वम्; तथा च श्रुतिमत्यादीनामात्मदृष्ट्यादीनां च नित्यत्वं प्रसिद्धमेव लोके । वदति हि उद्धृतचक्षुः स्वप्नेऽद्य मया भ्राता दृष्ट इति ।

लोकमें भी तिमिर रोगकी उत्पत्ति और विनाशसे 'दृष्टि नष्ट हो गयी, दृष्टि उत्पन्न हो गयी' इस प्रकार नेत्रकी दृष्टिका अनित्यत्व प्रसिद्ध ही है। इसी प्रकार श्रुति-मति इत्यादिका [अनित्यत्व माना गया है;] और आत्माकी दृष्टि आदिका नित्यत्व तो लोकमें प्रसिद्ध ही है। जिसके नेत्र निकाल लिये गये हैं वह पुरुष भी ऐसा कहता ही है कि 'आज स्वप्नमें मैंने अपने भाईको देखा था ।'

तथावगतबाधिर्यः स्वप्ने श्रुतो मन्त्रो ऽद्येत्यादि । यदि चक्षुःसंयोगजैवात्मनो नित्या दृष्टिस्तन्नाशे नश्येत् । तदोद्धृतचक्षुः स्वप्ने नीलपीतादि न पश्येत् । "न हि द्रष्टुर्दृष्टेः" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) इत्याद्या च श्रुतिरनुपपन्ना स्यात् । "तच्चक्षुः पुरुषो येन स्वप्ने पश्यति" इत्याद्या च श्रुतिः ।

तथा जिसका बहिरापन सबको ज्ञात है वह भी 'मैंने स्वप्नमें मन्त्र सुना' इत्यादि कहता ही है । यदि आत्माकी नित्य दृष्टि नेत्रेन्द्रियके संयोगसे ही उत्पन्न होनेवाली हो तो वह उसका नाश होनेपर नष्ट हो जाय । उस अवस्थामें जिसके नेत्र निकाल लिये गये हैं वह पुरुष स्वप्नमें नीला-पीला आदि नहीं देख सकेगा और तब "द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुति और "वह नेत्र है, जिसके द्वारा पुरुष स्वप्नमें देखता है" इत्यादि श्रुति भी निरर्थक हो जायगी ।

नित्या आत्मनो दृष्टिर्बाह्यानित्यदृष्टेर्ग्राहिका । बाह्यदृष्टेश्चोपजनापायाद्यनित्यधर्मवत्त्वात्तद्ग्राहिकाया आत्मदृष्टेस्तद्वदवभासत्वमनित्यत्वादि भ्रान्तिनिमित्तं लोकस्येति युक्तम् । यथा भ्रमणादिधर्मवदलातादिवस्तुविषयदृष्टिरपि भ्रमतीव तद्वत् । तथा

आत्माकी नित्य दृष्टि बाह्य अनित्य दृष्टिको ग्रहण करनेवाली है । बाह्य दृष्टि उत्पत्ति-विनाशादि अनित्य धर्मोंवाली है; अतः लोगोंको जो उसे ग्रहण करनेवाली आत्मदृष्टिका उसीके समान भासित होना और अनित्य होना आदि प्रतीत होता है वह भ्रान्तिके कारण है—ऐसा मानना ठीक ही है । जिस प्रकार भ्रमण आदि धर्मवाली अलातचक्र आदि वस्तुओंसे सम्बन्धित दृष्टि भी भ्रमती-सी जान पड़ती है; उसी प्रकार [इसे समझना

च श्रुतिः "ध्यायतीव लेलायतीव" (बृ० उ० ४ । ३ । ७) इति । तस्मादात्मदृष्टेर्नित्यत्वान्न यौगपद्यमयौगपद्यं वास्ति ।

बाह्यानित्यदृष्ट्युपाधिवशात्तु लोकस्य तार्किकाणां चागमसंप्रदायवर्जितत्वाद् अनित्या आत्मनो दृष्टिरिति भ्रान्तिरुपपन्नैव । जीवेश्वरपरमात्मभेदकल्पना चैतन्निमित्तैव । तथा च अस्ति नास्तीत्याद्याश्च यावन्तो वाङ्मनसयोर्भेदा यत्रैकं भवन्ति, तद्विषयाया नित्याया दृष्टेर्निर्विशेषायाः—अस्ति नास्ति, एकं नाना, गुणवदगुणम्, जानाति न जानाति, क्रियावदक्रियम्, फलवदफलम्, सबीजं निर्बीजम्, सुखं दुःखम्, मध्यममध्यम्, शून्यमशून्यम्, परोऽहमन्य इति वा सर्ववाक्प्रत्ययागोचरे स्वरूपे यो विकल्पयितुमिच्छति; स नूनं खमपि चर्म-

चाहिये] । ऐसा ही "ध्यायतीव लेलायतीव" आदि श्रुति भी कहती है । अतः नित्य होनेके कारण आत्मदृष्टिका यौगपद्य (अनेक दृष्टियोंका एक साथ होना) अथवा अयौगपद्य नहीं है ।

बाह्य अनित्य-दृष्टिरूप उपाधिके कारण लोकको और तार्किक पुरुषोंको वैदिक सम्प्रदायसे रहित होनेके कारण ऐसी भ्रान्ति होना उचित ही है कि आत्माकी दृष्टि अनित्य है । जीव, ईश्वर और परमात्माके भेदकी कल्पना भी इसी निमित्तसे है । इसी प्रकार अस्ति (है) नास्ति (नहीं है) आदि जितने भी वाणी और मनके भेद हैं वे सब जहाँ एक हो जाते हैं । उसे विषय करनेवाली नित्य निर्विशेष दृष्टिके सम्पूर्ण वाक्प्रतीतियोंके अविषय स्वरूपमें जो है-नहीं है, एक-अनेक, सगुण-निर्गुण, जानता है, नहीं जानता, सक्रिय-निष्क्रिय, सफल-निष्फल, सबीज-निर्बीज, सुख-दुःख, मध्य-अमध्य, शून्य-अशून्य अथवा पर-अहं एवं अन्यकी कल्पना करना चाहता है वह निश्चय ही आकाशको भी चमड़ेके

वद्वेष्टयितुमिच्छति, सोपानमिव च पद्भ्यामारोढुम्, जले खे च मीनानां वयसां च पदं दिदृक्षते। "नेति नेति" (बृ० उ० ३।९।२६) "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २।४।१) इत्यादिश्रुतिभ्यः। "को अद्धा वेद" (ऋ० सं० १।३०।६) इत्यादिमन्त्रवर्णात्।

समान लपेटना चाहता है और अपने पैरोंसे उसपर सीढ़ियोंके समान आरूढ़ होनेको उद्यत है। वह मानो जल और आकाशमें मछली तथा पक्षियोंके चरणचिह्न देखनेको उत्सुक है; जैसा कि "नेति नेति" "यतो वाचो निवर्तन्ते" इत्यादि श्रुतियों और "को अद्धा वेद[1]" इत्यादि मन्त्रवर्णसे सिद्ध होता है।

कथं तर्हि तस्य स म आत्मेति वेदनम्। ब्रूहि केन प्रकारेण तमहं स म आत्मेति विद्याम्।

पूर्व०—तो फिर उसे 'वह मेरा आत्मा है' इस प्रकार कैसे जाना जाता है? बतलाओ उसे मैं किस प्रकारसे 'वह मेरा आत्मा है' इस प्रकार जानूँगा?

अत्राख्यायिकामाचक्षते—कश्चित्किल मनुष्यो मुग्धः कैश्चिदुक्तः कस्मिंश्चिदपराधे सति धिक्त्वां नासि मनुष्य इति। स मुग्धतया आत्मनो मनुष्यत्वं प्रत्यायितुं कंचिदुपेत्याह ब्रवीतु भवान्कोऽहमस्मीति। स तस्य मुग्धतां ज्ञात्वाह। क्रमेण बोधयिष्यामीति। स्थावराद्यात्मभाव-

सिद्धान्ती—इस विषयमें एक आख्यायिका कहते हैं, किसी मूढ़ मनुष्यसे किसीने, उससे कोई अपराध बन जानेपर, कहा—'तुझे धिक्कार है, तू मनुष्य नहीं है।' उसने मूढतावश अपना मनुष्यत्व निश्चित करानेके लिये किसीके पास जाकर कहा—'आप बतलाइये, मैं कौन हूँ?' वह उसकी मूर्खता समझकर उससे बोला—'धीरे-धीरे बतलाऊँगा।' और फिर स्थावरादिमें

१. उसे साक्षात् कौन जानता है?

मपोह्य न त्वममनुष्य इत्युक्त्वोपरराम। स तं मुग्धः प्रत्याह भवान्मां बोधयितुं प्रवृत्तस्तूष्णीं बभूव। किं न बोधयतीति ? तादृगेव तद्भवतो वचनम् । नास्यमनुष्य इत्युक्तेऽपि मनुष्यत्वमात्मनो न प्रतिपद्यते यः स कथं मनुष्योऽसीत्युक्तोऽपि मनुष्यत्वमात्मनः प्रतिपद्येत ?

उसके आत्मत्वका निषेध बतलाकर 'तू अमनुष्य नहीं है,' ऐसा कहकर चुप हो गया। तब उस मूर्खने उससे कहा—'आप मुझे समझानेके लिये प्रवृत्त होकर अब चुप हो गये, समझाते क्यों नहीं हैं ?' उसीके समान आपके ये वचन हैं। जो पुरुष 'तू अमनुष्य नहीं, है' ऐसा कहनेपर अपना मनुष्यत्व नहीं समझता वह 'तू मनुष्य है' ऐसा कहनेपर भी अपना मनुष्यत्व कैसे समझ सकेगा ?

तस्माद्यथाशास्त्रोपदेश एवात्मावबोधविधिर्नान्यः। न ह्यग्नेर्दाह्यं तृणाद्यन्येन केनचिद्दग्धुं शक्यम्। अत एव शास्त्रमात्मस्वरूपं बोधयितुं प्रवृत्तं सदमनुष्यत्वप्रतिषेधेनेव "नेति नेति" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) इत्युक्त्वोपरराम। तथा "अनन्तरमबाह्यम्" (बृ० उ० २ । ५ । १९, ३ । ८ । ८) "अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः" (बृ० उ० २ । ५ । १९) इत्यनुशासनम् । "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८–१६) यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन

अतः जैसा शास्त्रका उपदेश है उसके अनुसार ही आत्मसाक्षात्कारकी विधि है, उससे भिन्न नहीं। अग्निसे दग्ध होनेवाले तृण आदि किसी अन्य वस्तुसे नहीं जलाये जा सकते। अतएव शास्त्र आत्मस्वरूपका बोध करानेके लिये प्रवृत्त होकर अमनुष्यत्वके प्रतिषेधके समान "नेति नेति" ऐसा कहकर चुप हो गया है। इसी तरह "अन्तर्बाह्यभावसे रहित" "यह आत्मा सबका अनुभव करनेवाला ब्रह्म है" इत्यादि भी शास्त्रका उपदेश है। तथा "वह तू है" "जहाँ इसके लिये सब कुछ आत्मा

कं पश्येत्" (बृ० उ० २ । ४ । १४, ४ । ५ । १५) इत्येवमाद्यपि च ।

यावदयमेवं यथोक्तमिममात्मानं न वेत्ति तावदयं बाह्यानित्यदृष्टिलक्षणमुपाधिमात्मत्वेनोपेत्य अविद्या उपाधिधर्मानात्मनो मन्यमानो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु देवतिर्यङ्नरस्थानेषु पुनः पुनरावर्तमानोऽविद्याकामकर्मवशात्संसरति । स एवं संसरन्नुपात्तदेहेन्द्रियसंघातं त्यजति । त्यक्त्वान्यमुपादत्ते ! पुनः पुनरेवमेव नदीस्रोतोवज्जन्ममरणप्रबन्धाविच्छेदेन वर्तमानः काभिरवस्थाभिर्वर्तत इत्येतमर्थं दर्शयन्त्याह श्रुतिर्वैराग्यहेतोः—

ही हो जाता है वहाँ किससे किसे देखे ?" इत्यादि ऐसे ही और भी वाक्य यही बतलाते हैं ।

जबतक यह जीव उपर्युक्त आत्माको 'यह ऐसा है' इस प्रकार नहीं जानता तबतक यह बाह्य अनित्य दृष्टिरूप उपाधिको आत्मभावसे प्राप्त होकर अविद्यावश उपाधिके धर्मोंको आत्माके धर्म मानता हुआ ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त देवता, पशु-पक्षी और मनुष्योंकी योनियोंमें पुनः-पुनः चक्कर लगाता हुआ अविद्या, कामना और कर्मके अधीन हो [जन्म-मरणरूप] संसारको प्राप्त होता रहता है । वह इस प्रकार संसारको प्राप्त होता हुआ प्राप्त हुए देह और इन्द्रियके संघातको त्याग देता है और एकको त्याग कर दूसरेको ग्रहण कर लेता है । वह इसी प्रकार नदीके स्रोतके समान जन्म-मरणकी परम्पराका विच्छेद न होते हुए किन अवस्थाओंमें रहता है इसी बातको [मनुष्योंके मनमें] वैराग्य उत्पन्न करानेके लिये दिखलाती हुई श्रुति कहती है—

पुरुषका पहला जन्म

पुरुषे ह वा अयमादितो गर्भो भवति । यदेतद्रेतः

तदेतत्सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतमात्मन्येवात्मानं बिभर्ति । तद्यदा स्त्रियां सिञ्चत्यथैनज्जनयति तदस्य प्रथमं जन्म ॥ १ ॥

सबसे पहले यह पुरुषशरीरमें ही गर्भरूपसे रहता है। यह जो प्रसिद्ध रेतस् (वीर्य) है वह पुरुषके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ तेज (सार) है। पुरुष इस आत्मभूत तेजको अपने [शरीर] में ही पोषण करता है। फिर जिस समय वह इसे स्त्रीमें सींचता है तब इसे [गर्भ-रूपसे] उत्पन्न करता है। यह इसका पहला जन्म है ॥ १ ॥

अयमेवाविद्याकामकर्माभिमानवान् यज्ञादिकर्म कृत्वास्माल्लोकाद् धूमादिक्रमेण चन्द्रमसं प्राप्य क्षीणकर्मा वृष्टयादिक्रमेणेमं लोकं प्राप्य अन्नभूतः पुरुषाग्नौ हुतः । तस्मिन्पुरुषे ह वा अयं संसारी रसादिक्रमेण आदितः प्रथमतो रेतोरूपेण गर्भो भवतीत्येतदाह यदेतत्पुरुषे रेतस्तेन रूपेणेति ।

अविद्या, काम और कर्मजनित अभिमानवाला यह जीव ही यज्ञादि कर्म करके इस लोकसे धूमादि क्रमसे चन्द्रलोकको प्राप्त हो कर्मोंके क्षीण होनेपर वृष्टि आदि क्रमसे इस लोकको प्राप्त होनेपर अन्नरूपसे पुरुषरूप अग्निमें हवन किया जाता है। उस पुरुषमें यह संसारी जीव रसादिक्रमसे सबसे पहले शुक्ररूपसे गर्भ होता है। इसी बातको 'यह जो पुरुषमें रेतस् है तद्रूपसे [गर्भ होता है]' इस वाक्यसे कहा है।

तच्चैतद्रेतोऽन्नमयस्य पिण्डस्य सर्वेभ्योऽङ्गेभ्योऽवयवेभ्यो रसादिलक्षणेभ्यस्तेजः साररूपं शरीरस्य संभूतं परिनिष्पन्नं तत्पुरुष-

वह यह रेतस् (शुक्र) अन्नमय पिण्डके रसादिरूप सम्पूर्ण अङ्ग यानी अवयवोंसे तेज—शरीरका सारभूत निष्पन्न हुआ है। वह पुरुषका आत्मभूत होनेके कारण

स्यात्मभूतत्वादात्मा । तमात्मानं रेतोरूपेण गर्भीभूतमात्मन्येव स्वशरीर एवात्मानं बिभर्ति धारयति ।

तद्रेतो यदा यस्मिन्काले भार्यर्तुमती तस्यां योषाग्नौ स्त्रियां सिञ्चत्युपगच्छन्, अथ तदैनदेतद्रेत आत्मनो गर्भभूतं जनयति पिता । तदस्य पुरुषस्य स्थानान्निर्गमनं रेतःसेककाले रेतोरूपेणास्य संसारिणः प्रथमं जन्म प्रथमावस्थाभिव्यक्तिः । तदेतदुक्तं पुरस्तात् "असावात्मामुमात्मानम्" इत्यादिना ॥ १ ॥

'आत्मा' है । शुक्ररूपसे गर्भीभूत हुए उस आत्माको पुरुष अपने शरीरमें ही धारण (पोषण) करता है ।

जिस समय भार्या ऋतुमती होती है उस समय पिता उस शुक्रको स्त्रीरूप अग्नि—अर्थात् स्त्री [की योनि] में उससे संयोग करके सींचता है उस समय वह इस शुक्रको अपने गर्भरूपसे उत्पन्न करता है । इस प्रकार रेतःसिञ्चनकालमें रेतोरूपसे अपने स्थानसे निकलना ही इस संसारी पुरुषका प्रथम जन्म अर्थात् प्रथमावस्थाकी अभिव्यक्ति है । यही बात "असावात्मा अमुमात्मानम्' इत्यादि वाक्यसे पहले कही गयी है ॥ १ ॥

तत्स्त्रिया आत्मभूतं गच्छति । यथा स्वमङ्गं तथा । तस्मादेनां न हिनस्ति । सास्यैतमात्मानमत्रगतं भावयति ॥ २ ॥

जिस प्रकार [स्तनादि] अपने अङ्ग होते हैं उसी प्रकार वह वीर्य स्त्रीके आत्मभाव (तादात्म्य) को प्राप्त हो जाता है । अतः वह उसे पीडा नहीं पहुँचाता । अपने उदरमें गये हुए उस (पति) के इस आत्माका वह पोषण करती है ॥ २ ॥

तद्रेतो यस्यां स्त्रियां सिक्तं सत्तस्या आत्मभूयमात्माव्यतिरेकतां यथा पितुरेवं गच्छति प्राप्नोति यथा स्वमङ्गं स्तनादि तथा तद्वदेव । तस्माद्धेतोरेनां मातरं स गर्भो न हिनस्ति पिटकादिवत् । यस्मात्स्तनादिस्वाङ्गवदात्मभूतं गतं तस्मान्न हिनस्ति न बाधत इत्यर्थः ।

वह वीर्य जिस स्त्रीमें सींचा जाता है उस स्त्रीके आत्मभाव अर्थात् पिताके शरीरके समान उसके शरीरसे अभिन्नताको प्राप्त हो जाता है । जिस प्रकार अपने अङ्ग स्तनादि (देहसे पृथक् नहीं) होते हैं उसी प्रकार यह भी हो जाता है । इसीलिये यह गर्भ पिटक (आन्तरिक व्रणरूप ग्रन्थि) आदिके समान उस माताको कष्ट नहीं देता । क्योंकि वह स्तनादि अपने अङ्गके समान शरीरसे अभेदको प्राप्त हो जाता है इसलिये वह [किसी प्रकारका] कष्ट यानी बाधा नहीं पहुँचाता—यह इसका तात्पर्य है ।

सा अन्तर्वत्न्येतमस्य भर्तुरात्मानमत्रात्मन उदरे गतं प्रविष्टं बुद्ध्वा भावयति वर्धयति परिपालयति गर्भविरुद्धाशनादिपरिहारमनुकूलाशनाद्युपयोगं च कुर्वती ॥ २ ॥

वह गर्भिणी इस अपने पतिके आत्माको यहाँ—अपने उदरमें प्रविष्ट हुआ जानकर गर्भके विरोधी भोजनादिको त्यागकर अनुकूल भोजनादिका उपयोग करती हुई उसका पालन करती है ॥ २ ॥

पुरुषका दूसरा जन्म

सा भावयित्री भावयितव्या भवति । तं स्त्री गर्भं बिभर्ति । सोऽग्र एव कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयति । स

यत्कुमारं जन्मनोऽग्रेऽधिभावयत्यात्मानमेव तद्भावयत्येषां लोकानां सन्तत्या । एवं सन्तता हीमे लोकास्तदस्य द्वितीयं जन्म ॥ ३ ॥

वह [गर्भभूत पतिके आत्माका] पालन करनेवाली [गर्भिणी स्त्री अपने पतिद्वारा] पालनीया होती है । गर्भिणी स्त्री उस गर्भका पोषण करती है तथा वह (पिता) गर्भरूपसे उत्पन्न हुए उस कुमारको प्रसवके अनन्तर पहले [जातकर्मादि संस्कारोंसे] ही संस्कृत करता है । वह जो जन्मके अनन्तर कुमारका संस्कार करता है सो इस प्रकार इन लोकों (पुत्र-पौत्रादि) की वृद्धिसे वह अपना ही संस्कार करता है; क्योंकि इसी प्रकार इन लोकोंकी वृद्धि होती है—यही इसका दूसरा जन्म है ॥ ३ ॥

सा भावयित्री वर्धयित्री भर्तुरात्मनो गर्भभूतस्य भावयितव्या वर्धयितव्या रक्षयितव्या च भर्त्रा भवति । न ह्युपकार-प्रत्युपकारमन्तरेण लोके कस्यचित्केनचित्सम्बन्ध उपपद्यते । तं गर्भं स्त्री यथोक्तेन गर्भधारण-विधानेन बिभर्ति धारयत्यग्रे प्राग्जन्मनः । स पिता अग्र एव पूर्वमेव जातमात्रं जन्मनोऽध्यूर्ध्वं जन्मनो जातं कुमारं जातकर्मादिना पिता भावयति । स पिता यद्यस्मात्कुमारं जन्मनो-

गर्भभूत पतिके आत्माकी वृद्धि करनेवाली वह स्त्री अपने स्वामीद्वारा वर्धयितव्या—पालनीया होती है; क्योंकि लोकमें उपकार-प्रत्युपकारके बिना किसीके साथ किसीका सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है । जन्म होनेसे पूर्व उस गर्भको वह स्त्री गर्भधारणकी यथोक्त विधिसे धारण-पोषण करती है । तथा वह पिता [जन्म होनेके बाद] पहले ही जन्म लेते ही उस कुमारका जन्मके अनन्तर जातकर्मादिद्वारा संस्कार करता है । वह पिता जो जन्मके अनन्तर उस सद्योजात कुमारका

ऽप्यूर्ध्वमग्रे जातमात्रमेव जातकर्मादिना यद्भावयति । तदात्मानमेव भावयति । पितुरात्मैव हि पुत्ररूपेण जायते । तथा ह्युक्तम् "पतिर्जायां प्रविशति" (हरि० ३ । ७३ । ३१) इत्यादि ।

जातकर्म आदिसे संस्कार करता है सो मानो अपना ही संस्कार करता है; क्योंकि पिताका आत्मा ही पुत्ररूपसे उत्पन्न होता है । यही बात "पतिर्जायां प्रविशति" इत्यादि वाक्योंमें कही है ।

तत्किमर्थमात्मानं पुत्ररूपेण जनयित्वा भावयतीत्युच्यते—एषां लोकानां सन्तत्या अविच्छेदायेत्यर्थः । विच्छिद्येरन्हीमे लोकाः पुत्रोत्पादनादि यदि न कुर्युः केचन । एवं पुत्रोत्पादनादिकर्माविच्छेदेनैव सन्तताः प्रबन्धरूपेण वर्तन्ते हि यस्मादिमे लोकास्तस्मात्तदविच्छेदाय तत्कर्तव्यं न मोक्षायेत्यर्थः । तदस्य संसारिणः कुमाररूपेण मातुरुदराद्यन्निर्गमनं तद्रेतोरूपापेक्षया द्वितीयं जन्म द्वितीयावस्थाभिव्यक्तिः ॥ ३ ॥

पिता अपनेको पुत्ररूपसे उत्पन्न करके क्यों संस्कार करता है? इसपर कहते हैं—इन लोकोंके विस्तार अर्थात् अविच्छेदके लिये । यदि कोई पुत्रोत्पादनादि न करें तो ये लोक विच्छिन्न हो जायँ । इस प्रकार, क्योंकि पुत्रोत्पादनादि कर्मोंका विच्छेद न होनेके कारण ही ये लोक वृद्धिको प्राप्त होकर प्रवाहरूपसे वर्तमान रहते हैं इसलिये उनके अविच्छेदके लिये उस [पुत्रोत्पादनादि] को करना चाहिये; मोक्षके लिये नहीं—यह इसका अभिप्राय है । इस प्रकार कुमाररूपसे जो माताके उदरसे बाहर निकलना है वही इस संसारी जीवका, रेतोरूप जन्मकी अपेक्षा, दूसरा जन्म यानी इसकी द्वितीय अवस्थाकी अभिव्यक्ति है ॥ ३ ॥

पुरुषका तीसरा जन्म

सोऽस्यायमात्मा पुण्येभ्यः प्रतिधीयते । अथास्यायमितर आत्मा कृतकृत्यो वयोगतः प्रैति । स इतः प्रयन्नेव पुनर्जायते तदस्य तृतीयं जन्म ॥ ४ ॥

इस (पिता) का यह [पुत्ररूप] आत्मा पुण्यकर्मोंके अनुष्ठानके लिये [घरमें पिताके स्थानपर] प्रतिनिधिरूपसे स्थापित किया जाता है । तदनन्तर इसका यह अन्य (पितृरूप) आत्मा वृद्धावस्थामें पहुँचकर कृतकृत्य होकर यहाँसे कूच कर जाता है । यहाँसे कूच करनेके अनन्तर ही वह [कर्मफलभोगके लिये] पुनः जन्म लेता है । यही इसका तीसरा जन्म है ॥ ४ ॥

अस्य पितुः सोऽयं पुत्रात्मा पुण्येभ्यः शास्त्रोक्तेभ्यः कर्मभ्यः कर्मनिष्पादनार्थं प्रतिधीयते पितुः स्थाने पित्रा यत्कर्तव्यं तत्करणाय प्रतिनिधीयत इत्यर्थः । तथा च संप्रत्तिविद्यायां वाजसनेयके पित्रानुशिष्टः—“अहं ब्रह्माहं यज्ञः”(बृ० उ० १ । ५ । १७) इत्यादि प्रतिपद्यत इति ।

इस पिताका वह यह पुत्ररूप आत्मा पुण्य यानी शास्त्रोक्त कर्मोंके निमित्त अर्थात् कार्यसम्पादनके लिये पिताके स्थानपर प्रतिनिधि स्थापित किया जाता है । अर्थात् पिताको जो कुछ करना चाहिये उसे करनेके लिये यह प्रतिनिधि होता है । यही बात बृहदारण्यकोपनिषद्में संप्रत्तिविद्याके* प्रकरणमें पितासे शिक्षा पाकर पुत्र कहता है—“मैं ब्रह्म हूँ, मैं यज्ञ हूँ” इत्यादि ।

अथानन्तरं पुत्रे निवेश्यात्मनो भारमस्य पुत्रस्येतरोऽयं यः पित्रात्मा कृतकृत्यः कर्तव्याद्दणत्रयाद्विमुक्तः कृतकर्तव्य

तदनन्तर पुत्रपर अपना भार छोड़कर इस पुत्रका यह पितारूप दूसरा आत्मा कृतकृत्य यानी कर्तव्यरूप ऋणत्रयसे मुक्त होकर अर्थात् अपना कर्तव्य सम्पादन करके वयोगत

* जिसमें पुत्रको अपने कर्तव्य सौंपनेकी बात कही गयी है ।

इत्यर्थः, वयोगतो गतवया जीर्णः सन्प्रैति म्रियते । स इतोऽस्मात्प्रयन्नेव शरीरं परित्यजन्नेव तृणजलूकावद् देहान्तरमुपाददानः कर्मचितं पुनर्जायते । तदस्य मृत्वा प्रतिपत्तव्यं यत्तत्तृतीयं जन्म ।

ननु संसरतः पितुः सकाशाद्रेतोरूपेण प्रथमं जन्म । तस्यैव कुमाररूपेण मातुर्द्वितीयं जन्मोक्तम् । तस्यैव तृतीये जन्मनि वक्तव्ये प्रेतस्य पितुर्यज्जन्म तत्तृतीयमिति कथमुच्यते ?

नैष दोषः; पितापुत्रयोरैकात्म्यस्य विवक्षितत्वात् । सोऽपि पुत्रः स्वपुत्रे भारं निधायेतः प्रयन्नेव पुनर्जायते यथा पिता । तदन्यत्रोक्तमितरत्राप्युक्तमेव भवतीति मन्यते श्रुतिः; पितापुत्रयोरेकात्मत्वात् ॥ ४ ॥

होकर—अवस्था समाप्त हो जानेपर अर्थात् वृद्ध होनेपर प्रेत—मृत्युको प्राप्त हो जाता है । वह यहाँसे जाते समय अर्थात् शरीरको त्यागता हुआ ही तिनकेकी जोंक आदिके समान कर्मोपलब्ध अन्य देहको प्राप्त करके पुनः उत्पन्न होता है । वह जो इसे मरनेपर प्राप्त हुआ करता है, इसका तीसरा जन्म है ।

शङ्का—संसारी जीवका पितासे वीर्यरूपसे पहला जन्म बतलाया; उसीका कुमाररूपसे मातासे दूसरा जन्म कहा । अब उसीका तीसरा जन्म बतलाते समय उसके मृत पिताका जो जन्म होता है वही इसका तीसरा जन्म है—ऐसा क्यों कहा गया ?

समाधान—पिता और पुत्रकी एकात्मता बतलानी इष्ट होनेके कारण ऐसा कहनेमें कोई दोष नहीं है । वह पुत्र भी अपने पिताके समान अपने पुत्रपर भार छोड़कर यहाँसे कूच करनेपर फिर उत्पन्न होता ही है । यह बात एकके प्रति कही जानेपर दूसरेके लिये भी कह ही दी गयी है—ऐसा श्रुति मानती है; क्योंकि पिता और पुत्र एकरूप ही हैं ॥ ४ ॥

वामदेवकी उक्ति

एवं संसरन्नवस्थाभिव्यक्तित्रयेण जन्ममरणप्रबन्धारूढः सर्वो लोकः संसारसमुद्रे निपतितः कथंचिद्यदा श्रुत्युक्तमात्मानं विजानाति यस्यां कस्यांचिदवस्थायां तदैव मुक्तसर्वसंसारबन्धनः कृतकृत्यो भवतीति—

इस प्रकार संसरण करता [अर्थात् संसारमें उत्पन्न होता] हुआ और अवस्थाकी तीन अभिव्यक्तियोंके क्रमसे जन्म-मरणरूप परम्परापर आरूढ़ हुआ सम्पूर्ण लोक संसार-समुद्रमें पड़ा-पड़ा जिस समय किसी प्रकार जिस-किसी अवस्थामें भी अपने श्रुतिप्रतिपादित आत्माको जान लेता है उसी समय वह सम्पूर्ण संसार-बन्धनोंसे मुक्त होकर कृतकृत्य हो जाता है—

तदुक्तमृषिणा—गर्भे नु सन्नन्वेषामवेदमहं देवानां जनिमानि विश्वा । शतं मा पुर आयसीररक्षन्नधः श्येनो जवसा निरदीयमिति । गर्भ एवैतच्छयानो वामदेव एवमुवाच ॥ ५ ॥

यही बात ऋषि (मन्त्र) ने भी कही है—'मैंने गर्भमें रहते हुए ही इन देवताओंके सम्पूर्ण जन्मोंको जान लिया है । [तत्त्वज्ञान होनेसे पूर्व] मैं सैकड़ों लोहमय (लोहेके समान सुदृढ़) शरीरोंद्वारा अवरुद्ध किया हुआ था । अब [तत्त्वज्ञानके प्रभावसे] मैं श्येन पक्षीके समान [उनका छेदन करके] बाहर निकल आया हूँ'—वामदेवने गर्भमें शयन करते समय ही ऐसा कहा था ॥ ५ ॥

एतद्वस्तु तदृषिणा मन्त्रेणाप्युक्तमित्याह—

यही बात ऋषि यानी मन्त्रने भी कही है, सो बतलाते हैं—

गर्भे नु मातुर्गर्भाशय एव सन् । न्विति वितर्के । अनेक-

'गर्भे नु'—माताके गर्भमें रहते हुए ही—यहाँ 'नु' शब्द

जन्मान्तरभावनापरिपाकवशादेषां देवानां वागग्न्यादीनां जनिमानि जन्मानि विश्वा विश्वानि सर्वाण्यन्ववेदमहमहो अनुबुद्धवानस्मीत्यर्थः शतमनेका बह्व्यो मा मां पुर आयसीः आयस्यो लोहमय्य इवाभेद्यानि शरीराणीत्यभिप्रायः, अरक्षन्नक्षितवत्यः संसारपाशनिर्गमनादधः । अथ श्येन इव जालं भित्त्वा जवसा आत्मज्ञानकृतसामर्थ्येन निरदीयं निर्गतोऽस्मि । अहो गर्भ एव शयानो वामदेव ऋषिरेवमुवाचैतत् ॥ ५ ॥

वितर्कका बोध कराता है—अनेक जन्मान्तरोंकी भावनाके परिपाकवश मैंने इन वाक् एवं अग्नि आदि देवताओंके सम्पूर्ण जन्मोंका अनुभव—बोध प्राप्त किया है । मुझे संसारबन्धनसे मुक्त होनेसे पूर्व आयसी अर्थात् लोहमयीके समान सैकड़ों—अनेकों अभेद्य पुरियों—शरीरोंने सुरक्षित (अवरुद्ध) किया हुआ था । अब जालको काटकर वेगसे उड़ जानेवाले श्येन (बाज पक्षी) के समान मैं आत्मज्ञानजनित सामर्थ्यके द्वारा उससे बाहर निकल आया हूँ—अहो ! वामदेव ऋषिने गर्भमें शयन करते हुए ही ऐसा कहा था ॥ ५ ॥

वामदेवकी गति

स एवं विद्वानस्माच्छरीरभेदादूर्ध्व उत्क्रम्यामुष्मिन्त्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥ ६ ॥

वह [वामदेव ऋषि] ऐसा ज्ञान प्राप्तकर इस शरीरका नाश होनेके अनन्तर उत्क्रमणकर इन्द्रियोंके अविषयभूत स्वर्ग (स्वप्रकाश) लोकमें सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्तकर अमर हो गया, [अमर] हो गया ॥ ६ ॥

स वामदेव ऋषिर्यथोक्तमात्मानमेव विद्वानस्माच्छरीरभेदाच्छरीरस्याविद्यापरिकल्पितस्य आयसवदनिर्भेद्यस्य जननमरणाद्यनेकानर्थशताविष्टशरीरप्रबन्धन-

वह वामदेव ऋषि पूर्वोक्त आत्माको इस प्रकार जानकर इस शरीरका नाश होनेके अनन्तर अर्थात् लोहमयके समान दुर्भेद्य और जन्ममरणादि अनेक प्रकारके सैकड़ों अनर्थोंसे समन्वित इस अविद्यापरि-

स्य परमात्मज्ञानामृतोपयोगजनितवीर्यकृतभेदाच्छरीरोत्पत्तिबीजाविद्यादिनिमित्तोपमर्दहेतोः शरीरविनाशादित्यर्थः । ऊर्ध्वः परमात्मभूतः सन्नधोभावात्संसारादुत्क्रम्य ज्ञानावद्योतितामलसर्वात्मभावमापन्नः सन्नमुष्मिन्यथोक्तेऽजरेऽमरेऽमृतेऽभये सर्वज्ञेऽपूर्वेऽनपरेऽनन्तरेऽबाह्ये प्रज्ञानामृतैकरसे प्रदीपवन्निर्वाणमत्यगमत्स्वर्गे लोके स्वस्मिन्नात्मनि स्वे स्वरूपेऽमृतः समभवत् । आत्मज्ञानेन पूर्वमाप्तकामतया जीवन्नेव सर्वान्कामानाप्त्वेत्यर्थः । द्विर्वचनं सफलस्य सोदाहरणस्यात्मज्ञानस्य परिसमाप्तिप्रदर्शनार्थम् ॥ ६ ॥

कल्पित शरीरपरम्पराका परमात्मज्ञानरूप अमृतके उपयोग (आस्वाद) से प्राप्त हुई शक्तिद्वारा भेद होनेपर यानी शरीरोत्पत्तिके बीजभूत अविद्या आदि निमित्तकी निवृत्तिसे होनेवाले देहपातके अनन्तर ऊर्ध्व अर्थात् परमात्मभावको प्राप्त हो अधोभाव यानी संसारसे ऊपर उठ तत्त्वज्ञानसे उद्भासित निर्मल सर्वात्मभावको प्राप्त हो उस (इन्द्रियोंसे अगोचर) पूर्वोक्त अजर, अमर, अमृत, अभय, सर्वज्ञ, अपूर्व, अनन्य, अनन्तर, अबाह्य और एकमात्र प्रज्ञानामृतस्वरूप स्वर्गलोकमें दीपककी भाँति शान्त हो गया; अर्थात् अपने आत्मा—स्वस्वरूपमें स्थित होकर अमृत हो गया। भाव यह है कि आत्मज्ञानद्वारा पहलेहीसे पूर्णकाम होनेके कारण अर्थात् जीवित अवस्थामें ही सम्पूर्ण कामनाएँ प्राप्तकर [वह अमरत्वको प्राप्त हो गया] । फल और उदाहरणके सहित आत्मज्ञानकी सम्यक् समाप्ति सूचित करनेके लिये यहाँ [समभवत् समभवत्—ऐसी] द्विरुक्ति की गयी है ॥ ६ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये द्वितीयेऽध्याये प्रथमः खण्डः समाप्तः ।

उपनिषत्क्रमेण द्वितीयः, आरण्यकक्रमेण पञ्चमोऽध्यायः समाप्तः ।

तृतीय अध्याय

प्रथम खण्ड

आत्मसम्बन्धी प्रश्न

ब्रह्मविद्यासाधनकृतसर्वात्मभावफलावाप्तिं वामदेवाद्याचार्यपरम्परया श्रुत्यावद्योत्यमानां ब्रह्मवित्परिषद्यत्यन्तप्रसिद्धामुपलभमाना मुमुक्षवो ब्राह्मणा अधुनातना ब्रह्मजिज्ञासवोऽनित्यात्साध्यसाधनलक्षणात्संसारादाजीवभावाद् व्याविवृत्सवो विचारयन्तोऽन्योन्यं पृच्छन्ति कोऽयमात्मेति ? कथम्—

श्रुतिद्वारा वामदेव आदि आचार्योंकी परम्परासे प्रकाशित तथा ब्रह्मवेत्ताओंकी सभामें अत्यन्त प्रसिद्ध, ब्रह्मविद्यारूप साधनके किये हुए सर्वात्मभावरूप फलकी प्राप्तिको उपलब्ध करनेवाले आधुनिक मुमुक्षु और ब्रह्मजिज्ञासु ब्राह्मणलोग जीवभावपर्यन्त साध्य-साधनरूप अनित्य संसारसे निवृत्त होनेकी इच्छासे परस्पर विचार करते हुए पूछते हैं—यह आत्मा कौन है ? किस प्रकार [पूछते हैं ? सो बतलाया जाता है]—

कोऽयमात्मेति वयमुपास्महे । कतरः स आत्मा, येन वा पश्यति येन वा शृणोति येन वा गन्धानाजिघ्रति येन वा वाचं व्याकरोति येन वा स्वादु चास्वादु च विजानाति ॥ १ ॥

हम जिसकी उपासना करते हैं वह यह आत्मा कौन है ? जिससे [प्राणी] देखता है, जिससे सुनता है, जिससे गन्धोंको सूँघता है, जिससे वाणीका विश्लेषण करता है और जिससे स्वादु-अस्वादुका ज्ञान प्राप्त करता है वह [श्रुतिकथित दो आत्माओंमेंसे] कौन-सा आत्मा है ? ॥ १ ॥

यमात्मानमयमात्मेति साक्षाद्यमुपास्महे कः स आत्मेति यं चात्मानमयमात्मेति साक्षादुपासीनो वामदेवोऽमृतः समभवत्तमेव वयमप्युपास्महे को नु खलु स आत्मेति ।

हम जिस आत्माकी 'यह आत्मा है' इस प्रकार साक्षात् उपासना करते हैं वह आत्मा कौन है ? तथा जिस आत्माकी 'यह आत्मा है' इस प्रकार साक्षात् उपासना करनेवाला वामदेव अमर हो गया था उसी आत्माकी हम उपासना करते हैं । किन्तु वस्तुतः वह आत्मा है कौन-सा ?

एवं जिज्ञासापूर्वमन्योन्यं पृच्छतामतिक्रान्तविशेषविषयश्रुतिसंस्कारजनिता स्मृतिरजायत । 'तं प्रपदाभ्यां प्रापद्यत ब्रह्मेमं पुरुषम्' 'स एतमेव सीमानं विदार्यैतया द्वारा प्रापद्यत' एतमेव पुरुषम् । अत्र द्वे ब्रह्मणी इतरेतरप्रातिकूल्येन प्रतिपन्ने इति । ते चास्य पिण्डस्यात्मभूते । तयोरन्यतर आत्मोपास्यो भवि-

इस प्रकार जिज्ञासापूर्वक एक दूसरेसे प्रश्न करते हुए उन्हें आत्मसम्बन्धी विशेष विवरणसे युक्त पूर्वोक्त श्रुतिके संस्कारसे यह स्मृति पैदा हुई—'इस पुरुषमें ब्रह्म पादाग्रभागद्वारा प्रविष्ट हुआ' तथा इसी पुरुषमें 'वह इस सीमाको ही विदीर्णकर इसके द्वारा प्राप्त हुआ ।' इस प्रकार यहाँ एक दूसरेसे प्रतिकूल दो ब्रह्म ज्ञात होते हैं और वे इस पिण्डके आत्मस्वरूप हैं । इनमेंसे कोई एक ही आत्मा उपासनीय हो

तुमर्हति । योऽत्रोपास्यः कः स आत्मेति विशेषनिर्धारणार्थं पुनरन्योन्यं पप्रच्छुर्विचारयन्तः ।

पुनस्तेषां विचारयतां विशेषविचारणास्पदविषया मतिरभूत् । कथम् ? द्वे वस्तुनी अस्मिन् पिण्ड उपलभ्येते । अनेकभेदभिन्नेन करणेन येनोपलभते । यश्चैक उपलभते । करणान्तरोपलब्धविषयस्मृतिप्रतिसन्धानात् । तत्र न तावद्येनोपलभते स आत्मा भवितुमर्हति ।

केन पुनरुपलभत इत्युच्यते येन वा चक्षुर्भूतेन रूपं पश्यति । येन वा शृणोति श्रोत्रभूतेन शब्दम्, येन वा घ्राणभूतेन गन्धानाजिघ्रति, येन वा वाक्करणभूतेन वाचं नामात्मिकां व्याकरोति गौरश्व इत्येवमाद्यां साध्वसाध्विति च,

सकता है । इनमें जो उपासनीय है वह आत्मा कौन-सा है ? इस विशेष बातको निश्चय करनेके लिये उन्होंने आपसमें विचार करते हुए एक-दूसरेसे फिर पूछा ।

फिर आपसमें विचार करनेवाले उन मुमुक्षुओंको अपने विचारणीय विशेष विषयके सम्बन्धमें यह बुद्धि पैदा हुई । किस प्रकार पैदा हुई ? [सो बतलाते हैं–] इस पिण्डमें दो वस्तुएँ उपलब्ध होती हैं—एक तो जिस चक्षु आदि अनेक प्रकारके भेदोंसे विभिन्न साधन (इन्द्रियग्राम) द्वारा [पुरुष विषयोंको] उपलब्ध करता है और दूसरा जो उपलब्ध किया करता है; क्योंकि वह भिन्न-भिन्न इन्द्रियोंद्वारा उपलब्ध हुए विषयोंकी स्मृतिका अनुसन्धान करता है । उनमेंसे जिसके द्वारा पुरुष उपलब्ध करता है वह तो आत्मा हो नहीं सकता ।

तो फिर वह किसके द्वारा उपलब्ध करता है, सो बतलाया जाता है— नेत्रके साथ एकीभूत हुए जिस श्रोत्रभावापन्नके द्वारा वह शब्द श्रवण करता है, जिस घ्राणेन्द्रियभूतसे वह गन्धोंको सूँघता है, जिस वागिन्द्रियभूतसे वह गौ-अश्व इत्यादि नामात्मिका तथा साधु-असाधु वाणीका विश्लेषण

येन वा जिह्वाभूतेन स्वादु चास्वादु च विजानातीति ॥ १ ॥

करता है और जिस रसनेन्द्रियभूतसे वह स्वादु-अस्वादु पदार्थोंको जानता है ॥ १ ॥

प्रज्ञानसंज्ञक मनके अनेक नाम

किं पुनस्तदेवैकमनेकधा भिन्नं करणम्? इत्युच्यते—

पहले जो एक ही अनेक प्रकारसे विभिन्न करण बतलाया है वह कौन है? इसपर कहते हैं—

यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्। संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं प्रज्ञानं मेधा दृष्टिर्धृतिर्मतिर्मनीषा जूतिः स्मृतिः संकल्पः क्रतुरसुः कामो वश इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति ॥ २ ॥

यह जो हृदय है वही मन भी है। संज्ञान (चेतनता), आज्ञान (प्रभुता), विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि, धृति, मति, मनीषा, जूति (रोगादिजनित दुःख), स्मृति, सङ्कल्प, क्रतु, असु (प्राण), काम और वश (मनोज्ञ वस्तुओंके स्पर्शादिकी कामना)—ये सभी प्रज्ञानके नाम हैं ॥ २ ॥

यदुक्तं पुरस्तात्प्रजानां रेतो हृदयं हृदयस्य रेतो मनो मनसा सृष्टा आपश्च वरुणश्च हृदयान्मनो मनसश्चन्द्रमाः। तदेवैतद्धृदयं मनश्च, एकमेव तदनेकधा। एतेनान्तःकरणेनैकेन चक्षुर्भूतेन

पहले जो कहा है कि प्रजाओंका रेतस् (सारभूत) हृदय है, हृदयका सारभूत मन है, मनसे जल और वरुणकी सृष्टि हुई; हृदयसे मन हुआ और मनसे चन्द्रमा। वह यह हृदय ही मन भी है। वह एक ही अनेक रूप हो रहा है। इस एक अन्तःकरणसे ही नेत्ररूपसे रूपको

रूपं पश्यति श्रोत्रभूतेन शृणोति घ्राणभूतेन जिघ्रति वाग्भूतेन वदति जिह्वाभूतेन रसयति स्वेनैव विकल्पनारूपेण मनसा विकल्पयति हृदयरूपेणाध्यवस्यति । तस्मात्सर्वकरणविषयव्यापारकमेकमिदं करणं सर्वोपलब्ध्यर्थमुपलब्धुः ।

तथा च कौषीतकीनां "प्रज्ञया वाचं समारुह्य वाचा सर्वाणि नामान्याप्नोति । प्रज्ञया चक्षुः समारुह्य चक्षुषा सर्वाणि रूपाण्याप्नोति" (३ । ६) इत्यादि । वाजसनेयके च—"मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति हृदयेन हि रूपाणि जानाति" (बृ० उ० १ । ५ । ३) इत्यादि । तस्माद् हृदयमनोवाच्यस्य सर्वोपलब्धिकरत्वं प्रसिद्धम् । तदात्मकश्च प्राणो "यो वै प्राणः सा प्रज्ञा या वै प्रज्ञा स प्राणः" (कौषी० ३ । ३) इति हि ब्राह्मणम् ।

देखता है, श्रोत्ररूपसे श्रवण करता है, घ्राणरूपसे सूँघता है, वागिन्द्रियरूपसे बोलता है, जिह्वारूपसे चखता है, स्वयं सङ्कल्प-विकल्परूप मनसे सङ्कल्प करता है और हृदयरूपसे निश्चय करता है । अतः उपलब्धाकी समस्त उपलब्धियोंके लिये इन्द्रियसम्बन्धी सारे व्यापारोंको करनेवाला यही एक साधन है ।

इसी प्रकार कौषीतकी उपनिषद्में भी कहा है—"प्रज्ञाद्वारा वाणीपर आरूढ होकर वाणीसे सम्पूर्ण नामोंको प्राप्त (ग्रहण) करता है, प्रज्ञाद्वारा चक्षु इन्द्रियपर आरूढ होकर चक्षुसे सारे रूपोंको प्राप्त करता है" इत्यादि । तथा बृहदारण्यकमें कहा है—"मनसे ही देखता है, मनसे ही सुनता है, हृदयसे ही रूपोंका ज्ञान प्राप्त करता है" इत्यादि । अतः हृदय और मनःशब्दवाच्य अन्तःकरणका ही सब प्रकारकी उपलब्धिमें साधनत्व प्रसिद्ध है । प्राण भी तद्रूप ही है । "जो प्राण है वही प्रज्ञा है और जो प्रज्ञा है वही प्राण है" ऐसा ब्राह्मणवाक्य है ।

करणसंहतिरूपश्च प्राण इत्यवोचाम प्राणसंवादादौ । तस्माद्यत्पद्भ्यां प्रापद्यत तद्ब्रह्म तदुपलब्धुरुपलब्धिकरणत्वेन गुणभूतत्वान्नैव तद्वस्तु ब्रह्मोपास्यात्मा भवितुमर्हति । पारिशेष्याद्यस्योपलब्धुरुपलब्ध्यर्था एतस्य हृदयस्य मनोरूपस्य करणस्य वृत्तयो वक्ष्यमाणाः। स उपलब्धोपास्य आत्मानोऽस्माकं भवितुमर्हतीति निश्चयं कृतवन्तः ।

'प्राण इन्द्रियोंका संघातरूप है' यह बात हम प्राणसंवाद आदि प्रकरणोंमें कह चुके हैं। अतः जिसने चरणोंकी ओरसे प्रवेश किया था वह ब्रह्म उपलब्धाकी उपलब्धिका साधन होनेके कारण गौण होनेसे मुख्य ब्रह्म अर्थात् उपास्य आत्मा नहीं हो सकता। अतः पारिशेष्यनियमानुसार* जिस उपलब्धाकी उपलब्धिके लिये इस हृदय एवं मनोरूप अन्तःकरणकी आगे बतलायी जानेवाली वृत्तियाँ होती हैं वह उपलब्धा ही हमारा उपासनीय आत्मा है—ऐसा उन्होंने निश्चय किया।

तदन्तःकरणोपाधिस्थस्योपलब्धुः प्रज्ञारूपस्य ब्रह्मण उपलब्ध्यर्था या अन्तःकरणवृत्तयो बाह्यान्तर्वर्तिविषयविषयास्ता इमा उच्यन्ते । संज्ञानं संज्ञप्तिश्चेतनभावः, आज्ञानमाज्ञप्तिरीश्वरभावः, विज्ञानं कलादिपरिज्ञानम्, प्रज्ञानं

उस अन्तःकरणरूप उपाधिमें स्थित प्रज्ञानरूप उपलब्धा ब्रह्मकी उपलब्धिके लिये जो बाह्य और आन्तरिक विषयोंसे सम्बन्ध रखनेवाली अन्तःकरणकी वृत्तियाँ हैं वे ये बतलायी जाती हैं—'संज्ञान-संज्ञप्ति अर्थात् चेतनभाव, आज्ञान—आज्ञा करना अर्थात् ईश्वरभाव (प्रभुता), विज्ञान—कलादिका ज्ञान, प्रज्ञान—

* जहाँ आपाततः अनेकोंमेंसे किसी एक धर्म या गुणकी सम्भावना प्रतीत होनेपर भी और सबका प्रतिषेध करके बचे हुए किसी एक ही पदार्थमें उसका निर्णय किया जाता है वहाँ 'पारिशेष्यनियम' माना जाता है।

प्रज्ञप्तिः प्रज्ञता, मेधा ग्रन्थधारणसामर्थ्यम्, दृष्टिरिन्द्रियद्वारा सर्वविषयोपलब्धिः, धृतिर्धारणमवसन्नानां शरीरेन्द्रियाणां ययोत्तम्भनं भवति—धृत्या शरीरमुद्वहन्तीति हि वदन्ति, मतिर्मननम्, मनीषा तत्र स्वातन्त्र्यम्, जूतिश्चेतसो रुजादिदुःखित्वभावः, स्मृतिः स्मरणम्, संकल्पः शुक्लकृष्णादिभावेन संकल्पनं रूपादीनाम्, क्रतुरध्यवसायः, असुः प्राणनादिजीवनक्रियानिमित्ता वृत्तिः, कामोऽसंनिहितविषयाकाङ्क्षा तृष्णा, वशः स्त्रीव्यतिकराद्यभिलाषः, इत्येवमाद्या अन्तःकरणवृत्तयः प्रज्ञप्तिमात्रस्योपलब्धुरुपलब्ध्यर्थत्वाच्छुद्धप्रज्ञानरूपस्य ब्रह्मण उपाधिभूतास्तदुपाधिजनितगुणनामधेयानि भवन्ति संज्ञानादीनि। सर्वाण्येव एतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति न स्वतः साक्षात्। तथा चोक्तं

प्रज्ञप्ति यानी प्रज्ञता (समयोचित बुद्धि स्फुरित हो जाना—प्रतिभा), मेधा—ग्रन्थधारणकी शक्ति, दृष्टि—इन्द्रियों-द्वारा सब विषयोंको उपलब्ध करना, धृति—धारण करना, जिससे शिथिल हुए शरीर और इन्द्रियोंमें जागृति होती है, 'धृतिसे ही शरीरको उठाकर वहन करते हैं' ऐसा [पण्डितजन] कहते भी हैं, मति—मनन करना, मनीषा—मनन करनेकी स्वतन्त्रता, जूति—चित्तका रोगादिसे दुःखी होना, स्मृति—स्मरण, सङ्कल्प—शुक्ल-कृष्णादि भावसे रूपादिका सङ्कल्प करना, क्रतु—अध्यवसाय, असु—जीवनकी निमित्तभूत श्वासोच्छ्वासादि क्रिया, काम—अप्राप्त विषयकी आकाङ्क्षा यानी तृष्णा और वश—स्त्रीसंसर्गादिकी अभिलाषा—इत्यादि प्रकारकी अन्तःकरणकी वृत्तियाँ प्रज्ञप्तिरूप उपलब्धाकी उपलब्धिके लिये होनेके कारण विशुद्ध-बोधस्वरूप ब्रह्मकी उपाधिभूत हैं। अतः उसकी उपाधिजनित गुणवृत्तिसे ये संज्ञान आदि उस ब्रह्मके ही नाम हैं। ये सभी प्रज्ञप्तिमात्र प्रधानके नाम ही हैं; स्वतः साक्षात् कुछ नहीं हैं

"प्राणन्नेव प्राणो नाम भवति" (बृ० उ० १ । ४ । ७) इत्यादि ॥ २ ॥

ऐसा ही कहा भी है—"प्राणन करनेके कारण ही [ब्रह्म] प्राण नामवाला है" इत्यादि ॥ २ ॥

प्रज्ञानकी सर्वरूपता

एष ब्रह्मैष इन्द्र एष प्रजापतिरेते सर्वे देवा इमानि च पञ्च महाभूतानि पृथिवी वायुराकाश आपो ज्योतींषी-त्येतानीमानि च क्षुद्रमिश्राणीव बीजानीतराणि चेतराणि चाण्डजानि च जारुजानि च स्वेदजानि चोद्भिजानि चाश्वा गावः पुरुषा हस्तिनो यत्किञ्चेदं प्राणि जङ्गमं च पतत्रि च यच्च स्थावरं सर्वं तत्प्रज्ञानेत्रम् । प्रज्ञाने प्रतिष्ठितं प्रज्ञानेत्रो लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा प्रज्ञानं ब्रह्म ॥ ३ ॥

यह (प्रज्ञानरूप आत्मा) ही ब्रह्म है, यही इन्द्र है, यही प्रजापति है, यही ये [अग्नि आदि] सारे देव तथा पृथिवी, वायु, आकाश, जल और तेज—ये पाँच भूत हैं, यही क्षुद्र जीवोंके सहित उनके बीज (कारण) और अन्य अण्डज, जरायुज, स्वेदज, उद्भिज, अश्व, गौ, मनुष्य एवं हाथी है तथा [इनके अतिरिक्त] जो कुछ भी यह जङ्गम (पैरसे चलनेवाले), पतत्रि (आकाशमें उड़नेवाले) और स्थावर (वृक्ष-पर्वत आदि) रूप प्राणिवर्ग है वह सब प्रज्ञानेत्र और प्रज्ञान (निरुपाधिक चैतन्य) में ही स्थित है । लोक प्रज्ञानेत्र (प्रज्ञा—चैतन्य ही जिसका नेत्र—व्यवहारका कारण है ऐसा) है, प्रज्ञा ही उसका लयस्थान है, अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है ॥ ३ ॥

स एष प्रज्ञानरूप आत्मा ब्रह्मापरं सर्वशरीरस्थः प्राणः प्रज्ञात्मा। अन्तःकरणोपाधिष्वनुप्रविष्टो जलभेदगतसूर्यप्रतिबिम्बवद्धिरण्यगर्भः प्राणः प्रज्ञात्मा। एष एव इन्द्रो गुणाद्देवराजो वा। एष प्रजापतिर्यःप्रथमजः शरीरी। यतो मुखादिनिर्भेदद्वारेणाग्न्यादयो लोकपाला जाताः स प्रजापतिरेष एव। येऽप्येतेऽग्न्यादयः सर्वे देवा एष एव।

वह यह प्रज्ञानरूप आत्मा ही अपर ब्रह्म है, अर्थात् सम्पूर्ण शरीरोंमें स्थित प्राण—प्रज्ञात्मा है। विभिन्न जलपात्रोंमें पड़े हुए प्रतिबिम्बके समान यही अन्तःकरणरूप उपाधियोंमें अनुप्रविष्ट हिरण्यगर्भ—प्राण यानी प्रज्ञात्मा है। यही ['इदमदर्शम्' इस श्रुतिमें बतलाये हुए] गुणके कारण इन्द्र अथवा देवराज है। यही प्रजापति है, जो सबसे पहले उत्पन्न हुआ देहधारी है। जिससे मुखादिनिर्भेदके द्वारा अग्नि आदि लोकपाल उत्पन्न हुए हैं वह प्रजापति भी यही है। और भी ये जो अग्नि आदि सम्पूर्ण देवता हैं वे भी यही हैं।

इमानि च सर्वशरीरोपादानभूतानि पञ्च पृथिव्यादीनि महाभूतान्यन्नान्नादत्वलक्षणान्येतानि किंचेमानि च क्षुद्रमिश्राणि क्षुद्रैरल्पकैर्मिश्राणि, इवशब्दोऽनर्थकः, सर्पादीनि बीजानि कारणानीतराणि चेतराणि च द्वैराश्येन निर्दिश्यमानानि।

ये जो समस्त शरीरोंके उपादानभूत एवं अन्न और अन्नादत्वभावको प्राप्त हुए पृथिवी आदि पञ्चभूत हैं, क्षुद्र यानी अल्प जीवोंके सहित जो सर्पादि हैं तथा बीज—कारण और इतर—कार्यवर्ग इस प्रकार अलग-अलग दो विभागोंसे निर्दिष्ट [समस्त प्राणी हैं वे भी यही हैं]। ['क्षुद्रमिश्राणीव' इस पदसमूहमें] 'इव' शब्दका प्रयोग अनर्थक है।

कानि तानि ? उच्यन्ते—अण्डजानि पक्ष्यादीनि, जारुजानि जरायुजानि मनुष्यादीनि, स्वेदजादीनि यूकादीनि, उद्भिज्जानि च वृक्षादीनि, अश्वा गावः पुरुषा हस्तिनोऽन्यच्च यत्किंचेदं प्राणिजातम्; किं तत् ? जङ्गमं यच्चलति पद्भ्यां गच्छति । यच्च पतत्रि आकाशेन पतनशीलम् । यच्च स्थावरमचलम् । सर्वं तदेष एव । सर्वं तदशेषतः प्रज्ञानेत्रम् । प्रज्ञप्तिः प्रज्ञा तच्च ब्रह्मैव । नीयतेऽनेनेति नेत्रम् प्रज्ञा नेत्रं यस्य तदिदं प्रज्ञानेत्रम् । प्रज्ञाने ब्रह्मण्युत्पत्तिस्थितिलयकालेषु प्रतिष्ठितं प्रज्ञाश्रयमित्यर्थः । प्रज्ञानेत्रो लोकः पूर्ववत् । प्रज्ञाचक्षुर्वा सर्व एव लोकः प्रज्ञा प्रतिष्ठा सर्वस्य जगतः । तस्मात्प्रज्ञानं ब्रह्म ।

वे कौन-कौन हैं, सो बतलाते हैं। अण्डज—पक्षी आदि, जारुज—जरायुज मनुष्यादि, स्वेदज—जूँ आदि, उद्भिज—वृक्षादि तथा अश्व, गौ, पुरुष, हाथी एवं अन्य भी ये जो कुछ प्राणी हैं—वे कौन-कौन-से ? जङ्गम—जो पैरोंसे चलते हैं, पक्षी—जो आकाशमें उड़नेवाले हैं और स्थावर—जो अचल हैं, वे सब यही हैं अर्थात् वे सब-के-सब प्रज्ञानेत्र हैं। प्रज्ञा प्रज्ञप्तिको कहते हैं और वह ब्रह्म ही है तथा जिससे नयन किया जाय [अर्थात् ले जाया जाय] उसे 'नेत्र' कहते हैं। इस प्रकार प्रज्ञा ही जिसका नेत्र है वह प्रज्ञानेत्र कहलाता है। तथा उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयके समय प्रज्ञान यानी ब्रह्ममें स्थित रहनेवाले अर्थात् प्रज्ञाके आश्रित हैं। इस प्रकार पूर्ववत् यह लोक प्रज्ञानेत्र है अर्थात् सभी लोक प्रज्ञारूप नेत्रवाला है, सम्पूर्ण जगत्का आश्रय प्रज्ञा ही है; अतः प्रज्ञान ही ब्रह्म है।

तदेतत्प्रत्यस्तमितसर्वोपाधिविशेषं सन्निरञ्जनं निर्मलं निष्क्रियं शान्तमेकमद्वयं "नेति नेति" इति (बृ० उ० ३ । ९ । २६)

जो सम्पूर्ण औपाधिक विशेषतासे रहित, नित्य, निरञ्जन, निर्मल, निष्क्रिय, शान्त, एक और अद्वितीय है, जो "नेति नेति" इत्यादि [श्रुतियोंद्वारा] क्रमसे

सर्वविशेषापोहसंवेद्यं सर्वशब्दप्रत्ययागोचरम्। तदत्यन्तविशुद्धप्रज्ञोपाधिसंबन्धेन सर्वज्ञमीश्वरं सर्वसाधारणाव्याकृतजगद्बीजप्रवर्तकं नियन्तृत्वादन्तर्यामिसंज्ञं भवति। तदेव व्याकृतजगद्बीजभूतबुद्ध्यात्माभिमानलक्षणहिरण्यगर्भसंज्ञं भवति। तदेवान्तरण्डोद्भूतप्रथमशरीरोपाधिमद्विराट्प्रजापतिसंज्ञं भवति। तदुद्भूताग्न्याद्युपाधिमद्देवतासंज्ञं भवति। तथा विशेषशरीरोपाधिष्वपि ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तेषु तत्तन्नामरूपलाभो ब्रह्मणः। तदेवैकं सर्वोपाधिभेदभिन्नं सर्वैः प्राणिभिस्तार्किकैश्च सर्वप्रकारेण ज्ञायते विकल्प्यते चानेकधा। "एतमेके वदन्त्यग्निं मनुमन्ये प्रजापतिम्। इन्द्रमेकेऽपरे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्" (मनु० १२। १२३) इत्याद्या स्मृतिः॥३॥

समस्त विषयोंका बाध करके जानने-योग्य है तथा सब प्रकारके शाब्दिक ज्ञानका अविषय है, अत्यन्त विशुद्ध प्रज्ञारूप उपाधिके सम्बन्धसे सर्वज्ञ तथा जगत्के सर्वसाधारण और अव्यक्त बीजका प्रवर्तक वह ईश्वर ही सबका नियन्ता होनेके कारण 'अन्तर्यामी' नामवाला है। वही व्याकृत जगत्का बीजभूत विज्ञानात्माका अभिमानी 'हिरण्यगर्भ' नामवाला है तथा वही ब्रह्माण्डके भीतर सबसे पहले उत्पन्न हुए शरीररूप उपाधिवाला 'विराट् प्रजापति' संज्ञावाला है। वही उससे उत्पन्न हुए अग्नि आदिकी उपाधिसे 'देवता' संज्ञावाला है तथा उस ब्रह्मको ही ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त विशेष-विशेष शरीरोंकी उपाधियोंमें भी उन-उनके नाम और रूप प्राप्त हुए हैं। सम्पूर्ण उपाधिभेदसे विभिन्न वही एक समस्त प्राणियों और तार्किकोंद्वारा सब प्रकारसे जाना जाता और अनेक प्रकारसे कल्पना किया जाता है। [इस विषयमें] "इसे कोई तो अग्नि बतलाते हैं तथा कोई मनु, कोई प्रजापति, कोई इन्द्र, कोई प्राण और कोई सनातन ब्रह्म कहते हैं" इत्यादि स्मृति भी है॥ ३॥

आत्मैक्यवेत्ताकी अमृतत्व-प्राप्ति

स एतेन प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान् कामानाप्त्वामृतः समभवत्समभवत् ॥४॥

वह (वामदेव) इस चैतन्यस्वरूपसे ही इस लोकसे उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत स्वर्गलोकमें सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर अमर हो गया, [अमर] हो गया ॥ ४ ॥

स वामदेवोऽन्यो वैवं यथोक्तं ब्रह्म वेद प्रज्ञेनात्मना; येनैव प्रज्ञेनात्मना पूर्वे विद्वांसोऽमृता अभूवंस्तथायमपि विद्वानेतेनैव प्रज्ञेनात्मनास्माल्लोकादुत्क्रम्य इत्यादि व्याख्यातम् । अस्माल्लोकादुत्क्रम्यामुष्मिन्स्वर्गे लोके सर्वान्कामानाप्त्वा अमृतः समभवत्समभवदित्योमिति ॥ ४ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त ब्रह्मको जाननेवाला वह वामदेव अथवा कोई अन्य पुरुष चेतनात्मस्वरूपसे, जिस चेतनात्मस्वरूपसे पूर्ववर्ती विद्वान् अमरभावको प्राप्त हुए थे उसी प्रकार यह विद्वान् भी इस चेतनात्मस्वरूपसे ही इस लोकसे उत्क्रमण कर—इत्यादि वाक्यकी पहले (१ । २ । ६ में) ही व्याख्या की जा चुकी है । अर्थात् इस लोकसे उत्क्रमण कर इन्द्रियातीत स्वर्गलोकमें सम्पूर्ण कामनाएँ पाकर अमर हो गया, [अमर] हो गया—इत्यलम् ॥४॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतावैतरेयोपनिषद्भाष्ये तृतीयेऽध्याये प्रथमः खण्डः समाप्तः ।

उपनिषत्क्रमेण तृतीयः, आरण्यकक्रमेण षष्ठोऽध्यायः समाप्तः ।

ॐ तत्सत्

ॐ

शान्तिपाठ

ॐ वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितमाविरावीर्म एधि। वेदस्य म आणीस्थः श्रुतं मे मा प्रहासीः। अनेनाधीतेनाहोरात्रान्सन्दधाम्यृतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु। तद्वक्तारमवतु। अवतु मामवतु वक्तारमवतु वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकानि		अ०	खं०	मं०	पृ०
ॐ आत्मा वा इदम्	...	१	१	१	३२
अग्निर्वाग्भूत्वा मुखम्	...	१	२	४	४७
एष ब्रह्मैष इन्द्रः	...	३	१	३	९७
कोऽयमात्मेति वयम्	...	३	१	१	९०
तच्चक्षुषाजिघृक्षत्	...	१	३	५	५३
तच्छिश्नेनाजिघृक्षत्	...	१	३	९	५४
तच्छ्रोत्रेणाजिघृक्षत्	...	१	३	६	५३
तत्त्वचाजिघृक्षत्	...	१	३	७	५४
तत्प्राणेनाजिघृक्षत्	...	१	३	४	५३
तत्स्त्रिया आत्मभूतम्	...	२	१	२	८१
तदपानेनाजिघृक्षत्	...	१	३	१०	५४
तदुक्तमृषिणा	...	२	१	५	८७
तदेनत्सृष्टम्	...	१	३	३	५१
तन्मनसाजिघृक्षत्	...	१	३	८	५४
तमभ्यतपत्	...	१	१	४	३९
तमशनायापिपासे	...	१	२	५	४८
तस्मादिदन्द्रो नाम	...	१	३	१४	६२
ता एता देवताः सृष्टाः	...	१	२	१	४२
ताभ्यः पुरुषमानयत्ताः	...	१	२	३	४५
ताभ्यो गामानयत्ताः	...	१	२	२	४५
पुरुषे ह वा अयम्	...	२	१	१	७९
यदेतद्धृदयं मनश्चैतत्	...	३	१	२	९३

स इमाँल्लोकानसृजत	...	१	१	२	३५
स ईक्षत कथं न्विदम्	...	१	३	११	५५
स ईक्षतेमे नु लोकाः	...	१	१	३	३८
स ईक्षतेमे नु लोकाश्च	...	१	३	१	५०
स एतमेव सीमानम्	...	१	३	१२	५८
स एतेन प्रज्ञेनात्मना	...	३	१	४	१०१
स एवं विद्वानस्मात्	...	२	१	६	८८
स जातो भूतान्यभिव्यैख्यत्	...	१	३	१३	६१
सा भावयित्री	...	२	१	३	८२
सोऽपोऽभ्यतपत्	...	१	३	२	५१
सोऽस्यायमात्मा	...	२	१	४	८५



ॐ

तैत्तिरीयोपनिषद्

सानुवाद शाङ्करभाष्यसहित

गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
घनश्यामदास जालान
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९३ से २००० तक ९,२५०
सं० २००९ चतुर्थ संस्करण १०,०००
सं० २०१४ पञ्चम संस्करण ३,०००
कुल २२,२५०

मूल्य ।।।-) तेरह आना

पता—गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)

निवेदन

कृष्णयजुर्वेदीय तैत्तिरीयारण्यकके प्रपाठक ७-८ और ९ का नाम तैत्तिरीयोपनिषद् है। इनमें सप्तम प्रपाठक, जिसे तैत्तिरीयोपनिषद्की शीक्षावल्ली कहते हैं, सांहिती उपनिषद् कही जाती है और अष्टम तथा नवम प्रपाठक, जो इस उपनिषद्की ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली हैं, वारुणी उपनिषद् कहलाती हैं। इनके आगे जो दशम प्रपाठक है उसे नारायणोपनिषद् कहते हैं, वह याज्ञिकी उपनिषद् है। इनमें महत्त्वकी दृष्टिसे वारुणी उपनिषद् प्रधान है; उसमें विशुद्ध ब्रह्मविद्याका ही निरूपण किया गया है। किन्तु उसकी उपलब्धिके लिये चित्तकी एकाग्रता एवं गुरुकृपाकी आवश्यकता है। इसके लिये शीक्षावल्लीमें कई प्रकारकी उपासना तथा शिष्य एवं आचार्यसम्बन्धी शिष्टाचारका निरूपण किया गया है। अतः औपनिषद सिद्धान्तको हृदयंगम करनेके लिये पहले शीक्षावल्ल्युक्त उपासनादिका ही आश्रय लेना चाहिये। इसके आगे ब्रह्मानन्दवल्ली तथा भृगुवल्लीमें जिस ब्रह्मविद्याका निरूपण है उसके सम्प्रदायप्रवर्त्तक वरुण हैं; इसलिये वे दोनों वल्लियाँ वारुणी विद्या अथवा वारुणी उपनिषद् कहलाती हैं।

इस उपनिषद्पर भगवान् शङ्कराचार्यने जो भाष्य लिखा है वह बहुत ही विचारपूर्ण और युक्तियुक्त है। उसके आरम्भमें ग्रन्थका

उपोद्घात करते हुए भगवान्‌ने यह बतलाया है कि मोक्षरूप परम निःश्रेयसकी प्राप्तिका एकमात्र हेतु ज्ञान ही है। इसके लिये कोई अन्य साधन नहीं है। मीमांसकोंके मतमें 'स्वर्ग' शब्दवाच्य निरतिशय प्रीति (प्रेय) ही मोक्ष है और उसकी प्राप्तिका साधन कर्म है। इस मतका आचार्यने अनेकों युक्तियोंसे खण्डन किया है और स्वर्ग तथा कर्म दोनोंहीकी अनित्यता सिद्ध की है।

इस प्रकार आरम्भ करके फिर इस वल्लीमें बतलायी हुई भिन्न-भिन्न उपासनादिकी संक्षिप्त व्याख्या करते हुए इसके उपसंहारमें भी भगवान् भाष्यकारने कुछ विशद विचार किया है। एकादश अनुवाकमें शिष्यको वेदका स्वाध्याय करानेके अनन्तर आचार्य सत्यभाषण एवं धर्माचरणादिका उपदेश करता है तथा समावर्तन संस्कारके लिये आदेश देते हुए उसे गृहस्थोचित कर्मोंकी भी शिक्षा देता है। वहाँ यह बतलाया गया है कि देवकर्म, पितृकर्म तथा अतिथिपूजनमें कभी प्रमाद न होना चाहिये; दान और स्वाध्यायमें भी कभी भूल न होनी चाहिये, सदाचारकी रक्षाके लिये गुरुजनोंके प्रति श्रद्धा रखते हुए उन्हींके आचरणोंका अनुकरण करना चाहिये—किन्तु वह अनुकरण केवल उनके सुकृतोंका हो, दुष्कृतोंका नहीं। इस प्रकार समस्त वल्लीमें उपासना एवं गृहस्थजनोचित सदाचारका ही निरूपण होनेके कारण किसीको यह आशंका न हो जाय कि ये ही मोक्षके प्रधान साधन हैं इसलिये आचार्य फिर मोक्षके साक्षात् साधनका निर्णय करनेके लिये पाँच विकल्प करते हैं—(१) क्या परम श्रेयकी प्राप्ति केवल कर्मसे हो सकती है? (२) अथवा विद्याकी अपेक्षायुक्त कर्मसे (३) किंवा कर्म और ज्ञानके समुच्चयसे (४) या कर्मकी अपेक्षावाले ज्ञानसे (५) अथवा केवल ज्ञानसे? इनमेंसे अन्य सब पक्षोंको सदोष सिद्ध करते हुए आचार्यने यही निश्चय किया है कि केवल ज्ञान ही मोक्षका साक्षात् साधन है।

इस प्रकार शीक्षावल्लीमें संहितादिविषयक उपासनाओंका निरूपण कर फिर ब्रह्मानन्दवल्लीमें ब्रह्मविद्याका वर्णन किया गया है। इसका पहला

वाक्य है—*'ब्रह्मविदाप्नोति परम्'* यदि गम्भीरतापूर्वक विचार किया जाय तो यह सूत्रभूत वाक्य ही सम्पूर्ण ब्रह्मविद्याका बीज है। ब्रह्म और ब्रह्मवित्के स्वरूपका विचार ही तो ब्रह्मविद्या है और ब्रह्मवेत्ताकी परप्राप्ति ही उसका फल है; अतः निःसन्देह यह वाक्य फलसहित ब्रह्मविद्याका निरूपण करनेवाला है। आगेका समस्त ग्रन्थ इस सूत्रभूत मन्त्रकी ही व्याख्या है। उसमें सबसे पहले *'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'* इस वाक्यद्वारा श्रुति ब्रह्मका लक्षण करती है। इससे ब्रह्मके स्वरूपका निश्चय हो जानेपर उसकी उपलब्धिके लिये पञ्चकोशका विवेक करनेके अभिप्रायसे उसने पक्षीके रूपकद्वारा पाँचों कोशोंका वर्णन किया है और उन सबके आधार-रूपसे सर्वान्तरतम परब्रह्मका *'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'* इस वाक्यद्वारा निर्णय किया है। इसके पश्चात् ब्रह्मकी असत्ता माननेवाले पुरुषकी निन्दा करते हुए उसका अस्तित्व स्वीकार करनेवाले पुरुषकी प्रशंसा की है और उसे 'सत्' बतलाया है। फिर ब्रह्मका सार्वात्म्य प्रतिपादन करनेके लिये *'सोऽकामयत। बहु स्यां प्रजायेय'* इत्यादि वाक्यद्वारा उसीको जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण बतलाया है।

इस प्रकार सत्संज्ञक ब्रह्मसे जगत्की उत्पत्ति दिखलाकर फिर सप्तम अनुवाकमें असत्से ही सत्की उत्पत्ति बतलायी है। किन्तु यहाँ 'असत्' का अर्थ अभाव न समझकर अव्याकृत ब्रह्म समझना चाहिये और 'सत्'का व्याकृत जगत्; क्योंकि अत्यन्ताभावसे किसी भावपदार्थकी उत्पत्ति नहीं हो सकती और उत्पत्तिसे पूर्व सारे पदार्थ अव्यक्त थे ही। इसलिये 'असत्' शब्द अव्याकृत ब्रह्मका ही वाचक है। वह ब्रह्म रसस्वरूप है; उस रसकी प्राप्ति होनेपर यह जीव रसमय—आनन्दमय हो जाता है। उस रसके लेशसे ही सारा संसार सजीव देखा जाता है। जिस समय साधनाका परिपाक होनेपर पुरुष इस अदृश्य अशरीर अनिर्वाच्य और अनाश्रय परमात्मामें स्थिति लाभ करता है उस समय वह सर्वथा निर्भय हो जाता है; और जो उसमें थोड़ा-सा भी अन्तर करता है उसे भय प्राप्त होता है।

अतः ब्रह्ममें स्थित होना ही जीवकी अभयस्थिति है; क्योंकि वहाँ भेदका सर्वथा अभाव है और भय भेदमें ही होता है *'द्वितीयाद्वै भयं भवति'* ।

इस प्रकार ब्रह्मनिष्ठकी अभयप्राप्तिका निरूपण कर ब्रह्मके सर्वान्तर्यामित्व और सर्वशासकत्वका वर्णन करते हुए ब्रह्मवेत्ताके आनन्दकी सर्वोत्कृष्टता दिखलायी है। वहाँ मनुष्य, मनुष्यगन्धर्व, देवगन्धर्व, पितृगण, आजानज-देव, कर्मदेव, देव, इन्द्र, बृहस्पति, प्रजापति और ब्रह्मा—इन सबके आनन्दोंको उत्तरोत्तर शतगुण बतलाते हुए यह दिखलाया है कि निष्काम ब्रह्मवेत्ताको वे सभी आनन्द प्राप्त हैं। क्यों न हो ? सबके अधिष्ठानभूत परब्रह्मसे अभिन्न होनेके कारण क्या वह इन सभीका आत्मा नहीं है। अतः सर्वरूपसे वही तो सारे आनन्दोंका भोक्ता है। भोक्ता ही क्यों सर्व-आनन्दस्वरूप भी तो वही है, सारे आनन्द उसीके स्वरूपभूत आनन्द-महोदधिके क्षुद्रातिक्षुद्र कण ही तो हैं।

इसके पश्चात् हृदयपुण्डरीकस्थ पुरुषका आदित्यमण्डलस्थ पुरुषके साथ अभेद करते हुए यह बतलाया है कि जो इन दोनोंका अभेद जानता है वह इस लोक अर्थात् दृष्ट और अदृष्ट विषयसमूहसे निवृत्त होकर इस समष्टि अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय एवं आनन्दमय आत्माको प्राप्त हो जाता है। इस प्रकार सारा प्रपञ्च उसका अपना शरीर हो जाता है—उसके लिये अपनेसे भिन्न कुछ भी नहीं रहता। उस निर्भय और अनिर्वाच्य स्वात्मतत्त्वकी जिसे प्राप्ति हो जाती है, उसे न तो किसीका भय रहता है और न किसी कृत या अकृतका अनुताप ही। जब अपनेसे भिन्न कुछ है ही नहीं तो भय किसका और क्रिया कैसी ? क्रिया तो देश, काल या वस्तुका परिच्छेद होनेपर ही होती है; उस एक अखण्ड अमर्यादित, अद्वितीय वस्तुमें किसी प्रकारकी क्रियाका प्रवेश कैसे हो सकता है ?

इस प्रकार ब्रह्मानन्दवल्लीमें ब्रह्मविद्याका निरूपण कर भृगुवल्लीमें उसकी प्राप्तिका मुख्य साधन पञ्चकोश-विवेक दिखलानेके लिये वरुण और भृगुका आख्यान दिया गया है। आत्मतत्त्वका जिज्ञासु भृगु अपने

पिता वरुणके पास जाता है और उससे प्रश्न करता है कि जिससे ये सब भूत उत्पन्न हुए हैं, जिससे उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं और अन्तमें जिसमें ये लीन हो जाते हैं उस तत्त्वका मुझे उपदेश कीजिये। इसपर वरुणने अन्न, प्राण, चक्षु, श्रोत्र, मन और वाणी—ये ब्रह्मोपलब्धिके छः मार्ग बतलाकर उसे तप करनेका आदेश दिया और कहा कि '*तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्म*'—तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है। भृगुने जाकर मनःसमाधानरूप तप किया और इन सबमें अन्नको ही ब्रह्म जाना। किन्तु फिर उसमें सन्देह हो जानेपर उसने फिर वरुणके पास आकर वही प्रश्न किया और वरुणने भी फिर वही उत्तर दिया। इसके पश्चात् उसने प्राणको ब्रह्म जाना और इसी प्रकार पुनः-पुनः सन्देह होने और पुनः-पुनः वरुणके वही आदेश देनेपर अन्तमें उसने आनन्दको ही ब्रह्म निश्चय किया।

यहाँ ब्रह्मज्ञानका प्रथम द्वार अन्न था। इसीसे श्रुति यह आदेश करती है कि अन्नकी निन्दा न करे—यह नियम है, अन्नका तिरस्कार न करे—यह नियम है और खूब अन्न संग्रह करे—यह भी नियम है। यदि कोई अपने निवासस्थानपर आवे तो उसकी उपेक्षा न करे; सामर्थ्यानुसार अन्न, जल एवं आसनादिसे उसका अवश्य सत्कार करे। ऐसा करनेसे वह अन्नवान्, कीर्तिमान् तथा प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजसे सम्पन्न होता है। इस प्रकार अन्नकी महिमाका वर्णन कर भिन्न-भिन्न आश्रयोंमें भिन्न-भिन्न रूपसे उसकी उपासनाका विधान किया गया है। उस उपासनाके द्वारा जब उसे अपने सार्वात्म्यका अनुभव होता है उस समय उस लोकोत्तर आनन्दसे उन्मत्त होकर वह अपनी कृतकृत्यताको व्यक्त करते हुए अत्यन्त विस्मयपूर्वक गा उठता है— "*अहमन्नमहमन्नमहमन्नम्। अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः। अहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृदहꣳश्लोककृद्*" इत्यादि। उसकी यह उन्मत्तोक्ति उसके कृतकृत्य हृदयका उद्गार है, यह उसका अनुभव है और यही है उसके आध्यात्मिक संग्रामके अयत्नसाध्य भगवत्कृपालभ्य विजयका उद्घोष।

इस प्रकार हम देखते हैं कि इस उपनिषद्का प्रधान लक्ष्य ब्रह्म-ज्ञान ही है। इसकी वर्णन-शैली बड़ी ही मर्मस्पर्शिनी और शृङ्खलाबद्ध है। भगवान् शङ्कराचार्यने इसके ऊपर जो भाष्य लिखा है वह भी बहुत विचारपूर्ण है। आशा है, विज्ञजन उससे यथेष्ट लाभ उठानेका प्रयत्न करेंगे।

इस उपनिषद्के प्रकाशनके साथ प्रथम आठ उपनिषदोंके प्रकाशनका कार्य समाप्त हो जाता है। हमें इनके अनुवादमें श्रीविष्णु-वापटशास्त्रीकृत मराठी-अनुवाद, श्रीदुर्गाचरण मजूमदारकृत बंगला-अनुवाद, ब्रह्मनिष्ठ पं० श्रीपीताम्बरजीकृत हिन्दी-अनुवाद और महा-महोपाध्याय डा० श्रीगंगानाथजी झा एवं पं० श्रीसीतारामजी शास्त्रीकृत अंग्रेजी अनुवादसे यथेष्ट सहायता मिली है। अतः हम इन सभी महानुभावोंके अत्यन्त कृतज्ञ हैं। फिर भी हमारी अल्पज्ञताके कारण इनमें बहुत-सी त्रुटियाँ रह जानी स्वाभाविक हैं! उनके लिये हम कृपालु पाठकोंसे सविनय क्षमा-प्रार्थना करते हैं और आशा करते हैं कि वे उनकी सूचना देकर हमें अनुगृहीत करें, जिससे कि हम अगले संस्करणमें उनके संशोधनका प्रयत्न कर सकें।

अनुवादक



श्रीहरिः

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

१. शान्तिपाठ १३

शीक्षावल्ली

प्रथम अनुवाक

२. सम्बन्ध-भाष्य १४

३. शीक्षावल्लीका शान्तिपाठ २१

द्वितीय अनुवाक

४. शीक्षाकी व्याख्या २५

तृतीय अनुवाक

५. पाँच प्रकारकी संहितोपासना २७

चतुर्थ अनुवाक

६. श्री और बुद्धिकी कामनावालोंके लिये जप और होम-सम्बन्धी मन्त्र ३३

पञ्चम अनुवाक

७. व्याहृतिरूप ब्रह्मकी उपासना ४१

षष्ठ अनुवाक

८. ब्रह्मके साक्षात् उपलब्धिस्थान हृदयाकाशका वर्णन ... ४७

सप्तम अनुवाक

९. पाङ्क्तरूपसे ब्रह्मकी उपासना ५४

अष्टम अनुवाक

१०. ओङ्कारोपासनाका विधान ५७

नवम अनुवाक

११. ऋतादि शुभ कर्मोंकी अवश्यकर्त्तव्यताका विधान ... ६१

दशम अनुवाक

१२. त्रिशङ्कुका वेदानुवचन ६५

एकादश अनुवाक

१३. वेदाध्ययनके अनन्तर शिष्यको आचार्यका उपदेश ... ६८

१४. मोक्ष-साधनकी मीमांसा ७८

द्वादश अनुवाक ९३

ब्रह्मानन्दवल्ली

प्रथम अनुवाक

१५. ब्रह्मानन्दवल्लीका शान्तिपाठ ९४

१६. ब्रह्मज्ञानके फल, सृष्टिक्रम और अन्नमय कोशरूप पक्षीका वर्णन ... ९६

द्वितीय अनुवाक

१७. अन्नकी महिमा तथा प्राणमय कोशका वर्णन ... १२४

तृतीय अनुवाक

१८. प्राणकी महिमा और मनोमय कोशका वर्णन ... १३०

चतुर्थ अनुवाक

१९. मनोमय कोशकी महिमा तथा विज्ञानमय कोशका वर्णन ... १३८

पञ्चम अनुवाक

२०. विज्ञानकी महिमा तथा आनन्दमय कोशका वर्णन ... १४१

षष्ठ अनुवाक

२१. ब्रह्मको सत् और असत् जाननेवालोंका भेद, ब्रह्मज्ञ और अब्रह्मज्ञकी ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें शङ्का तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चरूपसे ब्रह्मके स्थित होनेका निरूपण १५०

सप्तम अनुवाक

२२. ब्रह्मकी सुकृतता एवं आनन्दरूपताका तथा ब्रह्मवेत्ताकी अभय-प्राप्तिका वर्णन १७३

अष्टम अनुवाक

२३. ब्रह्मानन्दके निरतिशयत्वकी मीमांसा ... १८२

२४. ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टिका उपसंहार १९१

नवम अनुवाक

२५. ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाले विद्वान्‌की अभयप्राप्ति ... २०८

भृगुवल्ली

प्रथम अनुवाक

२६. भृगुका अपने पिता वरुणके पास जाकर ब्रह्मविद्याविषयक प्रश्न करना तथा वरुणका ब्रह्मोपदेश २१३

द्वितीय अनुवाक

२७. अन्न ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना २१८

तृतीय अनुवाक

२८. प्राण ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसीमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना २२०

चतुर्थ अनुवाक

२९. मन ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना २२१

पञ्चम अनुवाक

३०. विज्ञान ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना २२२

षष्ठ अनुवाक

३१. आनन्द ही ब्रह्म है—ऐसा भृगुका निश्चय करना तथा इस भार्गवी वारुणी विद्याका महत्त्व और फल ... २२३

सप्तम अनुवाक

३२. अन्नकी निन्दा न करनारूप व्रत तथा शरीर और प्राणरूप अन्न-ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन ... २२६

अष्टम अनुवाक

३३. अन्नका त्याग न करनारूप व्रत तथा जल और ज्योतिरूप अन्न-ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन ... २२८

नवम अनुवाक

३४. अन्नसञ्चयरूप व्रत तथा पृथिवी और आकाशरूप अन्नब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन ... २२९

दशम अनुवाक

३५. गृहागत अतिथिको आश्रय और अन्न देनेका विधान एवं उससे प्राप्त होनेवाला फल तथा प्रकारान्तरसे ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन २३०

३६. आदित्य और देहोपाधिक चेतनकी एकता जाननेवाले उपासकको मिलनेवाला फल २४१

३७. ब्रह्मवेत्ताद्वारा गाया जानेवाला साम ... २४५

३८. शान्तिपाठ २४९





वरुण और भृगु

ॐ

तत्सद्ब्रह्मणे नमः

तैत्तिरीयोपनिषद्

मन्त्रार्थ, शाङ्करभाष्य और भाष्यार्थसहित

सर्वाशाध्वान्तनिर्मुक्तं सर्वाशाभास्करं परम् ।
चिदाकाशावतंसं तं सद्गुरुं प्रणमाम्यहम् ॥

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा ।
शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः ।
नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ।
त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं वदिष्यामि ।
सत्यं वदिष्यामि । तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु । अवतु
माम् । अवतु वक्तारम् ॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः ॥

शीक्षावल्ली

प्रथम अनुवाक

सम्बन्ध-भाष्य

यस्माज्जातं जगत्सर्वं यस्मिन्नेव प्रलीयते ।
येनेदं धार्यते चैव तस्मै ज्ञानात्मने नमः ॥ १ ॥

जिससे सारा जगत् उत्पन्न हुआ है, जिसमें ही यह लीन होता है और जिसके द्वारा यह धारण किया जाता है उस ज्ञानस्वरूपको मेरा नमस्कार है ।

यैरिमे गुरुभिः पूर्वं पदवाक्यप्रमाणतः ।
व्याख्याताः सर्ववेदान्तास्तान्नित्यं प्रणतोऽस्म्यहम् ॥ २ ॥

पूर्वकालमें जिन गुरुजनोंने पद, वाक्य और प्रमाणोंके विवेचनपूर्वक इन सम्पूर्ण वेदान्तों (उपनिषदों) की व्याख्या की है उन्हें मैं सर्वदा नमस्कार करता हूँ ।

तैत्तिरीयकसारस्य मयाचार्यप्रसादतः ।
विस्पष्टार्थरुचीनां हि व्याख्येयं संप्रणीयते ॥ ३ ॥

जो स्पष्ट अर्थ जाननेके इच्छुक हैं उन पुरुषोंके लिये मैं श्रीआचार्यकी कृपासे तैत्तिरीयशाखाके सारभूत इस उपनिषद्की व्याख्या करता हूँ ।

उपक्रमः

नित्यान्यधिगतानि कर्माण्युपात्तदुरितक्षयार्थानि, काम्यानि च फलार्थिनां पूर्वस्मिन्ग्रन्थे । इदानीं कर्मोपादानहेतुपरिहाराय ब्रह्मविद्या प्रस्तूयते ।

सञ्चित पापोंका क्षय ही जिनका मुख्य प्रयोजन है ऐसे नित्यकर्मोंका तथा सकाम पुरुषोंके लिये विहित काम्यकर्मोंका इससे पूर्ववर्ती ग्रन्थमें [अर्थात् कर्मकाण्डमें] परिज्ञान हो चुका है । अब कर्मानुष्ठानके कारणकी निवृत्तिके लिये ब्रह्मविद्याका आरम्भ किया जाता है ।

आत्मविदेवाप्तकामो भवति

कर्महेतुः कामः स्यात् । प्रवर्तकत्वात् । आप्तकामानां हि कामाभावे स्वात्मन्यवस्थानात् प्रवृत्त्यनुपपत्तिः । आत्मकामित्वे चाप्तकामता; आत्मा हि ब्रह्म; तद्विदो हि परप्राप्तिं वक्ष्यति । अतोऽविद्यानिवृत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं परप्राप्तिः । "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै० उ० २ । ७ । १) "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तै० उ० २ । ८ । १२) इत्यादिश्रुतेः ।

कामना ही कर्मकी कारण हो सकती है; क्योंकि वही उसकी प्रवर्तक है । जो लोग पूर्णकाम हैं उनकी कामनाओंका अभाव होनेपर स्वरूपमें स्थिति हो जानेसे कर्ममें प्रवृत्ति होनी असम्भव है । आत्म-दर्शनकी कामना पूर्ण होनेपर ही पूर्णकामता [की सिद्धि] होती है; क्योंकि आत्मा ही ब्रह्म है और ब्रह्मवेत्ताको ही परमात्माकी प्राप्ति होती है ऐसा आगे [श्रुति] बतलायेगी । अतः अविद्याकी निवृत्ति होनेपर अपने आत्मामें स्थित हो जाना ही परमात्माकी प्राप्ति है; जैसा कि "अभय पद प्राप्त कर लेता है" "[उस समय] इस आनन्दमय आत्माको प्राप्त हो जाता है" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है ।

मीमांसकमत-समीक्षा

काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भादारब्धस्य चोपभोगेन क्षयान्नित्यानुष्ठानेन प्रत्यवायाभावादयत्नत एव स्वात्मन्यवस्थानं मोक्षः ।

अथवा निरतिशयायाः प्रीतेः स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्महेतुत्वात्कर्मभ्य एव मोक्ष इति चेत् ।

न; कर्मानेकत्वात् । अनेकानि ह्यारब्धफलान्यनारब्धफलानि चानेकजन्मान्तरकृतानि विरुद्धफलानि कर्माणि सम्भवन्ति । अतस्तेष्वनारब्धफलानामेकस्मिञ्जन्मन्युपभोगक्षयासंभवाच्छेषकर्मनिमित्तशरीरारम्भोपपत्तिः । कर्मशेषसद्भावसिद्धिश्च "तद्य इह रमणीयचरणाः" (छा० उ० ५ । १० । ७) "ततः शेषेण" (आ० ध० २ । २ । २ । ३, गो०

पूर्व०—काम्य और निषिद्ध कर्मोंका आरम्भ न करनेसे, प्रारब्ध कर्मोंका भोगद्वारा क्षय हो जानेसे तथा नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे प्रत्यवायोंका अभाव हो जानेसे अनायास ही अपने आत्मामें स्थित होनारूप मोक्ष प्राप्त हो जायगा; अथवा 'स्वर्ग' शब्दवाच्य आत्यन्तिक प्रीति कर्मजनित होनेके कारण कर्मसे ही मोक्ष हो सकता है—यदि ऐसा माना जाय तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि कर्म तो बहुत-से हैं । अनेकों जन्मान्तरोंमें किये हुए ऐसे अनेकों विरुद्ध फलवाले कर्म हो सकते हैं जिनमेंसे कुछ तो फलोन्मुख हो गये हैं और कुछ अभी फलोन्मुख नहीं हुए हैं । अतः उनमें जो कर्म अभी फलोन्मुख नहीं हुए हैं उनका एक जन्ममें ही क्षय होना असम्भव होनेके कारण उन अवशिष्ट कर्मोंके कारण दूसरे शरीरका आरम्भ होना असम्भव ही है । "इस लोकमें जो शुभ कर्म करनेवाले हैं [उन्हें शुभयोनि प्राप्त होती है]" "[उपभोग किये कर्मोंसे] बचे हुए कर्मोंद्वारा [जीवको आगेका शरीर

स्मृ० ११) इत्यादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः ।

इष्टानिष्टफलानामनारब्धानां क्षयार्थानि नित्यानीति चेत् ?

न; अकरणे प्रत्यवायश्रवणात् । प्रत्यवायशब्दो ह्यनिष्टविषयः । नित्याकरणनिमित्तस्य प्रत्यवायस्य दुःखरूपस्यागामिनः परिहारार्थानि नित्यानीत्यभ्युपगमान्नानारब्धफलकर्मक्षयार्थानि ।

यदि नामानारब्धकर्मक्षयार्थानि नित्यानि कर्माणि तथाप्यशुद्धमेव क्षपयेयुर्न शुद्धम् । विरोधाभावात् । न हीष्टफलस्य कर्मणः शुद्धरूपत्वान्नित्यैर्विरोध उपपद्यते । शुद्धाशुद्धयोर्हि विरोधो युक्तः ।

तै० उ० २—

प्राप्त होता है]" इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियोंसे अवशिष्ट कर्मके सद्भावकी सिद्धि होती ही है ।

पूर्व०—इष्ट और अनिष्ट दोनों प्रकारके फल देनेवाले सञ्चित कर्मोंका क्षय करनेके लिये ही नित्यकर्म हैं—ऐसी बात हो तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उन्हें न करनेपर प्रत्यवाय होता है—ऐसा सुना गया है । 'प्रत्यवाय' शब्द अनिष्टका ही सूचक है । नित्यकर्मोंके न करनेके कारण जो आगामी दुःखरूप प्रत्यवाय होता है उसका नाश करनेके लिये ही नित्यकर्म हैं—ऐसा माना जानेके कारण वे सञ्चित कर्मोंके क्षयके लिये नहीं हो सकते ।

और यदि नित्यकर्म, जिनका फल अभी आरम्भ नहीं हुआ है उन कर्मोंके क्षयके लिये हों भी तो भी वे अशुद्ध कर्मका ही क्षय करेंगे, शुद्धका नहीं; क्योंकि उनसे तो उनका विरोध ही नहीं है । जिनका फल इष्ट है उन कर्मोंका तो शुद्धरूप होनेके कारण नित्यकर्मोंसे विरोध होना सम्भव ही नहीं है । विरोध तो शुद्ध और अशुद्ध कर्मोंका ही होना उचित है ।

न च कर्महेतूनां कामानां ज्ञानाभावे निवृत्त्यसंभवादशेषकर्मक्षयोपपत्तिः । अनात्मविदो हि कामोऽनात्मफलविषयत्वात् । स्वात्मनि च कामानुपपत्तिर्नित्यप्राप्तत्वात् । स्वयं चात्मा परं ब्रह्मेत्युक्तम् ।

इसके सिवा कर्मकी हेतुभूत कामनाओंकी निवृत्ति भी ज्ञानके अभावमें असम्भव होनेके कारण उन (नित्यकर्मों) के द्वारा सम्पूर्ण कर्मोंका क्षय होना सम्भव नहीं है; क्योंकि अनात्मफलविषयिणी होनेके कारण कामना अनात्मवेत्ताको ही हुआ करती है । आत्मामें तो कामनाका होना सर्वथा असम्भव है; क्योंकि वह नित्यप्राप्त है । और यह तो कहा ही जा चुका है कि स्वयं आत्मा ही परब्रह्म है ।

नित्यानां चाकरणमभावस्ततः प्रत्यवायानुपपत्तिरिति । अतः पूर्वोपचितदुरितेभ्यः प्राप्यमाणायाः प्रत्यवायक्रियाया नित्याकरणं लक्षणमिति "अकुर्वन्विहितं कर्म" (मनु० ११ । ४४) इति शतुर्नानुपपत्तिः । अन्यथाभावाद्भावोत्पत्तिरिति सर्वप्रमाणव्याकोप इति । अतोऽयत्नतः स्वात्मन्यवस्थानमित्यनुपपन्नम् ।

तथा नित्यकर्मोंका न करना तो अभावरूप है, उससे प्रत्यवाय होना असम्भव है । अतः नित्यकर्मोंका न करना यह पूर्वसञ्चित पापोंसे प्राप्त होनेवाली प्रत्यवायक्रियाका ही लक्षण है । इसलिये "अकुर्वन् विहितं कर्म" इस वाक्यके 'अकुर्वन्' पदमें 'शतृ' प्रत्ययका होना अनुचित नहीं है । अन्यथा अभावसे भावकी उत्पत्ति सिद्ध होनेके कारण सभी प्रमाणोंसे विरोध हो जायगा । अतः ऐसा मानना सर्वथा अयुक्त है कि [कर्मानुष्ठानसे] अनायास ही आत्मस्वरूपमें स्थिति हो जाती है ।

यच्चोक्तं निरतिशयप्रीतेः स्वर्गशब्दवाच्यायाः कर्मनिमित्तत्वात्कर्मारब्ध एव मोक्ष इति, तन्न; नित्यत्वान्मोक्षस्य। न हि नित्यं किञ्चिदारभ्यते लोके। यदारब्धं तदनित्यमिति। अतो न कर्मारब्धो मोक्षः।

और यह जो कहा कि 'स्वर्ग' शब्दसे कही जानेवाली निरतिशय प्रीति कर्मनिमित्तक होनेके कारण मोक्ष कर्मसे ही आरम्भ होनेवाला है, सो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि मोक्ष नित्य है और किसी भी नित्य वस्तुका आरम्भ नहीं किया जाता; लोकमें जिस वस्तुका भी आरम्भ होता है वह अनित्य हुआ करती है; इसलिये मोक्ष कर्मारब्ध नहीं है।

विद्यासहितानां कर्मणां नित्यारम्भसामर्थ्यमिति चेत्?

पूर्व०—ज्ञानसहित कर्मोंमें तो नित्य मोक्षके आरम्भ करनेकी भी सामर्थ्य है ही?

न; विरोधात्। नित्यं चारभ्यत इति विरुद्धम्।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि ऐसा माननेसे विरोध आता है, मोक्ष नित्य है और उसका आरम्भ किया जाता है—ऐसा कहना तो परस्पर विरुद्ध है।

यद्विनष्टं तदेव नोत्पद्यत इति। प्रध्वंसाभाववन्नित्योऽपि मोक्ष आरभ्य एवेति चेत्?

पूर्व०—जो वस्तु नष्ट हो जाती है वही फिर उत्पन्न नहीं हुआ करती, अतः प्रध्वंसाभावके समान नित्य होनेपर भी मोक्षका आरम्भ किया ही जाता है—ऐसा मानें तो?

न; मोक्षस्य भावरूपत्वात् प्रध्वंसाभावोऽप्यारभ्यत इति न संभवति; अभावस्य विशेषाभावाद्विकल्पमात्रमेतत्।

सिद्धान्ती—नहीं; क्योंकि मोक्ष तो भावरूप है। प्रध्वंसाभाव भी आरम्भ किया जाता है यह संभव नहीं; क्योंकि अभावमें कोई विशेषता न होनेके कारण यह तो केवल विकल्प ही है। भावका

भावप्रतियोगी ह्यभावः । यथा ह्यभिन्नोऽपि भावो घट-पटादिभिर्विशेष्यते भिन्न इव घटभावः पटभाव इति; एवं निर्विशेषोऽप्यभावः क्रिया-गुणयोगाद्द्रव्यादिवद्विकल्प्यते । न ह्यभाव उत्पलादिवद्विशेषण-सहभावी । विशेषणवत्त्वे भाव एव स्यात् ।

प्रतियोगी ही 'अभाव' कहलाता है । जिस प्रकार भाव वस्तुतः अभिन्न होनेपर भी घट-पट आदि विशेषणोंसे भिन्नके समान घटभाव, पटभाव आदि रूपसे विशेषित किया जाता है इसी प्रकार अभाव निर्विशेष होनेपर भी क्रिया और गुणके योगसे द्रव्यादिके समान विकल्पित होता है । कमल आदि पदार्थोंके समान अभाव विशेषणके सहित रहनेवाला नहीं है । विशेषण-युक्त होनेपर तो वह भाव ही हो जायगा ।

विद्याकर्मकर्तृनित्यत्वाद्विद्या-कर्मसन्तानजनितमोक्षनित्यत्व-मिति चेत् ?

पूर्व०—विद्या और कर्म इनका कर्ता नित्य होनेके कारण विद्या और कर्मके अविच्छिन्न प्रवाहसे होनेवाला मोक्ष नित्य ही होना चाहिये । ऐसा मानें तो ?

न; गङ्गास्रोतोवत्कर्तृत्वस्य दुःखरूपत्वात् । कर्तृत्वोपरमे च मोक्षविच्छेदात् । तस्मादविद्या-कामकर्मोपादानहेतुनिवृत्तौ स्वा-त्मन्यवस्थानं मोक्ष इति । स्वयं

सिद्धान्ती—नहीं, गङ्गाप्रवाहके समान जो कर्तृत्व है वह तो दुःख-रूप है । [अतः उससे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती, और यदि उसीसे मोक्ष माना जाय तो भी] कर्तृत्वकी निवृत्ति होनेपर मोक्षका विच्छेद हो जायगा । अतः अविद्या, कामना और कर्म—इनके उपादान कारणकी निवृत्ति होनेपर आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाना ही मोक्ष है—यह सिद्ध

चात्मा ब्रह्म। तद्विज्ञानादविद्यानिवृत्तिरिति ब्रह्मविद्यार्थोपनिषदारभ्यते।

होता है। तथा स्वयं आत्मा ही ब्रह्म है और उसके ज्ञानसे ही अविद्याकी निवृत्ति होती है; अतः अब ब्रह्मज्ञानके लिये उपनिषद्का आरम्भ किया जाता है।

उपनिषच्छब्द-निरुक्तिः

उपनिषदिति विद्योच्यते; तच्छीलिनां गर्भजन्मजरादिनिशातनात्तदवसादनाद्वा ब्रह्मणो वोपनिगमयितृत्वादुपनिषण्णं वास्यां परं श्रेय इति। तदर्थत्वाद्ग्रन्थोऽप्युपनिषद्।

अपना सेवन करनेवाले पुरुषोंके गर्भ, जन्म और जरा आदिका निशातन (उच्छेद) करने या उनका अवसादन (नाश) करनेके कारण 'उपनिषद्' शब्दसे विद्या ही कही जाती है। अथवा ब्रह्मके समीप ले जानेवाली होनेसे या इसमें परम श्रेय ब्रह्म उपस्थित है इसलिये [यह विद्या 'उपनिषद्' है]। उस विद्याके ही लिये होनेके कारण ग्रन्थ भी 'उपनिषद्' है।

शीक्षावल्लीका शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि। ऋतं वदिष्यामि। सत्यं वदिष्यामि। तन्मामवतु तद्वक्तारमवतु। अवतु माम्। अवतु वक्तारम्॥ ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥ १॥

[प्राणवृत्ति और दिनका अभिमानी देवता] मित्र (सूर्यदेव) हमारे लिये सुखकर हो। [अपानवृत्ति और रात्रिका अभिमानी] वरुण

हमारे लिये सुखावह हो [नेत्र और सूर्यका अभिमानी देवता] अर्यमा हमारे लिये सुखप्रद हो । बलका अभिमानी इन्द्र तथा [वाक् और बुद्धिका अभिमानी देवता] बृहस्पति हमारे लिये शान्तिदायक हो । तथा जिसका पादविक्षेप (डग) बहुत विस्तृत है वह [पादाभिमानी देवता] विष्णु हमारे लिये सुखदायक हो । ब्रह्म [रूप वायु] को नमस्कार है । हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है । तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । अतः तुम्हींको मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । तुम्हींको ऋत (शास्त्रोक्त निश्चित अर्थ) कहूँगा और [क्योंकि वाक् और शरीरसे सम्पन्न होनेवाले कार्य भी तुम्हारे ही अधीन हैं इसलिये] तुम्हींको मैं सत्य कहूँगा । अतः तुम [विद्यादानके द्वारा] मेरी रक्षा करो तथा ब्रह्मका निरूपण करनेवाले आचार्यकी भी [उन्हें वक्तृत्व-सामर्थ्य देकर] रक्षा करो । मेरी रक्षा करो और वक्ताकी रक्षा करो । आधिभौतिक, आध्यात्मिक और आधिदैविक तीनों प्रकारके तापोंकी शान्ति हो ॥ १ ॥

शं सुखं प्राणवृत्तेरहश्चाभिमानी देवतात्मा मित्रो नोऽस्माकं भवतु । तथैवापानवृत्ते रात्रेश्चाभिमानी देवतात्मा वरुणः । चक्षुष्यादित्ये चाभिमान्यर्यमा । बल इन्द्रः । वाचि बुद्धौ च बृहस्पतिः । विष्णुरुरुक्रमो विस्तीर्णक्रमः पादयोरभिमानी । एवमाद्याध्यात्मदेवताः शं नः । भवत्विति सर्वत्रानुषङ्गः ।

प्राणवृत्ति और दिनका अभिमानी देवता मित्र हमारे लिये शं सुखरूप हो । इसी प्रकार अपानवृत्ति और रात्रिका अभिमानी देवता वरुण, नेत्र और सूर्यमें अभिमान करनेवाला अर्यमा, बलमें अभिमान करनेवाला इन्द्र, वाणी और बुद्धिका अभिमानी बृहस्पति तथा उरुक्रम अर्थात् विस्तीर्ण पादविक्षेपवाला पादाभिमानी देवता विष्णु—इत्यादि सभी अध्यात्म-देवता हमारे लिये सुखदायक हों । 'भवतु' (हों) इस क्रियाका सभी वाक्योंके साथ सम्बन्ध है ।

तासु हि सुखकृत्सु विद्याश्रवणधारणोपयोगा अप्रतिबन्धेन भविष्यन्तीति तत्सुखकर्तृत्वं प्रार्थ्यते शं नो भवत्विति ।

ब्रह्म विविदिषुणा नमस्कारवन्दनक्रिये वायुविषये ब्रह्मविद्योपसर्गशान्त्यर्थं क्रियेते । सर्वक्रियाफलानां तदधीनत्वाद् ब्रह्म वायुस्तस्मै ब्रह्मणे नमः । प्रह्वीभावं करोमीति वाक्यशेषः । नमस्ते तुभ्यं हे वायो नमस्करोमीति । परोक्षप्रत्यक्षाभ्यां वायुरेवाभिधीयते ।

किं च त्वमेव चक्षुराद्यपेक्ष्य बाह्यं संनिकृष्टमव्यवहितं प्रत्यक्षं ब्रह्मासि यस्मात्तस्मात्त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि । ऋतं यथाशास्त्रं यथाकर्तव्यं बुद्धौ सुपरिनिश्चितमर्थं तदपि त्वद-

उनके सुखप्रद होनेपर ही ज्ञानके श्रवण, धारण और उपयोग निर्विघ्नतासे हो सकेंगे—इसलिये ही 'शं नो भवतु' आदि मन्त्रद्वारा उनकी सुखावहताके लिये प्रार्थना की जाती है ।

अब ब्रह्मके जिज्ञासुद्वारा ब्रह्मविद्याके विघ्नोंकी शान्तिके लिये वायुसम्बन्धी नमस्कार और वन्दन किये जाते हैं । समस्त कर्मोंका फल वायुके ही अधीन होनेके कारण ब्रह्म वायु है । उस ब्रह्मको मैं नमस्कार अर्थात् प्रह्वीभाव (विनीतभाव) करता हूँ । यहाँ 'करोमि' यह क्रिया वाक्यशेष है । हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है—मैं तुम्हें नमस्कार करता हूँ—इस प्रकार यहाँ परोक्ष और प्रत्यक्षरूपसे वायु ही कहा गया है ।

इसके सिवा क्योंकि बाह्य चक्षु आदिकी अपेक्षा तुम्हीं समीपवर्ती—अव्यवहित अर्थात् प्रत्यक्ष ब्रह्म हो इसलिये तुम्हींको मैं प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा । तुम्हींको ऋत अर्थात् शास्त्र और अपने कर्तव्यानुसार बुद्धिमें सम्यक्‌रूपसे निश्चित किया हुआ अर्थ कहूँगा; क्योंकि वह [ऋत]

धीनत्वात्त्वामेव वदिष्यामि । सत्यमिति स एव वाक्कायाभ्यां संपाद्यमानः, सोऽपि त्वदधीन एव संपाद्य इति त्वामेव सत्यं वदिष्यामि ।

तत्सर्वात्मकं वाय्वाख्यं ब्रह्म मयैवं स्तुतं सन्मां विद्यार्थिनमवतु विद्यासंयोजनेन । तदेव ब्रह्म वक्तारमाचार्यं वक्तृत्वसामर्थ्यसंयोजनेनावतु । अवतु मामवतु वक्तारमिति पुनर्वचनमादरार्थम् । ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनमाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकानां विद्याप्राप्त्युपसर्गाणां प्रशमार्थम् ॥१॥

तुम्हारे ही अधीन है । वाक् और शरीरसे सम्पादन किया जानेवाला वह अर्थ ही सत्य कहलाता है, वह भी तुम्हारे ही अधीन सम्पादन किया जाता है; अतः तुम्हींको मैं सत्य कहूँगा !

वह वायुसंज्ञक सर्वात्मक ब्रह्म मेरेद्वारा इस प्रकार स्तुति किये जानेपर मुझ विद्यार्थीको विद्यासे युक्त करके रक्षा करे । वही ब्रह्म वक्ता आचार्यको वक्तृत्वसामर्थ्यसे युक्त करके उसकी रक्षा करे । मेरी रक्षा करे और वक्ताकी रक्षा करे—इस प्रकार दो बार कहना आदरके लिये है । 'ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः'—ऐसा तीन बार कहना विद्याप्राप्तिके आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक विघ्नोंकी शान्तिके लिये है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥



द्वितीय अनुवाक

शीक्षाकी व्याख्या

अर्थज्ञानप्रधानत्वादुपनिषदो ग्रन्थपाठे यत्नोपरमो मा भूदिति शीक्षाध्याय आरभ्यते—

उपनिषद् अर्थज्ञानप्रधान है [अर्थात् अर्थज्ञान ही इसमें मुख्य है], अतः इस ग्रन्थके अध्ययनका प्रयत्न शिथिल न हो जाय—इसलिये पहले शीक्षाध्याय आरम्भ किया जाता है—

शीक्षां व्याख्यास्यामः । वर्णः स्वरः । मात्रा बलम् । साम सन्तानः । इत्युक्तः शीक्षाध्यायः ॥ १ ॥

हम शीक्षाकी व्याख्या करते हैं। [अकारादि] वर्ण, [उदात्तादि] स्वर, [ह्रस्वादि] मात्रा, [शब्दोच्चारणमें प्राणका प्रयत्नरूप] बल, [एक ही नियमसे उच्चारण करनारूप] साम तथा सन्तान (संहिता) [ये ही विषय इस अध्यायसे सीखे जाने योग्य हैं] । इस प्रकार शीक्षाध्याय कहा गया ॥ १ ॥

शिक्षा शिक्ष्यतेऽनयेति वर्णाद्युच्चारणलक्षणम् । शिक्ष्यन्त इति वा शिक्षा वर्णादयः । शिक्षैव शीक्षा । दैर्घ्यं छान्दसम् । तां शीक्षां व्याख्यास्यामो विस्पष्टमा समन्तात्कथयिष्यामः ।

जिससे वर्णादिका उच्चारण सीखा जाय उसे 'शिक्षा' कहते हैं अथवा जो सीखे जायँ वे वर्ण आदि ही शिक्षा हैं । शिक्षाको ही 'शीक्षा' कहा गया है । [शीक्षाशब्दमें ईकारका] दीर्घत्व वैदिक प्रक्रियाके अनुसार है । उस शीक्षाकी हम व्याख्या करते हैं अर्थात् उसका सर्वतोभावसे स्पष्ट वर्णन करते हैं ।

चक्षिङो वा ख्याञादिष्टस्य व्याङ्पूर्वस्य व्यक्तवाक्कर्मण एतद्रूपम् ।

तत्र वर्णोऽकारादिः, स्वर उदात्तादिः, मात्रा ह्रस्वाद्याः, बलं प्रयत्नविशेषः, सामवर्णानां मध्यमवृत्त्योच्चारणं समता, सन्तानः सन्ततिः संहितेत्यर्थः । एष हि शिक्षितव्योऽर्थः । शिक्षा यस्मिन्नध्याये सोऽयं शीक्षाध्याय इत्येवमुक्त उदितः । उक्त इत्युपसंहारार्थः ॥ १ ॥

'व्याख्यास्यामः' यह पद 'वि' और 'आङ्' उपसर्गपूर्वक 'चक्षिङ्' धातुके स्थानमें वैकल्पिक 'ख्याञ्' आदेश करनेसे निष्पन्न होता है । इसका अर्थ स्पष्ट उच्चारण है ।

तहाँ अकारादि वर्ण, उदात्तादि स्वर, ह्रस्वादि मात्राएँ, [वर्णोंके उच्चारणमें] प्रयत्नविशेषरूप बल वर्णोंको मध्यम वृत्तिसे उच्चारण करनारूप साम अर्थात् समता तथा सन्तान—सन्तति अर्थात् संहिता—यही शिक्षणीय विषय है । शिक्षा जिस अध्यायमें है उस इस शिक्षा-अध्यायका इस प्रकार कथन यानी प्रकाशन कर दिया गया । यहाँ 'उक्तः' पद उपसंहारके लिये है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

पाँच प्रकारकी संहितोपासना

अधुना संहितोपनिषदुच्यते— | अब संहितासम्बन्धिनी उपनिषद् (उपासना) कही जाती है—

सह नौ यशः । सह नौ ब्रह्मवर्चसम् । अथातः सꣳहिताया उपनिषदं व्याख्यास्यामः । पञ्चस्वधिकरणेषु । अधिलोकमधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्मम् । ता महासꣳहिता इत्याचक्षते । अथाधिलोकम् । पृथिवी पूर्वरूपम् । द्यौरुत्तररूपम् । आकाशः संधिः ॥ १ ॥

वायुः संधानम् । इत्यधिलोकम् । अथाधिज्यौतिषम् । अग्निः पूर्वरूपम् । आदित्य उत्तररूपम् । आपः संधिः । वैद्युतः संधानम् । इत्यधिज्यौतिषम् । अथाधिविद्यम् । आचार्यः पूर्वरूपम् ॥ २ ॥

अन्तेवास्युत्तररूपम् । विद्या संधिः । प्रवचनꣳसंधानम् । इत्यधिविद्यम् । अथाधिप्रजम् । माता पूर्वरूपम् । पितोत्तररूपम् । प्रजा संधिः । प्रजननꣳसंधानम् । इत्यधिप्रजम् ॥ ३ ॥

अथाध्यात्मम् । अधरा हनुः पूर्वरूपम् । उत्तरा हनुरुत्तररूपम् । वाक्संधिः । जिह्वा संधानम् । इत्य-

ध्यात्मम् । इतीमा महास्ँहिता य एवमेता महास्ँहिता व्याख्याता वेद । संधीयते प्रजया पशुभिः । ब्रह्मवर्चसेनान्नाद्येन सुवर्ग्येण लोकेन ॥ ४ ॥

हम [शिष्य और आचार्य] दोनोंको साथ-साथ यश प्राप्त हो और हमें साथ-साथ ब्रह्मतेजकी प्राप्ति हो । [क्योंकि जिन पुरुषोंकी बुद्धि शास्त्राध्ययनद्वारा परिमार्जित हो गयी है वे भी परमार्थतत्त्वको समझनेमें सहसा समर्थ नहीं होते, इसलिये] अब हम पाँच अधिकरणोंमें संहिताकी * उपनिषद् [अर्थात् संहितासम्बन्धिनी उपासना] की व्याख्या करेंगे । अधिलोक, अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म—ये ही पाँच अधिकरण हैं । पण्डितजन उन्हें महासंहिता कहकर पुकारते हैं । अब अधिलोक (लोकसम्बन्धी) दर्शन (उपासना) का वर्णन किया जाता है—संहिताका प्रथम वर्ण पृथिवी है, अन्तिम वर्ण द्युलोक है, मध्यभाग आकाश है ॥ १ ॥ और वायु सन्धान (उनका परस्पर सम्बन्ध करनेवाला) है [अधिलोक-उपासकको संहितामें इस प्रकार दृष्टि करनी चाहिये]—यह अधिलोक दर्शन कहा गया । इसके अनन्तर अधिज्यौतिष दर्शन कहा जाता है—यहाँ संहिताका प्रथम वर्ण अग्नि है, अन्तिम वर्ण आदित्य है, मध्यभाग आप (जल) है और विद्युत् सन्धान है [अधिज्यौतिष-उपासकको संहितामें ऐसी दृष्टि करनी चाहिये]—यह अधिज्यौतिष दर्शन कहा गया । इसके पश्चात् अधिविद्य दर्शन कहा जाता है—इसकी संहिताका प्रथम वर्ण आचार्य है ॥ २ ॥ अन्तिम वर्ण शिष्य है, विद्या सन्धि है और प्रवचन (प्रश्नोत्तररूपसे निरूपण करना) सन्धान है [—ऐसी अधिविद्य-उपासकको दृष्टि

* 'संहिता' शब्दका अर्थ सन्धि या वर्णोंका सामीप्य है । भिन्न-भिन्न वर्णोंके मिलनेपर ही शब्द बनते हैं; उनमें जब एक वर्णका दूसरे वर्णसे योग होता है तो उन पूर्वोत्तर वर्णोंके योगको 'सन्धि' कहते हैं और जिस शब्दोच्चारणसम्बन्धी प्रयत्नके योगसे सन्धि होती है उसे 'सन्धान' कहा जाता है ।

करनी चाहिये] । यह विद्यासम्बन्धी दर्शन कहा गया । इससे आगे अधिप्रज दर्शन कहा जाता है—यहाँ संहिताका प्रथम वर्ण माता है, अन्तिम वर्ण पिता है, प्रजा (सन्तान) सन्धि है और प्रजनन (ऋतु-कालमें भार्यागमन) सन्धान है [—अधिप्रज-उपासकको ऐसी दृष्टि करनी चाहिये] । यह प्रजासम्बन्धी उपासनाका वर्णन किया गया ॥ ३ ॥ इसके पश्चात् अध्यात्मदर्शन कहा जाता है—इसमें संहिताका प्रथम वर्ण नीचेका हनु (नीचेके होठसे ठोडीतकका भाग) है, अन्तिम वर्ण ऊपरका हनु (ऊपरके होठसे नासिकातकका भाग) है, वाणी सन्धि है और जिह्वा सन्धान है [—ऐसी अध्यात्म-उपासकको दृष्टि करनी चाहिये] । यह अध्यात्मदर्शन कहा गया । इस प्रकार ये महासंहिताएँ कहलाती हैं । जो पुरुष इस प्रकार व्याख्या की हुई इन महासंहिताओंको जानता है [अर्थात् इस प्रकार उपासना करता है] वह प्रजा, पशु, ब्रह्मतेज, अन्न और स्वर्गलोकसे संयुक्त किया जाता है । [अर्थात् उसे इन सबकी प्राप्ति होती है] ॥ ४ ॥

तत्र संहिताद्युपनिषत्परिज्ञाननिमित्तं यद्यशः प्रार्थ्यते तन्नावावयोः शिष्याचार्ययोः सहैवास्तु । तन्निमित्तं च यद्ब्रह्मवर्चसं तेजस्तच्च सहैवास्त्विति शिष्यवचनमाशीः । शिष्यस्य ह्यकृतार्थत्वात्प्रार्थनोपपद्यते नाचार्यस्य । कृतार्थत्वात् । कृतार्थो ह्याचार्यो नाम भवति ।

उस संहितादि उपनिषद् [अर्थात् संहितादिसम्बन्धिनी उपासना] के परिज्ञानके कारण जिस यशकी याचना की जाती है वह हम शिष्य और आचार्य दोनोंको साथ-साथ ही प्राप्त हो । तथा उसके कारण जो ब्रह्मतेज होता है वह भी हम दोनोंको साथ-साथ ही मिले—इस प्रकार यह कामना शिष्यका वाक्य है; क्योंकि अकृतार्थ होनेके कारण शिष्यके लिये ही प्रार्थना करना सम्भव भी है—आचार्यके लिये नहीं; क्योंकि वह कृतार्थ होता है । जो पुरुष कृतार्थ होता है वही आचार्य कहलाता है ।

अथानन्तरमध्ययनलक्षणविधानस्य, अतो यतोऽत्यर्थं ग्रन्थभाविता बुद्धिर्न शक्यते सहसार्थज्ञानविषयेऽवतारयितुमित्यतः संहिताया उपनिषदं संहिताविषयं दर्शनमित्येतद्ग्रन्थसंनिकृष्टामेव व्याख्यास्यामः; पञ्चस्वधिकरणेष्वाश्रयेषु ज्ञानविषयेष्वित्यर्थः ।

'अथ' अर्थात् पहले कहे हुए अध्ययनरूप विधानके अनन्तर 'अतः'—क्योंकि ग्रन्थके अध्ययनमें अत्यन्त आसक्त की हुई बुद्धिको सहसा अर्थज्ञान [को ग्रहण करने] में प्रवृत्त नहीं किया जा सकता, इसलिये हम ग्रन्थकी समीपवर्तिनी संहितोपनिषद् अर्थात् संहिता-सम्बन्धिनी दृष्टिकी पाँच अधिकरण—आश्रय अर्थात् ज्ञानके विषयोंमें व्याख्या करेंगे [तात्पर्य यह कि वर्णोंके विषयमें पाँच प्रकारके ज्ञान बतलावेंगे] ।

कानि तानीत्याह अधिलोकं लोकेष्वधि यद्दर्शनं तदधिलोकम् । तथाधिज्यौतिषमधिविद्यमधिप्रजमध्यात्ममिति । ता एताः पञ्चविषया उपनिषदो लोकादिमहावस्तुविषयत्वात्संहिताविषयत्वाच्च महत्यश्च ताः संहिताश्च महासंहिता इत्याचक्षते कथयन्ति वेदविदः ।

वे पाँच अधिकरण कौन-से हैं ? सो बतलाते हैं—'अधिलोक'—जो दर्शन लोकविषयक हो उसे अधिलोक कहते हैं । इसी प्रकार अधिज्यौतिष, अधिविद्य, अधिप्रज और अध्यात्म भी समझने चाहिये । ये पञ्चविषय-सम्बन्धिनी उपनिषदें लोकादि महा-वस्तुविषयिणी और संहितासम्बन्धिनी हैं; इसलिये वेदवेत्तालोग इन्हें महती संहिता अर्थात् 'महासंहिता' कहकर पुकारते हैं ।

अथ तासां यथोपन्यस्तानामधिलोकं दर्शनमुच्यते । दर्शन-

अब ऊपर बतलायी हुई उन (पाँच प्रकारकी उपासनाओं) मेंसे पहले अधिलोक-दृष्टि बतलायी जाती है ।

क्रमविवक्षार्थोऽथशब्दः सर्वत्र। पृथिवी पूर्वरूपं पूर्वो वर्णः पूर्वरूपम्। संहितायाः पूर्वे वर्णे पृथिवीदृष्टिः कर्तव्येत्युक्तं भवति। तथा द्यौः उत्तररूपमाकाशोऽन्तरिक्षलोकः संधिर्मध्यं पूर्वोत्तररूपयोः संधीयेते अस्मिन्पूर्वोत्तररूपे इति। वायुः संधानम्। संधीयतेऽनेनेति संधानम्। इत्यधिलोकं दर्शनमुक्तम्। अथाधिज्यौतिषमित्यादि समानम्।

यहाँ दर्शनक्रम बतलाना इष्ट होनेके कारण 'अथ' शब्दकी सर्वत्र अनुवृत्ति करनी चाहिये। पृथिवी पूर्वरूप है। यहाँ पूर्ववर्ण ही पूर्वरूप कहा गया है। इससे यह बतलाया गया है कि संहिता (सन्धि) के प्रथम वर्णमें पृथिवीदृष्टि करनी चाहिये। इसी प्रकार द्युलोक उत्तररूप (अन्तिम वर्ण) है, आकाश अर्थात् अन्तरिक्ष सन्धि—पूर्व और उत्तररूपका मध्य है अर्थात् इसमें ही पूर्व और उत्तररूप एकत्रित किये जाते हैं। वायु सन्धान है। जिससे सन्धि की जाय उसे सन्धान कहते हैं। इस प्रकार अधिलोक दर्शन कहा गया। इसीके समान 'अथाधिज्यौतिषम्' इत्यादि मन्त्रोंका अर्थ भी समझना चाहिये।

इतीमा इत्युक्ता उप प्रदर्श्यन्ते। यः कश्चिदेवमेता महासंहिता व्याख्याता वेदोपास्ते। वेदेत्युपासनं स्याद्विज्ञानाधिकारात् "इति प्राचीनयोग्योपास्स्व" इति च वचनात्। उपासनं च यथा-

'इति' और 'इमाः' इन शब्दोंसे पूर्वोक्त दर्शनोंका परामर्श किया जाता है। जो कोई इस प्रकार व्याख्या की हुई इस महासंहिताको जानता अर्थात् उपासना करता है—यहाँ उपासनाका प्रकरण होनेके कारण 'वेद' शब्दसे उपासना समझना चाहिये जैसा कि 'इति प्राचीनयोग्योपास्स्व'[1] इस आगे (१।६।२ में) कहे जानेवाले वचनसे सिद्ध होता है।

१. हे प्राचीनयोग्य शिष्य! इस प्रकार तू उपासना कर।

शास्त्रं तुल्यप्रत्ययसन्ततिरसंकीर्णा चातत्प्रत्ययैः शास्त्रोक्तालम्बनविषया च । प्रसिद्धश्चोपासनशब्दार्थो लोके गुरुमुपास्ते राजानमुपास्त इति । यो हि गुर्वादीन्सन्ततमुपचरति स उपास्त इत्युच्यते । स च फलमाप्नोत्युपासनस्य । अतोऽत्रापि च य एवं वेद संधीयते प्रजादिभिः स्वर्गान्तैः । प्रजादिफलान्याप्नोतीत्यर्थः ॥ १-४ ॥

शास्त्रानुसार समान प्रत्ययके प्रवाहका नाम 'उपासना' है। वह प्रवाह विजातीय प्रत्ययोंसे रहित और शास्त्रोक्त आलम्बनको आश्रय करनेवाला होना चाहिये । लोकमें 'गुरुकी उपासना करता है' 'राजाकी उपासना करता है' इत्यादि वाक्योंमें 'उपासना' शब्दका अर्थ प्रसिद्ध ही है । जो पुरुष गुरु आदिकी निरन्तर परिचर्या करता है वही 'उपासना करता है' ऐसा कहा जाता है । वही उस उपासनाका फल भी प्राप्त करता है । अतः इस महासंहिताके सम्बन्धमें भी जो पुरुष इस प्रकार उपासना करता है वह [मन्त्रमें बतलाये हुए] प्रजासे लेकर स्वर्गपर्यन्त समस्त पदार्थोंसे सम्पन्न होता है, अर्थात् प्रजादिरूप फल प्राप्त करता है ॥ १-४ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

श्री और बुद्धिकी कामनावालोंके लिये जप और होमसम्बन्धी मन्त्र

यश्छन्दसामिति मेधाकामस्य श्रीकामस्य च तत्प्राप्तिसाधनं जपहोमावुच्येते । "स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु" "ततो मे श्रियमावह" इति च लिङ्गदर्शनात् ।

अब 'यश्छन्दसाम्' इत्यादि मन्त्रोंसे मेधाकामी तथा श्रीकामी पुरुषोंके लिये उनकी प्राप्तिके साधन जप और होम बतलाये जाते हैं; क्योंकि "वह इन्द्र मुझे मेधासे प्रसन्न अथवा बलयुक्त करे" तथा "अतः उस श्रीको तू मेरे पास ला" इन वाक्योंमें [क्रमशः मेधा और श्री-प्राप्तिके लिये की गयी प्रार्थनाके] लिङ्ग देखे जाते हैं ।

यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः । छन्दोभ्योऽध्यमृतात्संबभूव । स मेन्द्रो मेधया स्पृणोतु । अमृतस्य देव धारणो भूयासम् । शरीरं मे विचर्षणम् । जिह्वा मे मधुमत्तमा कर्णाभ्यां भूरि विश्रुवम् । ब्रह्मणः कोशोऽसि मेधया पिहितः । श्रुतं मे गोपाय । आवहन्ती वितन्वाना ॥ १ ॥

कुर्वाणाचीरमात्मनः । वासाꣳसि मम गावश्च । अन्नपाने च सर्वदा । ततो मे श्रियमावह । लोमशां पशुभिः सह स्वाहा । आमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । विमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । प्रमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । दमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा । शमायन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा ॥ २ ॥

जो वेदोंमें ऋषभ (श्रेष्ठ अथवा प्रधान) और सर्वरूप है तथा वेदरूप अमृतसे प्रधानरूपसे आविर्भूत हुआ है वह [ओंकाररूप] इन्द्र (सम्पूर्ण कामनाओंका ईश) मुझे मेधासे प्रसन्न अथवा बलयुक्त करे। हे देव ! मैं अमृतत्व (अमृतत्वके हेतुभूत ब्रह्मज्ञान) का धारण करनेवाला होऊँ। मेरा शरीर विचक्षण (योग्य) हो। मेरी जिह्वा अत्यन्त मधुमती (मधुर भाषण करनेवाली) हो। मैं कानोंसे खूब श्रवण करूँ। [हे ओंकार !] तू ब्रह्मका कोष है और लौकिक बुद्धिसे ढँका हुआ है [अर्थात् लौकिक बुद्धिके कारण तेरा ज्ञान नहीं होता] । तू मेरी श्रवण की हुई विद्याकी रक्षा कर। मेरे लिये वस्त्र, गौ और अन्न-पानको सर्वदा शीघ्र ही ले आनेवाली और इनका विस्तार करनेवाली श्रीको [भेड़-बकरी आदि] ऊनवाले तथा अन्य पशुओंके सहित बुद्धि प्राप्त करानेके अनन्तर तू मेरे पास ला—स्वाहा। ब्रह्मचारीलोग मेरे पास आवें—स्वाहा। ब्रह्मचारीलोग मेरे प्रति निष्कपट हों—स्वाहा। ब्रह्मचारीलोग प्रमा (यथार्थ ज्ञान) को धारण करें—स्वाहा। ब्रह्मचारीलोग दम (इन्द्रियदमन) करें—स्वाहा। ब्रह्मचारीलोग शम (मनोनिग्रह) करें—स्वाहा। [इन मन्त्रोंके पीछे जो 'स्वाहा' शब्द है वह इस बातको सूचित करता है कि ये हवनके लिये हैं] ॥ १-२ ॥

यश्छन्दसां वेदानामृषभ ओङ्कारतो बुद्धिः **इवर्षभः प्राधान्यात्।** बलं प्रार्थ्यते **विश्वरूपः सर्वरूपः सर्ववाग्व्याप्तेः। "तद्यथा शङ्कुना" (छा० उ० २ । २३ । ३) इत्यादि श्रुत्यन्तरात्। अत एव-**

जो [ओंकार] प्रधान होनेके कारण छन्द—वेदोंमें श्रेष्ठके समान श्रेष्ठ तथा सम्पूर्ण वाणीमें व्याप्त होनेके कारण विश्वरूप यानी सर्वमय है; जैसा कि "जिस प्रकार शङ्कुओं (पत्तोंकी नसों) से [सम्पूर्ण पत्ते व्याप्त रहते हैं उसी प्रकार ओंकारसे सम्पूर्ण वाणी व्याप्त है - ओंकार ही यह सब कुछ है]" इस एक अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है। इसीलिये

र्षभत्वमोङ्कारस्य । ओङ्कारो ह्यत्रोपास्य इति ऋषभादिशब्दैः स्तुतिर्न्याय्यैवोङ्कारस्य । छन्दोभ्यो वेदेभ्यो वेदा ह्यमृतं तस्मादमृतादधिसंबभूव । लोकदेववेदव्याहृतिभ्यः सारिष्ठं जिघृक्षोः प्रजापतेस्तपस्यत ओङ्कारः सारिष्ठत्वेन प्रत्यभादित्यर्थः । न हि नित्यस्योङ्कारस्याञ्जसैवोत्पत्तिरेव कल्प्यते । स एवंभूत ओङ्कार इन्द्रः सर्वकामेशः परमेश्वरो मा मां मेधया प्रज्ञया स्पृणोतु प्रीणयतु बलयतु वा । प्रज्ञाबलं हि प्रार्थ्यते ।

ओंकारकी श्रेष्ठता है । यहाँ ओंकार ही उपासनीय है, इसलिये 'ऋषभ' आदि शब्दोंसे ओंकारकी स्तुति की जानी उचित ही है । छन्द अर्थात् वेदोंसे—वेद ही अमृत हैं, उस अमृतसे जो प्रधानरूपसे हुआ है । तात्पर्य यह है कि लोक, देव, वेद और व्याहृतियोंसे सर्वोत्कृष्ट सार ग्रहण करनेकी इच्छासे तप करते हुए प्रजापतिको ओंकार ही सर्वोत्तम साररूपसे भासित हुआ था; क्योंकि नित्य ओंकारकी साक्षात् उत्पत्तिकी कल्पना नहीं की जा सकती । वह इस प्रकारका ओंकाररूप इन्द्र—सम्पूर्ण कामनाओंका स्वामी परमेश्वर मुझे मेधा-प्रज्ञाके द्वारा प्रसन्न अथवा सबल करे; इस प्रकार यहाँ बुद्धि-बलके लिये प्रार्थना की जाती है ।

अमृतस्य अमृतत्वहेतुभूतस्य ब्रह्मज्ञानस्य तदधिकारात्, हे देव धारणो धारयिता भूयासं भवेयम् । किं च शरीरं मे मम विचर्षणं विचक्षणं योग्यमित्येतत् । भूयादिति प्रथमपुरुषविपरिणामः । जिह्वा मे मधु-

हे देव ! मैं अमृत—अमृतत्वके हेतुभूत ब्रह्मज्ञानका धारण करनेवाला होऊँ; क्योंकि यहाँ ब्रह्मज्ञानका ही प्रसङ्ग है । तथा मेरा शरीर विचर्षण—विचक्षण अर्थात् योग्य हो । [मूलमें 'भूयासम्' (होऊँ) यह उत्तम पुरुषका प्रयोग है इसे] 'भूयात्' (हो) इस प्रकार प्रथम पुरुषमें परिणत कर लेना चाहिये । मेरी

मत्तमा मधुमत्यतिशयेन मधुरभाषिणीत्यर्थः। कर्णाभ्यां श्रोत्राभ्यां भूरि बहु विश्रवं व्यश्रवं श्रोता भूयासमित्यर्थः। आत्मज्ञानयोग्यः कार्यकरणसंघातोऽस्त्विति वाक्यार्थः। मेधा च तदर्थमेव हि प्रार्थ्यते।

ब्रह्मणः परमात्मनः कोशोऽसि। असेरिवोपलब्ध्यधिष्ठानत्वात्। त्वं हि ब्रह्मणः प्रतीकं त्वयि ब्रह्मोपलभ्यते। मेधया लौकिकप्रज्ञया पिहित आच्छादितः स त्वं सामान्यप्रज्ञैरविदिततत्त्व इत्यर्थः। श्रुतं श्रवणपूर्वकमात्मज्ञानादिकं मे गोपाय रक्ष। तत्प्राप्त्यविस्मरणादि कुर्वित्यर्थः। जपार्था एते मन्त्रा मेधाकामस्य।

होमार्थास्त्वधुना श्रीकामस्य ओङ्कारतः मन्त्रा उच्यन्ते। श्रियः प्रार्थना आवहन्त्यानयन्ती। वितन्वाना विस्तारयन्ती। तनो-

जिह्वा मधुमत्तमा—अतिशय मधुमती अर्थात् अत्यन्त मधुरभाषिणी हो। मैं कानोंसे भूरि—अधिक मात्रामें श्रवण करूँ अर्थात् बड़ा श्रोता होऊँ। इस वाक्यका तात्पर्य यह है कि मेरा शरीर और इन्द्रियसंघात आत्मज्ञानके योग्य हो। तथा उसीके लिये ही बुद्धिकी याचना की जाती है।

परमात्माकी उपलब्धिका स्थान होनेके कारण तू तलवारके कोशके समान ब्रह्म यानी परमात्माका कोश है; क्योंकि तू ब्रह्मका प्रतीक है—तुझमें ब्रह्मकी उपलब्धि होती है। वही तू मेधा अर्थात् लौकिकी बुद्धिसे आच्छादित यानी ढका हुआ है; अर्थात् सामान्य-बुद्धि पुरुषोंको तेरे तत्त्वका ज्ञान नहीं होता। मेरे श्रुत अर्थात् श्रवणपूर्वक आत्मज्ञानादि विज्ञानकी रक्षा कर; अर्थात् उसकी प्राप्ति एवं अविस्मरण आदि कर। ये मन्त्र मेधाकामी पुरुषके जपके लिये हैं।

अब लक्ष्मीकामी पुरुषको होमके लिये मन्त्र बतलाये जाते हैं—आवहन्ती—लानेवाली; वितन्वाना—विस्तार करनेवाली; क्योंकि 'तनु'

तेस्तत्कर्मत्वात् । कुर्वाणा निर्वर्तयन्ती, अचीरमचिरं क्षिप्रमेव, छान्दसो दीर्घः; चिरं वा कुर्वाणा आत्मनो मम, किमित्याह—वासांसि वस्त्राणि मम गावश्च गाश्चेति यावत्, अन्नपाने च सर्वदैवमादीनि कुर्वाणा श्रीर्या तां ततो मेधानिर्वर्तनात्परमावहानय । अमेधसो हि श्रीरनर्थायैवेति ।

धातुका अर्थ विस्तार करना ही है; कुर्वाणा—करनेवाली; अचीरम्—अचिर अर्थात् शीघ्र ही; 'अचीरम्' में दीर्घ ईकार वैदिक प्रक्रियाके अनुसार है । अथवा चिरं (चिरकालतक) आत्मनः—मेरे लिये करनेवाली, क्या करनेवाली ? सो बतलाते हैं—मेरे वस्त्र, गौ और अन्न-पान इन्हें जो श्री सदा ही करनेवाली है । उसे, बुद्धि प्राप्त करानेके अनन्तर तू मेरे पास ला; क्योंकि बुद्धिहीनके लिये तो लक्ष्मी अनर्थका ही कारण होती है ।

किंविशिष्टाम् । लोमशामजाव्यादियुक्तामन्यैश्च पशुभिः संयुक्तामावहेत्यधिकारादोङ्कार एवाभिसंबध्यते । स्वाहा स्वाहाकारो होमार्थमन्त्रान्तज्ञापनार्थः । आयन्तु मामिति व्यवहितेन संबन्धः । ब्रह्मचारिणो विमायन्तु प्रमायन्तु दमायन्तु शमायन्त्वित्यादि ॥ १-२ ॥

किन विशेषणोंसे युक्त श्रीको लावे ? लोमश अर्थात् भेड़-बकरी आदि ऊनवालोंके सहित और अन्य पशुओंसे युक्त श्रीको ला । यहाँ 'आवह' क्रियाका अधिकार होनेके कारण [उसके कर्ता] ओंकारसे ही सम्बन्ध है । स्वाहा—यह स्वाहाकार होमार्थ मन्त्रोंका अन्त सूचित करनेके लिये है । ['आ मायन्तु ब्रह्मचारिणः' इस वाक्यमें] 'आयन्तु माम्' इस प्रकार 'आ' का व्यवधानयुक्त 'यन्तु' शब्दसे सम्बन्ध है । [इसी प्रकार मेरे प्रति] ब्रह्मचारीलोग निष्कपट हों । वे प्रमाको धारण करें, इन्द्रिय-निग्रह करें, मनोनिग्रह करें, इत्यादि ॥ १-२ ॥

यशो जनेऽसानि स्वाहा । श्रेयान् वस्यसोऽसानि स्वाहा । तं त्वा भग प्रविशानि स्वाहा । स मा भग प्रविश स्वाहा । तस्मिन् सहस्रशाखे निभगाहं त्वयि मृजे स्वाहा । यथापः प्रवता यन्ति यथा मासा अहर्जरम् । एवं मां ब्रह्मचारिणो धातरायन्तु सर्वतः स्वाहा । प्रतिवेशोऽसि प्र मा पाहि प्र मा पद्यस्व ॥ ३ ॥

मैं जनतामें यशस्वी होऊँ—स्वाहा । मैं अत्यन्त प्रशंसनीय और धनवान् होऊँ—स्वाहा । हे भगवन् ! मैं उस ब्रह्मकोशभूत तुझमें प्रवेश कर जाऊँ—स्वाहा । हे भगवन् ! वह तू मुझमें प्रवेश कर—स्वाहा । हे भगवन् ! उस सहस्रशाखायुक्त [अर्थात् अनेकों भेदवाले] तुझमें मैं अपने पापाचरणोंका शोधन करता हूँ—स्वाहा । जिस प्रकार जल निम्न प्रदेशकी ओर जाता है तथा महीने अहर्जर—संवत्सरमें अन्तर्हित हो जाते हैं, उसी प्रकार हे धातः ! ब्रह्मचारीलोग सब ओरसे मेरे पास आवें—स्वाहा । तू [शरणागतोंका] आश्रयस्थान है अतः मेरे प्रति भासमान हो, तू मुझे प्राप्त हो ॥ ३ ॥

यशो यशस्वी जने जनसमूहेऽसानि भवानि । श्रेयान्प्रशस्यतरो वस्यसो वसीयसो वसुतराद्वसुमत्तराद्वासानीत्यन्वयः । किं च तं ब्रह्मणः कोशभूतं त्वा त्वां हे भग भगवन्पूजावन्प्रविशानि प्रविश्य चानन्यस्त्वदात्मैव भवानीत्यर्थः ।

मैं जनतामें यशस्वी होऊँ तथा श्रेयान्—प्रशस्यतर और वस्यसः—वसीयसः अर्थात् वसुमान्से भी वसुमान् यानी अत्यन्त धनी पुरुषोंसे भी विशेष धनवान् होऊँ । तथा हे भग—भगवन्—पूजनीय ! ब्रह्मके कोशभूत उस तुझमें मैं प्रवेश करूँ; तात्पर्य यह कि तुझमें प्रवेश करके तुझसे अनन्य हो मैं तेरा ही रूप

स त्वमपि मा मां भग भगवन् प्रविश। आवयोरेकत्वमेवास्तु। तस्मिंस्त्वयि सहस्रशाखे बहुशाखाभेदे हे भगवन्, निमृजे शोधयाम्यहं पापकृत्याम्।

हो जाऊँ; तथा तू भी, हे भग—भगवन्! मुझमें प्रवेश कर। अर्थात् हम दोनोंकी एकता ही हो जाय। हे भगवन्! उस सहस्रशाखा—अनेकों शाखाभेदवाले तुझमें मैं अपने पापकर्मोंका शोधन करता हूँ।

यथा लोक आपः प्रवता प्रवणवता निम्नवता देशेन यन्ति गच्छन्ति। यथा च मासा अहर्जरं संवत्सरोऽहर्जरः। अहोभिः परिवर्तमानो लोकाञ्जरयतीत्यहानि वास्मिञ्जीर्यन्त्यन्तर्भवन्तीत्यहर्जरः। तं च यथा मासा यन्त्येवं मां ब्रह्मचारिणो हे धातः सर्वस्य विधातः मामायन्त्वागच्छन्तु सर्वतः सर्वदिग्भ्यः।

लोकमें जिस प्रकार जल प्रवणवान्—निम्नतायुक्त देशकी ओर जाते हैं और महीने जिस प्रकार अहर्जरमें अन्तर्हित होते हैं। अहर्जर संवत्सरको कहते हैं; क्योंकि वह अहः दिनोंके रूपमें परिवर्तित होता हुआ लोकोंको जीर्ण करता है अथवा उसमें अहः—दिन जीर्ण यानी अन्तर्भूत होते हैं इसलिये वह अहर्जर है। उस संवत्सरमें जिस प्रकार महीने जाते हैं उसी प्रकार हे धातः! मेरे पास सब ओरसे—सम्पूर्ण दिशाओंसे ब्रह्मचारीलोग आवें।

प्रतिवेशः—श्रमापनयनस्थानमासन्नगृहमित्यर्थः। एवं त्वं प्रतिवेश इव प्रतिवेशस्त्वच्छीलिनां सर्वपापदुःखापनयनस्थानमसि, अतो मा मां प्रति प्रभाहि प्रकाशयात्मानं प्रपद्यस्व च।

'प्रतिवेश' श्रमनिवृत्तिके स्थान अर्थात् समीपवर्ती गृहको कहते हैं। इस प्रकार तू प्रतिवेशके समान प्रतिवेश यानी अपना अनुशीलन करनेवालोंका दुःखनिवृत्तिका स्थान है। अतः तू मेरे प्रति अपनेको प्रकाशित कर और मुझे प्राप्त हो; अर्थात्

मां रसविद्धमिव लोहं त्वन्मयं त्वदात्मानं कुर्वित्यर्थः ।

श्रीकामोऽसिन्विद्याप्रकरणे-
विद्योपलब्धौ ऽभिधीयमानो धना-
धनस्योपयोगः र्थः । धनं च कर्मा-
र्थम् । कर्म चोपात्तदुरितक्षयाय । तत्क्षये हि विद्या प्रकाशते । तथा च स्मृतिः "ज्ञानमुत्पद्यते पुंसां क्षयात्पापस्य कर्मणः । यथादर्शतले प्रख्ये पश्यन्त्यात्मानमात्मनि" (महा० शा० २०४ । ८, गरुड० १ । २३७ । ६) इति ॥ ३ ॥

पारदसंयुक्त लोहेके समान तू मुझे अपनेसे अभिन्न कर ले ।

इस ज्ञानके प्रकरणमें जो लक्ष्मीकी कामना कही जाती है वह धनके लिये है, धन कर्मके लिये होता है, और कर्म प्राप्त हुए पापोंके क्षयके लिये है । उनके क्षीण होनेपर ही ज्ञानका प्रकाश होता है; जैसा कि यह स्मृति भी कहती है—"पापकर्मोंका क्षय हो जानेपर ही पुरुषको ज्ञान होता है । जिस प्रकार दर्पणके स्वच्छ हो जानेपर उसमें मुख देखा जा सकता है उसी प्रकार शुद्ध अन्तःकरणमें आत्माका साक्षात्कार होता है" ॥ ३ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

व्याहृतिरूप ब्रह्मकी उपासना

संहिताविषयमुपासनमुक्तं तदनु मेधाकामस्य श्रीकामस्य मन्त्रा अनुक्रान्ताः । ते च पारम्पर्येण विद्योपयोगार्था एव । अनन्तरं व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणोऽन्तरुपासनं स्वाराज्यफलं प्रस्तूयते—

पहले संहितासम्बन्धिनी उपासनाका वर्णन किया गया । तत्पश्चात् मेधाकी कामनावाले तथा श्रीकामी पुरुषोंके लिये मन्त्र बतलाये गये । वे भी परम्परासे ज्ञानके उपयोगके लिये ही हैं । उसके पश्चात् अब जिसका फल स्वाराज्य है उस व्याहृतिरूप ब्रह्मकी आन्तरिक उपासनाका आरम्भ किया जाता है—

भूर्भुवः सुवरिति वा एतास्तिस्रो व्याहृतयः । तासामु ह स्मैतां चतुर्थीं माहाचमस्यः प्रवेदयते । मह इति । तद्ब्रह्म । स आत्मा । अङ्गान्यन्या देवताः । भूरिति वा अयं लोकः । भुव इत्यन्तरिक्षम् । सुवरित्यसौ लोकः ॥ १ ॥

मह इत्यादित्यः । आदित्येन वाव सर्वे लोका महीयन्ते । भूरिति वा अग्निः । भुव इति वायुः । सुवरित्यादित्यः । मह इति चन्द्रमाः । चन्द्रमसा वाव सर्वाणि ज्योतीꣳषि महीयन्ते । भूरिति वा ऋचः । भुव इति सामानि । सुवरिति यजूꣳषि ॥ २ ॥

महु इति ब्रह्म । ब्रह्मणा वाव सर्वे वेदा महीयन्ते भूरिति वै प्राणः । भुव इत्यपानः । सुवरिति व्यानः । मह इत्यन्नम् । अन्नेन वाव सर्वे प्राणा महीयन्ते । ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धा । चतस्रश्चतस्रो व्याहृतयः । ता यो वेद । स वेद ब्रह्म । सर्वेऽस्मै देवा बलिमावहन्ति ॥ ३ ॥

'भूः, भुवः और सुवः'—ये तीन व्याहृतियाँ हैं । उनमेंसे 'महः' इस चौथी व्याहृतिको माहाचमस्य (महाचमसका पुत्र) जानता है । वह महः ही ब्रह्म है । वही आत्मा है । अन्य देवता उसके अङ्ग (अवयव) हैं । 'भूः' यह व्याहृति यह लोक है, 'भुवः' अन्तरिक्षलोक है और 'सुवः' यह स्वर्गलोक है ॥ १ ॥ तथा 'महः' आदित्य है । आदित्यसे ही समस्त लोक वृद्धिको प्राप्त होते हैं । 'भूः' यही अग्नि है, 'भुवः' वायु है, 'सुवः' आदित्य है तथा 'महः' चन्द्रमा है । चन्द्रमासे ही सम्पूर्ण ज्योतियाँ वृद्धिको प्राप्त होती हैं । 'भूः' यही ऋक् है, 'भुवः' साम है, 'सुवः' यजुः है ॥ २ ॥ तथा 'महः' ब्रह्म है । ब्रह्मसे ही समस्त वेद वृद्धिको प्राप्त होते हैं । 'भूः' यही प्राण है, 'भुवः' अपान है, 'सुवः' व्यान है तथा 'महः' अन्न है । अन्नसे ही समस्त प्राण वृद्धिको प्राप्त होते हैं । इस प्रकार ये चार व्याहृतियाँ हैं । इनमेंसे प्रत्येक चार-चार प्रकारकी है । जो इन्हें जानता है वह ब्रह्मको जानता है । सम्पूर्ण देवगण उसे बलि (उपहार) समर्पण करते हैं ॥ ३ ॥

भूर्भुवः सुवरिति; इतीत्युक्तोपप्रदर्शनार्थः । एतास्तिस्र इति च प्रदर्शितानां परामर्शार्थः । परामृष्टाः

व्याहृतिचतुष्टयम्

'भूर्भुवः सुवरिति' इसमें 'इति' शब्द पूर्वकथित [व्याहृतियों] को ही प्रदर्शित करनेके लिये है; 'एतास्तिस्रः' ये शब्द भी पूर्व प्रदर्शित [व्याहृतियों] के ही परामर्शके लिये हैं । 'वै' इस

स्मार्यन्ते वा इत्यनेन । तिस्र एताः प्रसिद्धा व्याहृतयः स्मार्यन्ते तावत् । तासामियं चतुर्थी व्याहृतिर्मह इति । तामेतां चतुर्थीं महाचमसस्यापत्यं माहाचमस्यः प्रवेदयते । उ ह स्म इत्येतेषां वृत्तानुकथनार्थत्वाद्विदितवान्ददर्शेत्यर्थः । माहाचमस्यग्रहणमार्षानुस्मरणार्थम् । ऋषिस्मरणमप्युपासनाङ्गमिति गम्यत इहोपदेशात् ।

अव्ययसे परामृष्ट व्याहृतियोंका स्मरण कराया जाता है। अर्थात् [इन शब्दोंसे] ये तीन प्रसिद्ध व्याहृतियाँ स्मरण दिलायी जाती हैं। उनमें 'महः' यह चौथी व्याहृति है। उस इस चौथी व्याहृतिको महाचमसका पुत्र माहाचमस्य जानता है। किन्तु 'उ ह स्म' ये तीन निपात अतीत घटनाका अनुकथन करनेके लिये होनेके कारण इसका अर्थ 'जानता था', 'देखा था' इस प्रकार होगा। [व्याहृतिके द्रष्टा] ऋषिका अनुस्मरण करनेके लिये 'माहाचमस्य' यह नाम लिया गया है। इस प्रकार यहाँ उपदेश होनेके कारण यह जाना जाता है कि ऋषिका अनुस्मरण भी उपासनाका एक अङ्ग है।

व्याहृतिषु महसः प्राधान्यम्

येयं माहाचमस्येन दृष्टा व्याहृतिर्मह इति तद्ब्रह्म । महद्धि ब्रह्म महश्च व्याहृतिः । किं पुनस्तत् ? स आत्मा आप्नोतेर्व्याप्तिकर्मणः आत्मा ।

जिस 'महः' नामक व्याहृतिको माहाचमस्यने देखा था वह ब्रह्म है। ब्रह्म भी महान् है और व्याहृति भी महः है। और वह क्या है ? वही आत्मा है। 'व्याप्ति' अर्थवाले 'आप्' धातुसे 'आत्मा' शब्द निष्पन्न होता है। क्योंकि लोक,

इतराश्च व्याहृतयो लोका देवा वेदाः प्राणाश्च मह इत्यनेन व्याहृत्यात्मनादित्यचन्द्रब्रह्मान्नभूतेन व्याप्यन्ते यतः अतोऽङ्गान्यवयवा अन्या देवताः। देवताग्रहणमुपलक्षणार्थं लोकादीनाम्। मह इत्येतस्य व्याहृत्यात्मनो देवलोकादयः सर्वेऽवयवभूता यतोऽत आहादित्यादिभिर्लोकादयो महीयन्ते इति। आत्मनो ह्यङ्गानि महीयन्ते, महनं वृद्धिरुपचयः। महीयन्ते वर्धन्त इत्यर्थः।

अयं लोकोऽग्निर्ऋग्वेदः प्राण इति प्रथमा व्याहृतिर्भूरिति। एवमुत्तरोत्तरैकैका चतुर्धा भवति। मह इति ब्रह्म। ब्रह्मेत्योङ्कारः, शब्दाधिकारेऽन्यस्यासंभवात्। उक्तार्थमन्यत्।

(प्रतिव्याहृति) (चत्वारो भेदाः)

देव, वेद और प्राणरूप अन्य व्याहृतियाँ आदित्य, चन्द्र, ब्रह्म एवं अन्नस्वरूप व्याहृत्यात्मक महःसे व्याप्त हैं, इसलिये वे अन्य देवता इसके अङ्ग—अवयव हैं। यहाँ लोकादिका उपलक्षण करानेके लिये 'देवता' शब्दका ग्रहण किया गया है। क्योंकि देव और लोक आदि सभी 'महः' इस व्याहृत्यात्माके अवयवस्वरूप हैं, इसीलिये ऐसा कहा है कि आदित्यादिके योगसे लोकादि महत्ताको प्राप्त होते हैं। आत्मासे ही अङ्ग महत्ताको प्राप्त हुआ करते हैं। 'महन' शब्दका अर्थ वृद्धि—उपचय है। अतः 'महीयन्ते' इसका 'वृद्धिको प्राप्त होते हैं' यह अर्थ है।

यह लोक, अग्नि, ऋग्वेद और प्राण—ये पहली व्याहृति भूः हैं; इसी प्रकार उत्तरोत्तर प्रत्येक व्याहृति चार-चार प्रकारकी है।* 'महः' ब्रह्म है; ब्रह्मका अर्थ ओंकार है; क्योंकि शब्दके प्रकरणमें अन्य किसी ब्रह्मका होना असम्भव है। शेष सबका अर्थ पहले कहा जा चुका है।

* यथा अन्तरिक्षलोक, वायु, सामवेद और अपान—ये दूसरी व्याहृति भुवः हैं; द्युलोक, आदित्य, यजुर्वेद और व्यान—ये तीसरी व्याहृति सुवः हैं, तथा आदित्य, चन्द्रमा, ब्रह्म और अन्न—ये चौथी व्याहृति महः हैं।

ता वा एताश्चतस्रश्चतुर्धेति । ता वा एता भूर्भुवः सुवर्मह इति चतस्र एकैकशश्चतुर्धा चतुष्प्रकाराः । धाशब्दः प्रकारवचनः । चतस्रश्चतस्रः सत्यश्चतुर्धा भवन्तीत्यर्थः । तासां यथाक्लृप्तानां पुनरुपदेशस्तथैवोपासननियमार्थः । ता यथोक्तव्याहृतीर्यो वेद स वेद विजानाति । किम् ? ब्रह्म ।

वे ये चारों व्याहृतियाँ चार प्रकारकी हैं । अर्थात् वे ये भूः, भुवः, सुवः और महः चार व्याहृतियाँ प्रत्येक चार-चार प्रकारकी हैं । 'धा' शब्द 'प्रकार' का वाचक है । अर्थात् वे चार-चार होती हुई चार प्रकारकी हैं । उनकी जिस प्रकार पहले कल्पना की गयी है उसी प्रकार उपासना करनेका नियम करनेके लिये उनका पुनः उपदेश किया गया है । उन उपर्युक्त व्याहृतियोंको जो पुरुष जानता है वही जानता है । किसे जानता है ? ब्रह्मको ।

ननु "तद्ब्रह्म स आत्मा" इति ज्ञाते ब्रह्मणि न वक्तव्यमविज्ञातवत्स वेद ब्रह्मेति ।

शङ्का—"वह ब्रह्म है, वह आत्मा है" इस वाक्यद्वारा [महःरूपसे] ब्रह्मको जान लेनेपर भी उसे न जाननेके समान '[उसे जो जानता है] वह ब्रह्मको जानता है' ऐसा कहना तो ठीक नहीं है ।

पञ्चमषष्ठानुवाकयोरेकवाक्यता

न, तद्विशेषविवक्षुत्वाद्दोषः । सत्यं विज्ञातं चतुर्थव्याहृत्यात्मा ब्रह्मेति न तु तद्विशेषो हृदयान्तरुपलभ्यत्वं मनोमयत्वादिश्च ।

समाधान—ऐसी शङ्का नहीं करनी चाहिये; क्योंकि उस [ब्रह्मविषयक ज्ञान] के विषयमें विशेष कहना अभीष्ट होनेके कारण इस प्रकार कहनेमें कोई दोष नहीं है । यह ठीक है कि इतना तो जान लिया कि चतुर्थ व्याहृतिरूप ब्रह्म है; किन्तु हृदयके भीतर उपलब्ध होना तथा मनोमयत्वादिरूप उसकी विशेषताओंका

'शान्तिसमृद्धम्' इत्येवमन्तो विशेषणविशेष्यरूपो धर्मपूगो न विज्ञायत इति तद्विवक्षु हि शास्त्रमविज्ञातमिव ब्रह्म मत्वा स वेद ब्रह्मेत्याह। अतो न दोषः। यो हि वक्ष्यमाणेन धर्मपूगेन विशिष्टं ब्रह्म वेद स वेद ब्रह्मेत्यभिप्रायः। अतो वक्ष्यमाणानुवाकेनैकवाक्यतास्य: उभयोर्ह्यनुवाकयोरेकमुपासनम्।

तो ज्ञान नहीं हुआ। [अगले अनुवाकमें] 'शान्तिसमृद्धम्' इस वाक्यतक कहा हुआ विशेषण-विशेष्यरूप धर्म-समूह ज्ञात नहीं है; उसे बतलानेकी इच्छासे ही शास्त्रने ब्रह्मको न जाने हुएके समान मानकर 'वह ब्रह्मको जानता है' ऐसा कहा है। इसलिये इसमें कोई दोष नहीं है। इसका अभिप्राय यह है कि जो पुरुष आगे बतलाये जानेवाले धर्मसमूहसे विशिष्ट ब्रह्मको जानता है वही ब्रह्मको जानता है। अतः आगे कहे जानेवाले अनुवाकसे इसकी एकवाक्यता है; क्योंकि इन दोनों अनुवाकोंकी एक ही उपासना है।

लिङ्गाच्च, भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठतीत्यादिकं लिङ्गमुपासनैकत्वे। विधायकाभावाच्च। न हि 'वेद' 'उपासितव्यः' इति विधायकः कश्चिच्छब्दोऽस्ति। व्याहृत्यनुवाके 'ता यो वेद' इति च

[ज्ञापक] लिङ्ग होनेसे भी यही बात सिद्ध होती है। [छठे अनुवाकमें] 'भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति' इत्यादि फलश्रुति इन दोनों अनुवाकोंमें एक ही उपासना होनेका लिङ्ग है। कोई विधान करनेवाला शब्द न होनेके कारण भी ऐसा ही समझा जाता है। [छठे अनुवाकमें] 'वेद' 'उपासितव्यः' ऐसा कोई [उपासनाका] विधान करनेवाला शब्द नहीं है। व्याहृति-अनुवाकमें जो 'उन (व्याहृतियों) को जो जानता है' ऐसा वाक्य है वह

वक्ष्यमाणार्थत्वान्नोपासनभेदकः वक्ष्यमाणार्थत्वं च तद्विशेषविव-क्षुत्वादित्यादिनोक्तम् । सर्वे देवा अस्मा एवं विदुषेऽङ्गभूता आव-हन्त्यानयन्ति बलिं स्वाराज्य-प्राप्तौ सत्यामित्यर्थः ॥ १-३ ॥

आगे बतलायी जानेवाली उपासनाके लिये होनेके कारण [पूर्वोक्त उपासनासे] उसका भेद करनेवाला नहीं है । उसी उपासनाको आगे बतलाना क्यों इष्ट है यह बात 'उसकी विशेषता बतलानेकी इच्छा होनेके कारण' आदि हेतुओंसे पहले कह ही चुके हैं । ऐसा जाननेवाले उपासकको उसके अङ्गभूत समस्त देवगण बलि (उपहार) समर्पण करते हैं अर्थात् स्वाराज्यकी प्राप्ति हो जानेपर उसके लिये उपहार लाते हैं—यह इसका तात्पर्य है ॥ १-३ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

ब्रह्मके साक्षात् उपलब्धिस्थान हृदयाकाशका वर्णन

भूर्भुवःसुवःस्वरूपा मह इत्येतस्य व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मणोऽङ्गान्यन्या देवता इत्युक्तम् । यस्य ता अङ्गभूतास्तस्यैतस्य ब्रह्मणः साक्षादुपलब्ध्यर्थमुपासनार्थं च हृदयाकाशः स्थानमुच्यते शालग्राम इव विष्णोः । तस्मिन्हि तद्ब्रह्मोपास्यमानं मनोमयत्वादि-

भूः, भुवः और सुवः—ये अन्य देवता 'महः' इस व्याहृतिरूप हिरण्यगर्भसंज्ञक ब्रह्मके अङ्ग हैं—ऐसा पहले कहा जा चुका है । जिसके वे अङ्गभूत हैं उस इस ब्रह्मकी साक्षात् उपलब्धि और उपासनाके लिये हृदयाकाश स्थान बतलाया जाता है, जैसे कि विष्णुके लिये शालग्राम । उसमें उपासना किये जानेपर ही वह मनोमयत्वादिधर्मविशिष्ट

धर्मविशिष्टं साक्षादुपलभ्यते पाणाविवामलकम्। मार्गश्च सर्वात्मभावप्रतिपत्तये वक्तव्य इत्यनुवाक आरभ्यते—

ब्रह्म हथेलीपर रखे हुए आँवलेके समान साक्षात् उपलब्ध होता है। इसके सिवा सर्वात्मभावकी प्राप्तिके लिये मार्ग भी बतलाना है, इसलिये इस अनुवाकका आरम्भ किया जाता है—

स य एषोऽन्तर्हृदय आकाशः। तस्मिन्नयं पुरुषो मनोमयः। अमृतो हिरण्मयः। अन्तरेण तालुके। य एष स्तन इवावलम्बते। सेन्द्रयोनिः। यत्रासौ केशान्तो विवर्तते। व्यपोह्य शीर्षकपाले भूरित्यग्नौ प्रतितिष्ठति। भुव इति वायौ॥ १॥

सुवरित्यादित्ये। मह इति ब्रह्मणि। आप्नोति स्वाराज्यम्। आप्नोति मनसस्पतिम्। वाक्पतिश्चक्षुष्पतिः। श्रोत्रपतिर्विज्ञानपतिः। एतत्ततो भवति। आकाशशरीरं ब्रह्म। सत्यात्म प्राणारामं मन आनन्दम्। शान्तिसमृद्धममृतम्। इति प्राचीनयोग्योपास्स्व॥ २॥

यह जो हृदयके मध्यमें स्थित आकाश है उसमें ही यह मनोमय अमृतस्वरूप हिरण्मय पुरुष रहता है। तालुओंके बीचमें और [उनके मध्य] यह जो स्तनके समान [मांसखण्ड] लटका हुआ है [उसमें होकर जो सुषुम्ना नाडी] जहाँ केशोंका मूलभाग विभक्त होकर रहता है उस मूर्धप्रदेशमें मस्तकके कपालोंको विदीर्ण करके निकल गयी है वह इन्द्रयोनि [अर्थात् परमात्माकी प्राप्तिका मार्ग] है। [इस प्रकार उपासना करनेवाला] पुरुष प्राणप्रयाणके समय मूर्धाका भेदन कर 'भूः' इस व्याहृतिरूप अग्निमें स्थित होता है [अर्थात् 'भूः' इस व्याहृतिका चिन्तन करनेसे अग्निरूप होकर इस लोकको व्याप्त करता है]। इसी प्रकार 'भुवः' इस

व्याहृतिका ध्यान करनेसे वायुमें ॥ १ ॥ 'सुवः' इस व्याहृतिका चिन्तन करनेसे आदित्यमें तथा 'महः' की उपासना करनेसे ब्रह्ममें स्थित हो जाता है। इस प्रकार वह स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है तथा मनके पति (ब्रह्म) को पा लेता है। तथा वाणीका पति, चक्षुका पति, श्रोत्रका पति और सारे विज्ञानका पति हो जाता है। यही नहीं, इससे भी बड़ा हो जाता है। वह आकाश शरीर, सत्यस्वरूप, प्राणाराम, मन आनन्द (जिसके लिये मन आनन्दस्वरूप है), शान्तिसम्पन्न और अमृतस्वरूप ब्रह्म हो जाता है। हे प्राचीनयोग्य शिष्य ! तू इस प्रकार [उस ब्रह्मकी] उपासना कर ॥ २ ॥

'सः' इति व्युत्क्रम्य 'अयं

हृदयाकाशतत्स्थ- पुरुषः' इत्यनेन सं-

जीवयोः स्वरूपम् बध्यते । य एषो-ऽन्तर्हृदये हृदयस्यान्तर्हृदयमिति पुण्डरीकाकारो मांसपिण्डः प्राणायतनोऽनेकनाडीसुषिर ऊर्ध्वनालोऽधोमुखो विशस्यमाने पशौ प्रसिद्ध उपलभ्यते । तस्यान्तर्य एष आकाशः प्रसिद्ध एव करकाकाशवत्, तस्मिन्सोऽयं पुरुषः। पुरि शयनात्पूर्णा वा भूरादयो लोका येनेति पुरुषः । मनोमयो

'सः' इस पहले पदका, पाठक्रमको छोड़कर आगेके 'अयं पुरुषः' इस पदसे सम्बन्ध है। जो यह अन्तर्हृदयमें हृदयके भीतर [आकाश है]। हृदय अर्थात् श्वेत कमलके आकारवाला मांसपिण्ड, जो प्राणका आश्रय, अनेकों नाडियोंके छिद्रवाला तथा ऊपरको नाल और नीचेको मुखवाला है, जो कि पशुका आलभन (वध) किये जानेपर स्पष्टतया उपलब्ध होता है। उसके भीतर जो यह कमण्डलुके अन्तर्वर्ती आकाशके समान प्रसिद्ध आकाश है उसीमें यह पुरुष रहता है, जो शरीररूप पुरमें शयन करनेके कारण अथवा उसने भूः आदि सम्पूर्ण लोकोंको पूरित किया हुआ है इसलिये 'पुरुष' कहलाता है। वह मनोमय

मनो विज्ञानम् मनुतेर्ज्ञानकर्मणः, तन्मयस्तत्प्रायस्तदुपलभ्यत्वात् । मनुतेऽनेनेति वा मनोऽन्तःकरणं तदभिमानी तन्मयस्तल्लिङ्गो वा; अमृतोऽमरणधर्मा हिरण्मयो ज्योतिर्मयः ।

हृदयाकाशस्थ-जीवोपलब्धये मार्गः

तस्यैवंलक्षणस्य हृदयाकाशे साक्षात्कृतस्य विदुष आत्मभूतस्येन्द्रस्येदृशस्वरूपप्रतिपत्तये मार्गोऽभिधीयते । हृदयादूर्ध्वं प्रवृत्ता सुषुम्ना नाम नाडी योगशास्त्रेषु च प्रसिद्धा । सा चान्तरेण मध्ये प्रसिद्धे तालुके तालुकयोर्गता । यश्चैष तालुकयोर्मध्ये स्तन इवावलम्बते मांसखण्डस्तस्य चान्तरेणेत्येतत् । यत्र च केशान्तः केशानामन्तोऽवसानं मूलं केशान्तो विवर्तते विभागेन वर्तते मूर्धप्रदेश इत्यर्थः तं देशं प्राप्य तत्र विनिःसृता व्यपोह्य विभज्य विदार्य शीर्षकपाले

—ज्ञानवाची 'मन्' धातुसे सिद्ध होनेके कारण 'मन' शब्दका अर्थ 'विज्ञान' है, तन्मय—तत्प्राय अर्थात् विज्ञानमय है; क्योंकि उस (विज्ञानस्वरूप) से ही वह उपलब्ध होता है; अथवा जिसके द्वारा जीव मनन करता है वह अन्तःकरण ही 'मन' है उसका अभिमानी, तन्मय अथवा उससे उपलक्षित होनेवाला अमृत—अमरणधर्मा और हिरण्मय—ज्योतिर्मय है ।

हृदयाकाशमें साक्षात्कार किये हुए उस ऐसे लक्षणोंवाले तथा विद्वान्के आत्मभूत इन्द्र (ईश्वर) के ऐसे स्वरूपकी प्राप्तिके लिये मार्ग बतलाया जाता है—हृदयदेशसे ऊपरकी ओर जानेवाली सुषुम्ना नामकी नाडी योगशास्त्रमें प्रसिद्ध है । वह 'अन्तरेण तालुके' अर्थात् दोनों तालुओंके बीचमें होकर गयी है । और तालुओंके बीचमें यह जो स्तनके समान मांसखण्ड लटका हुआ है उसके भी बीचमें होकर गयी है । तथा जहाँ यह केशान्त—केशोंके मूलभागका नाम 'केशान्त' है वह जिस स्थानपर विभक्त होता है अर्थात् जो मूर्धप्रदेश है, उस स्थानमें पहुँचकर जो निकल गयी है, अर्थात् जो शीर्षकपालों—मस्तकके कपालोंको

शिरःकपाले विनिर्गता या सेन्द्रयोनिरिन्द्रस्य ब्रह्मणो योनिर्मार्गः स्वरूपप्रतिपत्तिद्वारमित्यर्थः ।

तयैवं विद्वान्मनोमयात्मदर्शी सुषुम्नाद्वारा मूर्ध्नो विनिष्क्रम्या- चतुर्व्याहृतिरूप- स्य लोकस्याधिष्ठा- ब्रह्मप्राप्तिः ता भूरिति व्याहृतिरूपो योऽग्निर्महतो ब्रह्मणोऽङ्गभूतस्तस्मिन्नग्नौ प्रतितिष्ठत्यग्न्यात्मनेमं लोकं व्याप्नोतीत्यर्थः । तथा भुव इति द्वितीयव्याहृत्यात्मनि वायौ । प्रतितिष्ठतीत्यनुवर्तते । सुवरिति तृतीयव्याहृत्यात्मन्यादित्ये । मह इत्यङ्गिनि चतुर्थ व्याहृत्यात्मनि ब्रह्मणि प्रतितिष्ठति ।

तेष्वात्मभावेन स्थित्वाप्नोति ब्रह्मीभूतस्य ब्रह्मभूतः स्वाराज्यं विदुष ऐश्वर्यम् स्वराड्भावं स्वयमेव राजाधिपतिर्भवति, अङ्गभूतानां देवानां यथा ब्रह्म । देवाश्च

पार—विभक्त यानी विदीर्ण करती हुई बाहर निकल गयी है वही इन्द्रयोनि—इन्द्र अर्थात् ब्रह्मकी योनि—मार्ग यानी ब्रह्मस्वरूपकी प्राप्तिका द्वार है ।

इस प्रकार उस सुषुम्ना नाडीद्वारा जाननेवाला अर्थात् मनोमय आत्माका साक्षात्कार करनेवाला पुरुष मूर्धद्वारसे निकलकर इस लोकका अधिष्ठाता जो महान् ब्रह्मका अङ्गभूत 'भूः' ऐसा व्याहृतिरूप अग्नि है उस अग्निमें स्थित हो जाता है; अर्थात् अग्निरूप होकर इस लोकको व्याप्त कर लेता है । इसी प्रकार वह 'भुवः' इस द्वितीय व्याहृतिरूप वायुमें स्थित हो जाता है—इस प्रकार 'प्रतितिष्ठति' इस क्रियाकी अनुवृत्ति की जाती है । तथा [ऐसे ही] 'सुवः' इस तृतीय व्याहृतिरूप आदित्यमें और 'महः' इस चतुर्थ व्याहृतिरूप अङ्गी ब्रह्ममें स्थित होता है ।

उनमें आत्मस्वरूपसे स्थित हो वह ब्रह्मभूत हुआ स्वाराज्य—स्वराड्भावको प्राप्त कर लेता है अर्थात् जिस प्रकार ब्रह्म अङ्गभूत देवताओंका अधिपति है उसी प्रकार स्वयं उनका राजा—अधिपति हो जाता है । तथा उसके

सर्वेऽस्मै बलिमावहन्त्यङ्गभूता यथा ब्रह्मणे । आप्नोति मनसस्पतिम् । सर्वेषां हि मनसां पतिः सर्वात्मकत्वाद्ब्रह्मणः । सर्वैर्हि मनोभिस्तन्मनुते । तदाप्नोत्येवं विद्वान् । किं च वाक्पतिः सर्वासां वाचां पतिर्भवति । तथैव चक्षुष्पतिश्चक्षुषां पतिः । श्रोत्रपतिः श्रोत्राणां पतिः । विज्ञानपतिर्विज्ञानानां च पतिः । सर्वात्मकत्वात्सर्वप्राणिनां करणैस्तद्वान्भवतीत्यर्थः ।

अङ्गभूत समस्त देवगण जिस प्रकार ब्रह्मको उसी प्रकार इस अपने अङ्गीके लिये उपहार लाते हैं । तथा वह मनस्पतिको प्राप्त हो जाता है । ब्रह्म सर्वात्मक होनेके कारण सम्पूर्ण मनोंका पति है, वह सारे ही मनोंद्वारा मनन करता है । इस प्रकार उपासनाद्वारा विद्वान् उसे प्राप्त कर लेता है । यही नहीं, वह वाक्पति—सम्पूर्ण वाणियोंका पति हो जाता है, तथा चक्षुष्पति—नेत्रोंका स्वामी, श्रोत्रपति—कानोंका स्वामी और विज्ञानपति—विज्ञानोंका स्वामी हो जाता है । तात्पर्य यह है कि सर्वात्मक होनेके कारण वह समस्त प्राणियोंकी इन्द्रियोंसे इन्द्रियवान् होता है ।

किं च ततोऽप्यधिकतरमेतद्भवति । किं तत् ? उच्यते । आकाशशरीरमाकाशः शरीरमस्याकाशवद्वा सूक्ष्मं शरीरमस्येत्याकाशशरीरम् । किं तत् ? प्रकृतं ब्रह्म । सत्यात्म सत्यं मूर्तामूर्तमवितथं स्वरूपं चात्मा स्वभावोऽस्य तदिदं सत्यात्म । प्राणारामं प्राणेष्वा-

यही नहीं, वह तो इससे भी बड़ा हो जाता है । सो क्या ? बतलाते हैं—आकाशशरीर—आकाश जिसका शरीर है अथवा आकाशके समान जिसका सूक्ष्म शरीर है वही आकाशशरीर है । वह है कौन ? प्रकृत ब्रह्म [अर्थात् वह ब्रह्म जिसका यहाँ प्रकरण है] । सत्यात्म—जिसका मूर्तामूर्तरूप सत्य यानी अमिथ्या ही स्वरूप आत्मा अर्थात् स्वभाव है उसे 'सत्यात्म' कहते हैं । प्राणाराम—

राम आक्रीडा यस्य तत्प्राणारामम् । प्राणानां वारामो यस्मिंस्तत्प्राणारामम् । मनआनन्दम्; आनन्दभूतं सुखकृदेव यस्य मनस्तन्मनआनन्दम् । शान्तिसमृद्धं शान्तिरुपशमः, शान्तिश्च तत्समृद्धं च शान्तिसमृद्धम् । शान्त्या वा समृद्धं तदुपलभ्यत इति शान्तिसमृद्धम् । अमृतममरणधर्मि । एतच्चाधिकरणविशेषणं तत्रैव मनोमय इत्यादौ द्रष्टव्यमिति । एवं मनोमयत्वादिधर्मैर्विशिष्टं यथोक्तं ब्रह्म हे प्राचीनयोग्य, उपास्स्वेत्याचार्यवचनोक्तिरादरार्था । उक्तस्तूपासनाशब्दार्थः ॥ १-२ ॥

प्राणोंमें जिसका रमण अर्थात् क्रीडा है अथवा जिसमें प्राणोंका आरमण है उसे प्राणाराम कहते हैं । मनआनन्दम्—जिसका मन आनन्दभूत अर्थात् सुखकारी ही है वह मन आनन्द कहलाता है । शान्तिसमृद्धम्—शान्ति उपशमको कहते हैं, जो शान्ति भी है और समृद्ध भी वह शान्तिसमृद्ध है अथवा शान्तिके द्वारा उस समृद्ध ब्रह्मकी उपलब्धि होती है, इसलिये उसे शान्तिसमृद्ध कहते हैं । अमृत—अमरणधर्मी । ये अधिकरणमें आये हुए विशेषण उस मनोमय आदिमें ही जानने चाहिये । इस प्रकार मनोमयत्व आदि धर्मोंसे विशिष्ट उपर्युक्त ब्रह्मकी, हे प्राचीनयोग्य ! तू उपासना कर—यह आचार्यकी उक्ति [उपासनाके] आदरके लिये है । 'उपासना' शब्दका अर्थ तो पहले बतलाया ही जा चुका है ॥ १-२ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥

सप्तम अनुवाक

पाङ्क्तरूपसे ब्रह्मकी उपासना

यदेतद्व्याहृत्यात्मकं ब्रह्मोपास्यमुक्तं तस्यैवेदानीं पृथिव्यादिपाङ्क्तस्वरूपेणोपासनमुच्यते । पञ्चसंख्यायोगात्पङ्क्तिच्छन्दःसंपत्तिः । ततः पाङ्क्तत्वं सर्वस्य । पाङ्क्तश्च यज्ञः । "पञ्चपदा पङ्क्तिः पाङ्क्तो यज्ञः" इति श्रुतेः । तेन यत्सर्वं लोकाद्यात्मान्तं च पाङ्क्तं परिकल्पयति यज्ञमेव तत्परिकल्पयति । तेन यज्ञेन परिकल्पितेन पाङ्क्तात्मकं प्रजापतिमभिसंपद्यते । तत्कथं पाङ्क्तमिदं सर्वमित्यत आह—

यह जो व्याहृतिरूप उपास्य ब्रह्म बतलाया गया है अब पृथिवी आदि पाङ्क्तरूपसे उसीकी उपासनाका वर्णन किया जाता है—[पृथिवी आदि पाँच-पाँच संख्यावाले पदार्थ हैं तथा पङ्क्तिछन्द भी पाँच पदोंवाला है, अतः] 'पाँच संख्याका योग होनेसे [उन पृथिवी आदिसे] पङ्क्तिछन्द सम्पन्न होता है । इसीसे उन सबका पाङ्क्तत्व है । यज्ञ भी पाङ्क्त है, जैसा कि "पङ्क्तिछन्द पाँच पदोंवाला है, यज्ञ पाङ्क्त है" इस श्रुतिसे ज्ञात होता है । अतः जो लोकसे लेकर आत्मापर्यन्त सबको पाङ्क्तरूपसे कल्पना करता है वह यज्ञकी ही कल्पना करता है । उस कल्पना किये हुए यज्ञसे वह पाङ्क्तस्वरूप प्रजापतिको प्राप्त हो जाता है । अच्छा तो यह सब किस प्रकार पाङ्क्त है ? सो अब बतलाते हैं—

पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिशः । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणि । आप ओषधयो वनस्पतय

आकाश आत्मा । इत्यधिभूतम् । अथाध्यात्मम् । प्राणो व्यानोऽपान उदानः समानः । चक्षुः श्रोत्रं मनो वाक् त्वक् । चर्म माꣳसꣳस्नावास्थि मज्जा । एतदधिविधाय ऋषिरवोचत् । पाङ्क्तं वा इदꣳसर्वम् । पाङ्क्तेनैव पाङ्क्तꣳस्पृणोतीति ॥ १ ॥

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ [–यह लोकपाङ्क्त]; अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र [–यह देवतापाङ्क्त] तथा आप, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा—ये अधिभूतपाङ्क्त हैं । अब अध्यात्मपाङ्क्त बतलाते हैं—प्राण, व्यान, अपान, उदान और समान [–यह वायुपाङ्क्त]; चक्षु, श्रोत्र, मन वाक् और त्वचा [–यह इन्द्रियपाङ्क्त] तथा चर्म, मांस, स्नायु, अस्थि और मज्जा [–यह धातुपाङ्क्त—ये सब मिलाकर अध्यात्मपाङ्क्त हैं]। इस प्रकार पाङ्क्तोपासनाका विधानकर ऋषिने कहा—'यह सब पाङ्क्त ही है; इस [आध्यात्मिक] पाङ्क्तसे ही उपासक [बाह्य] पाङ्क्तको पूर्ण करता है' ॥ १ ॥

त्रिविध-भूतपाङ्क्तम् **पृथिव्यन्तरिक्षं द्यौर्दिशोऽवान्तरदिश इति लोकपाङ्क्तम् । अग्निर्वायुरादित्यश्चन्द्रमा नक्षत्राणीति देवतापाङ्क्तम् । आप ओषधयो वनस्पतय आकाश आत्मेति भूतपाङ्क्तम् । आत्मेति विराड् भूताधिकारात् । इत्यधिभूतमि-**

पृथिवी, अन्तरिक्ष, द्युलोक, दिशाएँ और अवान्तर दिशाएँ–ये लोकपाङ्क्त हैं; अग्नि, वायु, आदित्य, चन्द्रमा और नक्षत्र–ये देवतापाङ्क्त हैं; जल, ओषधि, वनस्पति, आकाश और आत्मा–ये भूतपाङ्क्त हैं । यहाँ 'आत्मा' विराट्को कहा है; क्योंकि यह भूतोंका अधिकरण है 'इत्यधिभूतम्' यह वाक्य अधिलोक और

त्यधिलोकाधिदैवतपाङ्क्तद्वयोपलक्षणार्थम् । लोकदेवतापाङ्क्तयोश्चाभिहितत्वात् ।

अधिदैवत—इन दो पाङ्क्तोंका भी उपलक्षण करानेके लिये है; क्योंकि इनमें लोक और देवतासम्बन्धी दो पाङ्क्तोंका भी वर्णन किया गया है।

त्रिविधाध्यात्मपाङ्क्तम्

अथानन्तरमध्यात्मं पाङ्क्तत्रयमुच्यते-प्राणादि वायुपाङ्क्तम् । चक्षुरादीन्द्रियपाङ्क्तम् । चर्मादि धातुपाङ्क्तम् । एतावद्धीदं सर्वमध्यात्मम्, बाह्यं च पाङ्क्तमेवेत्येतदेवमधिविधाय परिकल्प्यर्षिर्वेद एतद्दर्शनसंपन्नो वा कश्चिदृषिरवोचदुक्तवान् । किमित्याह-पाङ्क्तं वा इदं सर्वं पाङ्क्तेनैवाध्यात्मिकेन संख्यासामान्यात्पाङ्क्तं बाह्यं स्पृणोति बलयति पूरयति । एकात्मतयोपलभ्यत इत्येतत् । एवं पाङ्क्तमिदं सर्वमिति यो वेद स प्रजापत्यात्मैव भवतीत्यर्थः ॥ १ ॥

अब आगे तीन अध्यात्मपाङ्क्तोंका वर्णन किया जाता है—प्राणादि वायुपाङ्क्त, चक्षु आदि इन्द्रियपाङ्क्त और चर्मादि धातुपाङ्क्त—बस ये इतने ही अध्यात्म और बाह्य पाङ्क्त हैं। इनका इस प्रकार विधान अर्थात् कल्पना करके ऋषि—वेद अथवा इस दृष्टिसे सम्पन्न किसी ऋषिने कहा । क्या कहा ? सो बतलाते हैं—निश्चय ही यह सब पाङ्क्त ही है । आध्यात्मिक पाङ्क्तसे ही, संख्यामें समानता होनेके कारण उपासक बाह्यपाङ्क्तको बलवान्—पूरित करता है अर्थात् उसके साथ एकरूपसे उपलब्ध करता है । इस प्रकार 'यह सब पाङ्क्त है' ऐसा जो पुरुष जानता है वह प्रजापतिस्वरूप ही हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

ओङ्कारोपासनाका विधान

व्याहृत्यात्मनो ब्रह्मण उपासनमुक्तम् । अनन्तरं च पाङ्क्तस्वरूपेण तस्यैवोपासनमुक्तम् । इदानीं सर्वोपासनाङ्गभूतस्योङ्कारस्योपासनं विधित्स्यते । परापरब्रह्मदृष्ट्या उपास्यमान ओङ्कारः शब्दमात्रोऽपि परापरब्रह्मप्राप्तिसाधनं भवति । स ह्यालम्बनं ब्रह्मणः परस्यापरस्य च, प्रतिमेव विष्णोः । "एतेनैवायतनेनैकतरमन्वेति" (प्र० उ० ५ । २) इति श्रुतेः ।

व्याहृतिरूप ब्रह्मकी उपासनाका निरूपण किया गया; उसके पश्चात् उसीकी उपासनाका पाङ्क्तरूपसे वर्णन किया । अब सम्पूर्ण उपासनाओंके अङ्गभूत ओंकारकी उपासनाका विधान करना चाहते हैं । पर एवं अपर ब्रह्मदृष्टिसे उपासना किये जानेपर ओंकार—केवल शब्दमात्र होनेपर भी पर और अपर ब्रह्मकी प्राप्तिका साधन होता है । वही पर और अपर ब्रह्मका आलम्बन है, जिस प्रकार कि विष्णुका आलम्बन प्रतिमा है । "इसी आलम्बनसे उपासक [पर या अपर] किसी एक ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है" इस श्रुतिसे यही बात प्रमाणित होती है ।

ओमिति ब्रह्म । ओमितीदꣳसर्वम् । ओमित्येतदनुकृतिर्ह स्म वा अप्यो श्रावयेत्याश्रावयन्ति । ओमिति सामानि गायन्ति । ओꣳशोमिति शस्त्राणि शꣳसन्ति । ओमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति । ओमिति ब्रह्मा प्रसौति । ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति । ओमिति ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन्नाह ब्रह्मोपाप्नवानीति । ब्रह्मैवोपाप्नोति ॥ १ ॥

'ॐ' यह शब्द ब्रह्म है, क्योंकि 'ॐ' यह सर्वरूप है; 'ॐ' यह अनुकृति (अनुकरण—सम्मतिसूचक संकेत) है—ऐसा प्रसिद्ध है। [याज्ञिकलोग] "ओ श्रावय" ऐसा कहकर श्रवण कराते हैं। 'ॐ' ऐसा कहकर सामगान करते हैं। 'ॐ शोम्' ऐसा कहकर शस्त्रों (गीतिरहित ऋचाओं) का पाठ करते हैं। अध्वर्यु प्रतिगर (प्रत्येक कर्म) के प्रति 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता है। 'ॐ' ऐसा कहकर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है; 'ॐ' ऐसा कहकर वह अग्निहोत्रके लिये आज्ञा देता है। वेदाध्ययन करनेवाला ब्राह्मण 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता हुआ कहता है—'मैं ब्रह्म (वेद अथवा परब्रह्म) को प्राप्त करूँ।' इससे वह ब्रह्मको ही प्राप्त कर लेता है ॥ १ ॥

ओमिति। इतिशब्दः स्वरूपपरिच्छेदार्थः,

ओङ्कारस्य सार्वात्म्यम्

ओमित्येतच्छब्दरूपं ब्रह्मेति मनसा धारयेदुपासीत। यत ओमितीदं सर्वं हि शब्दरूपमोङ्कारेण व्याप्तम्। "तद्यथा शङ्कुना" (छा० उ० २। २३। ३) इति श्रुत्यन्तरात्। अभिधानतन्त्रं ह्यभिधेयमित्यत इदं सर्वमोङ्कार इत्युच्यते।

ओङ्कारस्तुत्यर्थमुत्तरो ग्रन्थः।

ओङ्कारमहिमा

उपास्यत्वात्तच्च। ओमित्येतदनुकृतिरनुकरणं। करोमि यास्यामि

'ओमिति' इसमें 'इति' शब्द ओंकारके स्वरूपका परिच्छेद (निर्देश) करनेके लिये है। अर्थात् 'ॐ' यह शब्दरूप ब्रह्म है—ऐसा इसका मनसे ध्यान–उपासना करे; क्योंकि 'ॐ' यही सब कुछ है, कारण, समस्त शब्दरूप प्रपञ्च ओंकारसे व्याप्त है, जैसा कि 'जिस प्रकार शंकुसे पत्ते व्याप्त रहते हैं' इत्यादि एक दूसरी श्रुतिसे सिद्ध होता है। सम्पूर्ण वाच्य वाचकके ही अधीन होता है, इसलिये यह सब ओंकार ही कहा जाता है।

आगेका ग्रन्थ ओंकारकी स्तुतिके लिये है; क्योंकि वह उपासनीय है। 'ॐ' यह अनुकृति यानी अनुकरण है। इसीसे किसीके द्वारा 'मैं करता हूँ, मैं जाता हूँ'

चेति कृतमुक्तमोमित्यनुकरोत्यन्यः। अत ओङ्कारोऽनुकृतिः। ह स्म वा इति प्रसिद्धार्थावद्योतकाः। प्रसिद्धमोङ्कारस्यानुकृतित्वम्।

अपि च 'ओ श्रावय' इति प्रैषपूर्वकमाश्रावयन्ति। तथोमिति सामानि गायन्ति सामगाः। ॐशोमिति शस्त्राणि शंसन्ति शस्त्रशंसितारोऽपि। तथोमित्यध्वर्युः प्रतिगरं प्रतिगृणाति। ओमिति ब्रह्मा प्रसौत्यनुजानाति प्रैषपूर्वकमाश्रावयति। ओमित्यग्निहोत्रमनुजानाति। जुहोमीत्युक्त ओमित्येवानुज्ञां प्रयच्छति।

इस प्रकार किये हुए कथनको सुनकर दूसरा पुरुष [उसको स्वीकृत करते हुए] 'ॐ' ऐसा अनुकरण करता है। इसलिये ओंकार अनुकृति है। 'ह' 'स्म' और 'वै'—ये निपात प्रसिद्धिके सूचक हैं; क्योंकि ओंकारका अनुकृतित्व तो प्रसिद्ध ही है।

इसके सिवा 'ओ श्रावय' इस प्रकार प्रेरणापूर्वक याज्ञिकलोग प्रतिश्रवण कराते हैं। तथा 'ॐ' ऐसा कहकर सामगान करनेवाले सामका गान करते हैं। शस्त्र शंसन करनेवाले भी 'ॐ शोम्' ऐसा कहकर शस्त्रोंका पाठ करते हैं। तथा अध्वर्युलोग प्रतिगरके प्रति 'ॐ' ऐसा उच्चारण करते हैं। 'ॐ' ऐसा कहकर ब्रह्मा अनुज्ञा देता है अर्थात् प्रेरणापूर्वक आश्रवण करता है; और 'ॐ' कहकर वह अग्निहोत्रके लिये आज्ञा देता है। अर्थात् यजमानके यों कहनेपर कि 'मैं हवन करता हूँ' वह 'ॐ' ऐसा कहकर उसे अनुज्ञा देता है।

ओमित्येव ब्राह्मणः प्रवक्ष्यन् प्रवचनं करिष्यन्नध्येष्यमाण ओमित्येवाह । ओमित्येव प्रतिपद्यतेऽध्येतुमित्यर्थः । ब्रह्मवेदमुपाप्नवानीति प्राप्नुयां ग्रहीष्यामीत्युपाप्नोत्येव ब्रह्म । अथवा ब्रह्म परमात्मा तमुपाप्नवानीत्यात्मानं प्रवक्ष्यन्प्रापयिष्यन्नोमित्येवाह । स च तेनोङ्कारेण ब्रह्म प्राप्नोत्येव । ओङ्कारपूर्वं प्रवृत्तानां क्रियाणां फलवत्त्वं यस्मात्तस्मादोङ्कारं ब्रह्मेत्युपासीतेति वाक्यार्थः ॥ १ ॥

प्रवचन अर्थात् अध्ययन करनेवाला ब्राह्मण 'ॐ' ऐसा उच्चारण करता है; अर्थात् 'ॐ' ऐसा कहकर ही वह अध्ययन करनेके लिये प्रवृत्त होता है । 'मैं ब्रह्म यानी वेदको प्राप्त करूँ अर्थात् उसे ग्रहण करूँ' ऐसा कहकर वह ब्रह्मको प्राप्त कर ही लेता है । अथवा [यों समझो कि] 'मैं ब्रह्म—परमात्माको प्राप्त करूँ' इस प्रकार आत्माको प्राप्त करनेकी इच्छासे वह 'ॐ' ऐसा ही कहता है और उस ॐकारके द्वारा वह ब्रह्मको प्राप्त कर ही लेता है । इस प्रकार क्योंकि ॐकारपूर्वक प्रवृत्त होनेवाली क्रियाएँ फलवती होती हैं इसलिये 'ॐकार ब्रह्म है' इस तरह उसकी उपासना करे—यह इस वाक्यका अर्थ है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यामष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

ऋतादि शुभकर्मोंकी आवश्यकर्तव्यताका विधान

विज्ञानादेवाप्नोति स्वाराज्यमित्युक्तत्वाच्छ्रौतस्मार्तानां कर्मणामानर्थक्यं प्राप्तमित्यतस्तन्मा प्रापदिति कर्मणां पुरुषार्थं प्रति साधनत्वप्रदर्शनार्थमिहोपन्यासः—

विज्ञानसे ही स्वाराज्य प्राप्त कर लेता है—ऐसा [छठे अनुवाकमें] कहे जानेके कारण श्रौत और स्मार्त कर्मोंकी व्यर्थता प्राप्त होती है। वह प्राप्त न हो, इसलिये पुरुषार्थके प्रति कर्मोंका साधनत्व प्रदर्शित करनेके लिये यहाँ उनका उल्लेख किया जाता है—

ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च सत्यं च स्वाध्यायप्रवचने च। तपश्च स्वाध्यायप्रवचने च। दमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। शमश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्नयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। अग्निहोत्रं च स्वाध्यायप्रवचने च। अतिथयश्च स्वाध्यायप्रवचने च। मानुषं च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजा च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजनश्च स्वाध्यायप्रवचने च। प्रजातिश्च स्वाध्यायप्रवचने च। सत्यमिति सत्यवचा राथीतरः। तप इति तपोनित्यः पौरुशिष्टिः स्वाध्यायप्रवचने एवेति नाको मौद्गल्यः। तद्धि तपस्तद्धि तपः॥ १॥

ऋत (शास्त्रादिद्वारा बुद्धिमें निश्चय किया हुआ अर्थ) तथा स्वाध्याय (शास्त्राध्ययन) और प्रवचन (अध्यापन अथवा वेदपाठरूप ब्रह्मयज्ञ) [ये अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं]। सत्य (सत्यभाषण) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [अनुष्ठान किये जाने चाहिये]। दम

(इन्द्रियदमन) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इन्हें सदा करता रहे]। शम (मनोनिग्रह) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ये सर्वदा कर्तव्य हैं]। अग्नि (अग्न्याधान) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इनका अनुष्ठान करे] अग्निहोत्र तथा स्वाध्याय और प्रवचन [ये नित्य कर्तव्य हैं]। अतिथि (अतिथिसत्कार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इनका नियमसे अनुष्ठान करे]। मानुषकर्म (विवाहादि लौकिक व्यवहार) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इन्हें करता रहे]। प्रजा (प्रजा उत्पन्न करना) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [—ये सदा ही कर्तव्य हैं]। प्रजन (ऋतुकालमें भार्यागमन) तथा [इसके साथ] स्वाध्याय और प्रवचन [करता रहे]। प्रजाति (पौत्रोत्पत्ति) तथा स्वाध्याय और प्रवचन [इनका नियतरूपसे अनुष्ठान करे] सत्य ही [अनुष्ठान करने योग्य है] ऐसा रथीतरका पुत्र सत्यवचा मानता है। तप ही [नित्य अनुष्ठान करने योग्य है] ऐसा नित्य तपोनिष्ठ पौरुशिष्टिका मत है। स्वाध्याय और प्रवचन ही [कर्तव्य हैं] ऐसा मुद्गलके पुत्र नाकका मत है। अतः वे (स्वाध्याय और प्रवचन) ही तप हैं, वे ही तप हैं ॥ १ ॥

ऋतमिति व्याख्यातम्। स्वाध्यायोऽध्ययनम्। प्रवचनमध्यापनं ब्रह्मयज्ञो वा। एतान्यृतादीन्यनुष्ठेयानीति वाक्यशेषः। सत्यं च सत्यवचनं यथाव्याख्यातार्थं वा। तपः कृच्छ्रादि। दमो बाह्यकरणोपशमः। शमोऽन्तःकरणोपशमः। अग्नय आधा-

'ऋत'—इसकी व्याख्या पहले [ऋतं वदिष्यामि—इस वाक्यमें] की जा चुकी है। 'स्वाध्याय' अध्ययनको कहते हैं, तथा 'प्रवचन' अध्यापन या ब्रह्मयज्ञका नाम है। ये ऋत आदि अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं-यह वाक्यशेष है। सत्य—सत्य वचन अथवा जैसा पहले [सत्यं वदिष्यामि—इस वाक्यमें] व्याख्या की गयी है, वह; तप—कृच्छ्रादि; दम—बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह; शम—चित्तकी शान्ति; [ये सब करने योग्य

तव्याः । अग्निहोत्रं च होतव्यम् । अतिथयश्च पूज्याः । मानुषमिति लौकिकः संव्यवहारः, तच्च यथाप्राप्तमनुष्ठेयम् । प्रजा चोत्पाद्या । प्रजनश्च प्रजननमृतौ भार्यागमनमित्यर्थः । प्रजातिः पौत्रोत्पत्तिः पुत्रो निवेशयितव्य इत्येतत् ।

स्वाध्यायप्रवचन-सहयोगकारणम् सर्वैरेतैः कर्मभिर्युक्तस्यापि स्वाध्यायप्रवचने यत्नतोऽनुष्ठेये इत्येवमर्थं सर्वेण सह स्वाध्यायप्रवचनग्रहणम् । स्वाध्यायाधीनं ह्यर्थज्ञानम्, अर्थज्ञानायत्तं च परं श्रेयः; प्रवचनं च तदविस्मरणार्थं धर्मप्रवृद्ध्यर्थं च । अतः स्वाध्यायप्रवचनयोरादरः कार्यः ।

सत्यादिप्राधान्ये मुनीनां मतभेदाः सत्यमिति सत्यमेवानुष्ठातव्यमिति सत्यमेव वचो यस्य सोऽयं सत्यवचा नाम वा तस्य । राथीतरो रथीतरस्य गोत्रो राथीतराचार्यो मन्यते । तप इति तप एव

हैं] । अग्नियोंका आधान करना चाहिये । अग्निहोत्र होम करने योग्य है । अतिथियोंका पूजन करना चाहिये । मानुष यानी लौकिक व्यवहार; उसका भी यथाप्राप्त अनुष्ठान करना चाहिये । प्रजा उत्पन्न करनी चाहिये । प्रजन—प्रजनन—ऋतुकालमें भार्यागमन और प्रजाति—पौत्रोत्पत्ति अर्थात् पुत्रको स्त्रीपरिग्रह कराना चाहिये ।

इन सब कर्मोंसे युक्त पुरुषको भी स्वाध्याय और प्रवचनका यत्नपूर्वक अनुष्ठान करना चाहिये—इसीलिये इन सबके साथ स्वाध्याय और प्रवचनको ग्रहण किया गया है । स्वाध्यायके अधीन ही अर्थज्ञान है और अर्थज्ञानके अधीन ही परमश्रेय है, तथा प्रवचन उसकी अविस्मृति और धर्मकी वृद्धिके लिये है; इसलिये स्वाध्याय और प्रवचनमें आदर (श्रद्धा) रखना चाहिये ।

सत्य अर्थात् सत्य ही अनुष्ठान किये जाने योग्य है—ऐसा सत्यवचा—सत्य ही जिसका वचन हो वह अथवा जिसका नाम ही सत्यवचा है वह राथीतर अर्थात् रथीतरके वंशमें उत्पन्न हुआ राथीतर आचार्य मानता है । तप यानी तप ही कर्तव्य है—

कर्तव्यमिति तपोनित्यस्तपसि नित्यस्तपःपरस्तपोनित्य इति वा नाम पौरुशिष्टिः पुरुशिष्टस्यापत्यं पौरुशिष्टिराचार्यो मन्यते । स्वाध्यायप्रवचने एवानुष्ठेये इति नाको नामतो मुद्गलस्यापत्यं मौद्गल्य आचार्यो मन्यते । तद्धि तपस्तद्धि तपः । हि यस्मात्स्वाध्यायप्रवचने एव तपस्तस्मात्ते एवानुष्ठेये इति । उक्तानामपि सत्यतपःस्वाध्यायप्रवचनानां पुनर्ग्रहणमादरार्थम् ॥ १ ॥

ऐसा तपोनित्य—नित्य तपोनिष्ठ अथवा तपोनित्य नामवाला पौरुशिष्टि—पुरुशिष्टका पुत्र पौरुशिष्टि आचार्य मानता है । स्वाध्याय और प्रवचन ही अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं—ऐसा नाक नामवाला मुद्गलका पुत्र मौद्गल्य आचार्य मानता है । वही तप है, वही तप है । इसका तात्पर्य यह है कि स्वाध्याय और प्रवचन ही तप हैं, इसलिये वे ही अनुष्ठान किये जाने योग्य हैं । पहले कहे हुए भी सत्य, तप, स्वाध्याय और प्रवचनोंका पुनर्ग्रहण उनके आदरके लिये है ॥१॥

इति शीक्षावल्ल्यां नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥

दशम अनुवाक

त्रिशङ्कुका वेदानुवचन

अहं वृक्षस्य रेरिवेति स्वाध्यायार्थो मन्त्राम्नायः । स्वाध्यायश्च विद्योत्पत्तये । प्रकरणात् । विद्यार्थं हीदं प्रकरणम् । न चान्यार्थत्वमवगम्यते । स्वाध्यायेन च विशुद्धसत्त्वस्य विद्योत्पत्तिरवकल्प्यते ।

'अहं वृक्षस्य रेरिवा' आदि मन्त्राम्नाय स्वाध्याय (जप) के लिये है । तथा स्वाध्याय विद्या (ज्ञान) की उत्पत्तिके लिये बतलाया गया है; यह प्रकरणसे ज्ञात होता है; क्योंकि यह प्रकरण विद्याके लिये ही है, इसके सिवा उसका कोई और प्रयोजन नहीं जान पड़ता; क्योंकि स्वाध्यायके द्वारा जिसका चित्त शुद्ध हो गया है उसीको विद्याकी उत्पत्ति होना सम्भव है ।

अहं वृक्षस्य रेरिवा । कीर्तिः पृष्ठं गिरेरिव । ऊर्ध्वपवित्रो वाजिनीव स्वमृतमस्मि । द्रविणꣳसवर्चसम् । सुमेधा अमृतोक्षितः । इति त्रिशङ्कोर्वेदानुवचनम् ॥ १ ॥

मैं [अन्तर्यामीरूपसे उच्छेदरूप संसार-] वृक्षका प्रेरक हूँ । मेरी कीर्ति पर्वतशिखरके समान उच्च है । ऊर्ध्वपवित्र (परमात्मारूप कारण-वाला) हूँ । अन्नवान् सूर्यमें जिस प्रकार अमृत है उसी प्रकार मैं भी शुद्ध अमृतमय हूँ । मैं प्रकाशमान [आत्मतत्त्वरूप] धन, सुमेधा (सुन्दर मेधावाला) और अमरणधर्मा तथा अक्षित (अव्यय) हूँ, अथवा अमृतसे सिक्त (भीगा हुआ) हूँ—यह त्रिशङ्कु ऋषिका वेदानुवचन है ॥ १ ॥

अहं वृक्षस्योच्छेदात्मकस्य संसारवृक्षस्य रेरिवा प्रेरयिताऽन्तर्याम्यात्मना। कीर्तिः ख्यातिर्गिरेः पृष्ठमिवोच्छ्रिता मम। ऊर्ध्वपवित्र ऊर्ध्वं कारणं पवित्रं पावनं ज्ञानप्रकाश्यं पवित्रं परमं ब्रह्म यस्य सर्वात्मनो मम सोऽहमूर्ध्वपवित्रः। वाजिनीव वाजवतीव। वाजमन्नं तद्वति सवितरीत्यर्थः। यथा सवितर्यमृतमात्मतत्त्वं विशुद्धं प्रसिद्धं श्रुतिस्मृतिशतेभ्य एवं स्वमृतं शोभनं विशुद्धमात्मतत्त्वमस्मि भवामि।

द्रविणं धनं सवर्चसं दीप्तिमत्तदेवात्मतत्त्वमस्मीत्यनुवर्तते। ब्रह्मज्ञानं वात्मतत्त्वप्रकाशकत्वात्सवर्चसम्। द्रविणमिव द्रविणं मोक्षसुखहेतुत्वात्। अस्मिन्पक्षे प्राप्तं मयेत्यध्याहारः कर्तव्यः।

मैं अन्तर्यामीरूपसे वृक्ष अर्थात् उच्छेदात्मक संसाररूप वृक्षका प्रेरक हूँ। मेरी कीर्ति—प्रसिद्धि पर्वतके पृष्ठभागके समान ऊँची है। मैं ऊर्ध्वपवित्र हूँ—पवित्र—पावन अर्थात् ज्ञानसे प्रकाशित होने योग्य पवित्र परब्रह्म जिस मुझ सर्वात्माका ऊर्ध्व यानी कारण है वह मैं ऊर्ध्वपवित्र हूँ। 'वाजिनि इव'—वाजवान्‌के समान—वाज अर्थात् अन्न उससे युक्त सूर्यके समान, जिस प्रकार सैकड़ों श्रुति-स्मृतियोंके अनुसार सूर्यमें विशुद्ध अमृत यानी आत्मतत्त्व प्रसिद्ध है उसी प्रकार मैं भी सु अमृत अर्थात् शोभन—विशुद्ध आत्मतत्त्व हूँ।

वही मैं आत्मतत्त्व सवर्चस—दीप्तिशाली द्रविण यानी धन हूँ—इस प्रकार यहाँ 'अस्मि (हूँ), क्रियाकी अनुवृत्ति की जाती है। अथवा आत्मतत्त्वका प्रकाशक होनेसे तेजस्वी ब्रह्मज्ञान, जो मोक्षसुखका हेतु होनेके कारण धनके समान धन है, [मुझे प्राप्त हो गया है]—इस पक्षमें ['अस्मि' क्रियाकी अनुवृत्ति न करके] 'मया प्राप्तम्' (वह मुझे प्राप्त हो गया है) इसका अध्याहार करना चाहिये।

सुमेधाः शोभना मेधा सर्वज्ञलक्षणा यस्य मम सोऽहं सुमेधाः । संसारस्थित्युत्पत्त्युपसंहारकौशलयोगात्सुमेधस्त्वम् । अत एवामृतोऽमरणधर्माक्षितोऽक्षीणोऽव्ययः, अक्षतो वा; अमृतेन वोक्षितः सिक्तः । "अमृतोक्षितोऽहम्" इत्यादि ब्राह्मणम् ।

सुमेधा—जिस मेरी मेधा शोभन अर्थात् सर्वज्ञत्वलक्षणवाली है वह मैं सुमेधा हूँ । संसारकी स्थिति, उत्पत्ति और संहार—इसका कौशल होनेके कारण मेरा सुमेधस्त्व है । इसीसे मैं अमृत—अमरणधर्मा और अक्षित—अक्षीण यानी अव्यय अथवा अक्षय हूँ । अथवा, [तृतीयातत्पुरुष समास माननेपर] अमृतेन उक्षितः अमृतसे सिक्त हूँ । "मैं अमृतसे उक्षित हूँ" ऐसा ब्राह्मणवाक्य भी है ।

इत्येवं त्रिशङ्कोर्ऋषेर्ब्रह्मभूतस्य ब्रह्मविदो वेदानुवचनम्; वेदो वेदनमात्मैकत्वविज्ञानं तस्य प्राप्तिमनु वचनं वेदानुवचनम् । आत्मनः कृतकृत्यताख्यापनार्थं वामदेववत्त्रिशङ्कुनार्षेण दर्शनेन दृष्टो मन्त्राम्नाय आत्मविद्याप्रकाशक इत्यर्थः ।

इस प्रकार यह ब्रह्मभूत ब्रह्मवेत्ता त्रिशङ्कु ऋषिका वेदानुवचन है । वेद वेदन अर्थात् आत्मैकत्वविज्ञानको कहते हैं । उसकी प्राप्तिके अनु—पीछेका वचन 'वेदानुवचन' कहलाता है । तात्पर्य यह है कि अपनी कृतकृत्यता प्रकट करनेके लिये वामदेवके समान* त्रिशङ्कु ऋषिद्वारा आर्षदृष्टिसे देखा हुआ यह मन्त्राम्नाय आत्मविद्याका प्रकाश करनेवाला है ।

अस्य च जपो विद्योत्पत्त्यर्थोऽवगम्यते । ऋतं चेत्यादि-

इसका जप विद्याकी उत्पत्तिके लिये माना जाता है । इस 'ऋतं

* देखिये ऐतरेयोपनिषद् २ । १ । ५ ।

कर्मोपन्यासादनन्तरं च वेदानुवचनपाठादेतदवगम्यत एवं श्रौतस्मार्तेषु नित्येषु कर्मसु युक्तस्य निष्कामस्य परं ब्रह्म विविदिषोरार्षाणि दर्शनानि प्रादुर्भवन्त्यात्मादिविषयाणीति॥१॥

च' इत्यादि अनुवाकमें धर्मका उपन्यास (उल्लेख) करनेके अनन्तर वेदानुवचनका पाठ करनेसे यह जाना जाता है कि इस प्रकार श्रौत और स्मार्त नित्यकर्मोंमें लगे हुए परब्रह्मके निष्काम जिज्ञासुके प्रति आत्मा आदिसे सम्बन्धित आर्षदर्शनोंका प्रादुर्भाव हुआ करता है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां दशमोऽनुवाकः ॥ १० ॥

एकादश अनुवाक

वेदाध्ययनके अनन्तर शिष्यको आचार्यका उपदेश

वेदमनूच्येत्येवमादिकर्तव्यतोपदेशारम्भः प्राग्ब्रह्मविज्ञानान्नियमेन कर्तव्यानि श्रौतस्मार्तकर्माणीत्येवमर्थः। अनुशासनश्रुतेः पुरुषसंस्कारार्थत्वात् । संस्कृतस्य हि विशुद्धसत्त्वस्यात्मज्ञानमञ्जसैवोत्पद्यते । "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते" (मनु० १२ । १०४) इति स्मृतिः । वक्ष्यति च—"तपसा ब्रह्म विजि-

प्राग्ब्रह्मविज्ञानात् कर्मविधिः

ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानसे पूर्व श्रौत और स्मार्तकर्मोंका नियमसे अनुष्ठान करना चाहिये—इसीलिये 'वेदमनूच्य' इत्यादि श्रुतिसे उनकी कर्तव्यताके उपदेशका आरम्भ किया जाता है; क्योंकि ['अनुशास्ति' ऐसी] जो अनुशासन-श्रुति है वह पुरुषके संस्कारके लिये है; क्योंकि जो पुरुष संस्कारयुक्त और विशुद्धचित्त होता है उसे अनायास ही आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है । इस सम्बन्धमें "तपसे पापका नाश करता है और ज्ञानसे अमरत्व लाभ करता है" ऐसी स्मृति है । आगे ऐसा कहेंगे भी कि

ज्ञासस्व" (तै० उ० ३ । २ । ५) इति । अतो विद्योत्पत्त्यर्थमनुष्ठेयानि कर्माणि । अनुशास्तीत्यनुशासनशब्दादनुशासनातिक्रमे हि दोषोत्पत्तिः ।

प्रागुपन्यासाच्च कर्मणाम् । केवलब्रह्मविद्यारम्भाच्च पूर्वं कर्माण्युपन्यस्तानि । उदितायां च ब्रह्मविद्यायाम् "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै० उ० २ । ७ । १) "न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २ । ९ । १) "किमहं साधु नाकरवम्" (तै० उ० २ । ९ । १) इत्येवमादिना कर्मनैष्किञ्चन्यं दर्शयिष्यति; इत्यतोऽवगम्यते पूर्वोपचितदुरितक्षयद्वारेण विद्योत्पत्त्यर्थानि कर्माणीति । मन्त्रवर्णाच्च—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ई० उ० ११) इति । ऋता-

"तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर" अतः ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये कर्म करने चाहिये । 'अनुशास्ति' इसमें 'अनुशासन'—ऐसा शब्द होनेके कारण उस अनुशासनका अतिक्रमण करनेपर दोषकी उत्पत्ति होगी ।

कर्मोंका उपन्यास पहले किया जानेके कारण भी [यह निश्चय होता है कि ये कर्म विद्याकी उत्पत्तिके लिये हैं] । कर्मोंका उपन्यास केवल ब्रह्मविद्याका निरूपण आरम्भ करनेसे पूर्व ही किया गया है । ब्रह्मविद्याका उदय होनेपर तो "अभय प्रतिष्ठाको प्राप्त कर लेता है" "किसीसे भी भय नहीं मानता" "मैंने कौन-सा शुभ कर्म नहीं किया" इत्यादि वाक्योंद्वारा कर्मोंकी निष्किञ्चनता ही दिखलायेंगे । इससे विदित होता है कि कर्म पूर्वसञ्चित पापोंके क्षयके द्वारा ज्ञानकी प्राप्तिके ही लिये हैं । "अविद्या (कर्म) से मृत्यु (अधर्म) को पार करके विद्या (उपासना) से अमरत्व लाभ करता है" इस मन्त्रवर्णसे भी यही बात प्रमाणित होती है । अतः पहले (नवम अनुवाकमें)

कर्मोपन्यासादनन्तरं च वेदानुवचनपाठादेतदवगम्यत एवं श्रौतस्मार्तेषु नित्येषु कर्मसु युक्तस्य निष्कामस्य परं ब्रह्म विविदिषोरार्षाणि दर्शनानि प्रादुर्भवन्त्यात्मादिविषयाणीति॥१॥

च' इत्यादि अनुवाकमें धर्मका उपन्यास (उल्लेख) करनेके अनन्तर वेदानुवचनका पाठ करनेसे यह जाना जाता है कि इस प्रकार श्रौत और स्मार्त नित्यकर्मोंमें लगे हुए परब्रह्मके निष्काम जिज्ञासुके प्रति आत्मा आदिसे सम्बन्धित आर्षदर्शनोंका प्रादुर्भाव हुआ करता है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां दशमोऽनुवाकः ॥ १० ॥

एकादश अनुवाक

वेदाध्ययनके अनन्तर शिष्यको आचार्यका उपदेश

वेदमनूच्येत्येवमादिकर्तव्यतोपदेशारम्भः प्राग्ब्रह्मविज्ञानान्नियमेन कर्तव्यानि श्रौतस्मार्तकर्माणीत्येवमर्थः। अनुशासनश्रुतेः पुरुषसंस्कारार्थत्वात् । संस्कृतस्य हि विशुद्धसत्त्वस्यात्मज्ञानमञ्जसैवोत्पद्यते । "तपसा कल्मषं हन्ति विद्ययामृतमश्नुते" (मनु० १२ । १०४) इति स्मृतिः । वक्ष्यति च—"तपसा ब्रह्म विजि-

प्राग्ब्रह्मविज्ञानात् कर्मविधिः

ब्रह्मात्मैक्यविज्ञानसे पूर्व श्रौत और स्मार्तकर्मोंका नियमसे अनुष्ठान करना चाहिये—इसीलिये 'वेदमनूच्य' इत्यादि श्रुतिसे उनकी कर्तव्यताके उपदेशका आरम्भ किया जाता है; क्योंकि ['अनुशास्ति' ऐसी] जो अनुशासन-श्रुति है वह पुरुषके संस्कारके लिये है; क्योंकि जो पुरुष संस्कारयुक्त और विशुद्धचित्त होता है उसे अनायास ही आत्मज्ञान प्राप्त हो जाता है। इस सम्बन्धमें "तपसे पापका नाश करता है और ज्ञानसे अमरत्व लाभ करता है" ऐसी स्मृति है। आगे ऐसा कहेंगे भी कि

ज्ञासस्व" (तै० उ० ३ । २ । ५) इति । अतो विद्योत्पत्त्यर्थमनुष्ठेयानि कर्माणि । अनुशास्तीत्यनुशासनशब्दादनुशासनातिक्रमे हि दोषोत्पत्तिः ।

प्रागुपन्यासाच्च कर्मणाम् । केवलब्रह्मविद्यारम्भाच्च पूर्वं कर्माण्युपन्यस्तानि । उदितायां च ब्रह्मविद्यायाम् "अभयं प्रतिष्ठां विन्दते" (तै० उ० २ । ७ । १) "न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २ । ९ । १) "किमहं साधु नाकरवम्" (तै० उ० २ । ९ । १) इत्येवमादिना कर्मनैष्किञ्चन्यं दर्शयिष्यति; इत्यतोऽवगम्यते पूर्वोपचितदुरितक्षयद्वारेण विद्योत्पत्त्यर्थानि कर्माणीति । मन्त्रवर्णाच्च—"अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते" (ई० उ० ११) इति । ऋता-

"तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर" अतः ज्ञानकी उत्पत्तिके लिये कर्म करने चाहिये । 'अनुशास्ति' इसमें 'अनुशासन'—ऐसा शब्द होनेके कारण उस अनुशासनका अतिक्रमण करनेपर दोषकी उत्पत्ति होगी ।

कर्मोंका उपन्यास पहले किया जानेके कारण भी [यह निश्चय होता है कि ये कर्म विद्याकी उत्पत्तिके लिये हैं] । कर्मोंका उपन्यास केवल ब्रह्मविद्याका निरूपण आरम्भ करनेसे पूर्व ही किया गया है । ब्रह्मविद्याका उदय होनेपर तो "अभय प्रतिष्ठाको प्राप्त कर लेता है" "किसीसे भी भय नहीं मानता" "मैंने कौन-सा शुभ कर्म नहीं किया" इत्यादि वाक्योंद्वारा कर्मोंकी निष्किञ्चनता ही दिखलायेंगे। इससे विदित होता है कि कर्म पूर्वसञ्चित पापोंके क्षयके द्वारा ज्ञानकी प्राप्तिके ही लिये हैं । "अविद्या (कर्म) से मृत्यु (अधर्म) को पार करके विद्या (उपासना) से अमरत्व लाभ करता है" इस मन्त्रवर्णसे भी यही बात प्रमाणित होती है । अतः पहले (नवम अनुवाकमें)

दीनां पूर्वत्रोपदेश आनर्थक्यपरिहारार्थः । इह तु ज्ञानोत्पत्त्यर्थत्वात्कर्तव्यतानियमार्थः ।

जो ऋतादिका उपदेश किया है वह उनके आनर्थक्यकी निवृत्तिके लिये है । तथा यहाँ ज्ञानकी उत्पत्तिके हेतु होनेसे उनकी कर्तव्यताका नियम करनेके लिये है ।

वेदमनूच्याचार्योऽन्तेवासिनमनुशास्ति । सत्यं वद । धर्मं चर । स्वाध्यायान्मा प्रमदः । आचार्याय प्रियं धनमाहृत्य प्रजातन्तुं मा व्यवच्छेत्सीः । सत्यान्न प्रमदितव्यम् । धर्मान्न प्रमदितव्यम् । कुशलान्न प्रमदितव्यम् । भूत्यै न प्रमदितव्यम् । स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम् ॥ १ ॥

देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम् । मातृदेवो भव । पितृदेवो भव । आचार्यदेवो भव । अतिथिदेवो भव । यान्यनवद्यानि कर्माणि । तानि सेवितव्यानि । नो इतराणि । यान्यस्माकꣳसुचरितानि । तानि त्वयोपास्यानि ॥ २ ॥

नो इतराणि । ये के चास्मच्छ्रेयाꣳसो ब्राह्मणाः । तेषां त्वयासनेन प्रश्वसितव्यम् । श्रद्धया देयम् । अश्रद्धयाऽदेयम् । श्रिया देयम् । ह्रिया देयम् । भिया देयम् । संविदा देयम् । अथ यदि ते कर्मविचिकित्सा वा वृत्तिविचिकित्सा वा स्यात् ॥ ३ ॥

ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तत्र वर्तेरन् । तथा तत्र वर्तेथाः अथाभ्याख्यातेषु । ये तत्र ब्राह्मणाः ।

संमर्शिनः । युक्ता आयुक्ताः । अलूक्षा धर्मकामाः स्युः । यथा ते तेषु वर्तेरन् । तथा तेषु वर्तेथाः । एष आदेशः । एष उपदेशः । एषा वेदोपनिषत् । एतदनुशासनम् । एवमुपासितव्यम् । एवमु चैतदुपास्यम् ॥ ४ ॥

वेदाध्ययन करानेके अनन्तर आचार्य शिष्यको उपदेश देता है—सत्य बोल । धर्मका आचरण कर । स्वाध्यायसे प्रमाद न कर । आचार्यके लिये अभीष्ट धन लाकर [उसकी आज्ञासे स्त्रीपरिग्रह कर और] सन्तान-परम्पराका छेदन न कर । सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । धर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । कुशल (आत्मरक्षामें उपयोगी) कर्मसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । ऐश्वर्य देनेवाले माङ्गलिक कर्मोंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । स्वाध्याय और प्रवचनसे प्रमाद नहीं करना चाहिये ॥ १ ॥ देवकार्य और पितृकार्योंसे प्रमाद नहीं करना चाहिये । तू मातृदेव (माता ही जिसका देव है ऐसा) हो, पितृदेव हो, आचार्यदेव हो और अतिथिदेव हो । जो अनिन्द्य कर्म हैं उन्हींका सेवन करना चाहिये—दूसरोंका नहीं । हमारे (हम गुरुजनोंके) जो शुभ आचरण हैं तुझे उन्हींकी उपासना करनी चाहिये ॥ २ ॥ दूसरे प्रकारके कर्मोंकी नहीं । जो कोई [आचार्यादि धर्मोंसे युक्त होनेके कारण] हमारी अपेक्षा भी श्रेष्ठ ब्राह्मण हैं उनका आसनादिके द्वारा तुझे आश्वासन (श्रमापहरण) करना चाहिये । श्रद्धापूर्वक देना चाहिये । अश्रद्धापूर्वक नहीं देना चाहिये । अपने ऐश्वर्यके अनुसार देना चाहिये । लज्जापूर्वक देना चाहिये । भय मानते हुए देना चाहिये । संवित्—मैत्री आदि कार्यके निमित्तसे देना चाहिये । यदि तुझे कर्म या आचारके विषयमें कोई सन्देह उपस्थित हो ॥ ३ ॥ तो वहाँ जो विचारशील, कर्ममें नियुक्त, आयुक्त (स्वेच्छासे कर्मपरायण), अरूक्ष (सरलमति) एवं धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, उस प्रसङ्गमें वे जैसा व्यवहार करें वैसा ही तू भी कर । इसी प्रकार जिनपर संशययुक्त दोष आरोपित किये गये हों उनके विषयमें, वहाँ जो विचारशील, कर्ममें

नियुक्त अथवा आयुक्त (दूसरोंसे प्रेरित न होकर स्वतः कर्ममें परायण), सरलहृदय और धर्माभिलाषी ब्राह्मण हों, वे जैसा व्यवहार करें तू भी वैसा ही कर। यह आदेश—विधि है, यह उपदेश है, यह वेदका रहस्य है और [ईश्वरकी] आज्ञा है। इसी प्रकार तुझे उपासना करनी चाहिये—ऐसा ही आचरण करना चाहिये ॥ ४ ॥

अधीतवेदस्य कर्तव्यनिरूपणम्

वेदमनूच्याध्याप्याचार्योऽन्तेवासिनं शिष्यमनुशास्ति ग्रन्थग्रहणादनु पश्चाच्छास्ति तदर्थं ग्राहयतीत्यर्थः। अतोऽवगम्यतेऽधीतवेदस्य धर्मजिज्ञासामकृत्वा गुरुकुलान्न समावर्तितव्यमिति। "बुद्ध्वा कर्माणि चारभेत्" इति स्मृतेश्च। कथमनुशास्तीत्याह—

वेदका अध्ययन करानेके अनन्तर आचार्य अन्तेवासी—शिष्यको उपदेश करता है; अर्थात् ग्रन्थ-ग्रहणके पश्चात् अनुशासन करता है—उसका अर्थ ग्रहण कराता है। इससे ज्ञात होता है कि वेदाध्ययन कर चुकनेपर भी ब्रह्मचारीको बिना धर्मजिज्ञासा किये गुरुकुलसे समावर्तन (अपने घरकी ओर प्रत्यागमन) नहीं करना चाहिये। "कर्मोंका यथावत् ज्ञान प्राप्त करके उनके अनुष्ठानका आरम्भ करे" इस स्मृतिसे भी यही सिद्ध होता है। किस प्रकार उपदेश करता है? सो बतलाते हैं—

सत्यं वद यथाप्रमाणावगतं वक्तव्यं तद्वद। तद्वद्धर्मं चर। धर्म इत्यनुष्ठेयानां सामान्यवचनं सत्यादिविशेषनिर्देशात्। स्वा-

सत्य बोल अर्थात् जो कहनेयोग्य बात प्रमाणसे जैसी जानी गयी हो उसे उसी प्रकार कह। इसी प्रकार धर्मका आचरण कर। 'धर्म' यह अनुष्ठान करनेयोग्य कर्मोंका सामान्यरूपसे वाचक है; क्योंकि सत्यादि विशेष धर्मोंका तो निर्देश कर ही दिया है। स्वाध्याय

ध्यायादध्ययनान्मा प्रमदः प्रमादं मा कार्षीः। आचार्यायाचार्यार्थं प्रियमिष्टं धनमाहृत्यानीय दत्त्वा विद्यानिष्क्रयार्थम्, आचार्येण चानुज्ञातोऽनुरूपान्दारानाहृत्य प्रजातन्तुं प्रजासन्तानं मा व्यवच्छेत्सीः। प्रजासन्ततेर्विच्छित्तिर्न कर्तव्या। अनुत्पद्यमानेऽपि पुत्रे पुत्रकाम्यादिकर्मणा तदुत्पत्तौ यत्नः कर्तव्य इत्यभिप्रायः। प्रजाप्रजनप्रजातित्रयनिर्देशसामर्थ्यात्। अन्यथा प्रजनश्चेत्येतदेकमेवावक्ष्यत्।

अर्थात् अध्ययनसे प्रमाद न कर। आचार्यके लिये प्रिय—उनका अभीष्ट धन लाकर और विद्यादानसे उऋण होनेके लिये उन्हें देकर आचार्यके आज्ञा देनेपर अपने अनुरूप स्त्रीसे विवाह करके प्रजातन्तु—सन्तति-क्रमका छेदन न कर। अर्थात् प्रजासन्ततिका विच्छेद नहीं करना चाहिये। तात्पर्य यह है कि यदि पुत्र उत्पन्न न हो तो भी पुत्र-काम्या (पुत्रेष्टि) आदि कर्मोंद्वारा उसकी उत्पत्तिके लिये यत्न करना ही चाहिये। [नवम अनुवाकमें] प्रजा, प्रजन और प्रजाति—तीनोंहीका निर्देश किया गया है; उसकी सामर्थ्यसे यही बात सिद्ध होती है; अन्यथा वहाँ केवल 'प्रजन' इस एक ही साधनका निर्देश किया जाता।

सत्यान्न प्रमदितव्यं प्रमादो न कर्तव्यः। सत्याच्च प्रमदनमनृतप्रसङ्गः, प्रमादशब्दसामर्थ्यात्। विस्मृत्याप्यनृतं न वक्तव्यमित्यर्थः। अन्यथासत्यवदनप्रतिषेध एव स्यात्। धर्मान्न

सत्यसे प्रमाद नहीं करना चाहिये। सत्यसे प्रमादका अभिप्राय है असत्यका प्रसङ्ग, यह प्रमादशब्दके सामर्थ्यसे बोधित होता है। तात्पर्य यह है कि कभी भूलकर भी असत्य-भाषण नहीं करना चाहिये; यदि ऐसा तात्पर्य न होता तो, यहाँ केवल असत्यभाषणका निषेध ही किया जाता। धर्मसे प्रमाद नहीं

प्रमदितव्यम्। धर्मशब्दस्यानुष्ठेयविषयत्वादननुष्ठानं प्रमदः स न कर्तव्यः। अनुष्ठातव्य एव धर्म इति यावत्। एवं कुशलादात्मरक्षार्थात्कर्मणो न प्रमदितव्यम्। भूतिर्विभूतिस्तस्यै भूत्यै भूत्यर्थान्मङ्गलयुक्तात्कर्मणो न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां न प्रमदितव्यम्। स्वाध्यायोऽध्ययनं प्रवचनमध्यापनं ताभ्यां न प्रमदितव्यम्। ते हि नियमेन कर्तव्ये इत्यर्थः॥ १॥ तथा देवपितृकार्याभ्यां न प्रमदितव्यम्। दैवपित्र्ये कर्मणी कर्तव्ये।

करना चाहिये। 'धर्म' शब्द अनुष्ठेय कर्मविशेषका वाचक होनेसे उसका अनुष्ठान न करना ही प्रमाद है; सो नहीं करना चाहिये। अर्थात् धर्मका अनुष्ठान करना ही चाहिये। इसी प्रकार कुशल—आत्मरक्षामें उपयोगी कर्मोंसे प्रमाद न करे। 'भूति' वैभवको कहते हैं, उस वैभवके लिये होनेवाले मङ्गलयुक्त कर्मोंसे प्रमाद न करे। स्वाध्याय और प्रवचनसे प्रमाद न करे। स्वाध्याय अध्ययन है और प्रवचन अध्यापन, उन दोनोंसे प्रमाद न करे अर्थात् उनका नियमसे आचरण करता रहे॥ १॥ इसी प्रकार देवकार्य और पितृकार्योंसे भी प्रमाद न करे, अर्थात् देवता और पितृसम्बन्धी कर्म अवश्य करने चाहिये।

मातृदेवो माता देवो यस्य स त्वं मातृदेवो भव स्याः। एवं पितृदेव आचार्यदेवो भव। देवतावदुपास्या एत इत्यर्थः। यान्यपि चान्यान्यनवद्यान्यनिन्दितानि शिष्टाचारलक्षणानि कर्माणि तानि सेवितव्यानि कर्तव्यानि त्वया। नो न कर्त-

मातृदेव—माता है देव जिसका वह तू मातृदेव हो। इसी प्रकार पितृदेव हो, आचार्यदेव हो, [अतिथिदेव हो] [इनका अर्थ समझना चाहिये]। तात्पर्य यह है कि ये सब देवताके समान उपासना करनेयोग्य हैं। इसके सिवा और भी जो अनवद्य—अनिन्द्य यानी शिष्टाचाररूप कर्म हैं तेरे लिये वे ही सेवनीय यानी कर्तव्य हैं। अन्य

व्यानीतराणि सावद्यानि शिष्टकृतान्यपि । यान्यस्माकमाचार्याणां सुचरितानि शोभनचरितान्याम्नायाद्यविरुद्धानि तान्येव त्वयोपास्यान्यदृष्टार्थान्यनुष्ठेयानि, नियमेन कर्तव्यानीति यावत् ॥ २ ॥ नो इतराणि विपरीतान्याचार्यकृतान्यपि ।

निन्दायुक्त कर्म—भले ही वे शिष्ट पुरुषोंके किये हुए हों—तुझे नहीं करने चाहिये । हम आचार्यलोगोंके भी जो सुचरित—शुभ चरित अर्थात् शास्त्रसे अविरुद्ध कर्म हैं उन्हींकी तुझे उपासना करनी चाहिये; अदृष्ट फलके लिये उन्हींका अनुष्ठान करना चाहिये अर्थात् तेरे लिये वे ही नियमसे कर्तव्य हैं ॥ २ ॥—दूसरे नहीं, अर्थात् उनसे विपरीत कर्म आचार्यके किये हुए भी कर्तव्य नहीं हैं ।

ये के च विशेषिता आचार्यत्वादिधर्मैरस्मदस्मत्तः श्रेयांसः प्रशस्यतरास्ते च ब्राह्मणा न क्षत्रियादयस्तेषामासनेनासनदानादिना त्वया प्रश्वसितव्यम् । प्रश्वसनं प्रश्वासः श्रमापनयः । तेषां श्रमस्त्वयापनेतव्य इत्यर्थः । तेषां चासने गोष्ठीनिमित्ते समुदिते तेषु न प्रश्वसितव्यं प्रश्वासोऽपि न कर्तव्यः केवलं तदुक्तसारग्राहिणा भवितव्यम् ।

जो कोई भी आचार्यत्व आदि धर्मोंके कारण विशिष्ट हैं, अर्थात् हमसे श्रेष्ठ बड़े हैं तथा वे ब्राह्मण भी हैं—क्षत्रिय आदि नहीं हैं, उनका आसनादिके द्वारा अर्थात् उन्हें आसनादि देकर तुझे प्रश्वास—प्रश्वासका अर्थ है आश्वासन यानी श्रमापहरण करना चाहिये । तात्पर्य यह है कि तुझे उनका श्रम निवृत्त करना चाहिये । तथा किसी गोष्ठी (सभा) के लिये उन्हें उच्चासन प्राप्त होनेपर तुझे प्रश्वास—दीर्घनिःश्वास भी नहीं छोड़ना चाहिये; तुझे केवल उनके कथनका सार ग्रहण करनेवाला होना चाहिये ।

किं च यत्किंचिद्देयं तच्छ्रद्धयैव दातव्यम्। अश्रद्धया अदेयं न दातव्यम्। श्रिया विभूत्या देयं दातव्यम्। ह्रिया लज्जया च देयम्। भिया भीत्या च देयम्। संविदा च मैत्र्यादिकार्येण देयम्।

अथैवं वर्तमानस्य यदि कदाचित्ते तव श्रौते स्मार्ते वा कर्मणि वृत्ते वाचारलक्षणे विचिकित्सा संशयः स्यात् ॥३॥ ये तत्र तस्मिन् देशे काले वा ब्राह्मणास्तत्र कर्मादौ युक्ता इति व्यवहितेन संबन्धः कर्तव्यः। संमर्शिनो विचारक्षमाः। युक्ता अभियुक्ताः कर्मणि वृत्ते वा। आयुक्ता अपरप्रयुक्ताः। अलूक्षा अरूक्षा अक्रूरमतयः। धर्मकामा अदृष्टार्थिनोऽकामहता इत्येतत्, स्युर्भवेयुः। ते यथा येन प्रकारेण ब्राह्मणास्तत्र तस्मिन्क-

इसके सिवा तुझे जो कुछ दान करना हो वह श्रद्धासे ही देना चाहिये, अश्रद्धासे नहीं। श्री अर्थात् विभूतिके अनुसार देना चाहिये, ह्री—लज्जापूर्वक देना चाहिये, भी—भय मानते हुए देना चाहिये तथा संविद् यानी मैत्री आदि कार्यके निमित्तसे देना चाहिये।

फिर इस प्रकार बर्तते हुए तुझे यदि किसी समय किसी श्रौत या स्मार्त कर्म अथवा आचरणरूप वृत्त (व्यवहार) में संशय उपस्थित हो ॥ ३ ॥ तो वहाँ उस देश या कालमें जो ब्राह्मण नियुक्त हों—इस प्रकार 'तत्र' इस पदका 'युक्ता' इस व्यवधानयुक्त पदसे सम्बन्ध करना चाहिये—[और जो] संमर्शी—विचारक्षम, युक्त—कर्म अथवा आचरणमें पूर्णतया तत्पर, आयुक्त—किसी दूसरेसे प्रयुक्त न होनेवाले [अर्थात् स्वेच्छासे प्रवृत्त], अलूक्ष—अरूक्ष अर्थात् अक्रूरमति (सरलचित्त) और धर्मकामी—अदृष्टफलकी इच्छावाले अर्थात् कामनावश विवेकशून्य न हों, वे ब्राह्मण उस कर्म या आचरणमें जिस

मणि वृत्ते वा वर्तेरंस्तथा त्वमपि वर्तेथाः । अथाभ्याख्यातेषु, अभ्याख्याता अभ्युक्ता दोषेण संदिह्यमानेन संयोजिताः केन चित्तेषु च यथोक्तं सर्वमुपनयेद्ये तत्रेत्यादि ।

प्रकार बर्ताव करें उसी प्रकार तुझे भी बर्ताव करना चाहिये । इसी प्रकार अभ्याख्यातोंके प्रति—अभ्याख्यात—अभ्युक्त अर्थात् जिनपर कोई संशययुक्त दोष आरोपित किया गया हो उनके प्रति जैसा पहले 'ये तत्र' इत्यादिसे कहा गया है उसी सब व्यवहारका प्रयोग करना चाहिये ।

एष आदेशो विधिः । एष उपदेशः पुत्रादिभ्यः पित्रादीनाम् । एषा वेदोपनिषद्वेदरहस्यं वेदार्थ इत्येतत् । एतदेवानुशासनमीश्वरवचनम् । आदेशवाक्यस्य विधेरुक्तत्वात्सर्वेषां वा प्रमाणभूतानामशासनमेतत् । यस्मादेवं तस्मादेवं यथोक्तं सर्वमुपासितव्यं कर्तव्यम् । एवमु चैतदुपास्यमुपास्यमेव चैतन्नानुपास्यमित्यादरार्थं पुनर्वचनम् ॥४॥

यह आदेश अर्थात् विधि है, यह पुत्रादिको पिता आदिका उपदेश है यह वेदोपनिषद्—वेदका रहस्य यानी वेदार्थ है । यही अनुशासन यानी ईश्वरका वाक्य है । अथवा आदेशवाक्य विधि है—ऐसा पहले कहा जा चुका है, इसलिये यह सभी प्रमाणभूत [उपदेशकों] का अनुशासन है । क्योंकि ऐसा है इसलिये पहले जो कुछ कहा गया है वह सब इसी प्रकार उपासनीय—करने योग्य है । इस प्रकार ही इसकी उपासना करनी चाहिये—यह उपासनीय ही है, अनुपास्य नहीं है—इस प्रकार यह पुनरुक्ति उपासनाके आदरके लिये है ॥ ४ ॥

मोक्ष-साधनकी मीमांसा

मोक्षकारण-मीमांसायां चत्वारो विकल्पाः

अत्रैतच्चिन्त्यते विद्याकर्मणोर्विवेकार्थं किं कर्मभ्य एव केवलेभ्यः परं श्रेय उत विद्यासव्यपेक्षेभ्य आहोस्विद्विद्याकर्मभ्यां संहताभ्यां विद्याया वा कर्मापेक्षाया उत केवलाया एव विद्याया इति ?

अब विद्या और कर्मका विवेक [अर्थात् इन दोनोंका फल भिन्न-भिन्न है—इसका निश्चय] करनेके लिये यह विचार किया जाता है कि क्या परम श्रेयकी प्राप्ति (१) केवल कर्मसे होती है, (२) अथवा विद्याकी अपेक्षायुक्त कर्मसे, (३) किंवा परस्पर मिले हुए विद्या और कर्म दोनोंसे, (४) अथवा कर्मकी अपेक्षा रखनेवाली विद्यासे, (५) या केवल विद्यासे ही ?

कर्मणां मोक्षसाधनत्वनिरासः

तत्र केवलेभ्य एव कर्मभ्यः स्यात् । समस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारात् । "वेदः कृत्स्नोऽधिगन्तव्यः सरहस्यो द्विजन्मना" इति स्मरणात् । अधिगमश्च सहोपनिषदर्थेनात्मज्ञानादिना । "विद्वान्यजते" "विद्वान्याजयति" इति च विदुष एव कर्मण्यधिकारः प्रदर्श्यते सर्वत्र "ज्ञात्वा चानुष्ठानं" इति च ।

उनमें [पहला पक्ष यह है कि] केवल कर्मोंसे ही परम श्रेयकी प्राप्ति हो सकती है; क्योंकि "द्विजातिको रहस्यके सहित सम्पूर्ण वेदका ज्ञान प्राप्त करना चाहिये" ऐसी स्मृति होनेसे सम्पूर्ण वेदका ज्ञान रखनेवालेको ही कर्मका अधिकार है और वेदका ज्ञान उपनिषद्के अर्थभूत आत्मज्ञानादिके सहित ही हो सकता है । "विद्वान् यज्ञ करता है" "विद्वान् यज्ञ कराता है" इत्यादि वाक्योंसे सर्वत्र विद्वान्का ही कर्ममें अधिकार दिखलाया गया है; तथा "जानकर कर्मानुष्ठान करे" ऐसा भी कहा है । कोई-कोई

कृत्स्नश्च वेदः कर्मार्थ इति हि मन्यन्ते केचित् । कर्मभ्यश्चेत्परं श्रेयो नावाप्यते वेदोऽनर्थकः स्यात् ।

न; नित्यत्वान्मोक्षस्य, नित्यो हि मोक्ष इष्यते । कर्मकार्यस्यानित्यत्वं प्रसिद्धं लोके । कर्मभ्यश्चेच्छ्रेयो नित्यं स्यात्तच्चानिष्टम् । "तद्यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते" (छा० उ० ८ । १ । ६) इति न्यायानुगृहीतश्रुतिविरोधात् ।

काम्यप्रतिषिद्धयोरनारम्भादारब्धस्य च कर्मण उपभोगेन क्षयान्नित्यानुष्ठानाच्च तत्प्रत्यवायानुत्पत्तेर्ज्ञाननिरपेक्ष एव मोक्ष इति चेत् ?

तच्च न; शेषकर्मसंभवात्तन्निमित्तशरीरान्तरोत्पत्तिः प्राप्नो-

ऐसा भी मानते हैं कि सम्पूर्ण वेद कर्मके ही लिये हैं; और यदि कर्मोंमे ही परम श्रेयकी प्राप्ति न हुई तो वेद भी व्यर्थ ही हो जायगा ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि मोक्ष नित्य है—मोक्ष नित्य ही माना गया है । और जो वस्तु कर्मका कार्य है उसकी अनित्यता लोकमें प्रसिद्ध है । यदि नित्य श्रेय कर्मोंसे होता है ऐसा मानें तो इष्ट नहीं है; क्योंकि इसका "जिस प्रकार यह कर्मोपार्जित लोक क्षीण होता है [उसी प्रकार पुण्यार्जित परलोक भी क्षीण हो जाता है]" इस न्याययुक्त श्रुतिसे विरोध है ।

पूर्व०—काम्य और प्रतिषिद्ध कर्मोंका आरम्भ न करनेसे, प्रारब्ध कर्मोंका भोगसे ही क्षय हो जानेसे तथा नित्य कर्मोंके अनुष्ठानके कारण प्रत्यवायकी उत्पत्ति न होनेसे मोक्ष ज्ञानकी अपेक्षासे रहित ही है—यदि ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—ऐसी बात भी नहीं है; शेष (सञ्चित) कर्मोंके रह जानेसे उनके कारण अन्य शरीरकी उत्पत्ति सिद्ध होती है—इस प्रकार

तीति प्रत्युक्तम् । कर्मशेषस्य च नित्यानुष्ठानेनाविरोधात्क्षयानुपपत्तिरिति च ।

यदुक्तं समस्तवेदार्थज्ञानवतः कर्माधिकारादित्यादि, तच्च न, श्रुतज्ञानव्यतिरेकादुपासनस्य । श्रुतज्ञानमात्रेण हि कर्मण्यधिक्रियते नोपासनामपेक्षते । उपासनं च श्रुतज्ञानादर्थान्तरं विधीयते । मोक्षफलमर्थान्तरप्रसिद्धं च स्यात् । 'श्रोतव्यः' इत्युक्त्वा तद्व्यतिरेकेण 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः' इति यत्नान्तरविधानात् । मनननिदिध्यासनयोश्च प्रसिद्धं श्रवणज्ञानादर्थान्तरत्वम् ।

हम इसका पहले ही खण्डन कर चुके हैं; तथा नित्यकर्मोंके अनुष्ठानसे सञ्चित कर्मोंका विरोध न होनेके कारण उनका क्षय होना सम्भव नहीं है ।

और यह जो कहा कि समस्त वेदके अर्थको जाननेवालेको ही कर्मका अधिकार होनेके कारण [केवल कर्मसे ही निःश्रेयसकी प्राप्ति हो सकती है] सो भी ठीक नहीं; क्योंकि उपासना श्रुतज्ञान (गुरुकुलमें किये हुए वाक्यविचार) से भिन्न ही है । मनुष्य श्रुतज्ञानमात्रसे ही कर्मका अधिकारी हो जाता है, इसके लिये वह उपासनाकी अपेक्षा नहीं रखता । उपासना तो श्रुतज्ञानसे भिन्न वस्तु ही बतलायी गयी है । यह उपासना मोक्षरूप फलवाली और अर्थान्तररूपसे प्रसिद्ध है; क्योंकि 'श्रोतव्यः' ऐसा कहकर [मनन और निदिध्यासनके लिये] 'मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः'—इस प्रकार पृथक् यत्नान्तरका विधान किया है । लोकमें भी श्रवणज्ञानसे मनन और निदिध्यासनका अर्थान्तरत्व प्रसिद्ध ही है ।

ज्ञानकर्मसमुच्चयस्य मोक्षसाधनत्वनिरासः

एवं तर्हि विद्यासव्यपेक्षेभ्यः कर्मभ्यः स्यान्मोक्षः विद्यासहितानां च कर्मणां भवेत्कार्या-

पूर्व०—इस प्रकार तब तो विद्याकी अपेक्षासे युक्त कर्मोंद्वारा ही मोक्ष हो सकता है । जो कर्म ज्ञानके सहित होते हैं उनमें कार्यान्तरके

न्तरारम्भसामर्थ्यम्। यथा स्वतो मरणज्वरादिकार्यारम्भसमर्थानामपि विषदध्यादीनां मन्त्रशर्करादिसंयुक्तानां कार्यान्तरारम्भसामर्थ्यम्, एवं विद्यासहितैः कर्मभिर्मोक्ष आरभ्यत इति चेत्?

आरम्भका सामर्थ्य हो सकता है, जिस प्रकार कि स्वयं मरण और ज्वरादि कार्योंके आरम्भमें समर्थ होनेपर भी विष एवं दधि आदिमें मन्त्र और शर्करादिसे युक्त होनेपर कार्यान्तरके आरम्भका सामर्थ्य हो जाता है, इसी प्रकार विद्यासहित कर्मोंसे मोक्षका आरम्भ हो सकता है—यदि ऐसा मानें तो?

न; आरभ्यस्यानित्यत्वादित्युक्तो दोषः।

सिद्धान्ती—नहीं, जो वस्तु आरम्भ होनेवाली होती है वह अनित्य हुआ करती है—इस प्रकार इस पक्षका दोष बतलाया जा चुका है।

वचनादारभ्योऽपि नित्य एवेति चेत्?

पूर्व०—किन्तु ['न स पुनरावर्तते' इत्यादि] वचनसे तो आरम्भ होनेवाला मोक्ष भी नित्य ही होता है?

न; ज्ञापकत्वाद्वचनस्य। वचनं नाम यथाभूतस्यार्थस्य ज्ञापकं नाविद्यमानस्य कर्तृ। न हि वचनशतेनापि नित्यमारभ्यत आरब्धं वाविनाशि भवेत्। एतेन विद्याकर्मणोः संहतयोर्मोक्षारम्भकत्वं प्रत्युक्तम्।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वचन तो केवल ज्ञापक है; यथार्थ अर्थको बतलानेवालेका ही नाम 'वचन' है। वह किसी अविद्यमान पदार्थको उत्पन्न करनेवाला नहीं होता। सैकड़ों वचन होनेपर भी नित्य वस्तुका आरम्भ नहीं किया जा सकता और न आरम्भ होनेवाली वस्तु अविनाशी ही हो सकती है। इससे समुच्चित विद्या और कर्मके मोक्षारम्भकत्वका प्रतिषेध कर दिया गया।

विद्याकर्मणी मोक्षप्रतिबन्धहेतुनिवर्तके इति चेत्—न, कर्मणः फलान्तरदर्शनात् । उत्पत्तिसंस्कारविकाराप्तयो हि फलं कर्मणो दृश्यते । उत्पत्त्यादिफलविपरीतश्च मोक्षः ।

विद्या और कर्म—ये दोनों मोक्षके प्रतिबन्धके हेतुओंको निवृत्त करनेवाले हैं [मोक्षके स्वरूपको उत्पन्न करनेवाले नहीं हैं; अतः जिस प्रकार प्रध्वंसाभाव कृतक होनेपर भी नित्य है उसी प्रकार उन प्रतिबन्धोंकी निवृत्ति भी नित्य ही होगी] —यदि ऐसा कहो तो यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि कर्मोंका तो अन्य ही फल देखा गया है । उत्पत्ति, संस्कार, विकार और आप्ति—ये कर्मके फल देखे गये हैं । किन्तु मोक्ष उत्पत्ति आदि फलसे विपरीत है ।

गतिश्रुतेराप्य इति चेत् । "सूर्यद्वारेण", "तयोर्ध्वमायन्" (क० उ० २ । ३ । १६)इत्येवमादिगतिश्रुतिभ्यः प्राप्यो मोक्ष इति चेत् ।

पूर्व०—गतिप्रतिपादिका श्रुतियोंसे तो मोक्ष आप्य सिद्ध होता है तथा "सूर्यद्वारसे", "उस सुषुम्ना नाडीद्वारा ऊर्ध्वलोकोंको जानेवाला" आदि गतिप्रतिपादिका श्रुतियोंसे जाना जाता है कि मोक्ष प्राप्य है ।

न; सर्वगतत्वाद्गन्तृभिश्चानन्यत्वादाकाशादिकारणत्वात्सर्वगतं ब्रह्म । ब्रह्माव्यतिरिक्ताश्च सर्वे विज्ञानात्मानः । अतो नाप्यो मोक्षः । गन्तुरन्यद्विभिन्नं देशं प्रति भवति गन्तव्यम् । न हि येनैवाव्यतिरिक्तं यत्तत्तेनैव

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ब्रह्म सर्वगत, गमन करनेवालोंसे अभिन्न और आकाशादिका भी कारण होनेसे सर्वगत है तथा सम्पूर्ण विज्ञानात्मा ब्रह्मसे अभिन्न हैं; इसलिये मोक्ष आप्य नहीं है । गमन करनेवालेसे पृथक् अन्य देशमें ही गमन करने योग्य हुआ करता है । जो जिससे अभिन्न होता

गम्यते । तदनन्यत्वप्रसिद्धेश्च "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० उ० २ । ६ । १) "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि" (गीता १३ । २) इत्येवमादिश्रुतिस्मृतिशतेभ्यः ।

है उसीसे वह गन्तव्य नहीं होता । और उसकी अनन्यता तो "उसे रचकर वह उसीमें प्रविष्ट हो गया" "सम्पूर्ण क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ भी तू मुझको ही जान" इत्यादि सैकड़ों श्रुति-स्मृतियोंसे सिद्ध होती है ।

गत्यैश्वर्यादिश्रुतिविरोध इति चेत् । अथापि स्याद्यप्राप्यो मोक्षस्तदा गतिश्रुतीनां "स एकधा" (छा० उ० ७ । २६ । २) "स यदि पितृलोककामो भवति" (छा० उ० ८ । २ । १) "स्त्रीभिर्वा यानैर्वा" (छा० उ० ८ । १२ । ३) इत्यादिश्रुतीनां च कोपः स्यादिति चेत् ।

पूर्व०—[ऐसा माननेसे तो] गति और ऐश्वर्यका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध होगा—अच्छा, यदि मोक्ष अप्राप्य ही हो तो भी गतिश्रुति तथा "वह एकरूप होता है" "वह यदि पितृलोककी इच्छावाला होता है" "वह स्त्री और यानोंके साथ रमण करता है" इत्यादि श्रुतियोंका व्याकोप (बाध) हो जायगा ।

न; कार्यब्रह्मविषयत्वात्तासाम् । कार्ये हि ब्रह्मणि स्त्र्यादयः स्युर्न कारणे । "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "यत्र नान्यत्पश्यति" (छा० उ० ७ । २४ । १) "तत्केन कं पश्येत्" (बृ० उ० २ । ४ । १४; ४ । ५ । १५) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वे तो कार्य ब्रह्मसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं । स्त्री आदि तो कार्य ब्रह्ममें ही हो सकती हैं, कारण ब्रह्ममें नहीं; जैसा कि "एक ही अद्वितीय ब्रह्म", "जहाँ कोई और नहीं देखता", "तब किसके द्वारा किसे देखे" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

विरोधाच्च विद्याकर्मणोः समुच्चयानुपपत्तिः। प्रविलीनकर्त्रादिकारकविशेषतत्त्वविषया हि विद्या तद्विपरीतकारकसाध्येन कर्मणा विरुध्यते न ह्येकं वस्तु परमार्थतः कर्त्रादिविशेषवत्तच्छून्यं चेत्युभयथा द्रष्टुं शक्यते। अवश्यं ह्यन्तरन्मिथ्या स्यात्। अन्यतरस्य च मिथ्यात्वप्रसङ्गे युक्तं यत्स्वाभाविकाज्ञानविषयस्य द्वैतस्य मिथ्यात्वम्। "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० उ० २। ४। १४) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" (क० उ० २। १। १०, बृ० उ० ४। ४। १९) "अथ यत्रान्यत्पश्यति······ तदल्पम्"(छा० उ० ७। २४। १) "अन्योऽसावन्योऽहमस्मि" (बृ० उ० १। ४। १०) "उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति" (तै० उ० २। ७। १) इत्यादिश्रुतिशतेभ्यः।

इसके सिवा विद्या और कर्मका विरोध होनेके कारण भी उनका समुच्चय नहीं हो सकता। जिसमें कर्ता-करण आदि कारकविशेषोंका पूर्णतया लय होता है उस तत्त्वको (ब्रह्मको) विषय करनेवाली विद्या अपनेसे विपरीत साधनसाध्य कर्मसे विरुद्ध है। एक ही वस्तु परमार्थतः कर्ता आदि विशेषसे युक्त और उससे रहित—दोनों ही प्रकारसे नहीं देखी जा सकती। उनमेंसे एक पक्ष अवश्य मिथ्या होना चाहिये। इस प्रकार किसी एकके मिथ्यात्वका प्रसङ्ग उपस्थित होनेपर जो स्वभावसे ही अज्ञानका विषय है उस द्वैतका ही मिथ्या होना उचित है, जैसा कि "जहाँ द्वैतके समान होता है", "वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है", "जहाँ अन्य देखता है वह अल्प है", "यह अन्य है मैं अन्य हूँ", "जो थोड़ा-सा भी अन्तर करता है उसे भय प्राप्त होता है" इत्यादि सैकड़ों श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है।

सत्यत्वं चैकत्वस्य "एकधै-वानुद्रष्टव्यम्" (बृ० उ० ४ । ४ । २०) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "ब्रह्मै-वेदꣳसर्वम्" (मु० उ० २ । २ ११) "आत्मैवेदꣳसर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) इत्यादिश्रुतिभ्यः । न च संप्रदा-नादिकारकभेदादर्शने कर्मोप-पद्यते । अन्यत्वदर्शनापवादश्च विद्याविषये सहस्रशः श्रूयते । अतो विरोधो विद्याकर्मणोः । अतश्च समुच्चयानुपपत्तिः । तत्र यदुक्तं संहताभ्यां विद्याकर्मभ्यां मोक्ष इति, अनुपपन्नं तत् ।

तथा "एक रूपसे ही देखना चाहिये" "एक ही अद्वितीय", "यह सब ब्रह्म ही है", "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे एकत्वकी सत्यता सिद्ध होती है । सम्प्रदान आदि कारकभेदके दिखायी न देने-पर कर्म होना सम्भव भी नहीं है । ज्ञानके प्रसंगमें भेददृष्टिके अपवाद तो सहस्रों सुननेमें आते हैं । अतः विद्या और कर्मका विरोध है; इस-लिये भी उनका समुच्चय होना असम्भव है । ऐसी दशामें पूर्वमें तुमने जो कहा था कि 'परस्पर मिले हुए विद्या और कर्म दोनोंसे मोक्ष होता है' वह सिद्ध नहीं होता ।

विहितत्वात्कर्मणां श्रुतिवि-रोध इति चेत् । यद्युपमृद्य कर्त्रा-दिकारकविशेषमात्मैकत्वविज्ञानं विधीयते सर्पादिभ्रान्तिविज्ञानो-पमर्दकरज्ज्वादिविषयविज्ञानव-त्प्राप्तः कर्मविधिश्रुतीनां निर्विष-

पूर्व०—कर्म भी श्रुतिविहित हैं, अतः ऐसा माननेपर श्रुतिसे विरोध उपस्थित होता है । यदि सर्पादि भ्रान्तिजनित ज्ञानका बाध करनेवाले रज्जु आदि विषयक ज्ञानके समान कर्ता आदि कारकविशेषका बाध करके ही आत्मैकत्वके ज्ञानका विधान किया जाता है तो कोई विषय न रहनेके कारण कर्मका विधान करनेवाली श्रुतियोंका उन

परत्वाद्विरोधः । विहितानि च कर्माणि । स च विरोधो न युक्तः प्रमाणत्वाच्छ्रुतीनामिति चेत् ?

(विद्याका विधान करनेवाली श्रुतियों) से विरोध उपस्थित होता है; और कर्मोंका विधान भी किया ही गया है तथा सभी श्रुतियाँ प्रमाणभूत हैं इसलिये पूर्वोक्त विरोधका होना उचित नहीं है—यदि ऐसा कहें तो ?

न; पुरुषार्थोपदेशपरत्वाच्छ्रुतीनाम् । विद्योपदेशपरा तावच्छ्रुतिः संसारात्पुरुषो मोक्षयितव्य इति संसारहेतोरविद्याया विद्यया निवृत्तिः कर्तव्येति विद्याप्रकाशकत्वेन प्रवृत्तेति न विरोधः ।

सिद्धान्ती—यह कथन ठीक नहीं; क्योंकि श्रुतियाँ परम पुरुषार्थका उपदेश करनेमें प्रवृत्त हैं । श्रुति ज्ञानका उपदेश करनेमें तत्पर है । उसे संसारसे पुरुषका मोक्ष कराना है, इसके लिये संसारकी हेतुभूत अविद्याकी विद्याके द्वारा निवृत्ति करना आवश्यक है; अतः वह विद्याका प्रकाश करनेवाली होकर प्रवृत्त हुई है । इसलिये ऐसा माननेसे कोई विरोध नहीं आता ।

एवमपि कर्त्रादिकारकसद्भावप्रतिपादनपरं शास्त्रं विरुध्यत एवेति चेत् ?

पूर्व०—किन्तु ऐसा माननेपर भी तो कर्तादि कारककी सत्ताका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रका तो उससे विरोध होता ही है ?

न; यथाप्राप्तमेव कारकास्तित्वमुपादायोपात्तदुरितक्षयार्थं कर्माणि विदधच्छास्त्रं मुमुक्षूणां

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; स्वभावतः प्राप्त कारकोंके अस्तित्वको स्वीकार कर सञ्चित पापोंके क्षयके लिये कर्मोंका विधान करनेवाला शास्त्र मुमुक्षुओं और फलकी

फलार्थिनां च फलसाधनं न कारकास्तित्वे व्याप्रियते । उपचितदुरितप्रतिबन्धस्य हि विद्योत्पत्तिर्नावकल्पते । तत्क्षये च विद्योत्पत्तिः स्यात्ततश्चाविद्यानिवृत्तिस्तत आत्यन्तिकः संसारोपरमः ।

इच्छावालोंकी [उनके इष्ट] फलकी प्राप्ति करानेका साधन है; वह कारकोंका अस्तित्व सिद्ध करनेमें प्रवृत्त नहीं है । जिस पुरुषका सञ्चित पापरूप प्रतिबन्ध विद्यमान रहता है उसे ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; उसका क्षय हो जानेपर ही ज्ञान होता है और तभी अविद्याकी निवृत्ति होती है तथा उसके अनन्तर ही संसारकी आत्यन्तिक उपरति होती है ।

अपि चानात्मदर्शिनो ह्यना- ज्ञानादेव तु त्मविषयः कामः । कैवल्यम् कामयमानश्च करोति कर्माणि । ततस्तत्फलोपभोगाय शरीराद्युपादानलक्षणः संसारः । तद्व्यतिरेकेणात्मैकत्वदर्शिनो विषयाभावात्कामानुत्पत्तिरात्मनि चानन्यत्वात्कामानुत्पत्तौ स्वात्मन्यवस्थानं मोक्ष इत्यतोऽपि विद्याकर्मणोर्विरोधः ।

इसके सिवा जो पुरुष अनात्मदर्शी है उसे ही अनात्मवस्तु-सम्बन्धिनी कामना हो सकती है; कामनावाला ही कर्म करता है और उसीसे उनका फल भोगनेके लिये उसे शरीरादिग्रहणरूप संसारकी प्राप्ति होती है । इसके विपरीत जो आत्मैकत्वदर्शी है उसकी दृष्टिमें विषयोंका अभाव होनेके कारण उसे उनकी कामना भी नहीं हो सकती । आत्मा तो अपनेसे अभिन्न है, इसलिये उसकी कामना भी असम्भव होनेके कारण उसे स्वात्मस्वरूपमें स्थित होनारूप मोक्ष सिद्ध ही है । इसलिये भी ज्ञान और कर्मका विरोध

विरोधादेव च विद्या मोक्षं प्रति न कर्माण्यपेक्षते ।

स्वात्मलाभे तु पूर्वोपचितप्रतिबन्धापनयद्वारेण विद्याहेतुत्वं प्रतिपद्यन्ते कर्माणि नित्यानीति । अत एवास्मिन्प्रकरण उपन्यस्तानि कर्माणीत्यवोचाम । एवं चाविरोधः कर्मविधिश्रुतीनाम् अतः केवलाया एव विद्यायाः परं श्रेय इति सिद्धम् ।

एवं तर्ह्याश्रमान्तरानुपपत्तिः । कर्मनिमित्तत्त्वाद्विद्योत्पत्तेः । गार्हस्थ्ये च विहितानि कर्माणीत्यैकाश्रम्यमेव । अतश्च यावज्जीवादिश्रुतयोऽनुकूलतराः ।

न; कर्मानेकत्वात् । न ह्यग्निहोत्रादीन्येव कर्माणि । ब्रह्मचर्यं तपः सत्यवदनं शमो दमोऽहिंसे-

आवसाधकानि
कर्माणि

है और विरोध होनेके कारण ही ज्ञान मोक्षके प्रति कर्मकी अपेक्षा नहीं रखता ।

हाँ, आत्मलाभमें पूर्वसञ्चित पापरूप प्रतिबन्धकी निवृत्तिद्वारा नित्यकर्म ज्ञानप्राप्तिके हेतु अवश्य होते हैं । इसीलिये इस प्रकरणमें कर्मोंका उल्लेख किया गया है—यह हम पहले ही कह चुके हैं । इस प्रकार भी कर्मका विधान करनेवाली श्रुतियोंका [विद्याविधायिनी श्रुतियोंसे] विरोध नहीं है । अतः यह सिद्ध हुआ कि केवल विद्यासे ही परमश्रेयकी प्राप्ति होती है ।

*पूर्व*०—यदि ऐसी बात है तब तो [गृहस्थाश्रमके सिवा] अन्य आश्रमोंका होना भी उपपन्न नहीं है; क्योंकि विद्याकी उत्पत्ति तो कर्मके निमित्तसे होती है और कर्मोंका विधान केवल गृहस्थके ही लिये किया गया है; अतः इससे एकाश्रमत्वकी ही सिद्धि होती है । और इसलिये 'यावज्जीवन अग्निहोत्र करे' इत्यादि श्रुतियाँ और भी अनुकूल ठहरती हैं ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि कर्म तो अनेक हैं । केवल अग्निहोत्र आदि ही कर्म नहीं हैं । ब्रह्मचर्य, तप, सत्यभाषण, शम, दम और अहिंसा आदि अन्य कर्म

त्येवमादीन्यपि कर्माणीतराश्रमप्रसिद्धानि विद्योत्पत्तौ साधकतमान्यसंकीर्णत्वाद्ध्रियन्ते ध्यानधारणादिलक्षणानि च । वक्ष्यति च—"तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व" (तै० उ० ३ । २—५) इति ।

ज्ञानप्राप्तौ
गार्हस्थ्यस्य
आनर्थक्यम्

जन्मान्तरकृतकर्मभ्यश्च प्रागपि गार्हस्थ्याद्विद्योत्पत्तिसंभवात्कर्मार्थत्वाच्च गार्हस्थ्यप्रतिपत्तेः कर्मसाध्यायां च विद्यायां सत्यां गार्हस्थ्यप्रतिपत्तिरनर्थिकैव ।

लोकार्थत्वाच्च पुत्रादीनाम्; पुत्रादिसाध्येभ्यश्चायं लोकः पितृलोको देवलोक इत्येतेभ्यो व्यावृत्तकामस्य नित्यसिद्धात्मलोकदर्शिनः कर्मणि प्रयोजनमपश्यतः कथं प्रवृत्तिरुपपद्यते । प्रतिपन्नगार्हस्थ्यस्यापि विद्योत्पत्तौ विद्या-

भी इतर आश्रमोंके लिये प्रसिद्ध ही हैं । वे तथा ध्यान-धारणादिरूप कर्म [हिंसा आदि दोषोंसे] असंकीर्ण होनेके कारण ज्ञानकी उत्पत्तिमें सर्वोत्तम साधन हैं । आगे (भृगु० २ । ५ में) यह कहेंगे भी कि "तपके द्वारा ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर" ।

जन्मान्तरमें किये हुए कर्मोंसे तो गृहस्थाश्रम स्वीकार करनेसे पूर्व भी ज्ञानकी उत्पत्ति होना सम्भव है । तथा गृहस्थाश्रमकी स्वीकृति केवल कर्मोंके ही लिये की जाती है । अतः कर्मसाध्य ज्ञानकी प्राप्ति हो जानेपर तो गृहस्थाश्रमकी स्वीकृति भी व्यर्थ ही है ।

इसके सिवा पुत्रादि साधन तो लोकोंकी प्राप्तिके लिये हैं । पुत्रादि साधनोंसे सिद्ध होनेवाले उन इहलोक, पितृलोक एवं देवलोक आदिसे जिसकी कामना निवृत्त हो गयी है, नित्यसिद्ध आत्माका साक्षात्कार करनेवाले एवं कर्मोंमें कोई प्रयोजन न देखनेवाले उस ब्रह्मवेत्ताकी कर्मोंमें कैसे प्रवृत्ति हो सकती है ? जिसने गृहस्थाश्रम स्वीकार कर लिया है उसे भी, जब ज्ञानकी

परिपाकाद्विरक्तस्य कर्मसु प्रयोजनमपश्यतः कर्मभ्यो निवृत्तिरेव स्यात् । "प्रव्रजिष्यन्वा अरेऽहमस्मात्स्थानादस्मि" (बृ० उ० ४ । ५ । २) इत्येवमादिश्रुतिलिङ्गदर्शनात् ।

प्राप्ति होती है और ज्ञानके परिपाकसे विषयोंमें वैराग्य होता है तो कर्मोंमें अपना कोई प्रयोजन न देखकर उनसे निवृत्ति ही होगी। इस विषयमें "अरी मैत्रेयि ! अब मैं इस स्थानसे संन्यास करना चाहता हूँ" इत्यादि श्रुतिरूप लिंग भी देखा जाता है ।

कर्म प्रति श्रुतेर्यत्नाधिक्यदर्शनादयुक्तमिति चेदग्निहोत्रादिकर्म प्रति श्रुतेरधिको यत्नो महांश्च कर्मण्यायासोऽनेकसाधनसाध्यत्वादग्निहोत्रादीनाम् । तपोब्रह्मचर्यादीनां चेतराश्रमकर्मणां गार्हस्थ्येऽपि समानत्वादल्पसाधनापेक्षत्वाच्चेतरेषां न युक्तस्तुल्यवद्विकल्प आश्रमिभिस्तस्येति चेत् ।

पूर्व०—किन्तु कर्मके प्रति श्रुतिका अधिक प्रयत्न देखनेसे तो यह बात ठीक नहीं जान पड़ती ?—अग्निहोत्रादि कर्मके प्रति श्रुतिका विशेष प्रयत्न है; कर्मानुष्ठानमें आयास भी अधिक है; क्योंकि अग्निहोत्रादि कर्म अनेक साधनोंसे सिद्ध होनेवाले हैं । अन्य आश्रमोंके कर्म तप और ब्रह्मचर्यादि तो गृहस्थाश्रममें भी उन्हींके समान कर्तव्य तथा अल्पसाधनकी अपेक्षावाले हैं; अतः अन्य आश्रमियोंके साथ गृहस्थाश्रमको समान-सा मानना तो उचित नहीं है ?

न; जन्मान्तरकृतानुग्रहात् । यदुक्तं कर्मणि श्रुतेरधिको यत्न इत्यादि नासौ दोषः

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उनपर जन्मान्तरका अनुग्रह होता है । तुमने जो कहा कि 'कर्मपर श्रुतिका विशेष प्रयत्न है' इत्यादि, सो यह कोई दोष नहीं है; क्योंकि

यतो जन्मान्तरकृतमप्यग्निहोत्रादिलक्षणं कर्म ब्रह्मचर्यादिलक्षणं चानुग्राहकं भवति विद्योत्पत्तिं प्रति। येन जन्मनैव विरक्ता दृश्यन्ते केचित्। केचित्तु कर्मसु प्रवृत्ता अविरक्ता विद्याविद्वेषिणः। तस्माज्जन्मान्तरकृतसंस्कारेभ्यो विरक्तानामाश्रमान्तरप्रतिपत्तिरेवेष्यते।

जन्मान्तरमें किया हुआ भी अग्निहोत्रादि तथा ब्रह्मचर्यादिरूप कर्म ज्ञानकी उत्पत्तिमें उपयोगी होता है, जिससे कि कोई लोग तो जन्मसे ही विरक्त देखे जाते हैं और कोई कर्ममें तत्पर, वैराग्यशून्य एवं ज्ञानके विरोधी दीख पड़ते हैं। अतः जन्मान्तरके संस्कारोंके कारण जो विरक्त हैं उन्हें तो [गृहस्थाश्रमसे भिन्न] अन्य आश्रमोंको स्वीकार करना ही इष्ट होता है।

कर्मविधौ श्रुतेः प्रयासप्रयोजनम्

कर्मफलबाहुल्याच्च; पुत्रस्वर्गब्रह्मवर्चसादिलक्षणस्य कर्मफलस्यासंख्येयत्वात्, तत्प्रति च पुरुषाणां कामबाहुल्यात्तदर्थः श्रुतेरधिको यत्नः कर्मसूपपद्यते। आशिषां बाहुल्यदर्शनादिदं मे स्यादिदं मे स्यादिति।

कर्मफलोंकी अधिकता होनेके कारण भी [श्रुतिमें उनका विशेष विस्तार है]। पुत्र, स्वर्ग एवं ब्रह्मतेज आदि कर्मफल असंख्येय होनेके कारण और उनके लिये पुरुषोंकी कामनाओंकी अधिकता होनेसे भी कर्मोंके प्रति श्रुतिका अधिक यत्न होना उचित ही है; क्योंकि 'मुझे यह मिले, मुझे यह मिले' इस प्रकार कामनाओंकी बहुलता भी देखी ही जाती है।

उपायत्वाच्च, उपायभूतानि हि कर्माणि विद्यां प्रतीत्यवोचाम। उपायेऽधिको यत्नः कर्तव्यो नोपेये।

उपायरूप होनेके कारण भी [श्रुतिका उनमें विशेष प्रयत्न है]। कर्म ज्ञानोत्पत्तिमें उपायरूप हैं ऐसा हम पहले कह चुके हैं; तथा प्रयत्न उपायमें ही अधिक करना चाहिये, उपेयमें नहीं।

कर्मनिमित्तत्वाद्विद्याया यत्नान्तरानर्थक्यमिति चेत्कर्मभ्य एव पूर्वोपचितदुरितप्रतिबन्धक्षयाद्देव विद्योत्पद्यते चेत्कर्मभ्यः पृथगुपनिषच्छ्रवणादियत्नोऽनर्थक इति चेत् ।

न; नियमाभावात् । न हि प्रतिबन्धक्षयादेव विद्योत्पद्यते न त्वीश्वरप्रसादतपोध्यानाद्यनुष्ठानादिति नियमोऽस्ति । अहिंसाब्रह्मचर्यादीनां च विद्यां प्रत्युपकारकत्वात्साक्षादेव च कारणत्वाच्छ्रवणमनननिदिध्यासनानाम् । अतः सिद्धान्याश्रमान्तराणि सर्वेषां चाधिकारो विद्यायां परं च श्रेयः केवलाया विद्याया एवेति सिद्धम् ।

पूर्व०—ज्ञान कर्मके निमित्तसे होनेवाला है, इसलिये भी अन्य प्रयत्नकी निरर्थकता सिद्ध होती है । यदि कर्मोंके द्वारा ही पूर्वसञ्चित पापरूप प्रतिबन्धका क्षय होनेपर ज्ञानकी उत्पत्ति होती है तो कर्मोंसे भिन्न उपनिषच्छ्रवणादिविषयक प्रयत्न व्यर्थ ही है—ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि ऐसा कोई नियम नहीं है—'ज्ञानकी उत्पत्ति प्रतिबन्धके क्षयसे ही होती है, ईश्वरकृपा, तप एवं ध्यानादिके अनुष्ठानसे नहीं हो सकती,' ऐसा कोई नियम नहीं है; क्योंकि अहिंसा एवं ब्रह्मचर्यादि भी ज्ञानोत्पत्तिमें उपयोगी हैं तथा श्रवण, मनन और निदिध्यासनादि तो उसके साक्षात् कारण ही हैं । अतः अन्य आश्रमोंका होना सिद्ध ही है तथा ज्ञानमें सभी आश्रमियोंका अधिकार है । इससे यह सिद्ध हुआ कि परमश्रेयकी प्राप्ति केवल ज्ञानसे ही हो सकती है ।

इति शीक्षावल्ल्यामेकादशोऽनुवाकः ॥ ११ ॥

द्वादश अनुवाक

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गशमनार्थं शान्तिं पठति—

पूर्वकथित विद्याकी प्राप्तिके प्रतिबन्धोंकी शान्तिके लिये शान्तिपाठ किया जाता है—

शं नो मित्रः शं वरुणः । शं नो भवत्वर्यमा । शं न इन्द्रो बृहस्पतिः । शं नो विष्णुरुरुक्रमः । नमो ब्रह्मणे । नमस्ते वायो । त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि । त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम् । ऋतमवादिषम् । सत्यमवादिषम् । तन्मामावीत् । तद्वक्तारमावीत् । आवीन्माम् । आवीद्वक्तारम् ॥

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!! ॥ १ ॥

मित्र (सूर्यदेव) हमारे लिये सुखकर हो । वरुण हमारे लिये सुखावह हो । अर्यमा हमारे लिये सुखप्रद हो । इन्द्र तथा बृहस्पति हमारे लिये शान्तिदायक हों । तथा जिसका पादविक्षेप बहुत विस्तृत है वह विष्णु हमारे लिये सुखदायक हो । ब्रह्म [रूप वायु] को नमस्कार है । हे वायो ! तुम्हें नमस्कार है । तुम ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हो । तुम्हींको हमने प्रत्यक्ष ब्रह्म कहा है । तुम्हींको ऋत कहा है । तुम्हींको सत्य कहा है । अतः तुमने मेरी रक्षा की है तथा ब्रह्मका निरूपण करनेवाले आचार्यकी भी रक्षा की है । मेरी रक्षा की है और वक्ताकी भी रक्षा की है । त्रिविध तापकी शान्ति हो ॥ १ ॥

व्याख्यातमेतत्पूर्वम् ॥ १ ॥

इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥ १ ॥

इति शीक्षावल्ल्यां द्वादशोऽनुवाकः ॥ १२ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-
श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये
शीक्षावल्ली समाप्ता ॥

ब्रह्मानन्दवल्ली

प्रथम अनुवाक

ब्रह्मानन्दवल्लीका शान्तिपाठ

अतीतविद्याप्राप्त्युपसर्गप्रशमनार्था शान्तिः पठिता । इदानीं तु वक्ष्यमाणब्रह्मविद्याप्राप्त्युपसर्गोपशमनार्था शान्तिः पठ्यते—

पूर्वकथित विद्याकी प्राप्तिके प्रतिबन्धोंकी शान्तिके लिये शान्तिपाठ कर दिया गया । अब आगे कही जानेवाली विद्याकी प्राप्तिके प्रतिबन्धोंकी शान्तिके लिये शान्तिपाठ किया जाता है—

ॐ सह नाववतु । सह नौ भुनक्तु । सह वीर्यं करवावहै । तेजस्वि नावधीतमस्तु मा विद्विषावहै ।

ॐ शान्तिः ! शान्तिः !! शान्तिः !!!

[वह परमात्मा] हम [आचार्य और शिष्य] दोनोंकी साथ-साथ रक्षा करे, हम दोनोंका साथ-साथ पालन करे, हम साथ-साथ वीर्यलाभ करें, हमारा अध्ययन किया हुआ तेजस्वी हो और हम परस्पर द्वेष न करें । तीनों प्रकारके प्रतिबन्धोंकी शान्ति हो ।

सह नाववतु—नौ शिष्याचार्यौ सहैवावतु रक्षतु । सह नौ भुनक्तु भोजयतु । सह वीर्यं विद्यादिनिमित्तं सामर्थ्यं करवावहै निर्वर्तयावहै । तेजस्विनावावयोस्तेजस्विनोरधीतं स्वधीतमस्तु, अर्थज्ञानयोग्यमस्त्वित्यर्थः । मा विद्विषावहै; विद्याग्रहणनिमित्तं शिष्यस्याचार्यस्य वा प्रमादकृतादन्यायाद्विद्वेषः प्राप्तस्तच्छमनाय इयमाशीर्मा विद्विषावहा इति । मैवेतरेतरं विद्वेषमापद्यावहै ।

शान्तिः शान्तिः शान्तिरिति त्रिर्वचनमुक्तार्थम् । वक्ष्यमाणविद्याविघ्नप्रशमनार्था चेयं शान्तिः । अविघ्नेनात्मविद्याप्राप्तिराशास्यते तन्मूलं हि परं श्रेय इति ।

'सह नाववतु'—[वह ब्रह्म] हम आचार्य और शिष्य दोनोंकी साथ-साथ ही रक्षा करे और हमारा साथ-साथ भरण अर्थात् पालन करे । हम साथ-साथ वीर्य यानी विद्याजनित सामर्थ्य सम्पादन करें; हम दोनों तेजस्वियोंका अध्ययन किया हुआ तेजस्वी—सम्यक् प्रकारसे अध्ययन किया हुआ अर्थात् अर्थ-ज्ञानके योग्य हो तथा हम विद्वेष न करें । विद्या-ग्रहणके कारण शिष्य अथवा आचार्यका प्रमादकृत अन्यायसे द्वेष हो सकता है; उसकी शान्तिके लिये 'मा विद्विषावहै' ऐसी कामना की गयी है । तात्पर्य यह है कि हम एक दूसरेसे विद्वेषको प्राप्त न हों ।

'शान्तिः शान्तिः शान्तिः' इस प्रकार तीन बार 'शान्ति' शब्द उच्चारण करनेका प्रयोजन पहले कहा जा चुका है । यह शान्तिपाठ आगे कही जानेवाली विद्याके विघ्नोंकी शान्तिके लिये है । इसके द्वारा निर्विघ्नतापूर्वक आत्मविद्याकी प्राप्तिकी कामना की गयी है; क्योंकि वही परम श्रेयका भी मूल कारण है ।

ब्रह्मज्ञानके फल, सृष्टिक्रम और अन्नमय कोशरूप पक्षीका वर्णन

उपक्रमः

संहितादिविषयाणि कर्मभिरविरुद्धान्युपासनान्युक्तानि। अनन्तरं चान्तःसोपाधिकात्मदर्शनमुक्तं व्याहृतिद्वारेण स्वाराज्यफलम्। न चैतावताशेषतः संसारबीजस्योपमर्दनमस्तीत्यतोऽशेषोपद्रवबीजस्याज्ञानस्य निवृत्त्यर्थं विधूतसर्वोपाधिविशेषात्मदर्शनार्थमिदमारभ्यते ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादि।

कर्मसे अविरुद्ध संहितादिविषयक उपासनाओंका पहले वर्णन किया गया। उसके पश्चात् व्याहृतियोंके द्वारा स्वाराज्यरूप फल देनेवाला हृदयस्थित सोपाधिक आत्मदर्शन कहा गया। किन्तु इतनेहीसे संसारके बीजका पूर्णतया नाश नहीं हो जाता। अतः सम्पूर्ण उपद्रवोंके बीजभूत अज्ञानकी निवृत्तिके निमित्त इस सर्वोपाधिरूप विशेषसे रहित आत्माका साक्षात्कार करानेके लिये अब 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि मन्त्र आरम्भ किया जाता है।

प्रयोजनं चास्या ब्रह्मविद्याया अविद्यानिवृत्तिस्तत आत्यन्तिकः संसाराभावः। वक्ष्यति च—"विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २।९।१) इति। संसारनिमित्ते च सत्यभयं प्रतिष्ठां च विन्दत इत्यनुपपन्नम्, कृताकृते पुण्यपापे न तपत इति च। अतोऽवगम्यतेऽस्माद्विज्ञानात्सर्वात्मब्रह्मविषयादात्यन्तिकः संसाराभाव इति।

इस ब्रह्मविद्याका प्रयोजन अविद्याकी निवृत्ति है; उससे संसारका आत्यन्तिक अभाव होता है। यही बात "ब्रह्मवेत्ता किसीसे नहीं डरता" इत्यादि वाक्यसे श्रुति आगे कहेगी भी। संसारके निमित्त [अज्ञान] के रहते हुए 'पुरुष अभय स्थितिको प्राप्त कर लेता है; तथा उसे कृत और अकृत अर्थात् पुण्य और पाप ताप नहीं पहुँचाते' ऐसा मानना सर्वथा अयुक्त है। इससे जाना जाता है कि इस सर्वात्मक ब्रह्मविषयक विज्ञानसे ही संसारका आत्यन्तिक अभाव होता है।

स्वयमेव च प्रयोजनमाह ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यादावेव सम्बन्धप्रयोजनज्ञापनार्थम् । निर्ज्ञातयोर्हि सम्बन्धप्रयोजनयोर्विद्याश्रवणग्रहणधारणाभ्यासार्थं प्रवर्तते । श्रवणादिपूर्वकं हि विद्याफलम् "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" (बृ० उ० २ । ४ । ५) इत्यादिश्रुत्यन्तरेभ्यः ।

इस प्रकरणके सम्बन्ध और प्रयोजनका ज्ञान करानेके लिये श्रुतिने स्वयं ही 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इत्यादि वाक्यसे आरम्भमें ही इसका प्रयोजन बतला दिया है; क्योंकि सम्बन्ध और प्रयोजनोंका ज्ञान हो जानेपर ही पुरुष विद्याके श्रवण, ग्रहण, धारण और अभ्यासके लिये प्रवृत्त हुआ करता है । "श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः" इत्यादि दूसरी श्रुतियोंसे यह भी निश्चय होता ही है कि विद्याका फल श्रवणादिपूर्वक होता है ।

ब्रह्मविदाप्नोति परम् । तदेषाभ्युक्ता सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म । यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन् । सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चितेति । तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नात्पुरुषः । स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः । तस्येदमेव शिरः । अयं दक्षिणः पक्षः । अयमुत्तरः पक्षः । अयमात्मा । इदं पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है । उसके विषयमें यह [श्रुति] कही गयी है—'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है ।' जो पुरुष उसे बुद्धिरूप परम आकाशमें निहित जानता है, वह सर्वज्ञ ब्रह्मरूपसे एक साथ ही सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है । उस इस आत्मासे ही आकाश उत्पन्न हुआ । आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल,

जलसे पृथिवी, पृथिवीसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे अन्न और अन्नसे पुरुष उत्पन्न हुआ। वह यह पुरुष अन्न एवं रसमय ही है। उसका यह [शिर] ही शिर है, यह [दक्षिण बाहु] ही दक्षिण पक्ष है, यह [वाम बाहु] वाम पक्ष है, यह [शरीरका मध्यभाग] आत्मा है और यह [नीचेका भाग] पुच्छ प्रतिष्ठा है। उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

ब्रह्मविदो ब्रह्मप्राप्तिनिरूपणम् ब्रह्मविद्ब्रह्मेति वक्ष्यमाणलक्षणं बृहत्तमत्वाद्ब्रह्म तद्वेत्ति विजानातीति ब्रह्मविदाप्नोति परं निरतिशयं तदेव ब्रह्म परम्। न ह्यन्यस्य विज्ञानादन्यस्य प्राप्तिः। स्पष्टं च श्रुत्यन्तरं ब्रह्मप्राप्तिमेव ब्रह्मविदो दर्शयति "स यो ह वै तत्परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति" (मु० उ० ३।२।९) इत्यादि।

'ब्रह्मवित्'—ब्रह्म, जिसका लक्षण आगे कहा जायगा और जो सबसे बड़ा होनेके कारण 'ब्रह्म' कहलाता है, उसे जो जानता है उसका नाम 'ब्रह्मवित्' है; वह ब्रह्मवित् उस परम—निरतिशय ब्रह्मको ही 'आप्नोति'—प्राप्त कर लेता है; क्योंकि अन्यके विज्ञानसे किसी अन्यकी प्राप्ति नहीं हुआ करती। "वह, जो कि निश्चय ही उस परब्रह्मको जानता है, ब्रह्म ही हो जाता है" यह एक दूसरी श्रुति ब्रह्मवेत्ताको स्पष्टतया ब्रह्मकी ही प्राप्ति होना प्रदर्शित करती है।

ननु सर्वगतं सर्वस्यात्मभूतं ब्रह्म वक्ष्यति। अतो नाप्यम्। प्राप्तिश्चान्यस्यान्येन परिच्छिन्नस्य च परिच्छिन्नेन दृष्टा। अपरिच्छिन्नं सर्वात्मकं च ब्रह्मेत्यतः परिच्छिन्नवदनात्मवच्च तस्याप्तिरनुपपन्ना।

शङ्का—ब्रह्म सर्वगत और सबका आत्मा है—ऐसा आगे कहेंगे; इसलिये वह प्राप्तव्य नहीं हो सकता। प्राप्ति तो अन्य परिच्छिन्न पदार्थकी किसी अन्य परिच्छिन्न पदार्थद्वारा ही होती देखी गयी है। किन्तु ब्रह्म तो अपरिच्छिन्न और सर्वात्मक है; इसलिये परिच्छिन्न और अनात्मपदार्थके समान उसकी प्राप्ति होनी असम्भव है।

नायं दोषः; कथम्? दर्शनादर्शनापेक्षत्वाद्ब्रह्मण आप्त्यनाप्त्योः। परमार्थतो ब्रह्मरूपस्यापि सतोऽस्य जीवस्य भूतमात्राकृतबाह्यपरिच्छिन्नान्नमयाद्यात्मदर्शिनस्तदासक्तचेतसः प्रकृतसंख्यापूरणस्यात्मनोऽव्यवहितस्यापि बाह्यसंख्येयविषयासक्तचित्ततया स्वरूपाभावदर्शनवत्परमार्थब्रह्मस्वरूपाभावदर्शनलक्षणयाविद्ययान्नमयादीन्बाह्यानात्मन आत्मत्वेन प्रतिपन्नत्वादन्नमयाद्यनात्मभ्यो नान्योऽहमस्मीत्यभिमन्यते। एवमविद्ययात्मभूतमपि ब्रह्मानाप्तं स्यात्।

समाधान—यह कोई दोषकी बात नहीं है; किस प्रकार नहीं है? क्योंकि ब्रह्मकी प्राप्ति और अप्राप्ति तो उसके साक्षात्कार और असाक्षात्कारकी अपेक्षासे हैं। जिस प्रकार [दशम पुरुषके लिये] प्रकृत (दशम) संख्याकी पूर्ति करनेवाला अपना-आप* सर्वथा अव्यवहित होनेपर भी संख्या करने योग्य बाह्य विषयोंमें आसक्तचित्त रहनेके कारण वह अपने स्वरूपका अभाव देखता है उसी प्रकार पञ्चभूत तन्मात्राओंसे उत्पन्न हुए बाह्य परिच्छिन्न अन्नमय कोशादिमें आत्मभाव देखनेवाला यह जीव परमार्थतः ब्रह्मस्वरूप होनेपर भी उनमें आसक्त हो जाता है और अपने परमार्थ ब्रह्मस्वरूपका अभाव देखनारूप अविद्यासे अन्नमय कोश आदि बाह्य अनात्माओंको आत्मस्वरूपसे देखनेके कारण 'मैं अन्नमय आदि अनात्माओंसे भिन्न नहीं हूँ' ऐसा अभिमान करने लगता है। इस प्रकार अपना आत्मा होनेपर भी अविद्यावश ब्रह्म अप्राप्त ही है।

* इस विषयमें यह दृष्टान्त प्रसिद्ध है कि एक बार दश मनुष्य यात्रा कर रहे थे। रास्तेमें एक नदी पड़ी। जब उसे पार कर वे उसके दूसरे तटपर पहुँचे तो यह जाननेके लिये कि हममेंसे कोई बह तो नहीं गया। अपनेको गिनने लगे। उनमेंसे जो भी गिनना आरम्भ करता वह अपनेको छोड़कर शेष नौको ही गिनता। इस प्रकार एककी कमी रहनेके कारण वे यह समझकर कि हममेंसे एक आदमी नदीमें बह गया है खिन्न हो रहे थे। इतनेहीमें एक बुद्धिमान्

तस्यैवमविद्ययानाप्तब्रह्मस्वरूपस्य प्रकृतसंख्यापूरणस्यात्मनोऽविद्ययानाप्तस्य सतः केनचित्स्मारितस्य पुनस्तस्यैव विद्ययाप्तिर्यथा तथा श्रुत्युपदिष्टस्य सर्वात्मब्रह्मण आत्मत्वदर्शनेन विद्यया तदाप्तिरुपपद्यत एव ।

जिस प्रकार प्रकृत (दशम) संख्याको पूर्ण करनेवाला अपना-आप अविद्यावश अप्राप्त रहता है और फिर किसीके द्वारा स्मरण करा दिये जानेपर विद्याद्वारा उसकी प्राप्ति हो जाती है उसी प्रकार अविद्यावश जिसके ब्रह्मस्वरूपकी उपलब्धि नहीं होती उस सबके आत्मभूत श्रुत्युपदिष्ट ब्रह्मकी आत्मदर्शनरूप विद्याके द्वारा प्राप्ति होनी उचित ही है ।

ब्रह्मविदाप्नोति परमिति वाक्यं उत्तरग्रन्थाव- सूत्रभूतम् । सर्वस्य तरणिका वल्ल्यर्थस्य ब्रह्मविदाप्नोति परमित्यनेन वाक्येन वेद्यतया सूत्रितस्य ब्रह्मणोऽनिर्धारितस्वरूपविशेषस्य सर्वतो व्यावृत्तस्वरूपविशेषसमर्पणसमर्थस्य लक्षणस्याविशेषेण चोक्तवेदनस्य ब्रह्मणो वक्ष्यमाणलक्षणस्य

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' यह वाक्य सूत्रभूत है । जो सम्पूर्ण वल्लीके अर्थका विषय है, जिसका 'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस वाक्यद्वारा ज्ञातव्यरूपसे सूत्रत: उल्लेख किया गया है, उस ब्रह्मके ऐसे लक्षणका—जिसके विशेष रूपका निश्चय नहीं किया गया है और जो सम्पूर्ण वस्तुओंसे व्यावृत्त स्वरूपविशेषका ज्ञान करानेमें समर्थ है—वर्णन करते हुए स्वरूपका निश्चय करानेके लिये तथा जिसके ज्ञानका सामान्यरूपसे वर्णन कर दिया गया है उस आगे कहे जानेवाले लक्षणोंसे युक्त ब्रह्मको

पुरुष उधर आ निकला । उसने सब वृत्तान्त जानकर उन्हें एक लाइनमें खड़ा किया और हाथमें डंडा लेकर एक, दो, तीन—इस प्रकार गिनते हुए हर एकके एक-एक डंडा लगाकर उन्हें दश होनेका निश्चय करा दिया और यह भी दिखला दिया कि वह दशवाँ पुरुष स्वयं गिननेवाला ही था जो दूसरोंमें आसक्तचित्त रहनेके कारण अपनेको भूले हुए था ।

विशेषेण प्रत्यगात्मतयानन्यरूपेण विज्ञेयत्वाय, ब्रह्मविद्याफलं च ब्रह्मविदो यत्परब्रह्मप्राप्तिलक्षणमुक्तं स सर्वात्मभावः सर्वसंसारधर्मातीतब्रह्मस्वरूपत्वमेव नान्यदित्येतत्प्रदर्शनायैषर्गुदाह्रियते—तदेषाभ्युक्तेति ।

तत्तस्मिन्नेव ब्राह्मणवाक्योक्तेऽर्थ एषर्गभ्युक्ताम्नाता । सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति ब्रह्मणो लक्षणार्थं वाक्यम् । सत्यादीनि हि त्रीणि विशेषणार्थानि पदानि विशेष्यस्य ब्रह्मणः । विशेष्यं ब्रह्म विवक्षितत्वाद्वेद्यतया । वेद्यत्वेन यतो ब्रह्म प्राधान्येन विवक्षितं तस्माद्विशेष्यं विज्ञेयम् । अतः अस्माद् विशेषणविशेष्यत्वादेव सत्यादीनि एकविभक्त्यन्तानि पदानि समानाधिकरणानि । सत्यादि-

विशेषतः 'अपना अन्तरात्मा होनेसे अनन्यरूपसे जाननेयोग्य है' ऐसा प्रतिपादन करनेके लिये और यह दिखलानेके लिये कि—ब्रह्मवेत्ताको जो परमात्माकी प्राप्तिरूप ब्रह्मविद्याका फल बतलाया गया है वह सर्वात्मभाव सम्पूर्ण सांसारिक धर्मोंसे अतीत ब्रह्मस्वरूपता ही है—और कुछ नहीं है—'तदेषाभ्युक्ता' यह ऋचा कही जाती है ।

तत्—उस ब्राह्मणवाक्यद्वारा बतलाये हुए अर्थमें ही [सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म] यह ऋचा कही गयी है । 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्मका लक्षण करनेके लिये है । 'सत्य' आदि तीन पद विशेष्य ब्रह्मके विशेषण बतलानेके लिये हैं । वेद्यरूपसे विवक्षित (बतलाये जानेको इष्ट) होनेके कारण ब्रह्म विशेष्य है । क्योंकि ब्रह्म प्रधानतया वेद्यरूपसे (ज्ञानके विषयरूपसे) विवक्षित है; इसलिये उसे विशेष्य समझना चाहिये । अतः इस विशेषण-विशेष्यभावके कारण एक ही विभक्तिवाले 'सत्य' आदि तीनों पद समानाधिकरण हैं । सत्य आदि

भिस्त्रिभिर्विशेषणैर्विशेष्यमाणं ब्रह्म विशेष्यान्तरेभ्यो निर्धार्यते । एवं हि तज्ज्ञानं भवति यदन्येभ्यो निर्धारितम् । यथा लोके नीलं महत्सुगन्ध्युत्पलमिति ।

नन्‌ विशेष्यं विशेषणान्तरं (निर्विशेषस्य विशेषणवत्त्वे आक्षेपः) व्यभिचरद्विशेष्यते । यथा नीलं रक्तं चोत्पलमिति । यदा ह्यनेकानि द्रव्याण्येकजातीयान्यनेकविशेषणयोगीनि च तदा विशेषणस्यार्थवत्त्वम् । न ह्येकस्मिन्नेव वस्तुनि विशेषणान्तरायोगात् । यथासावेक आदित्य इति, तथैकमेव च ब्रह्म न ब्रह्मान्तराणि येभ्यो विशेष्येत नीलोत्पलवत् ।

न; लक्षणार्थत्वाद्विशेषणानां (ब्रह्मविशेषणानां तल्लक्षणार्थत्वम्) नायं दोषः; कस्मात् ? यस्माल्लक्षणार्थप्रधानानि विशेषणानि न

तीन विशेषणोंसे विशेषित होनेवाला ब्रह्म अन्य विशेष्योंसे पृथक्‌रूपसे निश्चय किया जाता है । जिसका अन्य पदार्थोंसे पृथक्‌रूपसे निश्चय किया गया है उसका इसी प्रकार ज्ञान हुआ करता है; जैसे लोकमें 'नील' विशाल और सुगन्धित कमल [—ऐसा कहकर ऐसे कमलका अन्य कमलोंसे पृथक्‌रूपसे निश्चय किया जाता है] ।

शङ्का—अन्य विशेषणोंका व्यावर्तन करनेपर ही कोई विशेष्य विशेषित हुआ करता है; जैसे—नीला अथवा लाल कमल । जिस समय अनेक द्रव्य एक ही जातिके और अनेक विशेषणोंकी योग्यतावाले होते हैं तभी विशेषणोंकी सार्थकता होती है । एक ही वस्तुमें, किसी अन्य विशेषणका सम्बन्ध न हो सकनेके कारण, विशेषणकी सार्थकता नहीं होती । जिस प्रकार यह सूर्य एक है उसी प्रकार ब्रह्म भी एक ही है; उसके सिवा अन्य ब्रह्म हैं ही नहीं, जिनसे कि नील कमलके समान उसकी विशेषता बतलायी जाय ।

समाधान—ऐसा कहना ठीक नहीं है; क्योंकि ये विशेषण लक्षणके लिये हैं । [अब इस सूत्ररूप वाक्यकी ही व्याख्या करते हैं—] यह दोष नहीं हो सकता; क्यों नहीं हो सकता ? क्योंकि ये विशेषण लक्षणार्थ-

विशेषणप्रधानान्येव । कः पुनर्लक्षणलक्ष्ययोर्विशेषणविशेष्ययोर्वा विशेष इति ? उच्यते; समानजातीयेभ्य एव निवर्तकानि विशेषणानि विशेष्यस्य । लक्षणं तु सर्वत एव यथावकाशप्रदात्राकाशमिति । लक्षणार्थं च वाक्यमित्यवोचाम ।

प्रधान हैं, केवल विशेषणप्रधान ही नहीं हैं । किन्तु लक्षण-लक्ष्य तथा विशेषण-विशेष्यमें विशेषता (अन्तर) क्या है ? सो बतलाते हैं—विशेषण तो अपने विशेष्यका उसके सजातीय पदार्थोंसे ही व्यावर्तन करनेवाले होते हैं, किन्तु लक्षण उसे सभीसे व्यावृत्त कर देता है; जिस प्रकार अवकाश देनेवाला 'आकाश' होता है —इस वाक्यमें है ।* यह हम पहले ही कह चुके हैं कि यह वाक्य [आत्माका] लक्षण करनेके लिये है ।

सत्यमित्यस्य व्याख्यानम्

सत्यादिशब्दा न परस्परं संबध्यन्ते परार्थत्वात् । विशेष्यार्था हि ते । अत एकैको विशेषणशब्दः परस्परं निरपेक्षो ब्रह्मशब्देन संबध्यते सत्यं ब्रह्म ज्ञानं ब्रह्मानन्तं ब्रह्मेति ।

सत्यादि शब्द परार्थ (दूसरेके लिये) होनेके कारण परस्पर सम्बन्धित नहीं हैं । वे तो विशेष्यके ही लिये हैं । अतः उनमेंसे प्रत्येक विशेषणशब्द परस्पर एक-दूसरेकी अपेक्षा न रखकर ही 'सत्यं ब्रह्म, ज्ञानं ब्रह्म, अनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार 'ब्रह्म' शब्दसे सम्बन्धित है ।

सत्यमिति यद्रूपेण यन्निश्चितं तद्रूपं न व्यभिचरति तत्सत्यम् । यद्रूपेण निश्चितं यत्तद्रूपं व्यभि-

सत्यम्—जो पदार्थ जिस रूपसे निश्चय किया गया है उससे व्यभिचरित न होनेके कारण वह सत्य कहलाता है । जो पदार्थ जिस रूपसे निश्चित किया गया है उस रूपसे

* इस वाक्यमें 'अवकाश देनेवाला' यह पद उसके सजातीय अन्य महाभूतोंसे तथा विजातीय आत्मा आदिसे भी व्यावृत्त कर देता है ।

चरदनृतमित्युच्यते । अतो विकारोऽनृतम् । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) एवं सदेव सत्यमित्यवधारणात् । अतः सत्यं ब्रह्मेति ब्रह्म विकारान्निवर्तयति ।

अतः कारणत्वं प्राप्तं ब्रह्मणः ।

ज्ञानमित्यस्य तात्पर्यम्, ज्ञानकर्तृत्वाभाव-निरूपणं च

कारणस्य च कारकत्वं वस्तुत्वान्मृद्वदचिद्रूपता च प्राप्त इदमुच्यते ज्ञानं ब्रह्मेति । ज्ञानं ज्ञप्तिरवबोधः, भावसाधनो ज्ञानशब्दो न तु ज्ञानकर्तृ ब्रह्मविशेषणत्वात्सत्यानन्ताभ्यां सह । न हि सत्यतानन्तता च ज्ञानकर्तृत्वे सत्युपपद्यते । ज्ञानकर्तृत्वेन हि विक्रियमाणं कथं सत्यं भवेदनन्तं च । यद्धि न

व्यभिचरित होनेपर वह मिथ्या कहा जाता है । इसलिये विकार मिथ्या है । "विकार केवल वाणीसे आरम्भ होनेवाला और नाममात्र है, बस, मृत्तिका ही सत्य है" इस प्रकार निश्चय किया जानेके कारण सत् ही सत्य है ! अतः 'सत्यं ब्रह्म' यह वाक्य ब्रह्मको विकारमात्रसे निवृत्त करता है ।

इससे ब्रह्मका कारणत्व प्राप्त होता है और वस्तुरूप होनेसे कारणमें कारकत्व रहा करता है । अतः मृत्तिकाके समान उसकी जड-रूपताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है । इसीसे 'ज्ञानं ब्रह्म' ऐसा कहा है । 'ज्ञान' ज्ञप्ति यानी अवबोधको कहते हैं । 'ज्ञान' शब्द भाववाचक है; 'सत्य' और 'अनन्त' के साथ ब्रह्मका विशेषण होनेके कारण उसका अर्थ 'ज्ञानकर्ता' नहीं हो सकता । उसका ज्ञानकर्तृत्व स्वीकार करनेपर ब्रह्मकी सत्यता और अनन्तता सम्भव नहीं है । ज्ञान-कर्तारूपसे विकारको प्राप्त होनेवाला होकर ब्रह्म सत्य और अनन्त कैसे हो सकता है ? जो किसीसे भी

कुतश्चित्प्रविभज्यते तदनन्तम् । ज्ञानकर्तृत्वे च ज्ञेयज्ञानाभ्यां प्रविभक्तमित्यनन्तता न स्यात् । "यत्र नान्यद्विजानाति स भूमा अथ यत्रान्यद्विजानाति तदल्पम्" (छा० उ० ७ । २४ । १) इति श्रुत्यन्तरात् ।

विभक्त नहीं होता वही अनन्त हो सकता है । ज्ञानकर्ता होनेपर तो वह ज्ञेय और ज्ञानसे विभक्त होगा; इसलिये उसकी अनन्तता सिद्ध नहीं हो सकेगी । "जहाँ किसी दूसरेको नहीं जानता वह भूमा है और जहाँ किसी दूसरेको जानता है वह अल्प है" इस एक दूसरी श्रुतिसे यही सिद्ध होता है ।

नान्यद्विजानातीति विशेषप्रतिषेधादात्मानं विजानातीति चेन्न; भूमलक्षणविधिपरत्वाद्वाक्यस्य । यत्र नान्यत्पश्यतीत्यादि भूम्नो लक्षणविधिपरं वाक्यम् । यथा प्रसिद्धमेवान्योऽन्यत्पश्यतीत्येतदुपादाय यत्र तन्नास्ति स भूमेति भूमस्वरूपं तत्र ज्ञाप्यते । अन्यग्रहणस्य प्राप्तप्रतिषेधार्थत्वान्न स्वात्मनि क्रियास्तित्वपरं वाक्यम् । स्वात्मनि च भेदा-

इस श्रुतिमें 'दूसरेको नहीं जानता' इस प्रकार विशेषका प्रतिषेध होनेके कारण वह स्वयं अपनेको ही जानता है—ऐसी यदि कोई शङ्का करे तो ठीक नहीं; क्योंकि यह वाक्य भूमाके लक्षणका विधान करनेमें प्रवृत्त है । 'यत्र नान्यत्पश्यति' इत्यादि वाक्य भूमाके लक्षणका विधान करनेमें तत्पर है । अन्य अन्यको देखता है—इस लोकप्रसिद्ध वस्तुस्थितिको स्वीकार कर 'जहाँ ऐसा नहीं है वह भूमा है'—इस प्रकार उसके द्वारा भूमाके स्वरूपका बोध कराया जाता है । 'अन्य' शब्दका ग्रहण तो यथाप्राप्त द्वैतका प्रतिषेध करनेके लिये है; अतः यह वाक्य अपनेमें क्रियाका अस्तित्व प्रतिपादन करनेके लिये नहीं है । और स्वात्मामें तो भेदका अभाव होनेके कारण उसका विज्ञान होना

भावाद्विज्ञानानुपपत्तिः । आत्मनश्च विज्ञेयत्वे ज्ञात्रभावप्रसङ्गः; ज्ञेयत्वेनैव विनियुक्तत्वात् ।

एक एवात्मा ज्ञेयत्वेन ज्ञातृत्वेन चोभयथा भवतीति चेत् ?

न युगपदनंशत्वात् । न हि निरवयवस्य युगपज्ज्ञेयज्ञातृत्वोपपत्तिः। आत्मनश्च घटादिवद्विज्ञेयत्वे ज्ञानोपदेशानर्थक्यम् । न हि घटादिवत्प्रसिद्धस्य ज्ञानोपदेशोऽर्थवान् । तस्माज्ज्ञातृत्वे सति आनन्त्यानुपपत्तिः । सन्मात्रत्वं चानुपपन्नं ज्ञानकर्तृत्वादिविशेषवत्त्वे सति । सन्मात्रत्वं च सत्यत्वम्, "तत्सत्यम्" (छा० उ० ६।८।१६) इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मात्सत्यानन्तशब्दाभ्यां सह विशे-

सम्भव ही नहीं है । आत्माका विज्ञेयत्व स्वीकार करनेपर तो ज्ञाताके अभावका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है; क्योंकि वह तो विज्ञेयरूपसे ही विनियुक्त (प्रयुक्त) हो चुका है । [अब उसे ज्ञाता कैसे माना जाय ?]

शङ्का—एक ही आत्मा ज्ञेय और ज्ञाता दोनों प्रकारसे हो सकता है—ऐसा मानें तो ?

समाधान—नहीं, वह अंशरहित होनेके कारण एक साथ उभयरूप नहीं हो सकता । निरवयव ब्रह्मका एक साथ ज्ञेय और ज्ञाता होना सम्भव नहीं है । इसके सिवा यदि आत्मा घटादिके समान विज्ञेय हो तो ज्ञानके उपदेशकी व्यर्थता हो जायगी । जो वस्तु घटादिके समान प्रसिद्ध है उसके ज्ञानका उपदेश सार्थक नहीं हो सकता । अतः उसका ज्ञातृत्व माननेपर उसकी अनन्तता नहीं रह सकती । ज्ञानकर्तृत्वादि विशेषसे युक्त होनेपर उसका सन्मात्रत्व भी सम्भव नहीं है । और "वह सत्य है" इस एक अन्य श्रुतिसे उसका सत्यरूप होना ही सन्मात्रत्व है । अतः 'सत्य' और 'अनन्त' शब्दोंके साथ विशेषण-

षणत्वेन ज्ञानशब्दस्य प्रयोगाद्भावसाधनो ज्ञानशब्दः। ज्ञानं ब्रह्मेति कर्तृत्वादिकारकनिवृत्त्यर्थं मृदादिवदचिद्रूपतानिवृत्त्यर्थं च प्रयुज्यते।

अनन्तमित्यस्य निरुक्तिः

ज्ञानं ब्रह्मेतिवचनात्प्राप्तमन्तवत्त्वम्। लौकिकस्य ज्ञानस्यान्तवत्त्वदर्शनात्। अतस्तन्निवृत्त्यर्थमाह—अनन्तमिति।

ब्रह्मणः शून्यार्थत्वाशङ्क्यते

सत्यादीनामनृतादिधर्मनिवृत्तिपरत्वाद्विशेष्यस्य ब्रह्मण उत्पलादिवदप्रसिद्धत्वात् "मृगतृष्णाम्भसि स्नातः खपुष्पकृतशेखरः। एष वन्ध्यासुतो याति शशशृङ्गधनुर्धरः" इतिवच्छून्यार्थतैव प्राप्ता सत्यादिवाक्यस्येति चेत्?

न; लक्षणार्थत्वात्। विशेषणत्वेऽपि सत्यादीनां लक्षणार्थ-

रूपसे 'ज्ञान' शब्दका प्रयोग किया जानेके कारण वह भाववाचक है। अतः 'ज्ञानं ब्रह्म' इस विशेषणका उसके कर्तृत्वादि कारकोंकी निवृत्तिके लिये तथा मृत्तिका आदिके समान उसकी जडरूपताकी निवृत्तिके लिये प्रयोग किया जाता है।

'ज्ञानं ब्रह्म' ऐसा कहनेसे ब्रह्मका अन्तवत्त्व प्राप्त होता है; क्योंकि लौकिक ज्ञान अन्तवान् ही देखा गया है। अतः उसकी निवृत्तिके लिये 'अनन्तम्' ऐसा कहा है।

शङ्का—सत्यादि शब्द तो अनृतादि धर्मोंकी निवृत्तिके लिये हैं और उनका विशेष्य ब्रह्म कमल आदिके समान प्रसिद्ध नहीं है; अतः "मृगतृष्णाके जलमें स्नान करके शिरपर आकाशकुसुमका मुकुट धारण किये तथा हाथमें शशशृङ्गका धनुष लिये यह वन्ध्याका पुत्र जा रहा है" इस उक्तिके समान इस 'सत्यं ज्ञानम्' इत्यादि वाक्यकी शून्यार्थता ही प्राप्त होती है।

समाधान—नहीं, क्योंकि वे [सत्यादि] लक्षण करनेके लिये हैं।

प्राधान्यमित्यवोचाम । शून्ये हि लक्ष्येऽनर्थकं लक्षणवचनं लक्षणार्थत्वान्मन्यामहे न शून्यार्थतेति । विशेषणार्थत्वेऽपि च सत्यादीनां स्वार्थापरित्याग एव । शून्यार्थत्वे हि सत्यादिशब्दानां विशेष्यनियन्तृत्वानुपपत्तिः । सत्याद्यर्थैरर्थवत्त्वे तु तद्विपरीतधर्मवद्भ्यो विशेष्येभ्यो ब्रह्मणो विशेष्यस्य नियन्तृत्वमुपपद्यते । ब्रह्मशब्दोऽपि स्वार्थेनार्थवानेव । तत्रानन्तशब्दोऽन्तवत्त्वप्रतिषेधद्वारेण विशेषणम् । सत्यज्ञानशब्दौ तु स्वार्थसमर्पणेनैव विशेषणे भवतः ।

सत्यादि शब्द विशेषण होनेपर भी उनका प्रधान प्रयोजन लक्षणके लिये होना ही है—यह हम पहले ही कह चुके हैं । यदि लक्ष्य शून्य हो तब तो उसका लक्षण बतलाना भी व्यर्थ ही होगा । अतः लक्षणार्थ होनेके कारण उनकी शून्यार्थता नहीं है—ऐसा हम मानते हैं । विशेषणके लिये होनेपर भी सत्यादि शब्दके अपने अर्थका त्याग तो होता ही नहीं है । यदि सत्यादि शब्दोंकी शून्यार्थता हो तो वे अपने विशेष्यके नियन्ता हैं—ऐसा नहीं माना जा सकता । सत्यादि अर्थोंसे अर्थवान् होनेपर ही उनके द्वारा अपनेसे विपरीत धर्मवाले विशेष्योंसे अपने विशेष्य ब्रह्मका नियन्तृत्व बन सकता है । 'ब्रह्म' शब्द भी अपने अर्थसे अर्थवान् ही है । उन [सत्यादि तीन शब्दों] में 'अनन्त' शब्द उसके अन्तवत्त्वका प्रतिषेध करनेके द्वारा उसका विशेषण होता है तथा 'सत्य' और 'ज्ञान' शब्द तो अपने अर्थोंके समर्पणद्वारा ही उसके विशेषण होते हैं ।

"तस्माद्वा एतस्मादात्मनः" इति ब्रह्मण्येवात्मशब्दप्रयोगाद्वेदितु-

शङ्का—"उस इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ" इस श्रुतिमें 'आत्मा' शब्दका प्रयोग ब्रह्मके ही लिये

रात्मैव ब्रह्म। "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तै० उ० २।८।५) इति चात्मतां दर्शयति। तत्प्रवेशाच्च; "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै०उ० २।६।१) इति च तस्यैव जीवरूपेण शरीरप्रवेशं दर्शयति। अतो वेदितुः स्वरूपं ब्रह्म।

एवं तर्ह्यात्मत्वाज्ज्ञानकर्तृत्वम्। आत्मा ज्ञातेति हि प्रसिद्धम्। "सोऽकामयत" (तै० उ० २।६।१) इति च कामिनो ज्ञानकर्तृत्वाज्ज्ञप्तिर्ब्रह्मेत्ययुक्तम्।

अनित्यत्वप्रसङ्गाच्च। यदि नाम ज्ञप्तिर्ज्ञानमिति भावरूपता ब्रह्मणस्तथाप्यनित्यत्वं प्रसज्येत पारतन्त्र्यं च। धात्वर्थानां कारकापेक्षत्वात्। ज्ञानं च

किया जानेके कारण ब्रह्म जाननेवालेका आत्मा ही है। "इस आनन्दमय आत्माको प्राप्त हो जाता है" इस वाक्यसे श्रुति उसकी आत्मता दिखलाती है तथा उसके प्रवेश करनेसे भी [उसका आत्मत्व सिद्ध होता है]। "उसे रचकर वह उसीमें प्रविष्ट हो गया" ऐसा कहकर श्रुति उसीका जीवरूपसे शरीरमें प्रवेश होना दिखलाती है। अतः ब्रह्म जाननेवालेका स्वरूप ही है।

इस प्रकार आत्मा होनेसे तो उसे ज्ञानका कर्तृत्व सिद्ध होता है। 'आत्मा ज्ञाता है' यह बात तो प्रसिद्ध ही है। "उसने कामना की" इस श्रुतिसे कामना करनेवालेके ज्ञानकर्तृत्वकी सिद्धि होती है। अतः ब्रह्मका ज्ञानकर्तृत्व निश्चित होनेके कारण 'ब्रह्म ज्ञप्तिमात्र है' ऐसा कहना अनुचित है।

इसके सिवा ऐसा माननेसे अनित्यत्वका प्रसङ्ग भी उपस्थित होता है। यदि 'ज्ञान ज्ञप्तिको कहते हैं' इस व्युत्पत्तिके अनुसार ब्रह्मकी भावरूपता मानी जाय तो भी उसके अनित्यत्व और पारतन्त्र्यका प्रसङ्ग उपस्थित हो जाता है; क्योंकि धातुओंके अर्थ कारकोंकी अपेक्षावाले

धात्वर्थोऽतोऽस्यानित्यत्वं परतन्त्रता च ।

तन्निरसनम्

न, स्वरूपाव्यतिरेकेण कार्यत्वोपचारात् । आत्मनः स्वरूपं ज्ञप्तिर्न ततो व्यतिरिच्यतेऽतो नित्यैव । तथापि बुद्धेरुपाधिलक्षणायाश्चक्षुरादिद्वारैर्विषयाकारेण परिणामिन्या ये शब्दाद्याकारावभासाः त आत्मविज्ञानस्य विषयभूता उत्पद्यमाना एवात्मविज्ञानेन व्याप्ता उत्पद्यन्ते । तस्मादात्मविज्ञानावभासाश्च ते विज्ञानशब्दवाच्याश्च धात्वर्थभूता आत्मन एव धर्मा विक्रियारूपा इत्यविवेकिभिः परिकल्प्यन्ते ।

यत्तु ब्रह्मणो विज्ञानं तत् सवितृप्रकाशवदग्न्युष्णवच्च ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तं स्वरूपमेव तत्;

हुआ करते हैं। ज्ञान भी धातुका अर्थ है; अतः इसकी भी अनित्यता और परतन्त्रता सिद्ध होती है।

समाधान—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ज्ञान ब्रह्मके स्वरूपसे अभिन्न है, इस कारण उसका कार्यत्व केवल उपचारसे है। आत्माका स्वरूप जो 'ज्ञप्ति' है वह उससे व्यतिरिक्त नहीं है। अतः वह (ज्ञप्ति) नित्या ही है। तथापि चक्षु आदिके द्वारा विषयरूपमें परिणत होनेवाली उपाधिरूप बुद्धिकी जो शब्दादिरूप प्रतीतियाँ हैं वे आत्मविज्ञानकी विषयभूत होकर उत्पन्न होती हुई आत्मविज्ञानसे व्याप्त ही उत्पन्न होती हैं [अर्थात् अपनी उत्पत्तिके समय उन प्रतीतियोंमें तो आत्मविज्ञानसे प्रकाशित होनेकी योग्यता रहती है और आत्मविज्ञान उन्हें प्रकाशित करता रहता है]। अतः वे धातुओंकी अर्थभूत एवं 'विज्ञान' शब्दवाच्य आत्मविज्ञानकी प्रतीतियाँ आत्माका ही विकाररूप धर्म हैं—ऐसी अविवेकियोंद्वारा कल्पना की जाती है।

किन्तु ब्रह्मका जो विज्ञान है वह सूर्यके प्रकाश तथा अग्निकी उष्णताके समान ब्रह्मके स्वरूपसे भिन्न नहीं है, बल्कि उसका स्वरूप

न तत्कारणान्तरसव्यपेक्षम् । नित्यस्वरूपत्वात् । सर्वभावानां च तेनाविभक्तदेशकालत्वात् कालाकाशादिकारणत्वाच्च निरतिशयसूक्ष्मत्वाच्च । न तस्यान्यदविज्ञेयं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्यद्वास्ति । तस्मात्सर्वज्ञं तद्ब्रह्म ।

मन्त्रवर्णाच्च—"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः । स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्" (श्वे०उ० ३ । १९) इति । "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वान्न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४ । ३ । ३०) इत्यादि श्रुतेश्च । विज्ञातृस्वरूपाव्यतिरेकात्करणादिनिमित्तानपेक्षत्वाच्च ब्रह्मणो ज्ञानस्वरूपत्वेऽपि नित्यत्व-

ही है, उसे किसी अन्य कारणकी अपेक्षा नहीं है; क्योंकि वह नित्यस्वरूप है । तथा उस ब्रह्मसे सम्पूर्ण भावपदार्थोंके देश-काल अभिन्न हैं, और वह काल तथा आकाशादिका भी कारण एवं निरतिशय सूक्ष्म है; अतः ऐसी कोई सूक्ष्म, व्यवहित (व्यवधानवाली), विप्रकृष्ट (दूर) तथा भूत, भविष्यत् या वर्तमान वस्तु नहीं है जो उसके द्वारा जानी न जाती हो; इसलिये वह ब्रह्म सर्वज्ञ है ।

"वह बिना हाथ-पाँवके ही वेगसे चलने और ग्रहण करनेवाला है, बिना नेत्रके ही देखता है और बिना कानके ही सुनता है । वह सम्पूर्ण वेद्यमात्रको जानता है, उसे जाननेवाला और कोई नहीं है, उसे सर्वप्रथम परमपुरुष कहा गया है ।" इस मन्त्रवर्णसे तथा "अविनाशी होनेके कारण विज्ञाताके ज्ञानका कभी लोप नहीं होता और उससे भिन्न कोई दूसरा भी नहीं है [जो उसे देखे]" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही सिद्ध होता है । अपने विज्ञातृस्वरूपसे अभिन्न तथा इन्द्रियादि साधनोंकी अपेक्षासे रहित होनेके कारण ज्ञानस्वरूप होनेपर भी ब्रह्मका नित्यत्व

असिद्धिरतो नैव धात्वर्थस्तद्-क्रियारूपत्वात् ।

भली प्रकार सिद्ध ही है। अतः क्रियारूप न होनेके कारण वह (ज्ञान) धातुका अर्थ भी नहीं है।

अत एव च न ज्ञानकर्तृ, तस्मादेव च न ज्ञानशब्दवाच्य-मपि तद्ब्रह्म। तथापि तदाभास-वाचकेन बुद्धिधर्मविषयेण ज्ञान-शब्देन तल्लक्ष्यते न तूच्यते। शब्दप्रवृत्तिहेतुजात्यादिधर्मरहित-त्वात्। तथा सत्यशब्देनापि। सर्व-विशेषप्रत्यस्तमितस्वरूपत्वाद्ब्रह्मणो बाह्यसत्तासामान्यविषयेण सत्य-शब्देन लक्ष्यते सत्यं ब्रह्मेति न तु सत्यशब्दवाच्यमेव ब्रह्म।

इसीलिये वह ज्ञानकर्ता भी नहीं है और इसीसे वह ब्रह्म 'ज्ञान' शब्दका वाच्य भी नहीं है। तो भी ज्ञानाभासके वाचक तथा बुद्धि-के धर्मविषयक 'ज्ञान' शब्दसे वह लक्षित होता है—कहा नहीं जाता; क्योंकि वह शब्दकी प्रवृत्तिके हेतु-भूत जाति आदि धर्मोंसे रहित है। इसी प्रकार 'सत्य' शब्दसे भी [उसको लक्षित ही किया जा सकता है]। ब्रह्मका स्वरूप सम्पूर्ण विशेषणों-से शून्य है; अतः वह सामान्यतः सत्ता ही जिसका विषय—अर्थ है ऐसे 'सत्य' शब्दसे 'सत्यं ब्रह्म' इस प्रकार केवल लक्षित होता है—ब्रह्म 'सत्य' शब्दका वाच्य ही नहीं है।

एवं सत्यादिशब्दा इतरेतर-संनिधावन्योन्यनियम्यनियाम-काः सन्तः सत्यादिशब्दवाच्या-त्तन्निवर्तका ब्रह्मणो लक्षणार्थाश्च भवन्तीत्यतः सिद्धम् "यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह"

इस प्रकार ये सत्यादि शब्द एक-दूसरेकी सन्निधिसे एक-दूसरेके नियम्य और नियामक होकर सत्यादि शब्दोंके वाच्यार्थसे ब्रह्मको अलग रखनेवाले और उसका लक्षण करनेमें उपयोगी होते हैं। अतः "जहाँसे मनके सहित वाणी उसे

(तै० उ० २ । ४ । १) "अनिरुक्तेऽनिलयने (तै० उ० २ । ७ । १) इति चावाच्यत्वं नीलोत्पलवदवाक्यार्थत्वं च ब्रह्मणः ।

न पाकर लौट आती है" "न कहने योग्य और अनाश्रितमें" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार ब्रह्मका सत्यादि शब्दोंका अवाच्यत्व और नील-कमलके समान अवाक्यार्थत्व सिद्ध होता है ।*

तद्यथाव्याख्यातं ब्रह्म यो वेद

गुहाशब्दार्थ-निर्वचनम् विजानाति निहितं स्थितं गुहायाम् । गूहतेः संवरणार्थस्य निगूढा अस्यां ज्ञानज्ञेयज्ञातृपदार्था इति गुहा बुद्धिः गूढावस्यां भोगापवर्गौ पुरुषार्थाविति वा तस्यां परमे प्रकृष्टे व्योमन्व्योम्न्याकाशेऽव्याकृताख्ये । तद्धि परमं व्योम "एतस्मिन्नु खल्वक्षरे गार्ग्याकाशः" (बृ० उ० ३ । ८ । ११) इत्यक्षरसंनिकर्षात् । गुहायां

उपर्युक्त प्रकारसे व्याख्या किये हुए उस ब्रह्मको जो पुरुष गुहामें निहित (छिपा हुआ) जानता है । संवरण अर्थात् आच्छादन अर्थ-वाले 'गुह' धातुसे 'गुहा' शब्द निष्पन्न होता है; इस (गुहा) में ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञातृ पदार्थ निगूढ (छिपे हुए) हैं इसलिये 'गुहा' बुद्धिका नाम है । अथवा उसमें भोग और अपवर्ग—ये पुरुषार्थ निगूढ अवस्थामें स्थित हैं; अतः गुहा है । उसके भीतर परम—प्रकृष्ट व्योम—आकाशमें अर्थात् अव्याकृताकाशमें, क्योंकि "हे गार्गि ! निश्चय इस अक्षरमें ही आकाश [ओतप्रोत है]" इस श्रुतिके अनुसार अक्षरकी सन्निधिमें होनेसे यह अव्याकृताकाश

* तात्पर्य यह है कि वाच्य-वाचक-भाव ब्रह्मका बोध करानेमें समर्थ नहीं हो सकता; अतः ब्रह्म इन शब्दोंका वाच्य नहीं हो सकता और सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्तिके अधिष्ठानरूपसे लक्षित होनेके कारण वह नीलकमल आदिके समान गुण-गुणीरूप संसर्गसूचक वाक्योंका भी अर्थ नहीं हो सकता ।

व्योम्नीति वा सामानाधिकरण्याद्व्याकृताकाशमेव गुहा। तत्रापि निगूढाः सर्वे पदार्थास्त्रिषु कालेषु कारणत्वात्सूक्ष्मतरत्वाच्च। तस्मिन्नन्तर्निहितं ब्रह्म।

ही परमाकाश है। अथवा 'गुहायां व्योम्नि' इस प्रकार इन दोनों पदोंका सामानाधिकरण्य होनेके कारण आकाशको ही गुहा कहा गया है; क्योंकि सबका कारण और सूक्ष्मतर होनेके कारण उसमें भी तीनों कालोंमें सारे पदार्थ छिपे हुए हैं। उसीके भीतर ब्रह्म भी स्थित है।

हार्दमेव तु परमं व्योमेति न्याय्यं विज्ञानाङ्गत्वेनोपासनाङ्गत्वेन व्योम्नो विवक्षितत्वात्। "यो वै स बहिर्धा पुरुषादाकाशः" (छा० उ० ३। १२। ७) "यो वै सोऽन्तःपुरुष आकाशः" (छा० उ० ३। १२। ८) "योऽयमन्तर्हृदय आकाशः" (छा० उ० ३। १२। ९) इति श्रुत्यन्तरात्प्रसिद्धं हार्दस्य व्योम्नः परमत्वम्। तस्मिन्हार्दे व्योम्नि या बुद्धिर्गुहा तस्यां निहितं ब्रह्म तद्वृत्त्या विविक्ततयोपलभ्यत इति। न ह्यन्यथा विशिष्टदेशकालसंबन्धोऽस्ति ब्रह्मणः सर्वगतत्वान्निर्विशेषत्वाच्च।

परन्तु युक्तियुक्त तो यही है कि हृदयाकाश ही परमाकाश है; क्योंकि उस आकाशको विज्ञानाङ्ग यानी उपासनाके अङ्गरूपसे बतलाना यहाँ इष्ट है "जो आकाश इस [शरीरसंज्ञक] पुरुषसे बाहर है" "जो आकाश इस पुरुषके भीतर है" "जो यह आकाश हृदयके भीतर है" इस प्रकार एक अन्य श्रुतिसे हृदयाकाशका परमत्व प्रसिद्ध है। उस हृदयाकाशमें जो बुद्धिरूप गुहा है उसमें ब्रह्म निहित है; अर्थात् उस (बुद्धिवृत्ति) से वह व्यावृत्त (पृथक्) रूपसे स्पष्टतया उपलब्ध होता है; अन्यथा ब्रह्मका किसी भी विशेष देश या कालसे सम्बन्ध नहीं है; क्योंकि वह सर्वगत और निर्विशेष है।

स एवं ब्रह्म विजानन्किमि-
ब्रह्मवित् का ऐश्वर्यम् त्याह—अश्नुते भुङ्क्ते सर्वान्निरवशिष्टान्कामान्भोगानित्यर्थः। किमस्मदादिवत्पुत्रस्वर्गादीन्पर्यायेण नेत्याह। सह युगपदेकक्षणोपारूढानेव एकयोपलब्ध्या सवितृप्रकाशवत् नित्यया ब्रह्मस्वरूपाव्यतिरिक्तया यामवोचाम सत्यं ज्ञानमनन्तमिति। एतत्तदुच्यते—ब्रह्मणा सहेति।

वह इस प्रकार ब्रह्मको जाननेवाला क्या करता है? इसपर श्रुति कहती है—वह सम्पूर्ण अर्थात् निःशेष कामनाओं यानी इच्छित भोगोंको प्राप्त कर लेता है अर्थात् उन्हें भोगता है। तो क्या वह हमारे-तुम्हारे समान पुत्र एवं स्वर्गादि भोगोंको क्रमसे भोगता है? इसपर श्रुति कहती है—नहीं, उन्हें एक साथ भोगता है। वह एक ही क्षणमें बुद्धिवृत्तिपर आरूढ हुए सम्पूर्ण भोगोंको सूर्यके प्रकाशके समान नित्य तथा ब्रह्मस्वरूपसे अभिन्न एक ही उपलब्धिके द्वारा, जिसका हमने 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' ऐसा निरूपण किया है, भोगता है। 'ब्रह्मणा सह सर्वान्कामानश्नुते' इस वाक्यसे यही अर्थ कहा गया है।

ब्रह्मभूतो विद्वान्ब्रह्मस्वरूपेणैव सर्वान्कामान्सहाश्नुते, न यथोपाधिकृतेन स्वरूपेणात्मना जलसूर्यकादिवत्प्रतिबिम्बभूतेन सांसारिकेण धर्मादिनिमित्तापेक्षांश्चक्षुरादिकरणापेक्षांश्च कामान् पर्यायेणाश्नुते लोकः; कथं तर्हि? यथोक्तेन प्रकारेण सर्वज्ञेन सर्व-

ब्रह्मभूत विद्वान् ब्रह्मस्वरूपसे ही एक साथ सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है। अर्थात् दूसरे लोग जिस प्रकार जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान अपने औपाधिक और संसारी आत्माके द्वारा धर्मादि निमित्तकी अपेक्षावाले तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंकी अपेक्षासे युक्त सम्पूर्ण भोगोंको क्रमशः भोगते हैं उस प्रकार उन्हें नहीं भोगता। तो फिर कैसे भोगता है? वह उपर्युक्त

गतेन सर्वात्मना नित्यब्रह्मात्मस्वरूपेण धर्मादिनिमित्तानपेक्षांश्चक्षुरादिकरणनिरपेक्षांश्च सर्वान्कामान्सहैवाश्नुत इत्यर्थः । विपश्चिता मेधाविना सर्वज्ञेन । तद्धि वैपश्चित्यं यत्सर्वज्ञत्वं तेन सर्वज्ञस्वरूपेण ब्रह्मणाश्नुत इति । इतिशब्दो मन्त्रपरिसमाप्त्यर्थः ।

सर्व एव वल्ल्यर्थो ब्रह्मविदाप्नोति परमिति ब्राह्मणवाक्येन सूत्रितः । स च सूत्रितोऽर्थः संक्षेपतो मन्त्रेण व्याख्यातः । पुनस्तस्यैव विस्तरेणार्थनिर्णयः कर्तव्य इत्युत्तरस्तद्वृत्तिस्थानीयो ग्रन्थ आरभ्यते तस्माद्वा एतस्मादित्यादिः ।

तत्र च सत्यं ज्ञानमनन्तं सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्युक्तं मन्त्रादौ ब्रह्मेति मीमांस्यते तत्कथं सत्यं ज्ञानमनन्तं चेत्यत आह । तत्र त्रिविधं ह्यानन्त्यं देशतः कालतो वस्तुतश्चेति । तद्यथा देशतोऽनन्त आकाशः । न हि देशतस्तस्य

प्रकारसे सर्वज्ञ सर्वगत सर्वात्मक एवं नित्यब्रह्मात्मस्वरूपसे, धर्मादि निमित्तकी अपेक्षासे रहित तथा चक्षु आदि इन्द्रियोंसे भी निरपेक्ष सम्पूर्ण भोगोंको एक साथ ही प्राप्त कर लेता है—यह इसका तात्पर्य है । विपश्चित्—मेधावी अर्थात् सर्वज्ञ ब्रह्मरूपसे । ब्रह्मका जो सर्वज्ञत्व है वही उसकी विपश्चित्ता (विद्वत्ता) है । उस सर्वज्ञस्वरूप ब्रह्मरूपसे ही वह उन्हें भोगता है । मूलमें 'इति' शब्द मन्त्रकी समाप्ति सूचित करनेके लिये है ।

'ब्रह्मविदाप्नोति परम्' इस ब्राह्मण-वाक्यद्वारा इस सम्पूर्ण वल्लीका अर्थ सूत्ररूपसे कह दिया है । उस सूत्रभूत अर्थकी ही मन्त्रद्वारा संक्षेप-से व्याख्या कर दी गयी है । अब फिर उसीका अर्थ विस्तारसे निर्णय करना है—इसीलिये उसका वृत्तिरूप 'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि आगेका ग्रन्थ आरम्भ किया जाता है ।

उस मन्त्रमें सबसे पहले 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' ऐसा कहा है । वह सत्य, ज्ञान और अनन्त किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—अनन्तता तीन प्रकारकी है—देशसे, कालसे और वस्तुसे । उनमें जैसे आकाश देशतः अनन्त है । उसका देशसे

परिच्छेदोऽस्ति । न तु कालतश्चानन्त्यं वस्तुतश्चाकाशस्य । कस्मात्कार्यत्वात् । नैवं ब्रह्मण आकाशवत्कालतोऽप्यन्तवत्त्वमकार्यत्वात् । कार्यं हि वस्तु कालेन परिच्छिद्यते । अकार्यं च ब्रह्म । तस्मात्कालतोऽस्यानन्त्यम् ।

तथा वस्तुतः । कथं पुनर्वस्तुत आनन्त्यं सर्वानन्यत्वात् । भिन्नं हि वस्तु वस्त्वन्तरस्यान्तो भवति, वस्त्वन्तरबुद्धिर्हि प्रसक्ताद्वस्त्वन्तरान्निवर्तते । यतो यस्य बुद्धेर्विनिवृत्तिः स तस्यान्तः । तद्यथा गोत्वबुद्धिरश्वत्वाद्विनिवर्तत इति अश्वत्वान्तं गोत्वमित्यन्तवदेव भवति । स चान्तो भिन्नेषु वस्तुषु दृष्टः । नैवं ब्रह्मणो भेदः । अतो वस्तुतोऽप्यानन्त्यम् ।

परिच्छेद नहीं है। किन्तु कालसे और वस्तुसे आकाशकी अनन्तता नहीं है। क्यों नहीं है ? क्योंकि वह कार्य है। किन्तु आकाशके समान किसीका कार्य न होनेके कारण ब्रह्मका इस प्रकार कालसे भी अन्तवत्त्व नहीं है। जो वस्तु किसीका कार्य होती है वही कालसे परिच्छिन्न होती है। और ब्रह्म किसीका कार्य नहीं है, इसलिये उसकी कालसे अनन्तता है।

इसी प्रकार वह वस्तुसे भी अनन्त है। वस्तुसे उसकी अनन्तता किस प्रकार है ? क्योंकि वह सबसे अभिन्न है। भिन्न वस्तु ही किसी अन्य भिन्न वस्तुका अन्त हुआ करती है; क्योंकि किसी भिन्न वस्तुमें गयी हुई बुद्धि ही किसी अन्य प्रसक्त वस्तुसे निवृत्त की जाती है। जिस [पदार्थसम्बन्धिनी] बुद्धिकी जिस पदार्थसे निवृत्ति होती है वही उस पदार्थका अन्त है। जिस प्रकार गोत्वबुद्धि अश्वत्वबुद्धिसे निवृत्त होती है, अतः गोत्वका अन्त अश्वत्व हुआ, इसलिये वह अन्तवान् ही है और उसका वह अन्त भिन्न पदार्थोंमें ही देखा जाता है। किन्तु ब्रह्मका ऐसा कोई भेद नहीं है। अतः वस्तुसे भी उसकी अनन्तता है।

ब्रह्मणः सार्वात्म्यं निरूप्यते

कथं पुनः सर्वानन्यत्वं ब्रह्मण इत्युच्यते—सर्ववस्तुकारणत्वात् । सर्वेषां हि वस्तूनां कालाकाशादीनां कारणं ब्रह्म । कार्यापेक्षया वस्तुतोऽन्तवत्त्वमिति चेन्न; अनृतत्वात्कार्यवस्तुनः । न हि कारणव्यतिरेकेण कार्यं नाम वस्तुतोऽस्ति यतः कारणबुद्धिर्विनिवर्तेत । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) एवं सदेव सत्यमिति श्रुत्यन्तरात् ।

तस्मादाकाशादिकारणत्वाद्देशतस्तावदनन्तं ब्रह्म । आकाशो ह्यनन्त इति प्रसिद्धं देशतः, तस्येदं कारणं तस्मात्सिद्धं देशत आत्मन आनन्त्यम् । न ह्यसर्वगतात्सर्वगतमुत्पद्यमानं लोके किंचिद् दृश्यते । अतो निरतिशयमात्मन आनन्त्यं देशतस्तथा-

किन्तु ब्रह्मकी सबसे अभिन्नता किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—क्योंकि वह सम्पूर्ण वस्तुओंका कारण है—ब्रह्म काल-आकाश आदि सभी वस्तुओंका कारण है । यदि कहो कि अपने कार्यकी अपेक्षासे तो उसका वस्तुसे अन्तवत्त्व हो ही जायगा, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि कार्यरूप वस्तु तो मिथ्या है—वस्तुत: कारणसे भिन्न कार्य है ही नहीं जिससे कि कारण-बुद्धिकी निवृत्ति हो "वाणीसे आरम्भ होनेवाला विकार केवल नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है" इसी प्रकार "सत् ही सत्य है"—ऐसा एक अन्य श्रुतिसे भी सिद्ध होता है ।

अत: आकाशादिका कारण होनेसे ब्रह्म देशसे भी अनन्त है । आकाश देशत: अनन्त है—यह तो प्रसिद्ध ही है, और यह उसका कारण है; अत: आत्माका देशत: अनन्तत्व सिद्ध ही है; क्योंकि लोकमें असर्वगत वस्तुसे कोई सर्वगत वस्तु उत्पन्न होती नहीं देखी जाती । इसलिये आत्माका देशत: अनन्तत्व निरतिशय है [अर्थात् उससे बड़ा और कोई नहीं है ।] इसी प्रकार

कार्यत्वात्कालतः, तद्भिन्नवस्त्वन्तराभावाच्च वस्तुतः । अत एव निरतिशयसत्यत्वम् ।

किसीका कार्य न होनेके कारण वह कालतः और उससे भिन्न पदार्थका सर्वथा अभाव होनेके कारण वस्तुतः भी अनन्त है । इसलिये आत्माका सबसे बढ़कर सत्यत्व है । *

सृष्टिक्रमः

तस्मादिति मूलवाक्यसूत्रितं ब्रह्म परामृश्यते । एतस्मादितिमन्त्रवाक्येनानन्तरं यथालक्षितम् । यद्ब्रह्मादौ ब्राह्मणवाक्येन सूत्रितं यच्च सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेत्यनन्तरमेव लक्षितं तस्मादेतस्माद्ब्रह्मण आत्मन आत्मशब्दवाच्यात् । आत्मा हि तत्सर्वस्य "तत्सत्यं स आत्मा" (छा० उ० ६ । ८–१६) इति श्रुत्यन्तरादतो ब्रह्मात्मा । तस्मादेतस्माद्ब्रह्मण आत्मस्वरूपादाकाशः संभूतः समुत्पन्नः ।

[मन्त्रमें] 'तस्मात्' (उससे) इस पदद्वारा मूलवाक्यमें सूत्ररूपसे कहे हुए 'ब्रह्म' पदका परामर्श किया जाता है । तथा इसके अनन्तर 'एतस्मात्' इत्यादि मन्त्रवाक्यसे भी पूर्वनिर्दिष्ट ब्रह्मका ही उल्लेख किया गया है । [तात्पर्य यह है—] जिस ब्रह्मका पहले ब्राह्मणवाक्यद्वारा सूत्ररूपसे उल्लेख किया गया है और जो उसके पश्चात् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस प्रकार लक्षित किया गया है उस इस ब्रह्म—आत्मासे, अर्थात् 'आत्मा' शब्दवाच्य ब्रह्मसे—क्योंकि "तत् सत्यं स आत्मा" इत्यादि एक अन्य श्रुतिके अनुसार वह सबका आत्मा है; अतः यहाँ ब्रह्म ही आत्मा है—उस इस आत्मस्वरूप ब्रह्मसे आकाश संभूत—उत्पन्न हुआ ।

आकाशो नाम शब्दगुणोऽवकाशकरो मूर्तद्रव्याणाम् । तस्माद्

जो शब्द-गुणवाला और समस्त मूर्त्त पदार्थोंको अवकाश देनेवाला है उसे 'आकाश' कहते हैं । उस

* क्योंकि जो वस्तु अनन्त होती है वही सत्य होती है, परिच्छिन्न पदार्थ कभी सत्य नहीं हो सकता ।

आकाशात्स्वेन स्पर्शगुणेन पूर्वेण च कारणगुणेन शब्देन द्विगुणो वायुः सम्भूत इत्यनुवर्तते । वायोश्च स्वेन रूपगुणेन पूर्वाभ्यां च त्रिगुणोऽग्निः संभूतः । अग्नेः स्वेन रसगुणेन पूर्वैश्च त्रिभिश्चतुर्गुणा आपः संभूताः । अद्भ्यः स्वेन गन्धगुणेन पूर्वैश्चतुर्भिः पञ्चगुणा पृथिवी संभूता । पृथिव्या ओषधयः । ओषधीभ्योऽन्नम् । अन्नाद्रेतोरूपेण परिणतात् पुरुषः शिरःपाण्याद्याकृतिमान् ।

आकाशसे अपने गुण 'स्पर्श' और अपने पूर्ववर्ती आकाशके गुण 'शब्द' से युक्त दो गुणवाला वायु उत्पन्न हुआ । यहाँ प्रथम वाक्यके 'सम्भूतः' (उत्पन्न हुआ) इस क्रिया पदकी [सर्वत्र] अनुवृत्ति की जाती है । वायुसे अपने गुण 'रूप' और पहले दो गुणोंके सहित तीन गुणवाला अग्नि उत्पन्न हुआ । तथा अग्निसे अपने गुण 'रस' और पहले तीन गुणोंके सहित चार गुणवाला जल हुआ । और जलसे अपने गुण 'गन्ध' और पहले चार गुणोंके सहित पाँच गुणवाली पृथिवी उत्पन्न हुई । पृथिवीसे ओषधियाँ, ओषधियोंसे अन्न और वीर्यरूपमें परिणत हुए अन्नसे शिर तथा हाथ-पाँवरूप आकृतिवाला पुरुष उत्पन्न हुआ ।

स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयोऽन्नरसविकारः । पुरुषाकृतिभावितं हि सर्वेभ्योऽङ्गेभ्यस्तेजः संभूतं रेतो बीजम्; तस्माद्यो जायते सोऽपि तथा पुरुषाकृतिरेव स्यात् । सर्वजातिषु जायमानानां

वह यह पुरुष अन्नरसमय अर्थात् अन्न और रसका विकार है । पुरुषाकारसे भावित [अर्थात् पुरुषके आकारकी वासनासे युक्त] तथा उसके सम्पूर्ण अङ्गोंसे उत्पन्न हुआ तेजोरूप जो शुक्र है वह उसका बीज है । उससे जो उत्पन्न होता है वह भी उसीके समान पुरुषाकार ही होता है, क्योंकि सभी जातियोंमें उत्पन्न होनेवाले देहोंमें पिताके

जनकाकृतिनियमदर्शनात् ।

सर्वेषामप्यन्नरसविकारत्वे ब्रह्मवंश्यत्वे चाविशिष्टे कस्मात्पुरुष एव गृह्यते ?

प्राधान्यात् ।

किं पुनः प्राधान्यम् ?

कर्मज्ञानाधिकारः । पुरुष एव हि शक्तत्वादर्थित्वादपर्युदस्तत्वाच्च कर्मज्ञानयोरधिक्रियते— "पुरुषे त्वेवाविस्तरामात्मा स हि प्रज्ञानेन संपन्नतमो विज्ञातं वदति विज्ञातं पश्यति वेद श्वस्तनं वेद लोकालोकौ मर्त्येनामृतमीक्षतीत्येवं संपन्नः । अथेतरेषां पशूनामशनायापिपासे एवाभिविज्ञानम् ।" इत्यादिश्रुत्यन्तरदर्शनात् ।

कथं पुरुषस्य प्राधान्यम्

समान आकृति होनेका नियम देखा जाता है ।

शङ्का—सृष्टिमें सभी शरीर समानरूपसे अन्न और रसके विकार तथा ब्रह्माके वंशमें उत्पन्न हुए हैं; फिर यहाँ पुरुषको ही क्यों ग्रहण किया गया है ?

समाधान—प्रधानताके कारण ।

शङ्का—उसकी प्रधानता क्या है ?

समाधान—कर्म और ज्ञानका अधिकार ही उसकी प्रधानता है । [कर्म और ज्ञानके साधनमें] समर्थ, [उनके फलकी] इच्छावाला और उससे उदासीन न होनेके कारण पुरुष ही कर्म और ज्ञानका अधिकारी है । "पुरुषमें ही आत्माका पूर्णतया आविर्भाव हुआ है; वही प्रकृष्ट ज्ञानसे सबसे अधिक सम्पन्न है । वह जानी-बूझी बात कहता है, जाने-बूझे पदार्थोंको देखता है, वह कल होनेवाली बात भी जान सकता है, उसे उत्तम और अधम लोकोंका ज्ञान है तथा वह कर्म-ज्ञानरूप नश्वर साधनके द्वारा अमर पदकी इच्छा करता है—इस प्रकार वह विवेकसम्पन्न है । उसके सिवा अन्य पशुओंको तो केवल भूख-प्यासका ही विशेष ज्ञान होता है" ऐसी एक दूसरी श्रुति देखनेसे भी [पुरुषकी प्रधानता सिद्ध होती है] ।

स हि पुरुष इह विद्ययान्तरतमं ब्रह्म संक्रामयितुमिष्टः। तस्य च बाह्याकारविशेषेष्वनात्मस्वात्मभाविता बुद्धिरनालम्ब्य विशेषं कंचित्सहसान्तरतमप्रत्यगात्मविषया निरालम्बना च कर्तुमशक्येति दृष्टशरीरात्मसामान्यकल्पनया शाखाचन्द्रनिदर्शनवदन्तः प्रवेशयन्नाह—

तस्येदमेव शिरः। तस्यास्य

पक्ष्यात्मनाऽन्नमयस्य निरूपणम्

पुरुषस्यान्नरसमयस्येदमेव शिरः प्रसिद्धम्। प्राणमयादिष्वशिरसां शिरस्त्वदर्शनादिहापि तत्प्रसङ्गो मा भूदितीदमेव शिर इत्युच्यते। एवं पक्षादिषु योजना। अयं

उस पुरुषको ही यहाँ (इस वल्लीमें) विद्याके द्वारा सबकी अपेक्षा अन्तरतम ब्रह्मके पास ले जाना अभीष्ट है। किन्तु उसकी बुद्धि, जो बाह्याकार विशेषरूप अनात्मपदार्थोंमें आत्मभावना किये हुए है, किसी विशेष आलम्बनके बिना एकाएक सबसे अन्तरतम प्रत्यगात्मसम्बन्धिनी तथा निरालम्बना की जानी असम्भव है; अतः इस दिखलायी देनेवाले शरीररूप आत्माकी समानताकी कल्पनासे शाखाचन्द्र दृष्टान्तके समान उसका भीतरकी ओर प्रवेश कराकर श्रुति कहती है—

उसका यह [शिर] ही शिर है। उस इस अन्नरसमय पुरुषका यह प्रसिद्ध शिर ही [शिर है]। [अगले अनुवाकमें] प्राणमय आदि शिररहित कोशोंमें भी शिरस्त्व देखा जानेके कारण यहाँ भी वही बात न समझी जाय [अर्थात् इस अन्नमय कोशको भी वस्तुतः शिररहित न समझा जाय] इसलिये 'यह प्रसिद्ध शिर ही उसका शिर है'—ऐसा कहा जाता है। इसी प्रकार पक्षादिके विषयमें लगा लेना चाहिये। पूर्वाभि-

दक्षिणो बाहुः पूर्वाभिमुखस्य दक्षिणः पक्षः । अयं सव्यो बाहुरुत्तरः पक्षः । अयं मध्यमो देहभाग आत्माङ्गानाम् । "मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा" इति श्रुतेः । इदमिति नाभेरधस्ताद्यदङ्गं तत्पुच्छं प्रतिष्ठा । प्रतितिष्ठत्यनयेति प्रतिष्ठा पुच्छमिव पुच्छम् अधोलम्बनसामान्याद्यथा गोः पुच्छम् ।

मुख व्यक्तिका यह दक्षिण [दक्षिण दिशाकी ओरका] बाहु दक्षिण पक्ष है, यह वाम बाहु उत्तर पक्ष है तथा यह देहका मध्यभाग अङ्गोंका आत्मा है, जैसा कि "मध्यभाग ही इन अङ्गोंका आत्मा है" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है । और यह जो नाभिसे नीचेका अङ्ग है वही पुच्छ—प्रतिष्ठा है । इसके द्वारा वह स्थित होता है, इसलिये यह उसकी प्रतिष्ठा है । नीचेकी ओर लटकनेमें समानता होनेके कारण वह पुच्छके समान पुच्छ है, जैसे कि गौकी पूँछ ।

एतत्प्रकृत्योत्तरेषां प्राणमयादीनां रूपकत्वसिद्धिः, मूषानिषिक्तद्रुतताम्रप्रतिमावत् । तदप्येष श्लोको भवति । तत्तस्मिन्नेवार्थे ब्राह्मणोक्तेऽन्नमयात्मप्रकाशक एष श्लोको मन्त्रो भवति ॥ १ ॥

इस अन्नमय कोशसे आरम्भ करके ही साँचेमें डाले हुए पिघले ताँबेकी प्रतिमाके समान आगेके प्राणमय आदि कोशोंके रूपकत्वकी सिद्धि होती है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है, अर्थात् अन्नमय आत्माको प्रकाशित करनेवाले उस ब्राह्मणोक्त अर्थमें ही यह श्लोक अर्थात् मन्त्र है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां प्रथमो अनुवाकः ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

अन्नकी महिमा तथा प्राणमय कोशका वर्णन

अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते । याः काश्च पृथिवीꣳ-श्रिताः । अथो अन्नेनैव जीवन्ति । अथैनदपि यन्त्यन्ततः । अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । सर्वं वै तेऽन्नमाप्नुवन्ति येऽन्नं ब्रह्मोपासते । अन्नꣳहि भूतानां ज्येष्ठम् । तस्मात्सर्वौषधमुच्यते । अन्नाद्भूतानि जायन्ते । जातान्यन्नेन वर्धन्ते । अद्यतेऽत्ति च भूतानि । तस्मादन्नं तदुच्यत इति । तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्राण एव शिरः । व्यानो दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा । पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

अन्नसे ही प्रजा उत्पन्न होती है । जो कुछ प्रजा पृथिवीको आश्रित करके स्थित है वह सब अन्नसे ही उत्पन्न होती है; फिर वह अन्नसे ही जीवित रहती है और अन्तमें उसीमें लीन हो जाती है; क्योंकि अन्न ही प्राणियोंका ज्येष्ठ (अग्रज—पहले उत्पन्न होनेवाला) है । इसीसे वह सर्वौषध कहा जाता है । जो लोग 'अन्न ही ब्रह्म है' इस प्रकार उपासना करते हैं वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न प्राप्त करते हैं । अन्न ही प्राणियोंमें बड़ा है; इसलिये वह सर्वौषध कहलाता है । अन्नसे ही प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होकर अन्नसे ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं । अन्न

प्राणियोंद्वारा खाया जाता है और वह भी उन्हींको खाता है । इसीसे वह 'अन्न' कहा जाता है । उस इस अन्नरसमय पिण्डसे, उसके भीतर रहनेवाला दूसरा शरीर प्राणमय है । उसके द्वारा यह (यह अन्नमय कोश) परिपूर्ण है । वह यह (प्राणमय कोश) भी पुरुषाकार ही है । उस (अन्नमय कोश) की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है । उसका प्राण ही शिर है । व्यान दक्षिण पक्ष है । अपान उत्तर पक्ष है । आकाश आत्मा (मध्यभाग) है और पृथिवी पुच्छ—प्रतिष्ठा है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

अन्नाद्रसादिभावपरिणतात्, वा इति स्मरणार्थः, प्रजाः स्थावरजङ्गमाः प्रजायन्ते । याः काश्चाविशिष्टाः पृथिवीं श्रिताः पृथिवीमाश्रितास्ताः सर्वा अन्नादेव प्रजायन्ते । अथो अपि जाता अन्नेनैव जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति वर्धन्त इत्यर्थः । अथाप्येनदन्नमपियन्त्यपिगच्छन्ति । अपिशब्दः प्रतिशब्दार्थे । अन्नं प्रति प्रलीयन्त इत्यर्थः । अन्ततोऽन्ते जीवनलक्षणाया वृत्तेः परिसमाप्तौ ।

अन्नमयोपासनफलम्

रसादिरूपमें परिणत हुए अन्नसे ही स्थावर-जङ्गमरूप प्रजा उत्पन्न होती है । 'वै' यह निपात स्मरणके अर्थमें है । जो कुछ प्रजा अविशेषभावसे पृथिवीको आश्रित किये हुए है वह सब अन्नसे ही उत्पन्न होती है । और फिर उत्पन्न होनेपर वह अन्नसे ही जीवित रहती—प्राण धारण करती अर्थात् वृद्धिको प्राप्त होती है । और अन्तमें—जीवनरूप वृत्तिकी समाप्ति होनेपर वह अन्नमें ही लीन हो जाती है । ['अपियन्ति' इसमें] 'अपि' शब्द 'प्रति' के अर्थमें है । अर्थात् वह अन्नके प्रति ही लीन हो जाती है ।

कस्मात् ? अन्नं हि यस्माद् भूतानां प्राणिनां ज्येष्ठं प्रथमजम् । अन्नमयादीनां हीतरेषां भूतानां

इसका कारण क्या है ? क्योंकि अन्न ही प्राणियोंका ज्येष्ठ यानी अग्रज है । अन्नमय आदि जो इतर प्राणी हैं उनका कारण अन्न ही है ।

कारणमन्नमतोऽन्नप्रभवा अन्नजीवना अन्नप्रलयाश्च सर्वाः प्रजाः। यस्माच्चैवं तस्मात्सर्वौषधं सर्वप्राणिनां देहदाहप्रशमनमन्नमुच्यते।

अन्नब्रह्मविदः फलमुच्यते—सर्वं वै ते समस्तमन्नजातमाप्नुवन्ति। के? येऽन्नं ब्रह्म यथोक्तमुपासते। कथम्? अन्नजोऽन्नात्मान्नप्रलयोऽहं तस्मादन्नं ब्रह्मेति।

कुतः पुनः सर्वान्नप्राप्तिफलमन्नात्मोपासनमित्युच्यते। अन्नं हि भूतानां ज्येष्ठम्। भूतेभ्यः पूर्वं निष्पन्नत्वाज्ज्येष्ठं हि यस्मात्तस्मात्सर्वौषधमुच्यते। तस्मादुपपन्ना सर्वान्नात्मोपासकस्य सर्वान्नप्राप्तिः अन्नाद्भूतानि जायन्ते।

इसलिये सम्पूर्ण प्रजा अन्नसे उत्पन्न होनेवाली, अन्नके द्वारा जीवित रहनेवाली और अन्नमें ही लीन हो जानेवाली है। क्योंकि ऐसी बात है, इसलिये अन्न सर्वौषध—सम्पूर्ण प्राणियोंके देहके सन्तापको शान्त करनेवाला कहा जाता है।

अन्नरूप ब्रह्मकी उपासना करनेवालेका [प्राप्तव्य] फल बतलाया जाता है—वे निश्चय ही सम्पूर्ण अन्न-समूहको प्राप्त कर लेते हैं। कौन? जो उपर्युक्त अन्नकी ही ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं। किस प्रकार [उपासना करते हैं]? इस तरह कि मैं अन्नसे उत्पन्न, अन्नस्वरूप और अन्नमें ही लीन हो जानेवाला हूँ; इसलिये अन्न ब्रह्म है।

'अन्न ही आत्मा है' इस प्रकारकी उपासना किस प्रकार सम्पूर्ण अन्नकी प्राप्तिरूप फलवाली है, सो बतलाते हैं—अन्न ही प्राणियोंका ज्येष्ठ है—प्राणियोंसे पहले उत्पन्न होनेके कारण, क्योंकि वह उनसे ज्येष्ठ है, इसलिये वह सर्वौषध कहा जाता है। अतः सम्पूर्ण अन्नकी आत्मारूपसे उपासना करनेवालेके लिये सम्पूर्ण अन्नकी प्राप्ति उचित ही है। अन्नसे प्राणी उत्पन्न होते हैं और उत्पन्न

जातान्यन्नेन वर्धन्त इत्युपसंहारार्थं पुनर्वचनम् ।

इदानीमन्ननिर्वचनमुच्यते—

अन्नशब्द-निर्वचनम् अद्यते भुज्यते चैव यद्भूतैरन्नमत्ति च भूतानि स्वयं तस्माद्भूतैर्भुज्यमानत्वाद्भूतभोक्तृत्वाच्चान्नं तदुच्यते । इतिशब्दः प्रथमकोशपरिसमाप्त्यर्थः ।

अन्नमयादिभ्य आनन्दमयान्तेभ्य आत्मभ्योऽभ्यन्तरतमं ब्रह्म विद्यया प्रत्यगात्मत्वेन दिदर्शयिषुः शास्त्रमविद्याकृतपञ्चकोशापनयेनानेकतुषकोद्रववितुषीकरणेनेव तदन्तर्गततण्डुलान् प्रस्तौति तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादित्यादि ।

(अन्नमयकोश-निरासः)

तस्मादेतस्माद्यथोक्तादन्नरसमयात्पिण्डादन्यो व्यतिरिक्तोऽन्तरोऽभ्यन्तर आत्मा पिण्डवदेव मिथ्या

(प्राणमयकोश-निर्वचनम्)

होनेपर अन्नसे ही वृद्धिको प्राप्त होते हैं—यह पुनरुक्ति उपासनाके उपसंहारके लिये है ।

अब 'अन्न' शब्दकी व्युत्पत्ति कही जाती है—जो प्राणियोंद्वारा 'अद्यते'—खाया जाता है और जो स्वयं भी प्राणियोंको 'अत्ति' खाता है, इसलिये सम्पूर्ण प्राणियोंका भोज्य और उनका भोक्ता होनेके कारण भी वह 'अन्न' कहा जाता है । इस वाक्यमें 'इति' शब्द प्रथम कोशके विवरणकी परिसमाप्तिके लिये है ।

अनेक तुषाओंवाले धानोंको तुषरहित करके जिस प्रकार चावल निकाल लिये जाते हैं उसी प्रकार अन्नमयसे लेकर आनन्दमय कोशपर्यन्त सम्पूर्ण शरीरोंकी अपेक्षा आन्तरतम ब्रह्मको विद्याके द्वारा अपने प्रत्यगात्मरूपसे दिखलानेकी इच्छावाला शास्त्र अविद्याकल्पित पाँच कोशोंका बाध करता हुआ 'तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयात्' इत्यादि वाक्यसे आरम्भ करता है—

उस इस पूर्वोक्त अन्नरसमय पिण्डसे अन्य यानी पृथक् और उसके भीतर रहनेवाला आत्मा, जो अन्नरसमय पिण्डके समान मिथ्या ही आत्मारूपसे कल्पना किया हुआ

परिकल्पित आत्मत्वेन प्राणमयः प्राणो वायुस्तन्मयस्तत्प्रायः । तेन प्राणमयेनान्नरसमय आत्मैष पूर्णो वायुनेव दृतिः । स वा एष प्राणमय आत्मा पुरुषविध एव पुरुषाकार एव, शिरःपक्षादिभिः ।

किं स्वत एव, नेत्याह ।

प्राणमयस्य पुरुषविधत्वम् प्रसिद्धं तावदन्नरसमयस्यात्मनः पुरुषविधत्वम् । तस्यान्नरसमयस्य पुरुषविधतां पुरुषाकारतामनु अयं प्राणमयः पुरुषविधो मूषानिषिक्तप्रतिमावन्न स्वत एव । एवं पूर्वस्य पूर्वस्य पुरुषविधतामनूत्तरोत्तरः पुरुषविधो भवति पूर्वः पूर्वश्चोत्तरोत्तरेण पूर्णः ।

कथं पुनः पुरुषविधतास्य इत्युच्यते । तस्य प्राणमयस्य प्राण एव शिरः । प्राणमयस्य वायुविकारस्य प्राणो मुखनासिकानिःसरणो वृत्तिविशेषः शिर एव

है, प्राणमय है । प्राण—वायु उससे युक्त अर्थात् तत्प्राय [यानी उसमें प्राणकी ही प्रधानता है] । जिस प्रकार वायुसे धौंकनी भरी रहती है उसी प्रकार उस प्राणमयसे यह अन्नरसमय शरीर भरा हुआ है । वह यह प्राणमय आत्मा पुरुषविध अर्थात् शिर और पक्षादिके कारण पुरुषाकार ही है ।

क्या वह स्वतः ही पुरुषाकार है ? इसपर कहते हैं—नहीं, अन्नरसमय शरीरकी पुरुषाकारता तो प्रसिद्ध ही है; उस अन्नरसमयकी पुरुषविधता—पुरुषाकारताके अनुसार साँचेमें ढली हुई प्रतिमाके समान यह प्राणमय कोश भी पुरुषाकार है—स्वतः ही पुरुषाकार नहीं है । इसी प्रकार पूर्व-पूर्वकी पुरुषाकारता है और उसके अनुसार पीछे-पीछेका कोश भी पुरुषाकार है; तथा पूर्व-पूर्व कोश पीछे-पीछेके कोशसे पूर्ण (भरा हुआ) है ।

इसकी पुरुषाकारता किस प्रकार है ? सो बतलायी जाती है—उस प्राणमयका प्राण ही शिर है । वायुके विकाररूप प्राणमय कोशका मुख और नासिकासे निकलनेवाला प्राण, जो मुख्य प्राणकी वृत्तिविशेष है, श्रुतिके वचनानुसार शिररूपसे ही

परिकल्प्यते वचनात् । सर्वत्र वचनादेव पक्षादिकल्पना । व्यानो व्यानवृत्तिर्दक्षिणः पक्षः । अपान उत्तरः पक्षः । आकाश आत्मा य आकाशस्थो वृत्तिविशेष समानाख्यः स आत्मेवात्मा; प्राणवृत्त्यधिकारात् । मध्यस्थत्वादितराः पर्यन्ता वृत्तीरपेक्ष्यात्मा । "मध्यं ह्येषामङ्गानामात्मा" इति श्रुतिप्रसिद्धं मध्यमस्थस्यात्मत्वम् ।

कल्पना किया जाता है । इसके सिवा आगे भी श्रुतिके वचनानुसार ही पक्ष आदिकी कल्पना की गयी है । व्यान अर्थात् व्यान नामकी वृत्ति दक्षिण पक्ष है, अपान उत्तर पक्ष है, आकाश आत्मा है । यहाँ प्राण-वृत्तिका अधिकार होनेके कारण ['आकाश' शब्दसे] आकाशमें स्थित जो समानसंज्ञक प्राणकी वृत्ति है वही आत्मा है । अपने आसपासकी अन्य सब वृत्तियोंकी अपेक्षा मध्यवर्तिनी होनेके कारण वह आत्मा है । "इन अङ्गोंका मध्य आत्मा है" इस श्रुतिके मध्यवर्ती अङ्गका आत्मत्व प्रसिद्ध ही है ।

पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा । पृथिवीति पृथिवीदेवताध्यात्मिकस्य प्राणस्य धारयित्री स्थितिहेतुत्वात् । "सैषा पुरुषस्यापानमवष्टभ्य" (प्र० उ० ३ । ८) इति हि श्रुत्यन्तरम् । अन्यथोदानवृत्त्योर्ध्वगमनं गुरुत्वाच्च पतनं वा स्याच्छरीरस्य । तस्मात्पृथिवीदेवता पुच्छं प्रतिष्ठा प्राणमयस्यात्मनः । तत्तस्मिन्नेवार्थे प्राणमयात्मविषय एष श्लोको भवति ॥ १ ॥

पृथ्वी पुच्छ—प्रतिष्ठा है । 'पृथ्वी' इस शब्दसे पृथ्वीकी अधिष्ठात्री देवी समझनी चाहिये; क्योंकि स्थितिकी हेतुभूत होनेसे वही आध्यात्मिक प्राणको भी धारण करनेवाली है । इस विषयमें "वह पृथ्वी-देवता पुरुषके अपानको आश्रय करके" इत्यादि एक दूसरी श्रुति भी है । अन्यथा प्राणकी उदानवृत्तिसे या तो शरीर ऊपरको उड़ जाता अथवा गुरुतावश गिर पड़ता । अतः पृथ्वी-देवता ही प्राणमय शरीरकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है । उसी अर्थमें अर्थात् प्राणमय आत्माके विषयमें ही यह श्लोक प्रसिद्ध है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राणकी महिमा और मनोमय कोशका वर्णन

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति । मनुष्याः पशवश्च ये । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यते । सर्वमेव त आयुर्यन्ति ये प्राणं ब्रह्मोपासते । प्राणो हि भूतानामायुः । तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य यजुरेव शिरः । ऋग्दक्षिणः पक्षः । सामोत्तरः पक्षः । आदेश आत्मा । अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ।

देवगण प्राणके अनुगामी होकर प्राणन-क्रिया करते हैं तथा जो मनुष्य और पशु आदि हैं [वे भी प्राणन-क्रियासे ही चेष्टावान् होते हैं] । प्राण ही प्राणियोंकी आयु (जीवन) है । इसीलिये वह 'सर्वायुष' कहलाता है । जो प्राणकी ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं वे पूर्ण आयुको प्राप्त होते हैं । प्राण ही प्राणियोंकी आयु है । इसलिये वह 'सर्वायुष' कहलाता है । उस पूर्वोक्त (अन्नमय कोश) का ही यही देहस्थित आत्मा है । उस इस प्राणमय कोशसे दूसरा इसके भीतर रहनेवाला आत्मा मनोमय है । उसके द्वारा वह पूर्ण है । वह यह [मनोमय कोश] भी पुरुषाकार ही है । उस (प्राणमय कोश) की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है । यजुः ही उसका सिर है, ऋक् दक्षिण पक्ष है,

साम उत्तर पक्ष है, आदेश आत्मा है तथा अथर्वाङ्गिरस पुच्छ—प्रतिष्ठा है। उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति। प्राणस्य देवा अग्न्यादयः प्राधान्यम् प्राणं वाय्वात्मानं प्राणनशक्तिमन्तमनु तदात्मभूताः सन्तः प्राणन्ति प्राणनकर्म कुर्वन्ति प्राणनक्रियया क्रियावन्तो भवन्ति। अध्यात्माधिकाराद्देवा इन्द्रियाणि प्राणमनु प्राणन्ति मुख्यप्राणमनु चेष्टन्त इति वा। तथा मनुष्याः पशवश्च ये ते प्राणनकर्मणैव चेष्टावन्तो भवन्ति।

प्राणं देवा अनु प्राणन्ति—अग्नि आदि देवगण प्राणनशक्तिमान् वायुरूप प्राणके अनुगामी होकर अर्थात् तद्रूप होकर प्राणन-क्रिया करते हैं; यानी प्राणन-क्रियासे क्रियावान् होते हैं। अथवा यहाँ अध्यात्मसम्बन्धी प्रकरण होनेसे [यह समझना चाहिये कि] देव अर्थात् इन्द्रियाँ प्राणके पीछे प्राणन करती यानी मुख्य प्राणकी अनुगामिनी होकर चेष्टा करती हैं तथा जो भी मनुष्य और पशु आदि हैं वे ही प्राणन-क्रियासे ही चेष्टावान् होते हैं।

अतश्च नान्नमयेनैव परिच्छिन्नेनात्मनात्मवन्तः प्राणिनः। किं तर्हि? तदन्तर्गतेन प्राणमयेनापि साधारणेनैव सर्वपिण्डव्यापिनात्मवन्तो मनुष्यादयः। एवं मनोमयादिभिः पूर्वपूर्वव्यापिभिरुत्तरोत्तरैः सूक्ष्मैरानन्दमयान्तैराकाशादिभूतारब्धैरविद्याकृतैरात्मवन्तः सर्वे प्राणिनः। तथा स्वाभाविकेनाप्याकाशादि-

इससे जाना जाता है कि प्राणी केवल परिच्छिन्नरूप अन्नमय कोशसे ही आत्मवान् नहीं हैं। तो क्या है? वे मनुष्यादि जीव उसके अन्तर्वर्ती सम्पूर्ण पिण्डमें व्याप्त साधारण प्राणमय कोशसे भी आत्मवान् हैं। इस प्रकार पूर्व-पूर्व कोशमें व्यापक मनोमयसे लेकर आनन्दमय कोशपर्यन्त, आकाशादि भूतोंसे होनेवाले अविद्याकृत कोशोंसे सम्पूर्ण प्राणी आत्मवान् हैं। इसी प्रकार वे स्वभावसे ही

कारणेन नित्येनाविकृतेन सर्वगतेन सत्यज्ञानानन्तलक्षणेन पञ्चकोशातिगेन सर्वात्मनात्मवन्तः । स हि परमार्थत आत्मा सर्वेषामित्येतदप्यर्थादुक्तं भवति ।

प्राणं देवा अनु प्राणन्तीत्युक्तं तत्कस्मादित्याह । प्राणो हि यस्माद्भूतानां प्राणिनामायुर्जीवनम् । "यावद्ध्यस्मिञ्शरीरे प्राणो वसति तावदायुः" (कौ० उ० ३ । २) इति श्रुत्यन्तरात् । तस्मात्सर्वायुषम् । सर्वेषामायुः सर्वायुः सर्वायुरेव सर्वायुषमित्युच्यते । प्राणापगमे मरणप्रसिद्धेः । प्रसिद्धं हि लोके सर्वायुष्ट्वं प्राणस्य ।

प्राणोपासनफलम्

अतोऽस्माद्बाह्यादसाधारणादन्नमयादात्मनोऽपक्रम्यान्तः साधारणं प्राणमयमात्मानं ब्रह्मोपासते येऽहमस्मि प्राणः सर्वभूताना-

आकाशादिके कारण, नित्य, निर्विकार सर्वगत, सत्य ज्ञान एवं अनन्तरूप, पञ्चकोशातीत सर्वात्मासे भी आत्मवान् हैं । वही परमार्थतः सबका आत्मा है—यह बात भी इस वाक्यके तात्पर्यसे कह ही दी गयी है ।

देवगण प्राणके पीछे प्राणन-क्रिया करते हैं—ऐसा पहले कहा गया । ऐसा क्यों है ? सो बतलाते हैं—क्योंकि प्राण ही प्राणियोंका आयु—जीवन है । "जबतक इस शरीरमें प्राण रहता है तभीतक आयु है" इस एक अन्य श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है । इसीलिये वह 'सर्वायुष' है । सबकी आयुका नाम 'सर्वायु' है, 'सर्वायु' ही 'सर्वायुष' कहा जाता है; क्योंकि प्राण-प्रयाणके अनन्तर मृत्यु हो जाना प्रसिद्ध ही है । प्राणका सर्वायु होना तो लोकमें प्रसिद्ध ही है ।

अतः जो लोग इस बाह्य असाधारण (व्यावृत्तरूप) अन्नमय कोशसे आत्मबुद्धिको हटाकर इसके अन्तर्वर्ती और साधारण [सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें अनुगत] प्राणमय कोशको 'मैं प्राण सम्पूर्ण भूतोंका आत्मा

मात्मायुर्जीवनहेतुत्वादिति ते सर्वमेवायुरस्मिँल्लोके यन्ति, नापमृत्युना म्रियन्ते प्राक्प्राप्तादायुष इत्यर्थः। शतं वर्षाणीति तु युक्तं "सर्वमायुरेति" (छा० उ० २। ११-२०, ४। ११-१३) इति श्रुतिप्रसिद्धेः।

और उनके जीवनका कारण होनेसे उनकी आयु हूँ' इस प्रकार ब्रह्मरूपसे उपासना करते हैं वे इस लोकमें पूर्ण आयुको प्राप्त होते हैं। अर्थात् प्रारब्धवश प्राप्त हुई आयुसे पूर्व अपमृत्युसे नहीं मरते। "पूर्ण आयुको प्राप्त होता है" ऐसी श्रुति-प्रसिद्धि होनेके कारण यहाँ ['सर्वायु' शब्दसे] सौ वर्ष समझने चाहिये।

किं कारणं प्राणो हि भूतानामायुस्तस्मात्सर्वायुषमुच्यत इति। यो यद्गुणकं ब्रह्मोपास्ते स तद्गुणभाग्भवतीति विद्याफलप्राप्तेर्हेत्वर्थं पुनर्वचनं प्राणो हीत्यादि। तस्य पूर्वस्यान्नमयस्यैष एव शरीरेऽन्नमये भवः शारीर आत्मा। कः? य एष प्राणमयः।

[प्राणको सर्वायु समझनेका] क्या कारण है? क्योंकि प्राण ही प्राणियोंकी आयु है इसलिये वह 'सर्वायुष' कहा जाता है। जो व्यक्ति जैसे गुणवाले ब्रह्मकी उपासना करता है वह उसी प्रकारके गुणका भागी होता है—इस प्रकार विद्याके फलकी प्राप्तिके इस हेतुको प्रदर्शित करनेके लिये 'प्राणो हि भूतानामायुः' इत्यादि वाक्यकी पुनरुक्ति की गयी है। यही उस पूर्वकथित अन्नमय कोशका शारीर—अन्नमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा है। कौन? जो कि यह प्राणमय है।

मनोमयकोश-निर्वचनम्

तस्माद्वा एतस्मादित्युक्तार्थमन्यत्। अन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। मन इति संकल्पाद्यात्मकमन्तःकरणं तन्मयो मनोमयो

'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि शेष पदोंका अर्थ पहले कह चुके हैं। दूसरा अन्तर-आत्मा मनोमय है। संकल्प-विकल्पात्मक अन्तःकरणका नाम मन है; जो तद्रूप हो उसे मनोमय कहते हैं; जैसे [अन्नरूप

यथान्नमयः। सोऽयं प्राणमयस्याभ्यन्तर आत्मा। तस्य यजुरेव शिरः। यजुरित्यनियताक्षरपादावसानो मन्त्रविशेषस्तज्जातीयवचनो यजुःशब्दस्तस्य शिरस्त्वं प्राधान्यात्। प्राधान्यं च यागादौ संनिपत्योपकारकत्वात्। यजुषा हि हविर्दीयते स्वाहाकारादिना।

वाचनिकी वा शिरआदिकल्पना सर्वत्र। मनसो हि स्थानप्रयत्ननादस्वरवर्णपदवाक्यविषया तत्संकल्पात्मिका तद्भाविता वृत्तिः श्रोत्रादिकरणद्वारा यजुःसंकेतविशिष्टा यजुः

होनेके कारण] अन्नमय कहा गया है। वह इस प्राणमयका अन्तर्वर्ती आत्मा है। उसका यजुः ही शिर है। जिनमें अक्षरोंका कोई नियम नहीं है ऐसे पादोंमें समाप्त होनेवाले मन्त्रविशेषका नाम यजुः है। उस जातिके मन्त्रोंका वाचक 'यजुः' शब्द है। उसे प्रधानताके कारण शिर कहा गया है। यागादिमें संनिपत्य उपकारक* होनेके कारण यजुः-मन्त्रोंकी प्रधानता है; क्योंकि स्वाहा आदिके द्वारा यजुर्मन्त्रोंसे ही हवि दी जाती है।

अथवा इन सब प्रसंगोंमें शिर आदिकी कल्पना श्रुतिवाक्यसे ही समझनी चाहिये। अक्षरोंके [उच्चारणके] स्थान, [आन्तरिक] प्रयत्न, [उससे उत्पन्न हुआ] नाद; [उदात्तादि] स्वर, [अकारादि] वर्ण, [उनसे रचे हुए] पद और [पदोंके समूहरूप] वाक्यसे सम्बन्ध रखनेवाली तथा उन्हींके संकल्प और भावसे युक्त जो श्रवणादि इन्द्रियोंके द्वारा उत्पन्न होनेवाली 'यजुः' संकेतविशिष्ट मनकी वृत्ति है

* यज्ञाङ्ग दो प्रकारके होते हैं—एक संनिपत्य उपकारक और दूसरे आरात् उपकारक। उनमें जो अङ्ग साक्षात् अथवा परम्परासे प्रधान यागके कलेवरकी पूर्ति कर उसके द्वारा अपूर्वकी उत्पत्तिमें उपयोगी होते हैं वे संनिपत्य उपकारक कहलाते हैं। यजुर्मन्त्र भी यागशरीरको निष्पन्न करनेवाले होनेसे संनिपत्य उपकारक हैं।

इत्युच्यते । एवमृगेवं साम च ।

एवं च मनोवृत्तित्वे मन्त्राणां वृत्तिरेवावर्त्यत इति मानसो जप उपपद्यते । अन्यथाविषयत्वान्मन्त्रो नावर्तयितुं शक्यो घटादिवदिति मानसो जपो नोपपद्यते । मन्त्रावृत्तिश्च चोद्यते बहुशः कर्मसु ।

वही 'यजुः' कही जाती है । इस प्रकार 'ऋक्' और ऐसे ही 'साम' को भी समझना चाहिये ।*

इस प्रकार मन्त्रोंके मनोवृत्तिरूप होनेपर ही उस वृत्तिका आवर्तन करनेसे उनका मानसिक जप किया जाना ठीक हो सकता है । अन्यथा घटादिके समान मनके विषय न होनेके कारण तो मन्त्रोंकी आवृत्ति भी नहीं की जा सकती थी और उस अवस्थामें मानसिक जप होना सम्भव ही नहीं था । किन्तु मन्त्रोंकी आवृत्तिका तो बहुत-से कर्मोंमें विधान किया ही गया है [इससे उसकी असम्भावना तो सिद्ध हो नहीं सकती] ।

* 'यजुः' आदि शब्दोंसे यजुर्वेद आदि ही समझे जाते हैं । परन्तु यहाँ जो उन्हें मनोमय कोशके शिर आदि रूपसे बतलाया गया है उसमें यह शंका होती है कि उनका उससे ऐसा क्या सम्बन्ध है जो वे उसके अङ्गरूपसे बतलाये गये हैं ? इस वाक्यमें भगवान् भाष्यकारने उसी बातको स्पष्ट किया है । इसका तात्पर्य यह है कि यजुः, साम अथवा ऋक् आदि मन्त्रोंके उच्चारणमें सबसे पहले अन्यान्य शब्दोंके उच्चारणके समान मनका ही व्यापार होता है । पहले कण्ठ अथवा तालु आदि स्थानोंसे जठराग्निद्वारा प्रेरित वायुका आघात होता है, उससे अस्फुट नादकी उत्पत्ति होती है; फिर क्रमशः स्वर और अकारादि वर्ण अभिव्यक्त होते हैं । वर्णोंके संयोगसे पद और पदसमूहसे वाक्यकी रचना होती है । इस प्रकार मानसिक सङ्कल्प और भावसे ही यजुः आदि मन्त्र अभिव्यक्त होकर श्रोत्रेन्द्रियसे ग्रहण किये जाते हैं । अतः मनोवृत्तिसे उत्पन्न होनेवाले होनेके कारण ही यहाँ यजुर्विषयक मनोवृत्ति 'यजुः', ऋग्विषयक वृत्तिको 'ऋक्' और सामविषयक वृत्तिको 'साम' कहा गया है; तथा इस प्रकारकी यजुर्वृत्ति ही मनोमय कोशकी शीर्षस्थानीय है ।

अक्षरविषयस्मृत्यावृत्त्या मन्त्रावृत्तिः स्यादिति चेत् ?

न; मुख्यार्थासंभवात्। "त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्" इति ऋगावृत्तिः श्रूयते। तत्रर्चोऽविषयत्वे तद्विषयस्मृत्यावृत्त्या मन्त्रावृत्तौ च क्रियमाणायाम् "त्रिः प्रथमामन्वाह" इति ऋगावृत्तिर्मुख्योऽर्थश्चोदितः परित्यक्तः स्यात्। तस्मान्मनोवृत्त्युपाधिपरिच्छिन्नं मनोवृत्तिनिष्ठमात्मचैतन्यमनादिनिधनं यजुःशब्दवाच्यमात्मविज्ञानं मन्त्रा इति। एवं च नित्यत्वोपपत्तिर्वेदानाम् अन्यथा विषयत्वे रूपादिवदनित्यत्वं च स्यान्नैतद्युक्तम्। "सर्वे वेदा यत्रैकं भवन्ति

शङ्का—मन्त्रके अक्षरोंको विषय करनेवाली स्मृतिकी आवृत्ति होनेसे मन्त्रकी भी आवृत्ति हो सकती है—यदि ऐसा मानें तो ?

समाधान—नहीं; क्योंकि [ऐसा माननेसे जपका विधान करनेवाली श्रुतिका] मुख्य अर्थ असम्भव हो जायगा। "तीन बार प्रथम ऋक्की आवृत्ति करनी चाहिये और तीन बार अन्तिम ऋक्का अन्वाख्यान (आवर्तन) करे" इस प्रकार ऋक्की आवृत्तिके विषयमें श्रुतिकी आज्ञा है। ऐसी अवस्थामें मन्त्रमय ऋक् तो मनका विषय नहीं है, अतः मन्त्रकी आवृत्तिके स्थानमें यदि केवल उसकी स्मृतिका ही आवर्तन किया जाय तो "तीन बार प्रथम ऋक्की आवृत्ति करनी चाहिये" इस श्रुतिका मुख्य अर्थ छूट जाता है। अतः यह समझना चाहिये कि मनोवृत्तिरूप उपाधिसे परिच्छिन्न मनोवृत्तिस्थित जो अनादि-अनन्त आत्मचैतन्य 'यजुः' शब्दवाच्य आत्मविज्ञान है वह यजुर्मन्त्र है। इसी प्रकार वेदोंकी नित्यता भी सिद्ध हो सकती है; नहीं तो इन्द्रियोंके विषय होनेपर तो रूपादिके समान उनकी भी अनित्यता ही सिद्ध होगी; और ऐसा होना ठीक नहीं है। "जिसमें समस्त

स मानसीन आत्मा" इति च श्रुतिर्नित्यात्मनैकत्वं ब्रुवत्यृगादीनां नित्यत्वे समञ्जसा स्यात्। "ऋचो अक्षरे परमे व्योमन्यस्मिन्देवा अधि विश्वे निषेदुः" (श्वे० उ० ४ । ८) इति च मन्त्रवर्णः ।

वेद एकरूप हो जाते हैं वह मनरूप उपाधिमें स्थित आत्मा है" यह नित्य आत्माके साथ ऋगादिका एकत्व बतलानेवाली श्रुति भी उनका नित्यत्व सिद्ध होनेपर ही सार्थक हो सकती है । इस सम्बन्धमें "जिसमें सम्पूर्ण देव स्थित हैं उस अक्षर और परब्रह्मरूप आकाशमें ही ऋचाएँ तादात्म्यभावसे व्यवस्थित हैं" ऐसा मन्त्रवर्ण भी है ।

आदेशोऽत्र ब्राह्मणम्; अतिदेष्टव्यविशेषानतिदिशतीति। अथर्वाङ्गिरसा च दृष्टा मन्त्रा ब्राह्मणं च शान्तिकपौष्टिकादिप्रतिष्ठाहेतुकर्मप्रधानत्वात्पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति मनोमयात्मप्रकाशकः पूर्ववत् ॥ १ ॥

'आदेश आत्मा' इस वाक्यमें आदेश' शब्द ब्राह्मणका वाचक है; क्योंकि वेदोंका ब्राह्मणभाग ही कर्त्तव्यविशेषोंका आदेश (उपदेश) देता है । अथर्वाङ्गिरस ऋषिके साक्षात्कार किये हुए मन्त्र और ब्राह्मण ही पुच्छ—प्रतिष्ठा हैं क्योंकि उनमें शान्ति और पुष्टिकी स्थितिके हेतुभूत कर्मोंकी प्रधानता है । पूर्ववत् इस विषयमें ही—मनोमय आत्माका प्रकाश करनेवाला ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां तृतीयोऽनुवाकः ॥ ३ ॥

चतुर्थ अनुवाक

मनोमय कोशकी महिमा तथा विज्ञानमय कोशका वर्णन

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सह । आनन्दं ब्राह्मणो विद्वान् । न बिभेति कदाचनेति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्मान्मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयस्तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य श्रद्धैव शिरः । ऋतं दक्षिणः पक्षः । सत्यमुत्तरः पक्षः । योग आत्मा । महः पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है उस ब्रह्मानन्दको जाननेवाला पुरुष कभी भयको प्राप्त नहीं होता । यह जो [मनोमय शरीर] है वही उस अपने पूर्ववर्ती [प्राणमय कोश] का शारीरिक आत्मा है । उस इस मनोमयसे दूसरा इसका अन्तर-आत्मा विज्ञानमय है । उसके द्वारा यह पूर्ण है । वह यह विज्ञानमय भी पुरुषाकार ही है । उस [मनोमय] की पुरुषाकारताके अनुसार ही यह भी पुरुषाकार है । उसका श्रद्धा ही शिर है । ऋत दक्षिण पक्ष है । सत्य उत्तर पक्ष है । योग आत्मा (मध्यभाग) है और महत्तत्त्व पुच्छ—प्रतिष्ठा है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

यतो वाचो निवर्तन्ते । अप्राप्य मनसा सहेत्यादि । तस्य पूर्वस्य प्राणमयस्यैष एवात्मा शारीरः

जहाँसे मनके सहित वाणी उसे न पाकर लौट आती है—इत्यादि [अर्थ स्पष्ट ही है] उस पूर्वकथित प्राणमयका यही शारीर

शरीरे प्राणमये भवः शारीरः कः ? य एष मनोमयः । तस्माद्वा एतस्मादित्यादि पूर्ववत् । अन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयो मनोमयस्याभ्यन्तरो विज्ञानमयः ।

अर्थात् प्राणमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा है । कौन ? यह जो मनोमय है । 'तस्माद्वा एतस्मात्' इत्यादि वाक्यका अर्थ पूर्ववत् समझना चाहिये । उस इस मनोमयसे दूसरा इसका अन्तर आत्मा विज्ञानमय है अर्थात् मनोमय कोशके भीतर विज्ञानमय कोश है ।

मनोमयो वेदात्मोक्तः । वेदार्थविषया बुद्धिर्निश्चयात्मिका विज्ञानं तच्चाध्यवसायलक्षणमन्तःकरणस्य धर्मः । तन्मयो निश्चयविज्ञानैः प्रमाणस्वरूपैर्निर्वर्तित आत्मा विज्ञानमयः । प्रमाणविज्ञानपूर्वको हि यज्ञादिस्तायते । यज्ञादिहेतुत्वं च वक्ष्यति श्लोकेन ।

मनोमय कोश वेदरूप बतलाया गया था । वेदोंके अर्थके विषयमें जो निश्चयात्मिका बुद्धि है उसीका नाम विज्ञान है । और वह अन्तःकरणका अध्यवसायरूप धर्म है । तन्मय अर्थात् प्रमाणस्वरूप निश्चय विज्ञानसे (निश्चयात्मिका बुद्धिसे निष्पन्न होनेवाला आत्मा विज्ञानमय है, क्योंकि प्रमाणके विज्ञानपूर्वक ही यज्ञादिका विस्तार किया जाता है । विज्ञान यज्ञादिका हेतु है—यह बात श्रुति आगे चलकर मन्त्रद्वारा बतलायेगी ।

निश्चयविज्ञानवतो हि कर्तव्येष्वर्थेषु पूर्वं श्रद्धोत्पद्यते । सा सर्वकर्तव्यानां प्राथम्याच्छिर इव शिरः । ऋतसत्ये यथाव्याख्याते एव । योगो युक्तिः

निश्चयात्मिका बुद्धिसम्पन्न पुरुषको सबसे पहले कर्तव्यकर्ममें श्रद्धा ही उत्पन्न होती है । अतः सम्पूर्ण कर्मोंमें प्रथम होनेके कारण वह शिरके समान उस विज्ञानमयका शिर है । ऋत और सत्यका अर्थ पहले (शीक्षावल्ली, नवम अनुवाकमें की हुई व्याख्याके ही समान है ।

समाधानम्, आत्मेवात्मा। आत्मवतो हि युक्तस्य समाधानवतोऽङ्गानीव श्रद्धादीनि यथार्थप्रतिपत्तिक्षमाणि भवन्ति। तस्मात्समाधानं योग आत्मा विज्ञानमयस्य। महः पुच्छं प्रतिष्ठा।

मह इति महत्तत्त्वं प्रथमजम् "महद्यक्षं प्रथमजं वेद" (बृ० उ० ५।४।१) इति श्रुत्यन्तरात्। पुच्छं प्रतिष्ठा कारणत्वात्। कारणं हि कार्याणां प्रतिष्ठा। यथा वृक्षवीरुधां पृथिवी। सर्वबुद्धिविज्ञानानां च महत्तत्त्वं कारणम्। तेन तद्विज्ञानमयस्यात्मनः प्रतिष्ठा। तदप्येष श्लोको भवति पूर्ववत्। यथान्नमयादीनां ब्राह्मणोक्तानां प्रकाशकाः श्लोका एवंविज्ञानमयस्यापि ॥१॥

योग—युक्ति अर्थात् समाधान ही आत्माके समान उसका आत्मा है। युक्त अर्थात् समाधानसम्पन्न आत्मवान् पुरुषके ही अङ्गादिके समान श्रद्धा आदि साधन यथार्थ ज्ञानकी प्राप्तिमें समर्थ होते हैं। अतः समाधान यानी योग ही विज्ञानमय कोशका आत्मा है और महः उसकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है।

"प्रथम उत्पन्न हुए महान् यक्ष (पूजनीय) को जानता है" इस एक अन्य श्रुतिके अनुसार 'महः' यह महत्तत्त्वका नाम है। वही [विज्ञानमयका] कारण होनेसे उसकी पुच्छ—प्रतिष्ठा है; क्योंकि कारण ही कार्यवर्गकी प्रतिष्ठा (आश्रय) हुआ करता है, जैसे कि वृक्ष और लता-गुल्मादिकी प्रतिष्ठा पृथिवी है। महत्तत्त्व ही बुद्धिके सम्पूर्ण विज्ञानोंका कारण है। इसलिये वह विज्ञानमय आत्माकी प्रतिष्ठा है। पूर्ववत् उसके विषयमें ही यह श्लोक है अर्थात् जैसे पहले श्लोक ब्राह्मणोक्त अन्नमय आदिके प्रकाशक हैं उसी प्रकार यह विज्ञानमयका भी प्रकाशक श्लोक है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

विज्ञानकी महिमा तथा आनन्दमय कोशका वर्णन

विज्ञानं यज्ञं तनुते । कर्माणि तनुतेऽपि च । विज्ञानं देवाः सर्वे । ब्रह्म ज्येष्ठमुपासते । विज्ञानं ब्रह्म चेद्वेद । तस्माच्चेन्न प्रमाद्यति । शरीरे पाप्मनो हित्वा । सर्वान्कामान्समश्नुत इति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । तस्माद्वा एतस्माद्विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः । तेनैष पूर्णः । स वा एष पुरुषविध एव । तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः । तस्य प्रियमेव शिरः । मोदो दक्षिणः पक्षः । प्रमोद उत्तरः पक्षः । आनन्द आत्मा । ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा । तदप्येष श्लोको भवति ॥१॥

विज्ञान (विज्ञानवान् पुरुष) यज्ञका विस्तार करता है और वही कर्मोंका भी विस्तार करता है । सम्पूर्ण देव ज्येष्ठ विज्ञान ब्रह्मकी उपासना करते हैं । यदि साधक 'विज्ञान ब्रह्म है' ऐसा जान जाय और फिर उससे प्रमाद न करे तो अपने शरीरके सारे पापोंको त्याग कर वह समस्त कामनाओं (भोगों) को पूर्णतया प्राप्त कर लेता है । यह जो विज्ञानमय है वही उस अपने पूर्ववर्ती मनोमय शरीरका आत्मा है । उस इस विज्ञानमयसे दूसरा इसका अन्तर्वर्ती आत्मा आनन्दमय है । उस आनन्दमयके द्वारा यह पूर्ण है । वह यह आनन्दमय भी पुरुषाकार ही है । उस (विज्ञानमय) की पुरुषाकारताके समान ही यह पुरुषाकार है । उसका प्रिय ही शिर है, मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है और ब्रह्म पुच्छ—प्रतिष्ठा है । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

विज्ञानमयोपासनम्

विज्ञानं यज्ञं तनुते। विज्ञानवान्हि यज्ञं तनोति श्रद्धादिपूर्वकम्। अतो विज्ञानस्य कर्तृत्वं तनुत इति कर्माणि च तनुते। यस्माद्विज्ञानकर्तृकं सर्वं तस्माद्युक्तं विज्ञानमय आत्मा ब्रह्मेति। किं च विज्ञानं ब्रह्म सर्वे देवा इन्द्रादयो ज्येष्ठं प्रथमजत्वात्सर्वप्रवृत्तीनां वा तत्पूर्वकत्वात्प्रथमजं विज्ञानं ब्रह्मोपासते ध्यायन्ति तस्मिन्विज्ञानमये ब्रह्मण्यभिमानं कृत्वोपासत इत्यर्थः। तस्मात्ते महतो ब्रह्मण उपासनाज्ज्ञानैश्वर्यवन्तो भवन्ति।

विज्ञान यज्ञका विस्तार करता है अर्थात् विज्ञानवान् पुरुष ही श्रद्धादिपूर्वक यज्ञका अनुष्ठान करता है। अतः यज्ञानुष्ठानमें विज्ञानका कर्तृत्व है और तनुते–इसका भाव यह है कि वही कर्मोंका भी विस्तार करता है। इस प्रकार क्योंकि सब कुछ विज्ञानका ही किया हुआ है इसलिये 'विज्ञानमय आत्मा ब्रह्म है' ऐसा कहना ठीक ही है। यही नहीं, इन्द्रादि सम्पूर्ण देवगण विज्ञानब्रह्मकी, जो सबसे पहले उत्पन्न होनेवाला होनेसे ज्येष्ठ है अथवा समस्त वृत्तियाँ विज्ञानपूर्वक होनेके कारण जो प्रथमोत्पन्न है, उस विज्ञानरूप ब्रह्मकी उपासना अर्थात् ध्यान करते हैं। तात्पर्य यह है कि वे उस विज्ञानमय ब्रह्ममें अभिमान करके उसकी उपासना करते हैं। अतः वे उस महद्ब्रह्मकी उपासना करनेसे ज्ञान और ऐश्वर्यसम्पन्न होते हैं।

तच्च विज्ञानं ब्रह्म चेद्यदि वेद विजानाति न केवलं वेदैव तस्माद्ब्रह्मणश्चेन्न प्रमाद्यति बाह्येष्वेवानात्मस्वात्मभावितत्वात्प्राप्तं विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मभावनायाः

उस विज्ञानरूप ब्रह्मको यदि जान ले–केवल जान ही न ले बल्कि यदि उससे प्रमाद भी न करे; बाह्य अनात्मपदार्थोंमें आत्मबुद्धि की हुई है, उसके कारण विज्ञानमय ब्रह्ममें की हुई आत्मभावनासे प्रमाद

प्रमदनं तन्निवृत्त्यर्थमुच्यते तस्माचेन्न प्रमाद्यतीति, अन्नमयादिष्वात्मभावं हित्वा केवले विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्मत्वं भावयन्नास्ते चेदित्यर्थः ।

होना सम्भव है; उसकी निवृत्तिके लिये कहते हैं—'यदि उससे प्रमाद न करे, इत्यादि । तात्पर्य यह है कि यदि अन्नमय आदिमें आत्मभावको छोड़कर केवल विज्ञानमय ब्रह्ममें ही आत्मत्वकी भावना करके स्थित रहे—

ततः किं स्यादित्युच्यते—

तो क्या होगा ? इसपर कहते हैं—शरीरके पापोंको त्याग कर,

विज्ञानब्रह्मोपासनफलम्

शरीरे पाप्मनो हित्वा शरीराभिमाननिमित्ता हि सर्वे पाप्मानः तेषां च विज्ञानमये ब्रह्मण्यात्माभिमानान्निमित्तापाये हानमुपपद्यते, छत्रापाय इवच्छायापायः । तस्माच्छरीराभिमाननिमित्तान् सर्वान्पाप्मनः शरीरप्रभवाञ्शरीर एव हित्वा विज्ञानमयब्रह्मस्वरूपापन्नस्तत्स्थान्सर्वान्कामान्विज्ञानमयेनैवात्मना समश्नुते सम्यग्भुङ्क्त इत्यर्थः ।

सम्पूर्ण पाप शरीराभिमानके कारण ही होनेवाले हैं; विज्ञानमय ब्रह्ममें आत्मत्वका अभिमान करनेसे निमित्तका क्षय हो जानेपर उनका भी क्षय होना उचित ही है, जिस प्रकार कि छातेके हटा लिये जानेपर छायाकी भी निवृत्ति हो जाती है । अतः शरीराभिमानके कारण होनेवाले शरीरजनित सम्पूर्ण पापोंको शरीरहीमें त्याग कर विज्ञानमय ब्रह्मस्वरूपको प्राप्त हुआ साधक उसमें स्थित सारे भोगोंको विज्ञानमयस्वरूपसे ही सम्यक्प्रकारसे प्राप्त कर लेता है अर्थात् उनका पूर्णतया उपभोग करता है ।

तस्य पूर्वस्य मनोमयस्यात्मैष एव शरीरे मनोमये भवः शारीरः । कः ? य एष विज्ञानमयः । तस्माद्वा

आनन्दमयस्य कार्यात्मत्वस्थापनम्

उस पूर्वकथित मनोमयका शारीर—मनोमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा भी यही है । कौन ? यह जो विज्ञानमय है । 'तस्माद्वा एतस्मात्'

एतस्मादित्युक्तार्थम् । आनन्दमय इति कार्यात्मप्रतीतिरधिकारान्मयट्शब्दाच्च । अन्नादिमया हि कार्यात्मानो भौतिका इहाधिकृताः । तदधिकारपतितश्चायमानन्दमयः, मयट् चात्र विकारार्थे दृष्टो यथान्नमय इत्यत्र । तस्मात्कार्यात्मानन्दमयः प्रत्येतव्यः ।

संक्रमणाच्च; आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति वक्ष्यति । कार्यात्मनां च संक्रमणमनात्मनां दृष्टम् । संक्रमणकर्मत्वेन चानन्दमय आत्मा श्रूयते । यथान्नमयमात्मानमुपसंक्रामतीति । न चात्मन एवोपसंक्रमणम् । अधिकारविरोधादसंभवाच्च । न ह्या-

इत्यादि वाक्यका अर्थ पहले कहा जा चुका है । 'आनन्दमय' इस शब्दसे कार्यात्माकी प्रतीति होती है; क्योंकि यहाँ उसीका अधिकार (प्रसङ्ग) है और आनन्दके साथ 'मयट्' शब्दका प्रयोग किया गया है । यहाँ अन्नमय' आदि भौतिक कार्यात्माओंका अधिकार है; उन्हींके अन्तर्गत यह आनन्दमय भी है । 'मयट्' प्रत्यय भी यहाँ विकारके अर्थमें देखा गया है; जैसा कि 'अन्नमय' इस शब्दमें है । अतः 'आनन्दमय कार्यात्मा है—ऐसा जानना चाहिये ।

संक्रमणके कारण भी यही बात सिद्ध होती है । 'वह आनन्दमय आत्माके प्रति संक्रमण करता है [अर्थात् आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है]' ऐसा आगे (अष्टम अनुवाकमें) कहेंगे । अन्नमयादि अनात्मा कार्यात्माओंका ही संक्रमण होता देखा गया है । और संक्रमणके कर्मरूपसे आनन्दमय आत्माका श्रवण होता है, जैसे कि 'यह अन्नमय आत्माके प्रति संक्रमण (गमन) करता है' [इस वाक्यमें देखा जाता है] । स्वयं आत्माका ही संक्रमण होना सम्भव है नहीं; क्योंकि इससे उस प्रसङ्गमें विरोध आता है और ऐसा होना सम्भव भी नहीं है । आत्माका आत्माको

त्मनैवात्मन उपसंक्रमणं संभवति । स्वात्मनि भेदाभावात् । आत्मभूतं च ब्रह्म सङ्क्रमितुः ।

शिर आदिकल्पनानुपपत्तेश्च । न हि यथोक्तलक्षण आकाशादिकारणेऽकार्यपतिते शिरआद्यवयवरूपकल्पनोपपद्यते । "अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयने" (तै० उ० २ । ७ । १) "अस्थूलमनणु" (बृ० उ० ३ । ८ । ८) "नेति नेत्यात्मा" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) इत्यादिविशेषापोहश्रुतिभ्यश्च ।

मन्त्रोदाहरणानुपपत्तेश्च । न हि प्रियशिरआद्यवयवविशिष्टे प्रत्यक्षतोऽनुभूयमान आनन्दमय आत्मनि ब्रह्मणि नास्ति ब्रह्मेत्याशङ्काभावात् "असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत्" (तै० उ० २ । ६ । १) इति

ही प्राप्त होना कभी सम्भव नहीं है; क्योंकि अपने आत्मामें भेदका सर्वथा अभाव है और ब्रह्म भी संक्रमण करनेवालेका आत्मा ही है ।

[आत्मामें] शिर आदिकी कल्पना असम्भव होनेके कारण भी [आनन्दमय कार्यात्मा ही है] । आकाशादिके कारण और कार्यवर्गके अन्तर्गत न आनेवाले उपर्युक्त लक्षणविशिष्ट आत्मामें शिर आदि अवयवरूप कल्पनाका होना संगत नहीं है । आत्मामें विशेष धर्मोंका बाध करनेवाली "अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय और अनाश्रयमें" "स्थूल और सूक्ष्मसे रहित" "आत्मा यह नहीं है यह नहीं है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही बात सिद्ध होती है ।

[आनन्दमयको यदि आत्मा माना जाय तो] आगे कहे हुए मन्त्रका उदाहरण देना भी नहीं बनता । शिर आदि अवयवोंसे युक्त आनन्दमय आत्मारूप ब्रह्मके प्रत्यक्ष अनुभव होनेपर तो ऐसी शंका ही नहीं हो सकती कि ब्रह्म नहीं है, जिससे कि [उस शंकाकी निवृत्तिके लिये] "जो पुरुष, ब्रह्म नहीं है—ऐसा जानता है वह असद्रूप

मन्त्रोदाहरणमुपपद्यते। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठेत्यपि चानुपपन्नं पृथग्ब्रह्मणः प्रतिष्ठात्वेन ग्रहणम् । तस्मात्कार्यपतित एवानन्दमयो न पर एवात्मा ।

ही है'' इस मन्त्रका उल्लेख संगत हो सके । तथा 'ब्रह्म पुच्छ—प्रतिष्ठा है' इस वाक्यके अनुसार प्रतिष्ठारूपसे ब्रह्मको पृथक् ग्रहण करना भी नहीं बन सकता । अतः यह आनन्दमय कार्यवर्गके अन्तर्गत ही है—परमात्मा नहीं है ।

आनन्दमयकोश-प्रतिपादनम् आनन्द इति विद्याकर्मणोः फलं तद्विकार आनन्दमयः । स च विज्ञानमयादान्तरः । यज्ञादिहेतोर्विज्ञानमयादस्यान्तरत्वश्रुतेः । ज्ञानकर्मणोर्हि फलं भोक्त्रर्थत्वादान्तरतमं स्यात् । आन्तरतमश्चानन्दमय आत्मा पूर्वेभ्यः । विद्याकर्मणोः प्रियाद्यर्थत्वाच्च । प्रियादिप्रयुक्ते हि विद्याकर्मणी । तस्मात्प्रियादीनां फलरूपाणामात्मसंनिकर्षाद्विज्ञानमयस्याभ्यन्तरत्वमुपपद्यते । प्रियादिवासनानिर्वृत्तो ह्यानन्द-

'आनन्द यह उपासना और कर्मका फल है, उसका विकार आनन्दमय कहलाता है । वह विज्ञानमय कोशसे आन्तर है; क्योंकि श्रुतिके द्वारा वह यज्ञादिके कारणभूत विज्ञानमयकी अपेक्षा आन्तर बतलाया गया है । उपासना और कर्मका फल भोक्ताके ही लिये है, इसलिये वह सबसे आन्तरतम होना चाहिये; सो पूर्वोक्त सब कोशोंकी अपेक्षा आनन्दमय आत्मा आन्तरतम है ही; क्योंकि विद्या और कर्म भी [प्रधानतया] प्रिय आदिके ही लिये हैं । प्रिय आदिकी प्राप्तिके उद्देश्यसे ही उपासना और कर्मका अनुष्ठान किया जाता है; अतः उनके फलरूप प्रिय आदिका आत्मासे सान्निध्य होनेके कारण विज्ञानमयकी अपेक्षा इस (आनन्दमय कोश) का आन्तरतम होना उचित ही है । प्रिय आदिकी वासनासे निष्पन्न

मयो विज्ञानमयाश्रितः स्वप्न उपलभ्यते ।

हुआ यह आनन्दमय स्वप्नावस्थामें विज्ञानमयके अधीन ही उपलब्ध होता है ।

आनन्दमयस्य पुरुषविधत्वम् तस्यानन्दमयस्यात्मन इष्टपुत्रादिदर्शनजं प्रियं शिर इव शिरः प्राधान्यात् । मोद इति प्रियलाभनिमित्तो हर्षः । स एव च प्रकृष्टो हर्षः प्रमोदः । आनन्द इति सुखसामान्यमात्मा प्रियादीनां सुखावयवानाम् । तेष्वनुस्यूतत्वात् ।

उस आनन्दमय आत्माका पुत्रादि इष्ट पदार्थोंके दर्शनसे होनेवाला प्रिय ही प्रधानताके कारण शिरके समान शिर है । प्रिय पदार्थकी प्राप्तिसे होनेवाला हर्ष 'मोद' कहलाता है; वही हर्ष प्रकृष्ट (अतिशय) होनेपर 'प्रमोद' कहा जाता है । 'आनन्द' सामान्य सुखका नाम है; वह सुखके अवयवभूत प्रिय आदिका आत्मा है; क्योंकि उसीमें वे सब अनुस्यूत हैं ।

आनन्द इति परं ब्रह्म । तद्धि शुभकर्मणा प्रत्युपस्थाप्यमाने पुत्रमित्रादिविषयविशेषोपाधावन्तःकरणवृत्तिविशेषे तमसाप्रच्छाद्यमाने प्रसन्नेऽभिव्यज्यते । तद्विषयसुखमिति प्रसिद्धं लोके । तद्वृत्तिविशेषप्रत्युपस्थापकस्य कर्मणोऽनवस्थितत्वात्सुखस्य क्षणिकत्वम् । तद्यदान्तःकरणं तपसा तमोघ्नेन विद्यया ब्रह्मचर्येण श्रद्धया

'आनन्द' यह परब्रह्मका ही वाचक है । वही शुभकर्मद्वारा प्रस्तुत किये हुए पुत्र-मित्रादि विशेष विषय ही जिसकी उपाधि हैं उस सुप्रसन्न अन्तःकरणकी वृत्तिविशेषमें, जब कि वह तमोगुणसे आच्छादित नहीं होता, अभिव्यक्त होता है । यह लोकमें विषय-सुख नामसे प्रसिद्ध है । उस वृत्तिविशेषको प्रस्तुत करनेवाले कर्मके अस्थिर होनेके कारण उस सुखकी भी क्षणिकता है । अतः जिस समय अन्तःकरण तमोगुणको नष्ट करनेवाले तप, उपासना, ब्रह्मचर्य और श्रद्धाके द्वारा

च निर्मलत्वमापद्यते यावद्याव-त्तावत्तावद्विविक्ते प्रसन्नेऽन्तःकरण आनन्दविशेष उत्कृष्यते विपुलीभवति । वक्ष्यति च— "रसो वै सः । रसꣳ ह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति । एष ह्येवानन्दयाति" (तै० उ० २ । ७ । १) "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ० उ० ४ । ३ । ३२) इति च श्रुत्यन्तरात् । एवं च कामोपशमोत्कर्षापेक्षया शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्ष आनन्दस्य वक्ष्यते ।

जितना-जितना निर्मलताको प्राप्त होता है उतने-उतने ही स्वच्छ और प्रसन्न हुए उस अन्तःकरणमें विशेष आनन्दका उत्कर्ष होता है अर्थात् वह बहुत बढ़ जाता है । यही बात "वह रस ही है, इस रसको पाकर ही पुरुष आनन्दी हो जाता है । यह रस ही सबको आनन्दित करता है ।" इस प्रकार आगे कहेंगे, तथा "इस आनन्दके अंशमात्रके आश्रय ही सब प्राणी जीवित रहते हैं" इस अन्य श्रुतिसे भी यही बात सिद्ध होती है । इसी प्रकार कामशान्तिके उत्कर्षकी अपेक्षा आगे-आगेके आनन्दका सौ-सौ गुना उत्कर्ष आगे बतलाया जायगा ।

एवं चोत्कृष्यमाणस्यानन्दमयस्यात्मनः परमार्थब्रह्मविज्ञानापेक्षया ब्रह्म परमेव । यत्प्रकृतं सत्यज्ञानानन्तलक्षणम्, यस्य च प्रतिपत्त्यर्थं पञ्चान्नादिमयाः कोशा उपन्यस्ताः, यच्च तेभ्य आभ्यन्तरम्, येन च ते सर्वे आत्मवन्तः, तद्ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा ।

इस प्रकार परमार्थ ब्रह्मके विज्ञानकी अपेक्षासे क्रमशः उत्कर्षको प्राप्त होनेवाले आनन्दमय आत्माकी अपेक्षा ब्रह्म पर ही है । जो प्रकृत ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप है, जिसकी प्राप्तिके लिये अन्नमय आदि पाँच कोशोंका उपन्यास किया गया है, जो उन सबकी अपेक्षा अन्तर्वर्ती है, और जिसके द्वारा वे सब आत्मवान् हैं—वह ब्रह्म ही उस आनन्दमयकी पुच्छ-प्रतिष्ठा है ।

तदेव च सर्वस्याविद्यापरिकल्पितस्य द्वैतस्यावसानभूतमद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा आनन्दमयस्य । एकत्वावसानत्वात् । अस्ति तदेकमविद्याकल्पितस्य द्वैतस्यावसानभूतमद्वैतं ब्रह्म प्रतिष्ठा पुच्छम् । तदेतस्मिन्नप्यर्थ एष श्लोको भवति ॥ १ ॥

अविद्याद्वारा कल्पना किये हुए सम्पूर्ण द्वैतका निषेधावधिभूत वह अद्वैत ब्रह्म ही उसकी प्रतिष्ठा है; क्योंकि आनन्दमयका पर्यवसान भी एकत्वमें ही होता है । अविद्या, परिकल्पित द्वैतका अवसानभूत वह एक और अद्वितीय ब्रह्म उसकी प्रतिष्ठा यानी पुच्छ है । उस इसी अर्थमें यह श्लोक है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

ब्रह्मको सत् और असत् जाननेवालोंका भेद, ब्रह्मज्ञ और अब्रह्मज्ञकी ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें शंका तथा सम्पूर्ण प्रपञ्चरूपसे ब्रह्मके स्थित होनेका निरूपण

असन्नेव स भवति । असद्ब्रह्मेति वेद चेत् । अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद । सन्तमेनं ततो विदुरिति । तस्यैष एव शारीर आत्मा यः पूर्वस्य । अथातोऽनुप्रश्नाः । उताविद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चन गच्छती ३ । आहो विद्वानमुं लोकं प्रेत्य कश्चित्समश्नुता ३ उ । सोऽकामयत । बहु स्यां प्रजायेयेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा इदꣳसर्वमसृजत यदिदं किंच । तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत् । तदनुप्रविश्य सच्च त्यच्चाभवत् । निरुक्तं चानिरुक्तं च । निलयनं चानिलयनं च विज्ञानं चाविज्ञानं च । सत्यं चानृतं च सत्यमभवत् । यदिदं किंच । तत्सत्यमित्याचक्षते । तदप्येष श्लोको भवति ॥ १ ॥

यदि पुरुष 'ब्रह्म असत् है' ऐसा जानता है तो वह स्वयं भी असत् ही हो जाता है । और यदि ऐसा जानता है कि 'ब्रह्म है' तो [ब्रह्मवेत्ताजन] उसे सत् समझते हैं । उस पूर्वकथित (विज्ञानमय) का यह जो [आनन्दमय] है शरीर-स्थित आत्मा है । अब (आचार्यका ऐसा उपदेश सुननेके अनन्तर शिष्यके) ये अनुप्रश्न हैं—क्या कोई अविद्वान् पुरुष भी इस शरीरको छोड़नेके अनन्तर परमात्माको प्राप्त हो सकता है ? अथवा कोई विद्वान् भी इस शरीरको छोड़नेके अनन्तर परमात्माको

प्राप्त होता है या नहीं ? [इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये आचार्य भूमिका बाँधते हैं—] उस परमात्माने कामना की 'मैं बहुत हो जाऊँ अर्थात् मैं उत्पन्न हो जाऊँ ,' अतः उसने तप किया । उसने तप करके ही यह जो कुछ है इस सबकी रचना की । इसे रचकर वह इसीमें अनुप्रविष्ट हो गया । इसमें अनुप्रवेश कर वह सत्यस्वरूप परमात्मा मूर्त्त-अमूर्त्त [देशकालादि परिच्छिन्नरूपसे] कहे जानेयोग्य और न कहे जानेयोग्य, आश्रय-अनाश्रय, चेतन-अचेतन एवं व्यावहारिक सत्य-असत्य-रूप हो गया । यह जो कुछ है उसे ब्रह्मवेत्ता लोग 'सत्य' इस नामसे पुकारते हैं । उसके विषयमें ही यह श्लोक है ॥ १ ॥

असन्नेवासत्सम एव यथा-सन्न पुरुषार्थसंबन्ध्येवं स भवति अपुरुषार्थसंबन्धी । कोऽसौ ? योऽसदविद्यमानं ब्रह्मेति वेद विजानाति चेद्यदि । तद्विपर्ययेण तत्सर्वविकल्पास्पदं सर्वप्रवृत्तिबीजं सर्वविशेषप्रत्यस्तमितमप्यस्ति तद्ब्रह्मेति वेद चेत् ।

सदसद्वादिनोर्भेदः

जिस प्रकार असत् (अविद्यमान) पदार्थ पुरुषार्थसे सम्बन्ध रखनेवाला नहीं होता उसी प्रकार वह भी असत्—असत्के समान ही पुरुषार्थसे सम्बन्ध नहीं रखनेवाला हो जाता है—वह कौन ? जो 'ब्रह्म असत्—अविद्यमान है' ऐसा जानता है । 'चेत्' शब्दका अर्थ 'यदि' है । इसके विपरीत 'जो तत्त्व सम्पूर्ण विकल्पोंका आश्रय, समस्त प्रवृत्तियोंका बीजरूप और सम्पूर्ण विशेषोंसे रहित भी है वही ब्रह्म है' ऐसा यदि कोई जानता है [तो उसे ब्रह्मवेत्तालोग सद्रूप समझते हैं इस प्रकार इसका आगेके वाक्यसे सम्बन्ध है] ।

कुतः पुनराशङ्का तन्नास्तित्वे? व्यवहारातीतत्वं ब्रह्मण इति ब्रूमः । व्यवहारविषये हि वाचा-

किन्तु ब्रह्मके अस्तित्वाभावके विषयमें शंका क्यों की जाती है [इसपर] हमारा यह कथन है कि ब्रह्म व्यवहारसे परे है । [इसी-लिये] व्यवहारके विषयभूत पदार्थों-

रम्भणमात्रेऽस्तित्वभाविता बुद्धिस्तद्विपरीते व्यवहारातीते नास्तित्वमपि प्रतिपद्यते । यथा घटादिर्व्यवहारविषयतयोपपन्नः संस्तद्विपरीतोऽसन्निति प्रसिद्धम् । एवं तत्सामान्यादिहापि स्याद्ब्रह्मणो नास्तित्वप्रत्याशङ्का । तस्मादुच्यते—अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेदेति ।

में ही, जो कि केवल वाणीसे ही उच्चारण किये जानेवाले हैं, अस्तित्वकी भावनासे भावित हुई बुद्धि उनसे विपरीत व्यवहारातीत पदार्थोंमें अस्तित्वका भी अनुभव नहीं करती; जैसे कि [जल लाना आदि] व्यवहारके विषयरूपसे उत्पन्न हुआ घट आदि पदार्थ 'सत्' और उससे विपरीत [वन्ध्यापुत्रादि] 'असत्' होता है—इस प्रकार प्रसिद्ध है। उसी प्रकार उसकी समानताके कारण यहाँ भी ब्रह्मके अविद्यमानत्वके विषयमें शंका हो सकती है। इसीलिये कहा है—'ब्रह्म है—ऐसा यदि कोई जानता है' इत्यादि ।

किं पुनः स्यात्तदस्तीति विजानतस्तदाह—सन्तं विद्यमानब्रह्मस्वरूपेण परमार्थसदात्मापन्नमेनमेवंविदं विदुर्ब्रह्मविदस्ततस्तस्मादस्तित्ववेदनात्सोऽन्येषां ब्रह्मवद्विज्ञेयो भवतीत्यर्थः ।

किन्तु 'वह (ब्रह्म) है' ऐसा जाननेवाले पुरुषको क्या फल मिलता है ? इसपर कहते हैं—ब्रह्मवेत्तालोग इस प्रकार जाननेवाले इस पुरुषको सत् विद्यमान अर्थात् ब्रह्मरूपसे परमार्थ सत्स्वरूपको प्राप्त हुआ समझते हैं। तात्पर्य यह है कि इस कारणसे ब्रह्मके अस्तित्वको जाननेके कारण वह दूसरोंके लिये ब्रह्मके समान जाननेयोग्य हो जाता है ।

अथवा यो नास्ति ब्रह्मेति मन्यते स सर्वस्यैव सन्मार्गस्य वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणस्याश्र-

अथवा जो पुरुष 'ब्रह्म नहीं है' ऐसा मानता है, वह अश्रद्धालु होनेके कारण, वर्णाश्रमादि व्यवस्थारूप सारे ही शुभमार्गका,

ह्यधानतया नास्तित्वं प्रतिपद्यते-ऽब्रह्मप्रतिपत्त्यर्थत्वात्तस्य । अतो नास्तिकः सोऽसन्नसाधुरुच्यते लोके । तद्विपरीतः सन्योऽस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद स तद्ब्रह्मप्रतिपत्तिहेतुं सन्मार्गं वर्णाश्रमादिव्यवस्थालक्षणं श्रद्धानतया यथावत्प्रतिपद्यते यस्मात्ततस्तस्मात् सन्तं साधुमार्गस्थमेनं विदुः साधवः । तस्मादस्तीत्येव ब्रह्म प्रतिपत्तव्यमिति वाक्यार्थः ।

तस्य पूर्वस्य विज्ञानमयस्यैष एव शरीरे विज्ञानमये भवः शारीर आत्मा । कोऽसौ ? य एष आनन्दमयः । तं प्रति नास्त्याशङ्का नास्तित्वे । अपोढसर्वविशेषत्वात्तु ब्रह्मणो नास्तित्वं प्रत्याशङ्का युक्ता । सर्वसामान्याच्च ब्रह्मणः । यस्मादेवमतस्तस्मात्, अथानन्तरं श्रोतुः शिष्यस्यानुप्रश्ना आचार्योक्तिमनु एते प्रश्ना अनुप्रश्नाः ।

असत्त्व प्रतिपादन करता है; क्योंकि वह भी ब्रह्मकी प्राप्तिके ही लिये है । अतः वह नास्तिक लोकमें असत्—असाधु कहा जाता है । इसके विपरीत जो पुरुष 'ब्रह्म है' ऐसा जानता है । वह 'सत्' है; क्योंकि वह उस ब्रह्मकी प्राप्तिके हेतुभूत वर्णाश्रमादिके व्यवस्थारूप सन्मार्गको श्रद्धापूर्वक ठीक-ठीक जानता है । इसीलिये साधुलोग उसे सत् यानी शुभ मार्गमें स्थित जानते हैं । अतः 'ब्रह्म है' ऐसा ही जानना चाहिये—यह इस वाक्यका अर्थ है ।

उस विज्ञानमयका यही शारीर—विज्ञानमय शरीरमें रहनेवाला आत्मा है । वह कौन ? यह जो आनन्दमय है उसके नास्तित्वमें तो कुछ भी शंका नहीं है । किन्तु ब्रह्म सम्पूर्ण विशेषणोंसे रहित है इसलिये उसके अस्तित्वके अभावमें शंका होना उचित ही है । इसके सिवा ब्रह्मकी सबके साथ समानता होनेके कारण भी [ऐसी शंका हो ही सकती है] । क्योंकि ऐसी बात है इसलिये अब इसके अनन्तर श्रवण करनेवाले शिष्यके अनुप्रश्न हैं । आचार्यकी इस उक्तिके पश्चात् किये जानेवाले ये प्रश्न—अनुप्रश्न हैं—

सामान्यं हि ब्रह्माकाशादि-

विद्वदविद्वद्भेदेन ब्रह्मप्राप्त्यभावाक्षेपः

कारणत्वाद्विदुषोऽविदुषश्च । तस्माद्-विदुषोऽपि ब्रह्मप्राप्तिराशङ्क्यते-उत अपि अविद्वानमुं लोकं परमात्मानमितः प्रेत्य कश्चन, चनशब्दोऽप्यर्थे, अविद्वानपि गच्छति प्राप्नोति किं वा न गच्छतीति द्वितीयोऽपि प्रश्नो द्रष्टव्योऽनुप्रश्ना इति बहुवचनात् ।

विद्वांसं प्रत्यन्यौ प्रश्नौ । यद्यविद्वान्सामान्यं कारणमपि ब्रह्म न गच्छति ततो विदुषोऽपि ब्रह्मागमनमाशङ्क्यते । अतस्तं प्रति प्रश्न आहो विद्वानिति । उकारं च वक्ष्यमाणमधस्तादपकृष्य तकारं च पूर्वस्मादुतशब्दाद्व्यासज्याहो इत्येतस्मात्पूर्वमुतशब्दं संयोज्य पृच्छति—उताहो विद्वानिति ।

आकाशादिका कारण होनेसे ब्रह्म विद्वान् और अविद्वान् दोनों-हीके लिये समान है । इससे अविद्वान्‌को भी ब्रह्मकी प्राप्ति होती है—ऐसी आशंका की जाती है—क्या कोई अविद्वान् पुरुष भी इस शरीरको छोड़नेके अनन्तर इस लोक अर्थात् परमात्माको प्राप्त हो जाता है ?—'कश्चन' में 'चन' शब्द 'अपि (भी)' के अर्थमें है । 'अथवा नहीं होता ?' यह इसके साथ दूसरा प्रश्न भी समझना चाहिये; क्योंकि यहाँ 'अनुप्रश्नाः' ऐसा बहुवचनका प्रयोग किया गया है ।

अन्य दो प्रश्न विद्वान्‌के विषयमें हैं—ब्रह्म सबका साधारण कारण है, तब भी यदि अविद्वान् उसे प्राप्त नहीं होता तो विद्वान्‌के भी ब्रह्मको प्राप्त न होनेकी आशंका होती है; अतः उसके उद्देश्यसे पूछा जाता है—'क्या विद्वान् भी' आदि । [मूल मन्त्रमें] आगे कहे जानेवाले 'उ' को आगेसे खींचकर और पूर्वोक्त 'उत' शब्दसे उसमें 'त' जोड़कर 'आहो' इस शब्दके पहले 'उत' शब्द जोड़कर 'उताहो विद्वान्' इत्यादि प्रकारसे पूछता है—क्या

विद्वान्ब्रह्मविदपि कश्चिदितः प्रेत्यामुं लोकं समश्नुते प्राप्नोति। समश्नुते उ इत्येवंस्थिते, अयादेशे यलोपे च कृतेऽकारस्य प्लुतिः समश्नुता ३ उ इति। विद्वान्समश्नुतेऽमुं लोकम्। किं वा यथाविद्वानेवं विद्वानपि न समश्नुत इत्यपरः प्रश्नः।

कोई विद्वान् अर्थात् ब्रह्मवेत्ता भी इस शरीरको छोड़कर इस लोकको प्राप्त कर लेता है? यहाँ मूलमें 'समश्नुते उ' ऐसा पद था। उसमें 'अय्' आदेश करके ['लोपः शाकल्यस्य'] इस सूत्रके अनुसार 'य्' का लोप करनेपर 'समश्नुत उ' ऐसा प्रयोग सिद्ध होता है। फिर 'त' के अकारको प्लुत करनेपर 'समश्नुता ३ उ' ऐसा पाठ हुआ है। विद्वान् इस लोकको प्राप्त होता है? अथवा अविद्वान्के समान विद्वान् भी उसे प्राप्त नहीं होता? यह एक अन्य प्रश्न है।

द्वावेव वा प्रश्नौ विद्वदविद्वद्विषयो। बहुवचनं तु सामर्थ्यप्राप्तप्रश्नान्तरापेक्षया घटते। असद्ब्रह्मेति वेद चेत्। अस्ति ब्रह्मेति चेद्वेद' इति श्रवणादस्ति नास्तीति संशयस्ततोऽर्थप्राप्तः किमस्ति नास्तीति प्रथमोऽनुप्रश्नः। ब्रह्मणोऽपक्षपातित्वादविद्वान् गच्छति न गच्छतीति द्वितीयः। ब्रह्मणः समत्वेऽप्यविदुष इव

अथवा विद्वान् और अविद्वान्से सम्बन्धित ये केवल दो ही प्रश्न हैं। इनकी सामर्थ्यसे प्राप्त एक और प्रश्नकी अपेक्षासे ही बहुवचन हो गया है। ब्रह्म 'असत् है—यदि ऐसा जानता है' तथा 'ब्रह्म है—यदि ऐसा जानता है' ऐसी श्रुति होनेसे 'ब्रह्म है या नहीं' ऐसा सन्देह होता है। अतः ब्रह्म है या नहीं' यह अर्थतः प्राप्त पहला अनुप्रश्न है। और ब्रह्म पक्षपाती है नहीं, इसलिये 'अविद्वान् उसे प्राप्त होता है या नहीं?' यह दूसरा अनुप्रश्न है तथा ब्रह्म समान है, इसलिये

विदुषोऽप्यगमनमाशङ्क्यते किं विद्वान्समश्नुते न समश्नुत इति तृतीयोऽनुप्रश्नः ।

अविद्वान्के समान विद्वान्की भी ब्रह्मप्राप्तिके विषयमें 'विद्वान् उसे प्राप्त होता है या नहीं ?' ऐसी शंका की जाती है । यह तीसरा अनुप्रश्न है ।

ब्रह्मणः सत्त्वरूपत्वस्थापनम्

एतेषां प्रतिवचनार्थमुत्तरग्रन्थ आरभ्यते । तत्रास्तित्वमेव तावदुच्यते । यच्चोक्तम् 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इति तच्च कथं सत्यत्वमित्येतद्वक्तव्यमितीदमुच्यते सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते । उक्तं हि "सदेव सत्यम्" इति । तस्मात्सत्त्वोक्त्यैव सत्यत्वमुच्यते । कथमेवमर्थतावगम्यतेऽस्य ग्रन्थस्य शब्दानुगमात् । अनेनैव ह्यर्थेनान्वितान्युत्तराणि वाक्यानि "तत्सत्यमित्याचक्षते" (तै० उ० २ । ६ । १) "यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्" (तै० उ० २ । ७ । १) इत्यादीनि ।

आगेका ग्रन्थ इन प्रश्नोंका उत्तर देनेके लिये ही आरम्भ किया जाता है । उसमें सबसे पहले ब्रह्मके अस्तित्वका ही वर्णन किया जाता है । 'ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है' ऐसा जो पहले कह चुके हैं सो वह ब्रह्मकी सत्यता किस प्रकार है—यह बतलाना चाहिये । इसपर कहते हैं—उसकी सत्ता बतलानेसे ही उसके सत्यत्वका भी प्रतिपादन हो जाता है । "सत् ही सत्य है" ऐसा अन्यत्र कहा भी है । अतः उसकी सत्ता बतलानेसे ही उसका सत्यत्व भी बतला दिया जाता है । किन्तु इस ग्रन्थका भी यही तात्पर्य है—यह कैसे जाना गया ? इसपर कहते हैं—शब्दोंके अनुगमन (अभिप्राय) से; क्योंकि "वह सत्य है—ऐसा कहते हैं" "यदि यह आनन्दमय आकाश न होता" आदि आगेके वाक्य भी इसी अर्थसे युक्त हैं ।

तत्रासदेव ब्रह्मेत्याशङ्क्यते। कस्मात् ? यदस्ति तद्विशेषतो गृह्यते यथा घटादि। यन्नास्ति तन्नोपलभ्यते यथा शशविषाणादि। तथा नोपलभ्यते ब्रह्म। तस्माद्विशेषतोऽग्रहणान्नास्तीति।

इसमें यह आशंका की जाती है कि ब्रह्म असत् ही है। ऐसा क्यों है ? क्योंकि जो वस्तु होती है वह विशेषरूपसे उपलब्ध हुआ करती है; जैसे कि घट आदि। और जो नहीं होती उसकी उपलब्धि भी नहीं होती; जैसे—शशशृंगादि। इसी प्रकार ब्रह्मकी भी उपलब्धि नहीं होती। अतः विशेषरूपसे ग्रहण न किया जानेके कारण वह है ही नहीं।

तन्न; आकाशादिकारणत्वाद्ब्रह्मणः। न नास्ति ब्रह्म। कस्मादाकाशादि हि सर्वं कार्यं ब्रह्मणो जातं गृह्यते। यस्माच्च जायते किंचित्तदस्तीति दृष्टं लोके; यथा घटाङ्कुरादिकारणं मृद्बीजादि। तस्मादाकाशादिकारणत्वादस्ति ब्रह्म।

ऐसी बात नहीं है; क्योंकि ब्रह्म आकाशादिका कारण है। ब्रह्म नहीं है—ऐसी बात नहीं है। क्यों नहीं है ? क्योंकि ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ आकाशादि सम्पूर्ण कार्यवर्ग देखनेमें आता है। जिससे किसी वस्तुका जन्म होता है वह पदार्थ होता ही है—ऐसा लोकमें देखा गया है; जैसे कि घट और अङ्कुरादिके कारण मृत्तिका एवं बीज आदि। अतः आकाशादिका कारण होनेसे ब्रह्म है ही।

न चासतो जातं किंचिद्गृह्यते लोके कार्यम्। असतश्चेन्नामरूपादि कार्यं निरात्मकत्वा-

लोकमें असत्से उत्पन्न हुआ कोई भी पदार्थ नहीं देखा जाता। यदि नाम-रूपादि कार्यवर्ग असत्से उत्पन्न हुआ होता तो वह निराधार

न्नोपलभ्येत । उपलभ्यते तु; तस्मादस्ति ब्रह्म । असतश्चेत्कार्यं गृह्यमाणमप्यसदन्वितमेव तत् स्यात् । न चैवम्; तस्मादस्ति ब्रह्म तत्र । "कथमसतःसज्जायेत" (छा० उ० ६ । २ । २) इति श्रुत्यन्तरमसतः सज्जन्मासंभवमन्वाचष्टे न्यायतः । तस्मात्सदेव ब्रह्मेति युक्तम् ।

होनेके कारण ग्रहण ही नहीं किया जा सकता था । किन्तु वह ग्रहण किया ही जाता है; इसलिये ब्रह्म है ही । यदि यह कार्यवर्ग असत्से उत्पन्न हुआ होता तो ग्रहण किये जानेपर भी असदात्मक ही ग्रहण किया जाता । किन्तु ऐसी बात है नहीं । इसलिये ब्रह्म है ही । इसी सम्बन्धमें "असत्से सत् कैसे उत्पन्न हो सकता है" ऐसी एक अन्य श्रुतिने युक्तिपूर्वक असत्से सत्का जन्म होना असम्भव बतलाया है । इसलिये ब्रह्म सत् ही है—यही मत ठीक है ।

तद्यदि मृद्बीजादिवत्कारणं स्यादचेतनं तर्हि ?

शङ्का—यदि ब्रह्म मृत्तिका और बीज आदिके समान [जगत्का उपादान] कारण है तो वह अचेतन होना चाहिये ।

ब्रह्मणश्चित्स्वरूपत्वविवेचनम्

न, कामयितृत्वात् । न हि कामयित्रचेतनमस्ति लोके । सर्वज्ञं हि ब्रह्मेत्यवोचाम । अतः कामयितृत्वोपपत्तिः ।

समाधान—नहीं, क्योंकि वह कामना करनेवाला है । लोकमें कोई भी कामना करनेवाला अचेतन नहीं हुआ करता । ब्रह्म सर्वज्ञ है—यह हम पहले कह चुके हैं । अतः उसका कामना करना भी युक्त ही है ।

कामयितृत्वादस्मदादिवदनाप्तकाममिति चेत् ?

शङ्का—कामना करनेवाला होनेसे तो वह हमारी-तुम्हारी तरह अनाप्तकाम (अपूर्णकामनावाला) सिद्ध होगा।

न, स्वातन्त्र्यात्। यथान्यान् परवशीकृत्य कामादिदोषाः प्रवर्तयन्ति न तथा ब्रह्मणः प्रवर्तकाः कामाः। कथं तर्हि सत्यज्ञानलक्षणाः स्वात्मभूतत्वाद्विशुद्धा न तैर्ब्रह्म प्रवर्त्यते। तेषां तु तत्प्रवर्तकं ब्रह्म प्राणिकर्मापेक्षया। तस्मात्स्वातन्त्र्यं कामेषु ब्रह्मणः। अतो नानाप्तकामं ब्रह्म।

समाधान—ऐसी बात नहीं है, क्योंकि वह स्वतन्त्र है। जिस प्रकार काम आदि दोष अन्य जीवोंको विवश करके प्रवृत्त करते हैं उस प्रकार वे ब्रह्मके प्रवर्तक नहीं हैं। तो वे कैसे हैं? वे सत्य-ज्ञानस्वरूप एवं स्वात्मभूत होनेके कारण विशुद्ध हैं। उनके द्वारा ब्रह्म प्रवृत्त नहीं किया जाता; बल्कि जीवोंके प्रारब्ध—कर्मोंकी अपेक्षासे वह ब्रह्म ही उनका प्रवर्तक है। अतः कामनाओंके करनेमें ब्रह्मकी स्वतन्त्रता है। इसलिये ब्रह्म अनाप्तकाम नहीं है।

साधनान्तरानपेक्षत्वाच्च। किं च यथान्येषामनात्मभूता धर्मादिनिमित्तापेक्षाः कामाः स्वात्मव्यतिरिक्तकार्यकरणसाधनान्तरापेक्षाश्च न तथा ब्रह्मणो निमि-

किन्हीं अन्य साधनोंकी अपेक्षावाला न होनेसे भी कामनाओंके विषयमें ब्रह्मकी स्वतन्त्रता है। जिस प्रकार धर्मादि कारणोंकी अपेक्षा रखनेवाली अन्य जीवोंकी अनात्मभूत कामनाएँ अपने आत्मासे अतिरिक्त देह और इन्द्रियरूप अन्य साधनोंकी अपेक्षावाली होती हैं उस प्रकार ब्रह्मको निमित्त आदिकी अपेक्षा

त्ताद्यपेक्षत्वम् । किं तर्हि स्वात्मनोऽनन्याः ।

नहीं होती । तो ब्रह्मकी कामनाएँ कैसी होती हैं ? वे स्वात्मासे अभिन्न होती हैं ।

तदेतदाह सोऽकामयत स

ब्रह्मणो आत्मा यस्मादाकाशः

बहुभवनसङ्कल्पः संभूतोऽकामयत कामितवान् । कथम् ? बहु स्यां बहु प्रभूतं स्यां भवेयम् । कथमेकस्यार्थान्तराननुप्रवेशे बहुत्वं स्यादित्युच्यते । प्रजायेयोत्पद्येय । न हि पुत्रोत्पत्त्येवार्थान्तरविषयं बहुभवनम्, कथं तर्हि ? आत्मस्थानाभिव्यक्तनामरूपाभिव्यक्त्या । यदात्मस्थे अनभिव्यक्ते नामरूपे व्याक्रियेते तदा नामरूपे आत्मस्वरूपापरित्यागेनैव ब्रह्मणाप्रविभक्तदेशकाले सर्वावस्थासु व्याक्रियेते तदा तन्नामरूपव्याकरणं ब्रह्मणो बहुभवनम् । नान्यथा निरवयवस्य ब्रह्मणो बहुत्वापत्तिरुपपद्यतेऽल्प-

उसीके विषयमें श्रुति कहती है—उसने कामना की—उस आत्माने, जिससे कि आकाश उत्पन्न हुआ है, कामना की । किस प्रकार कामना की ? मैं बहुत—अधिक रूपमें हो जाऊँ । अन्य पदार्थमें प्रवेश किये बिना ही एक वस्तुकी बहुलता कैसे हो सकती है ? इसपर कहते हैं—'प्रजायेय' अर्थात् उत्पन्न होऊँ । यह ब्रह्मका बहुत होना पुत्रकी उत्पत्तिके समान अन्य वस्तुविषयक नहीं है । तो फिर कैसा है ? अपनेमें अव्यक्तरूपसे स्थित नाम-रूपोंकी अभिव्यक्तिके द्वारा ही [यह अनेक रूप होना है] । जिस समय आत्मामें स्थित अव्यक्त नाम और रूपोंको व्यक्त किया जाता है उस समय वे अपने स्वरूपका त्याग किये बिना ही समस्त अवस्थाओंमें ब्रह्मसे अभिन्न देश और कालमें ही व्यक्त किये जाते हैं । यह नाम-रूपका व्यक्त करना ही ब्रह्मका बहुत होना है । इसके सिवा और किसी प्रकार निरवयव ब्रह्मका बहुत अथवा अल्प होना सम्भव नहीं है, जिस प्रकार

त्वं वा। यथाकाशस्याल्पत्वं बहुत्वं च वस्त्वन्तरकृतमेव। अतस्तद्द्वारेणैवात्मा बहु भवति।

कि आकाशका अल्पत्व और बहुत्व भी अन्य वस्तुके ही अधीन है [उसी प्रकार ब्रह्मका भी है]। अतः उन (नाम-रूपों) के द्वारा ही ब्रह्म बहुत हो जाता है।

न ह्यात्मनोऽन्यदनात्मभूतं तत्प्रविभक्तदेशकालं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टं भूतं भवद्भविष्यद्वा वस्तु विद्यते। अतो नामरूपे सर्वावस्थे ब्रह्मणैवात्मवती, न ब्रह्म तदात्मकम्। ते तत्प्रत्याख्याने न स्त एवेति तदात्मके उच्येते। ताभ्यां चोपाधिभ्यां ज्ञातृज्ञेयज्ञानशब्दार्थादिसर्वसंव्यवहारभाग्ब्रह्म।

आत्मासे भिन्न अनात्मभूत तथा उससे भिन्न देश-कालमें रहनेवाली कोई भी सूक्ष्म, व्यवहित (ओटवाली), दूरस्थ, अथवा भूत, वर्तमान या भविष्यकालीन वस्तु नहीं है। अतः सम्पूर्ण अवस्थाओंसे सम्बन्धित नाम और रूप ब्रह्मसे ही आत्मवान् हैं, किन्तु ब्रह्म तद्रूप नहीं है। ब्रह्मका निषेध करनेपर वे रह ही नहीं सकते, इसीसे वे तद्रूप कहे जाते हैं। उन उपाधियोंसे ही ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान—इन शब्दोंका तथा इनके अर्थ आदि सब प्रकारके व्यवहारका पात्र बनता है।

स आत्मैवंकामः संस्तपोऽतप्यत। तप इति ज्ञानमुच्यते। "यस्य ज्ञानमयं तपः" (मु० उ० १।१।८) इति श्रुत्यन्तरात्। आप्तकामत्वाच्चेतरस्यासंभव एव तपसः। तत्तपोऽतप्यत तप्तवान्।

उस आत्माने ऐसी कामनावाला होकर तप किया। 'तप' शब्दसे यहाँ ज्ञान कहा जाता है, जैसा कि "जिसका ज्ञानरूप तप है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है। आप्तकाम होनेके कारण आत्माके लिये अन्य तप तो असम्भव ही है। 'उसने तप किया' इसका तात्पर्य यह है

सृज्यमानजगद्रचनादिविषयामालोचनामकरोदात्मेत्यर्थः ।

स एवमालोच्य तपस्तप्त्वा प्राणिकर्मादिनिमित्तानुरूपमिदं सर्वं जगद्देशतः कालतो नाम्ना रूपेण च यथानुभवं सर्वैः प्राणिभिः सर्वावस्थैरनुभूयमानमसृजत सृष्टवान् । यदिदं किं च यत्किं चेदमविशिष्टम् । तदिदं जगत्सृष्ट्वा किमकरोदित्युच्यते—तदेव सृष्टं जगदनुप्राविशदिति ।

तस्य जगदनुप्रवेशः

तत्रैतच्चिन्त्यं कथमनुप्राविशदिति । किं यः स्रष्टा स तेनैवात्मनानुप्राविशदुतान्येनेति, किं तावद्युक्तम् ? क्त्वाप्रत्ययश्रवणाद्यः स्रष्टा स एवानुप्राविशदिति ।

कि आत्माने रचे जानेवाले जगत्की रचना आदिके विषयमें आलोचना की ।

इस प्रकार आलोचना अर्थात् तप करके उसने प्राणियोंके कर्मादि निमित्तोंके अनुरूप इस सम्पूर्ण जगत्को रचा, जो देश, काल, नाम और रूपसे यथानुभव सारी अवस्थाओंमें स्थित सभी प्राणियोंद्वारा अनुभव किया जाता है । यह जो कुछ है अर्थात् सामान्यरूपसे यह जो कुछ जगत् है इसे रचकर उसने क्या किया, सो बतलाते हैं—वह उस रचे हुए जगत्में ही अनुप्रविष्ट हो गया ।

अब यहाँ यह विचारना है कि उसने किस प्रकार अनुप्रवेश किया ? जो स्रष्टा था, क्या उसने स्वस्वरूपसे ही अनुप्रवेश किया अथवा किसी और रूपसे ? इनमें कौन-सा पक्ष समीचीन है ? श्रुतिमें ['सृष्ट्वा' इस क्रियामें] 'क्त्वा' प्रत्यय होनेसे तो यही ठीक जान पड़ता है कि जो स्रष्टा था उसीने पीछे प्रवेश भी किया ।*

* 'क्त्वा' प्रत्यय पूर्वकालिक क्रियामें हुआ करता है । हिन्दीमें इसी अर्थमें 'कर' या 'के' प्रत्यय होता है; जैसे—'रामने श्यामको बुलाकर [या बुलाके] धमकाया ।' इसमें यह नियम होता है कि पूर्वकालिक क्रिया और मुख्य क्रियाका कर्ता एक ही होता है; जैसे कि उपर्युक्त वाक्यमें पूर्वकालिक क्रिया 'बुलाकर' तथा मुख्य क्रिया 'धमकाया' इन दोनोंका कर्ता 'राम' ही है ।

ननु न युक्तं मृद्वच्चेत्कारणं ब्रह्म तदात्मकत्वात्कार्यस्य । कारणमेव हि कार्यात्मना परिणतमित्यतोऽप्रविष्ट इव कार्योत्पत्तेरूर्ध्वं पृथक्कारणस्य पुनः प्रवेशोऽनुपपन्नः । न हि घटपरिणामव्यतिरेकेण मृदो घटे प्रवेशोऽस्ति । यथा घटे चूर्णात्मना मृदोऽनुप्रवेश एवमन्येनात्मना नामरूपकार्येऽनुप्रवेश आत्मन इति चेच्छ्रुत्यन्तराच्च "अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य" (छा० उ० ६ । ३ । २) इति ।

पूर्व०—यदि ब्रह्म मृत्तिकाके समान जगत्का कारण है तो उसका कार्य तद्रूप होनेके कारण उसमें उसका प्रवेश करना सम्भव नहीं है । क्योंकि कारण ही कार्यरूपसे परिणत हुआ करता है, अतः किसी अन्य पदार्थके समान पहले बिना प्रवेश किये कार्यकी उत्पत्तिके अनन्तर उसमें कारणका पुनः प्रवेश करना सर्वथा असम्भव है । घटरूपमें परिणत होनेके सिवा मृत्तिकाका घटमें और कोई प्रवेश नहीं हुआ करता । हाँ, जिस प्रकार घटमें चूर्ण (बालू) रूपसे मृत्तिकाका अनुप्रवेश होता है उसी प्रकार किसी अन्य रूपसे आत्माका नाम-रूपकार्यमें भी अनुप्रवेश हो सकता है; जैसा कि 'इस जीवरूपसे अनुप्रवेश करके' इस अन्य श्रुतिसे प्रमाणित होता है —यदि ऐसा मानें तो ?

नैवं युक्तमेकत्वाद्ब्रह्मणः मृदात्मनस्त्वनेकत्वात्सावयवत्वाच्च युक्तो घटे मृदश्चूर्णात्मनानुप्रवेशः । मृदश्चूर्णस्याप्रविष्टदेशवत्त्वाच्च । न त्वात्मन एकत्वे

सिद्धान्ती—ऐसा मानना उचित नहीं है; क्योंकि ब्रह्म तो एक ही है । मृत्तिकारूप कारण तो अनेक और सावयव होनेके कारण उसका घटमें चूर्णरूपसे अनुप्रवेश करना भी सम्भव है; क्योंकि मृत्तिकाके चूर्णका उस देशमें प्रवेश नहीं है; किन्तु आत्मा तो एक है; अतः उसके

इसी प्रकार 'अनुप्राविशत्' और 'सृष्ट्वा' इन दोनों क्रियाओंका कर्ता भी ब्रह्म ही होना चाहिये ।

सति निरवयवत्वादप्रविष्टदेशाभावाच्च प्रवेश उपपद्यते । कथं तर्हि प्रवेशः स्यात्? युक्तश्च प्रवेशः श्रुतत्वात्तदेवानुप्राविशदिति ।

सावयवमेवास्तु तर्हि । सावयवत्वान्मुखे हस्तप्रवेशवन्नामरूपकार्ये जीवात्मनानुप्रवेशो युक्त एवेति चेत्?

नाशून्यदेशत्वात् । न हि कार्यात्मना परिणतस्य नामरूपकार्यदेशव्यतिरेकेणात्मशून्यः प्रदेशोऽस्ति यं प्रविशेज्जीवात्मना । कारणमेव चेत्प्रविशेज्जीवात्मत्वं जह्याद्यथा घटो मृत्प्रवेशे घटत्वं जहाति । तदेवानुप्राविशदिति च श्रुतेर्न कारणानुप्रवेशो युक्तः ।

निरवयव और उससे अप्रविष्ट देशका अभाव होनेके कारण उसका प्रवेश करना सम्भव नहीं है । तो फिर उसका प्रवेश कैसे होना चाहिये? तथा उसका प्रवेश होना उचित ही है; क्योंकि 'उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया' ऐसी श्रुति है ।

पूर्व०—तब तो ब्रह्म सावयव ही होना चाहिये । उस अवस्थामें, सावयव होनेके कारण मुखमें हाथका प्रवेश होनेके समान उसका नाम-रूप कार्यमें जीवरूपसे प्रवेश होना ठीक ही होगा—यदि ऐसा कहें तो?

सिद्धान्ती—नहीं; क्योंकि उससे शून्य कोई देश नहीं है । कार्यरूपमें परिणत हुए ब्रह्मका नाम-रूप कार्यके देशसे अतिरिक्त और कोई अपनेसे शून्य देश नहीं है, जिसमें उसका जीवरूपसे प्रवेश करना सम्भव हो । और यदि यह मानो कि जीवात्माने कारणमें ही प्रवेश किया तब तो वह अपने जीवत्वको ही त्याग देगा, जिस प्रकार कि घड़ा मृत्तिकामें प्रवेश करनेपर अपना घटत्व त्याग देता है । तथा 'उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया' इस श्रुतिसे भी कारणमें अनुप्रवेश करना सम्भव नहीं है ।

कार्यान्तरमेव स्यादिति चेत् ? तदेवानुप्राविशदिति जीवात्मरूपं कार्यं नामरूपपरिणतं कार्यान्तरमेवापद्यत इति चेत् ?

न; विरोधात् । न हि घटो घटान्तरमापद्यते । व्यतिरेकश्रुतिविरोधाच्च । जीवस्य नामरूपकार्यव्यतिरेकानुवादिन्यः श्रुतयो विरुध्येरन् । तदापत्तौ मोक्षासंभवाच्च । न हि यतो मुच्यमानस्तदेवापद्यते । न हि शृङ्खलापत्तिर्बद्धस्य तस्करादेः ।

बाह्यान्तर्भेदेन परिणतमिति चेत्तदेव कारणं ब्रह्म शरीराद्याधारत्वेन तदन्तर्जीवात्मनाधेयत्वेन च परिणतमिति चेत् ?

पूर्व०—किसी अन्य कार्यमें ही प्रवेश किया—यदि ऐसा मानें तो ? अर्थात् 'तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिके अनुसार जीवात्मारूप कार्य नाम-रूपमें परिणत हुए किसी अन्य कार्यको ही प्राप्त हो जाता है—यदि ऐसी बात हो तो ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इससे विरोध उपस्थित होता है । एक घड़ा किसी दूसरे घड़ेमें लीन नहीं हो जाता । इसके सिवा [ऐसा माननेसे] व्यतिरेक श्रुतिसे विरोध भी होता है । [यदि ऐसा मानेंगे तो] जीव नाम-रूपात्मक कार्यसे व्यतिरिक्त (भिन्न) है—ऐसा अनुवाद करनेवाली श्रुतियोंसे विरोध हो जायगा और ऐसा होनेपर उसका मोक्ष होना भी असम्भव होगा । क्योंकि जो जिससे छूटनेवाला होता है वह उसीको प्राप्त नहीं हुआ करता;* जंजीरसे बँधे हुए चोर आदिका जंजीररूप हो जाना सम्भव नहीं है ।

पूर्व०—वही बाह्य और आन्तरके भेदसे परिणत हो गया, अर्थात् वह कारणरूप ब्रह्म ही शरीरादि आधाररूपसे बाह्य और आधेय जीवरूपसे उसका अन्तर्वर्ती हो गया—यदि ऐसा मानें तो ?

* अर्थात् जीवको तो नाम-रूपात्मक कार्यसे मुक्त होना इष्ट है, फिर वह उसीको क्यों प्राप्त होगा ?

न; बहिःष्ठस्य प्रवेशोपपत्तेः । न हि यो यस्यान्तःस्थः स एव तत्प्रविष्ट उच्यते । बहिःष्ठस्यानुप्रवेशः स्यात्प्रवेशशब्दार्थस्यैवं दृष्टत्वात् । यथा गृहं कृत्वा प्राविशदिति ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि प्रवेश बाहर रहनेवाले पदार्थका ही हो सकता है । जो जिसके भीतर स्थित है वह उसमें प्रविष्ट हुआ नहीं कहा जाता । अनुप्रवेश तो बाहर रहनेवाले पदार्थका ही हो सकता है; क्योंकि 'प्रवेश' शब्दका अर्थ ऐसा ही देखा गया है; जैसे कि 'घर बनाकर उसमें प्रवेश किया' इस वाक्यमें ।

जलसूर्यकादिप्रतिविम्बवत्प्रवेशः स्यादिति चेन्न; अपरिच्छिन्नत्वादमूर्तत्वाच्च । परिच्छिन्नस्य मूर्तस्यान्यस्यान्यत्र प्रसादस्वभावके जलादौ सूर्यकादिप्रतिविम्बोदयः स्यात् । न त्वात्मनः, अमूर्तत्वादाकाशादिकारणस्यात्मनो व्यापकत्वात् । तद्विप्रकृष्टदेशप्रतिविम्बाधारवस्त्वन्तराभावाच्च प्रतिविम्बवत्प्रवेशो न युक्तः ।

यदि कहो कि जलमें सूर्यके प्रतिविम्ब आदिके समान उसका प्रवेश हो सकता है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है; क्योंकि ब्रह्म अपरिच्छिन्न और अमूर्त है । परिच्छिन्न और मूर्तरूप अन्य पदार्थोंका ही स्वच्छस्वभाव जल आदि अन्य पदार्थोंमें सूर्यकादिरूप प्रतिविम्ब पड़ा करता है; किन्तु आत्माका प्रतिविम्ब नहीं पड़ सकता; क्योंकि वह अमूर्त है तथा आकाशादिका कारणरूप आत्मा व्यापक भी है । उससे दूर देशमें स्थित प्रतिविम्बकी आधारभूत अन्य वस्तुका अभाव होनेसे भी उसका प्रतिविम्बके समान प्रवेश होना सम्भव नहीं है ।

एवं तर्हि नैवास्ति प्रवेशो न च गत्यन्तरमुपलभामहे 'तदे-

*पूर्व*०—तब तो आत्माका प्रवेश होता ही नहीं—इसके सिवा 'तदेवानुप्राविशत्' इस श्रुतिकी और

वानुप्राविशत्' इति श्रुतेः। श्रुतिश्च नोऽतीन्द्रियविषये विज्ञानोत्पत्तौ निमित्तम्। न चास्माद्वाक्याद्यत्नवतामपि विज्ञानमुत्पद्यते। हन्त तर्ह्यनर्थकत्वादपोह्यमेतद्वाक्यम् 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' इति।

न, अन्यार्थत्वात्। किमर्थमस्थाने चर्चा। प्रकृतो ह्यन्यो विवक्षितोऽस्य वाक्यस्यार्थोऽस्ति स स्मर्तव्यः। "ब्रह्मविदाप्नोति परम्" (तै० उ० २।१।१) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २।१।१) "यो वेद निहितं गुहायाम्" (तै० उ० २।१।१) इति तद्विज्ञानं च विवक्षितं प्रकृतं च तत्। ब्रह्मस्वरूपानुगमाय चाकाशाद्यन्नमयान्तं कार्यं प्रदर्शितं ब्रह्मानुगमश्चारब्धः। तत्रान्नमयादात्मनोऽन्योऽन्तर आत्मा प्राण-

कोई गति दिखायी नहीं देती। हमारे (मीमांसकोंके) सिद्धान्तानुसार इन्द्रियातीत विषयोंका ज्ञान होनेमें श्रुति ही कारण है। किन्तु इस वाक्यसे बहुत यत्न करनेपर भी किसी प्रकारका ज्ञान उत्पन्न नहीं होता। अतः खेद है कि 'तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्' यह वाक्य अर्थशून्य होनेके कारण त्यागने ही योग्य है।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि इस वाक्यका अर्थ अन्य ही है। इस प्रकार अप्रासङ्गिक चर्चा क्यों करते हो? इस प्रसंगमें इस वाक्यको और ही अर्थ कहना अभीष्ट है। उसीको स्मरण करना चाहिये। "ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है" "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है" "जो उसे बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ जानता है" इत्यादि वाक्योंद्वारा जिसका निरूपण किया गया है उस ब्रह्मका ही विज्ञान यहाँ बतलाना अभीष्ट है और उसीका यहाँ प्रसङ्ग भी है। ब्रह्मके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये ही आकाशसे लेकर अन्नमयकोशपर्यन्त सम्पूर्ण कार्यवर्ग दिखलाया गया है तथा ब्रह्मानुभवका प्रसङ्ग भी चल ही रहा है। उसमें अन्नमय आत्मासे भिन्न दूसरा अन्तरात्मा प्राणमय है,

मयस्तदन्तर्मनोमयो विज्ञानमय इति विज्ञानगुहायां प्रवेशितस्तत्र चानन्दमयो विशिष्ट आत्मा प्रदर्शितः ।

अतः परमानन्दमयलिङ्गाधिगमद्वारेणानन्दविवृद्ध्यवसान आत्मा ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा सर्वविकल्पास्पदो निर्विकल्पोऽस्यामेव गुहायामधिगन्तव्य इति तत्प्रवेशः प्रकल्प्यते । न ह्यन्यत्रोपलभ्यते ब्रह्म निर्विशेषत्वात् । विशेषसंबन्धो ह्युपलब्धिहेतुर्दृष्टः, यथा राहोश्चन्द्रार्कविशिष्टसंबन्धः । एवमन्तःकरणगुहात्मसंबन्धो ब्रह्मण उपलब्धिहेतुः । संनिकर्षादवभासात्मकत्वाच्चान्तःकरणस्य ।

उसका अन्तर्वर्ती मनोमय और फिर विज्ञानमय है । इस प्रकार आत्माका विज्ञानगुहामें प्रवेश करा दिया गया है और वहाँ आनन्दमय ऐसे विशिष्ट आत्माको प्रदर्शित किया गया है ।

इसके आगे आनन्दमय—इस लिङ्गके ज्ञानद्वारा आनन्दके उत्कर्षका अवसानभूत आत्मा जो सम्पूर्ण विकल्पका आश्रयभूत एवं निर्विकार ब्रह्म है तथा [आनन्दमय कोशकी] पुच्छ प्रतिष्ठा है, वह इस गुहामें ही अनुभव किये जाने योग्य है—इसलिये उसके प्रवेशकी कल्पना की गयी है । निर्विशेष होनेके कारण ब्रह्म [बुद्धिरूप गुहाके सिवा] और कहीं उपलब्ध नहीं होता; क्योंकि विशेषका सम्बन्ध ही उपलब्धिमें हेतु देखा गया है, जिस प्रकार कि राहुकी उपलब्धिमें चन्द्रमा अथवा सूर्यरूप विशेषका सम्बन्ध । इस प्रकार अन्तःकरणरूप गुहा और आत्माका सम्बन्ध ही ब्रह्मकी उपलब्धिका हेतु है; क्योंकि अन्तःकरण उसका समीपवर्ती और प्रकाशस्वरूप* है ।

* जिस प्रकार अन्धकार और प्रकाश दोनों ही जड हैं, तथापि प्रकाश अन्धकाररूप आवरणको दूर करनेमें समर्थ है, इसी प्रकार यद्यपि अज्ञान और अन्तःकरण दोनों ही समानरूपसे जड हैं तो भी प्रत्यय (विभिन्न प्रतीतियोंके) रूपमें परिणत हुआ अन्तःकरण अज्ञानका नाश करनेमें समर्थ है और इस प्रकार वह आत्माका प्रकाशक (ज्ञान करानेवाला) है । इसी बातको आगेके भाष्यसे स्पष्ट करते हैं ।

यथा चालोकविशिष्टा घटाद्युपलब्धिरेवं बुद्धिप्रत्ययालोकविशिष्टात्मोपलब्धिः स्यात्तस्मादुपलब्धिहेतौ गुहायां निहितमिति प्रकृतमेव । तद्वृत्तिस्थानीये त्विह पुनस्तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदित्युच्यते ।

जिस प्रकार कि प्रकाशयुक्त घटादिकी उपलब्धि होती है उसी प्रकार बुद्धिके प्रत्ययरूप प्रकाशसे युक्त आत्माका अनुभव होता है । अतः उपलब्धिकी हेतुभूत गुहामें वह निहित है—इसी बातका यह प्रसङ्ग है । उसकी वृत्ति (व्याख्या) के रूपमें ही श्रुतिद्वारा 'उसे रचकर वह पीछेसे उसीमें प्रवेश कर गया' ऐसा कहा गया है ।

तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यं सृष्ट्वा तदनुप्रविष्टमिवान्तर्गुहायां बुद्धौ द्रष्टृ श्रोतृ मन्तृ विज्ञात्रित्येवं विशेषवदुपलभ्यते । स एव तस्य प्रवेशस्तस्मादस्ति तत्कारणं ब्रह्म । अतोऽस्तित्वादस्तीत्येवोपलब्धव्यं तत् ।

इस प्रकार इस कार्यवर्गको रचकर इसमें अनुप्रविष्ट-सा हुआ आकाशादिका कारणरूप वह ब्रह्म ही बुद्धिरूप गुहामें द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञाता--ऐसा सविशेष रूप-सा जान पड़ता है । यही उसका प्रवेश करना है । अतः वह ब्रह्म कारण है; इसलिये उसका अस्तित्व होनेके कारण उसे 'है' इस प्रकार ही ग्रहण करना चाहिये ।

तत्कार्यमनुप्रविश्य, किम् ?

तस्य सार्वात्म्यम् सच्च मूर्तं त्यच्चामूर्तमभवत् । मूर्तामूर्ते ह्यव्याकृतनामरूपे आत्मस्थे अन्तर्गतेनात्मना व्याक्रियेते व्याकृते मूर्तामूर्तशब्दवाच्ये । ते

उसने कार्यमें अनुप्रवेश करके फिर क्या किया ? वह सत्—मूर्त और असत्-अमूर्त हो गया । जिनके नाम और रूपकी अभिव्यक्ति नहीं हुई है, वे मूर्त और अमूर्त तो आत्मामें ही रहते हैं । उन 'मूर्त' एवं 'अमूर्त' शब्दवाच्य पदार्थोंको उनका अन्तर्वर्ती आत्मा केवल अभिव्यक्त कर देता है । उनके

मात्माकामयत बहु स्यामिति । स यथाकामं चाकाशादिकार्यं सत्त्यदादिलक्षणं सृष्ट्वा तदनु प्रविश्य पश्यञ्शृण्वन्मन्वानो विजानन् बह्वभवत्तस्मात्तदेवेदमाकाशादिकारणं कार्यस्थं परमे व्योमन् हृदयगुहायां निहितं तत्प्रत्ययावभासविशेषेणोपलभ्यमानमस्ति इत्येवं विजानीयादित्युक्तं भवति ।

तदेतस्मिन्नर्थे ब्राह्मणोक्त एष श्लोको मन्त्रो भवति । यथा पूर्वेषु अन्नमयाद्यात्मप्रकाशकाः पञ्चस्वप्येवं सर्वान्तरतमात्मास्तित्वप्रकाशकोऽपि मन्त्रः कार्यद्वारेण भवति ॥ १ ॥

कहा गया था—'आत्माने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ' । वह अपनी कामनाके अनुसार सत्, त्यत् आदि लक्षणोंवाले आकाशादि कार्यवर्गको रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो द्रष्टा, श्रोता, मन्ता और विज्ञातारूपसे बहुत हो गया । अतः आकाशादिके कारण, कार्यवर्गमें स्थित, परमाकाशके भीतर बुद्धिरूप गुहामें छिपे हुए और उसके कर्ता-भोक्तादिरूप जो प्रत्ययावभास हैं उनके द्वारा विशेषरूपसे उपलब्ध होनेवाले उस ब्रह्मको ही 'वह है' इस प्रकार जाने—ऐसा कहा गया ।

उस इस ब्राह्मणोक्त अर्थमें ही यह श्लोक यानी मन्त्र है । जिस प्रकार पूर्वोक्त पाँच पर्यायोंमें अन्नमय आदि कोशोंके प्रकाशक श्लोक थे उसी प्रकार सबकी अपेक्षा आन्तरतम आत्माके अस्तित्वको उसके कार्यद्वारा प्रकाशित करनेवाला भी यह मन्त्र है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥



सप्तम अनुवाक

ब्रह्मकी सुकृतता एवं आनन्दरूपताका तथा ब्रह्मवेत्ताकी

अभयप्राप्तिका वर्णन

असद्वा इदमग्र आसीत्। ततो वै सदजायत। तदात्मानꣳस्वयमकुरुत। तस्मात्तत्सुकृतमुच्यत इति। यद्वै तत्सुकृतं रसो वै सः। रसꣳह्येवायं लब्ध्वानन्दी भवति। को ह्येवान्यात्कः प्राण्याद् यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। एष ह्येवानन्दयाति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते। अथ सोऽभयं गतो भवति। यदा ह्येवैष एतस्मिन्नुदरमन्तरं कुरुते। अथ तस्य भयं भवति। तत्त्वेव भयं विदुषो मन्वानस्य। तदप्येष श्लोको भवति॥ १॥

पहले यह [जगत्] असत् (अव्याकृत ब्रह्मरूप) ही था। उसीसे सत् (नाम-रूपात्मक व्यक्त) की उत्पत्ति हुई। उस असत्ने स्वयं अपनेको ही [नाम-रूपात्मक जगद्रूपसे] रचा। इसलिये वह सुकृत (स्वयं रचा हुआ) कहा जाता है। वह जो प्रसिद्ध सुकृत है सो निश्चय रस ही है। इस रसको पाकर पुरुष आनन्दी हो जाता है। यदि हृदयाकाशमें स्थित यह आनन्द (आनन्दस्वरूप आत्मा) न होता तो कौन व्यक्ति अपान-क्रिया करता और कौन प्राणन-क्रिया करता? यही तो उन्हें आनन्दित करता है। जिस समय यह साधक इस अदृश्य अशरीर, अनिर्वाच्य और निराधार ब्रह्में अभय-स्थिति प्राप्त करता है उस

समय यह अभयको प्राप्त हो जाता है; और जब यह इसमें थोड़ा-सा भी भेद करता है तो इसे भय प्राप्त होता है। वह ब्रह्म ही भेददर्शी विद्वान्‌के लिये भयरूप है। इसी अर्थमें यह श्लोक है ॥ १ ॥

असद्वा इदमग्र आसीत्।

असच्छब्द-वाच्याव्याकृता-ज्जगदुत्पत्तिः

असदिति व्याकृत-नामरूपविशेषविप-रीतरूपमव्याकृतं ब्रह्मोच्यते। न पुनरत्यन्तमेवासत्। न ह्यसतः सज्जन्मास्ति। इदमिति नामरूपविशेषवद्व्याकृतं जगदग्रे पूर्वं प्रागुत्पत्तेर्ब्रह्मैवासच्छब्दवाच्यमासीत्, ततोऽसतो वै सत्प्रविभक्तनामरूपविशेषमजायतोत्पन्नम्।

पहले यह [जगत्] असत् ही था। 'असत्' इस शब्दसे, जिनके नाम-रूप व्यक्त हो गये हैं उन विशेष पदार्थोंसे विपरीत स्वभाववाला अव्याकृत ब्रह्म कहा जाता है। इससे [वन्ध्यापुत्रादि] अत्यन्त असत् पदार्थ बतलाये जाने अभीष्ट नहीं हैं, क्योंकि असत्‌से सत्‌का जन्म नहीं हो सकता। 'इदम्' अर्थात् नाम-रूप विशेषसे युक्त व्याकृत जगत् अग्रे—पहले अर्थात् उत्पत्तिसे पूर्व 'असत्' शब्दवाच्य ब्रह्म ही था। उस असत्‌से ही सत् यानी जिसके नामरूपका विभाग हो गया है उस विशेषकी उत्पत्ति हुई।

किं ततः प्रविभक्तं कार्यमिति पितुरिव पुत्रः, नेत्याह। तदसच्छब्दवाच्यं स्वयमेवात्मानमेवाकुरुत कृतवत्। यस्मादेवं तस्माद्ब्रह्मैव सुकृतं स्वयंकर्तृच्यते। स्वयंकर्तृ ब्रह्मेति प्रसिद्धं लोके सर्वकारणत्वात्।

तो क्या पितासे पुत्रके समान यह कार्यवर्ग उस [ब्रह्म] से विभिन्न है ? इसपर श्रुति कहती है—नहीं, उस 'असत्' शब्दवाच्य ब्रह्मने स्वयं अपनेको ही रचा। क्योंकि ऐसी बात है इसलिये वह ब्रह्म ही सुकृत अर्थात् स्वयं कर्ता कहा जाता है, सबका कारण होनेसे ब्रह्म स्वयं कर्ता है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध है।

यस्माद्वा स्वयमकरोत्सर्वं सर्वात्मना तस्मात्पुण्यरूपेणापि तदेव ब्रह्म कारणं सुकृतमुच्यते । सर्वथापि तु फलसंबन्धादि-कारणं सुकृतशब्दवाच्यं प्रसिद्धं लोके । यदि पुण्यं यदि वान्यत्सा प्रसिद्धिर्नित्ये चेतनवत्कारणे सत्युपपद्यते । तस्मादस्ति तद्ब्रह्म सुकृतप्रसिद्धेः । इतश्चास्ति । कुतः ? रसत्वात् । कुतो रसत्व-प्रसिद्धिर्ब्रह्मण इत्यत आह—

अथवा, क्योंकि सर्वरूप होनेसे ब्रह्मने स्वयं ही इस सम्पूर्ण जगत्की रचना की है, इसलिये पुण्यरूपसे भी उसका कारणरूप वह ब्रह्म 'सुकृत' कहा जाता है। लोकमें जो कार्य [पुण्य अथवा पाप] किसी भी प्रकारसे फलके सम्बन्धादिका कारण होता है वही 'सुकृत' शब्दके वाच्यरूपसे प्रसिद्ध होता है । वह प्रसिद्धि चाहे पुण्य-रूपा हो और चाहे पापरूपा किसी नित्य और सचेतन कारणके होनेपर ही हो सकती है । अतः उस सुकृतरूप प्रसिद्धिकी सत्ता होनेसे यह सिद्ध होता है कि वह ब्रह्म है। ब्रह्म इसलिये भी है; किस लिये ? रस-स्वरूप होनेके कारण । ब्रह्मकी रसस्वरूपताकी प्रसिद्धि किस कारण-से है—इसपर श्रुति कहती है—

यद्वै तत्सुकृतम् । रसो वै ब्रह्मणो सः । रसो नाम रसस्वरूपत्वम् तृप्तिहेतुरानन्दकरो मधुराम्लादिः प्रसिद्धो लोके । रसमेवायं लब्ध्वा प्राप्यानन्दी सुखी भवति । नासत आनन्द-हेतुत्वं दृष्टं लोके । बाह्यानन्द-साधनरहिता अप्यनीहा निरेषणा

जो भी वह प्रसिद्ध सुकृत है वह निश्चय रस ही है । खट्टा-मीठा आदि तृप्तिदायक और आनन्दप्रद पदार्थ लोकमें 'रस' नामसे प्रसिद्ध है ही । इस रसको ही पाकर पुरुष आनन्दी अर्थात् सुखी हो जाता है । लोकमें किसी असत् पदार्थकी आनन्दहेतुता कभी नहीं देखी गयी । ब्रह्मनिष्ठ निरीह और निरपेक्ष विद्वान् बाह्यसुखके साधनसे रहित होनेपर

ब्राह्मणा बाह्यरसलाभादिव सानन्दा दृश्यन्ते विद्वांसः; नूनं ब्रह्मैव रसस्तेषाम् । तस्मादस्ति तत्तेषामानन्दकारणं रसवद्ब्रह्म ।

इतश्चास्ति, कुतः ? प्राणनादिक्रियादर्शनात् । अयमपि हि पिण्डो जीवतः प्राणेन प्राणित्यपानेनापानिति । एवं वायवीया ऐन्द्रियकाश्च चेष्टाः संहतैः कार्यकरणैर्निर्वर्त्यमाना दृश्यन्ते । तच्चैकार्थवृत्तित्वेन संहननं नान्तरेण चेतनमसंहतं संभवति । अन्यत्रादर्शनात् ।

तदाह—यद्यदि एष आकाशे परमे व्योम्नि गुहायां निहित आनन्दो न स्यान्न भवेत्को ह्येव लोकेऽन्यादपानचेष्टां कुर्यादित्यर्थः । कः प्राण्यात्प्राणनं वा कुर्यात्तस्मादस्ति तद्ब्रह्म । यदर्थाः

भी बाह्य रसके लाभसे आनन्दित होनेके समान आनन्दयुक्त देखे जाते हैं । निश्चय उनका रस ब्रह्म ही है । अतः रसके समान उनके आनन्दका कारणरूप वह ब्रह्म है ही ।

इसलिये भी ब्रह्म है; किसलिये ? प्राणनादि क्रियाके देखे जानेसे । जीवित पुरुषका यह पिण्ड भी प्राणकी सहायतासे प्राणन करता है और अपान वायुके द्वारा अपानक्रिया करता है । इसी प्रकार संघातको प्राप्त हुए इन शरीर और इन्द्रियोंके द्वारा निष्पन्न होती हुई और भी वायु और इन्द्रियसम्बन्धिनी चेष्टाएँ देखी जाती हैं । वह वायु आदि अचेतन पदार्थोंका एक ही उद्देश्यकी सिद्धिके लिये परस्पर संहत (अनुकूल) होना किसी असंहत (किसीसे भी न मिले हुए) चेतनके बिना नहीं हो सकता; क्योंकि और कहीं ऐसा देखा नहीं जाता ।

इसी बातको श्रुति कहती है—यदि आकाश—परमाकाश अर्थात् बुद्धिरूप गुहामें छिपा हुआ यह आनन्द न होता तो लोकमें कौन अपान-क्रिया करता और कौन प्राणन कर सकता; इसलिये वह ब्रह्म है ही, जिसके लिये कि शरीर

कार्यकरणप्राणनादिचेष्टास्तत्कृत एव चानन्दो लोकस्य ।

कुतः ? एष ह्येव पर आत्मा आनन्दयात्यानन्दयति सुखयति लोकं धर्मानुरूपम् । स एवात्मानन्दरूपोऽविद्यया परिच्छिन्नो विभाव्यते प्राणिभिरित्यर्थः । भयाभयहेतुत्वाद्विद्वदविदुषोरस्ति तद्ब्रह्म । सद्वस्त्वाश्रयणेन ह्यभयं भवति । नासद्वस्त्वाश्रयणेन भयनिवृत्तिरुपपद्यते ।

कथमभयहेतुत्वमित्युच्यते—

ब्रह्मणोऽभय- हेतुत्वम् यदा ह्येव यस्मादेष साधक एतस्मिन्ब्रह्मणि किंविशिष्टेऽदृश्ये दृश्यं नाम द्रष्टव्यं विकारो दर्शनार्थत्वाद्विकारस्य । न दृश्यमदृश्यमविकार इत्यर्थः । एतस्मिन्नदृश्येऽविकारेऽविषयभूते अनात्म्येऽशरीरे । यस्माददृश्यं तस्मादनात्म्यं

और इन्द्रियकी प्राणन आदि चेष्टाएँ हो रही हैं; और उसीका किया हुआ लोकका आनन्द भी है ।

ऐसा क्यों है ? क्योंकि यह परमात्मा ही लोकको उसके धर्मानुसार आनन्दित—सुखी करता है । तात्पर्य यह है कि वह आनन्दरूप आत्मा ही प्राणियोंद्वारा अविद्यासे परिच्छिन्न भावना किया जाता है । अविद्वान्के भय और विद्वान्के अभयका कारण होनेसे भी ब्रह्म है, क्योंकि किसी सत्य पदार्थके आश्रयसे ही अभय हुआ करता है, असद्वस्तुके आश्रयसे भयकी निवृत्ति होनी सम्भव नहीं है ।

ब्रह्मका अभयहेतुत्व किस प्रकार है, सो बतलाया जाता है—क्योंकि जिस समय भी यह साधक इस ब्रह्ममें [प्रतिष्ठा—स्थिति अर्थात् आत्मभाव प्राप्त कर लेता है ।] किन विशेषणोंसे युक्त ब्रह्ममें ? अदृश्यमें—दृश्य देखे जानेवाले अर्थात् विकारका नाम है; क्योंकि विकार देखे जानेके ही लिये है; जो दृश्य न हो उसे अदृश्य अर्थात् अविकार कहते हैं । इस अदृश्य—अविकारी अर्थात् अविषयभूत, अनात्म्य—अशरीरमें । क्योंकि वह अदृश्य है इसलिये अशरीर भी है और क्योंकि

यस्मादनात्म्यं तस्मादनिरुक्तम् । विशेषो हि निरुच्यते विशेषश्च विकारः । अविकारं च ब्रह्म, सर्वविकारहेतुत्वात्तस्मादनिरुक्तम् । यत एवं तस्मादनिलयनं निलयनं नीड आश्रयो न निलयनमनिलयनमनाधारं तस्मि-न्नेतस्मिन्नदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्ते-ऽनिलयने सर्वकार्यधर्मविलक्षणे ब्रह्मणीति वाक्यार्थः । अभयमिति क्रियाविशेषणम् । अभयामिति वा लिङ्गान्तरं परिणम्यते । प्रतिष्ठां स्थितिमात्मभावं विन्दते लभते । अथ तदा स तस्मिन्नानात्वस्य भयहेतोरविद्याकृतस्यादर्शनाद-भयं गतो भवति ।

अशरीर है इसलिये अनिरुक्त है । निरूपण विशेषका ही किया जाता है और विशेष विकार ही होता है, किन्तु ब्रह्म सम्पूर्ण विकारका कारण होनेसे स्वयं अविकार ही है, इसलिये वह अनिरुक्त है । क्योंकि ऐसा है इसलिये वह अनिलयन है, निलयन आश्रयको कहते हैं जिसका निलयन न हो वह अनिलयन यानी अनाश्रय है । उस इस अदृश्य, अनात्म्य, अनिरुक्त और अनिलयन अर्थात् सम्पूर्ण कार्यधर्मोंसे विलक्षण ब्रह्ममें अभय प्रतिष्ठा—स्थिति यानी आत्म-भावको प्राप्त करता है । उस समय उसमें भयके हेतुभूत नानात्वको न देखनेके कारण अभयको प्राप्त हो जाता है । मूलमें 'अभयम्' यह क्रियाविशेषण है* अथवा इसे 'अभयाम्' इस प्रकार अन्य (स्त्री) लिङ्गके रूपमें परिणत कर लेना चाहिये ।

स्वरूपप्रतिष्ठो ह्यसौ यदा भवति तदा नान्यत्पश्यति ना-

जिस समय यह अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है उस समय यह

* अर्थात् अभयरूपसे प्रतिष्ठा—स्थिति यानी आत्मभाव प्राप्त कर लेता है ।

न्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति । अन्यस्य ह्यन्यतो भयं भवति नात्मन एवात्मनो भयं युक्तम् । तस्मादात्मैवात्मनोऽभयकारणम् । सर्वतो हि निर्भया ब्राह्मणा दृश्यन्ते सत्सु भयहेतुषु तच्चायुक्तमसति भयत्राणे ब्रह्मणि । तस्मात्तेषामभयदर्शनादस्ति तदभयकारणं ब्रह्मेति ।

न तो और कुछ देखता है, न और कुछ सुनता है और न और कुछ जानता ही है । अन्यको ही अन्यसे भय हुआ करता है, आत्मासे आत्माको भय होना सम्भव नहीं है । अतः आत्मा ही आत्माके अभयका कारण है । ब्राह्मण लोग (ब्रह्मनिष्ठ पुरुष) भयके कारणोंके रहते हुए भी सब ओरसे निर्भय दिखायी देते हैं । किन्तु भयसे रक्षा करनेवाले ब्रह्मके न होनेपर ऐसा होना असम्भव था । अतः उन्हें निर्भय देखनेसे यह सिद्ध होता है कि अभयका हेतुभूत ब्रह्म है ही ।

कदासावभयं गतो भवति साधको यदा नान्यत्पश्यत्यात्मनि चान्तरं भेदं न कुरुते तदाभयं गतो भवतीत्यभिप्रायः । यदा पुनरविद्यावस्थायां हि यस्मादेषोऽविद्यावानविद्यया प्रत्युपस्थापितं वस्तु तैमिरिकद्वितीयचन्द्रवत्पश्यत्यात्मनि चैतस्मिन् ब्रह्मणि उदपि, अरमल्पमप्यन्तरं छिद्रं भेददर्शनं कुरुते । भेददर्शन-

भेददर्शनमेव भयहेतुः

यह साधक कब अभयको प्राप्त होता है ? [ऐसा प्रश्न होनेपर कहते हैं—] जिस समय यह अन्य कुछ नहीं देखता और अपने आत्मामें किसी प्रकारका अन्तर-भेद नहीं करता उस समय ही यह अभयको प्राप्त होता है—यह इसका तात्पर्य है । किन्तु जिस समय अविद्यावस्थामें यह अविद्याग्रस्त जीव तिमिररोगीको दिखायी देनेवाले दूसरे चन्द्रमाके समान अविद्याद्वारा प्रस्तुत किये हुए पदार्थोंको देखता है तथा इस आत्मा यानी ब्रह्ममें थोड़ा-सा भी अन्तर—छिद्र अर्थात् भेददर्शन करता है—

मेव हि भयकारणमल्पमपि भेदं पश्यतीत्यर्थः। अथ तस्माद्भेददर्शनाद्धेतोरस्य भेददर्शिन आत्मनो भयं भवति। तस्मादात्मैवात्मनो भयकारणमविदुषः।

भेददर्शन ही भयका कारण है, अतः तात्पर्य यह है कि यदि यह थोड़ा-सा भी भेद देखता है तो उस आत्माके भेददर्शनरूप कारणसे उसे भय होता है अतः अज्ञानीके लिये आत्मा ही आत्माके भयका कारण है।

तदेतदाह। तद्ब्रह्म त्वेव भयं भेददर्शिनो विदुष ईश्वरोऽन्यो मत्तोऽहमन्यः संसारी इत्येवं विदुषो भेददृष्टमीश्वराख्यं तदेव ब्रह्माल्पमप्यन्तरं कुर्वतो भयं भवत्येकत्वेनामन्वानस्य। तस्माद्विद्वानप्यविद्वानेवासौ योऽयमेकमभिन्नमात्मतत्त्वं न पश्यति।

यहाँ श्रुति इसी बातको कहती है—भेददर्शी विद्वान्‌के लिये वह ब्रह्म ही भयरूप है। मुझसे भिन्न ईश्वर और है तथा मैं संसारी जीव और हूँ इस प्रकार उसमें थोड़ा-सा भी अन्तर करनेवाले उसे एकरूपसे न माननेवाले विद्वान् (भेदज्ञानी) के लिये वह भेदरूपसे देखा गया ईश्वरसंज्ञक ब्रह्म ही भयरूप हो जाता है। अतः जो पुरुष एक अभिन्न आत्मतत्त्वको नहीं देखता वह विद्वान् होनेपर भी अविद्वान् ही है।

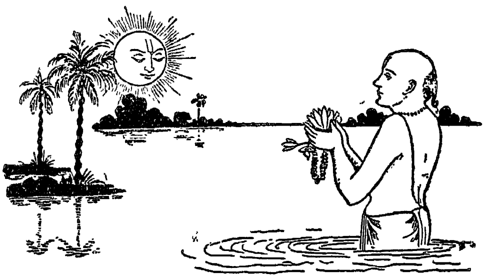
उच्छेदहेतुदर्शनाद्ध्युच्छेद्याभिमतस्य भयं भवति। अनुच्छेद्यो ह्युच्छेदहेतुस्तत्रासत्युच्छेदहेतावुच्छेद्ये न तद्दर्शनकार्यं भयं

अपनेको उच्छेद्य (नाशवान्) माननेवालेको ही उच्छेदका कारण देखनेसे भय हुआ करता है। उच्छेदका कारण तो अनुच्छेद्य (अविनाशी) ही होता है। अतः यदि कोई उच्छेदका कारण न होता तो उच्छेद्य पदार्थोंमें उसके देखनेसे

युक्तम् । सर्वं च जगद्भयवद् दृश्यते । तस्माज्जगतो भयदर्शनाद्गम्यते नूनं तदस्ति भयकारणमुच्छेदहेतुरनुच्छेद्यात्मकं यतो जगद्बिभेतीति । तदेतस्मिन्नप्यर्थ एष श्लोको भवति ॥ १ ॥

होनेवाला भय सम्भव नहीं था। किन्तु सारा ही संसार भययुक्त देखा जाता है। अतः जगत्‌को भय होता देखनेसे जाना जाता है कि उसके भयका कारण उच्छेदका हेतुभूत किन्तु स्वयं अनुच्छेद्यरूप ब्रह्म है, जिससे कि जगत् भय मानता है। सो, इस अर्थमें भी यह श्लोक है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥



अष्टम अनुवाक

ब्रह्मानन्दके निरतिशयत्वकी मीमांसा

भीषास्माद्वातः पवते । भीषोदेति सूर्यः । भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च । मृत्युर्धावति पञ्चम इति । सैषानन्दस्य मीमाꣳसा भवति । युवा स्यात्साधुयुवाध्यायक आशिष्ठो दृढिष्ठो बलिष्ठस्तस्येयं पृथिवी सर्वा वित्तस्य पूर्णा स्यात् । स एको मानुष आनन्दः । ते ये शतं मानुषा आनन्दाः॥ १ ॥

स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दाः । स एको देवगन्धर्वाणामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवगन्धर्वाणामानन्दाः । स एकः पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं पितॄणां चिरलोकलोकानामानन्दाः । स एक आजानजानां देवानामानन्दः ॥ २ ॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमाजानजानां देवानामानन्दाः । स एकः कर्मदेवानां देवानामानन्दः । ये कर्मणा देवानपियन्ति । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं कर्मदेवानां देवानामानन्दाः । स एको देवा-

नामानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं देवानामानन्दाः । स एक इन्द्रस्यानन्दः ॥ ३ ॥

श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतमिन्द्रस्यानन्दाः । स एको बृहस्पतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं बृहस्पतेरानन्दाः। स एकः प्रजापतेरानन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य । ते ये शतं प्रजापतेरानन्दाः । स एको ब्रह्मण आनन्दः । श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य ॥ ४ ॥

इसके भयसे वायु चलता है, इसीके भयसे सूर्य उदय होता है तथा इसीके भयसे अग्नि, इन्द्र और पाँचवाँ मृत्यु दौड़ता है । अब यह [इस ब्रह्मके] आनन्दकी मीमांसा है—साधु स्वभाववाला नवयुवक, वेद पढ़ा हुआ, अत्यन्त आशावान् [कभी निराश न होनेवाला] तथा अत्यन्त दृढ़ और बलिष्ठ हो एवं उसीकी यह धन-धान्यसे पूर्ण सम्पूर्ण पृथ्वी भी हो । [उसका जो आनन्द है] वह एक मानुष आनन्द है; ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं ॥ १ ॥ वही मनुष्य-गन्धर्वोंका एक आनन्द है तथा वह अकामहत (जो कामनासे पीड़ित नहीं है उस) श्रोत्रियको भी प्राप्त है । मनुष्य-गन्धर्वोंके जो सौ आनन्द हैं वही देवगन्धर्वका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । देवगन्धर्वोंके जो सौ आनन्द हैं वही नित्यलोकमें रहनेवाले पितृगणका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है । चिरलोकनिवासी पितृगणके जो सौ आनन्द हैं वही आजानज देवताओंका एक आनन्द है ॥ २ ॥ और वह अकामहत श्रोत्रियोंको भी प्राप्त है । आजानज देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही कर्मदेव देवताओंका, जो कि [अग्निहोत्रादि] कर्म करके देवत्वको प्राप्त होते हैं, एक आनन्द है और

वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है। कर्मदेव देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही देवताओंका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है। देवताओंके जो सौ आनन्द हैं वही इन्द्रका एक आनन्द है ॥ ३ ॥ तथा वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है। इन्द्रके जो सौ आनन्द हैं वही बृहस्पतिका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है। बृहस्पतिके जो सौ आनन्द हैं वही प्रजापतिका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है। प्रजापतिके जो सौ आनन्द हैं वही ब्रह्माका एक आनन्द है और वह अकामहत श्रोत्रियको भी प्राप्त है ॥ ४ ॥

भीषास्माद्वातः पवते। भीषोदेति सूर्यः भीषास्मादग्निश्चेन्द्रश्च मृत्युर्धावति पञ्चम इति।

ब्रह्मानुशासनम्

वातादयो हि महार्हाः स्वयमीश्वराः सन्तः पवनादिकार्येष्वायासबहुलेषु नियताः प्रवर्तन्ते। तद्युक्तं प्रशास्तरि सति; यस्मान्नियमेन तेषां प्रवर्तनम्। तस्मादस्ति भयकारणं तेषां प्रशास्तृ ब्रह्म। यतस्ते भृत्या इव राज्ञोऽस्माद्ब्रह्मणो भयेन प्रवर्तन्ते। तच्च भयकारणमानन्दं ब्रह्म।

इसकी भीति अर्थात् भयसे वायु चलता है, इसीकी भीतिसे सूर्य उदित होता है और इसके भयसे ही अग्नि, इन्द्र तथा पाँचवाँ[1] मृत्यु दौड़ता है। वायु आदि देवगण परमपूजनीय और स्वयं समर्थ होनेपर भी अत्यन्त श्रमसाध्य चलने आदिके कार्यमें नियमानुसार प्रवृत्त हो रहे हैं। यह बात उनका कोई शासक होनेपर ही सम्भव है। क्योंकि उनकी नियमसे प्रवृत्ति होती है इसलिये उनके भयका कारण और उनपर शासन करनेवाला ब्रह्म है। जिस प्रकार राजाके भयसे सेवक लोग अपने-अपने कामोंमें लगे रहते हैं उसी प्रकार वे इस ब्रह्मके भयसे प्रवृत्त होते हैं, वह उनके भयका कारण ब्रह्म आनन्दस्वरूप है।

१. पूर्वोक्त वायु आदिके क्रमसे गणना किये जानेपर पाँचवाँ होनेके कारण मृत्युको पाँचवाँ कहा है।

तस्यास्य ब्रह्मण आनन्दस्यैषा मीमांसा ब्रह्मानन्दा- विचारणा लोचनम् भवति । किमानन्दस्य मीमांस्यमित्युच्यते । किमानन्दो विषयविषयिसंबन्धजनितो लौकिकानन्दवदाहोस्वित् स्वाभाविक इत्येवमेषानन्दस्य मीमांसा ।

तत्र लौकिक आनन्दो बाह्याध्यात्मिकसाधनसंपत्तिनिमित्त उत्कृष्टः । स य एष निर्दिश्यते ब्रह्मानन्दानुगमार्थम् । अनेन हि प्रसिद्धेनानन्देन व्यावृत्तविषयबुद्धिगम्य आनन्दोऽनुगन्तुं शक्यते ।

लौकिकोऽप्यानन्दो ब्रह्मानन्दस्यैव मात्रा अविद्यया तिरस्क्रियमाणे विज्ञान उत्कृष्यमाणायां चाविद्यायां ब्रह्मादिभिः कर्मवशाद्यथाविज्ञानं विषयादिसाधनसंबन्धवशाच्च विभाव्यमानश्च लोकेऽनवस्थितो लौकिकः संप-

उस इस ब्रह्मके आनन्दकी यह मीमांसा—विचारणा है । उस आनन्दकी क्या बात विचारणीय है, इसपर कहते हैं—'क्या वह आनन्द लौकिक सुखकी भाँति विषय और विषयको ग्रहण करनेवालेके सम्बन्धसे होनेवाला है अथवा स्वाभाविक ही है ?' इस प्रकार यही उस आनन्दकी मीमांसा है ।

उसमें जो लौकिक आनन्द बाह्य और शारीरिक साधन-सम्पत्तिके कारण उत्कृष्ट गिना जाता है ब्रह्मानन्दके ज्ञानके लिये यहाँ उसीका निर्देश किया जाता है। इस प्रसिद्ध आनन्दके द्वारा ही जिसकी बुद्धि विषयोंसे हटी हुई है उस ब्रह्मवेत्ताको अनुभव होनेवाले आनन्दका ज्ञान हो सकता है ।

लौकिक आनन्द भी ब्रह्मानन्दका ही अंश है। अविद्यासे विज्ञानके तिरस्कृत हो जानेपर और अविद्याका उत्कर्ष होनेपर प्राक्तन कर्मवश विषयादि साधनोंके सम्बन्धसे ब्रह्मा आदि जीवोंद्वारा अपने-अपने विज्ञानानुसार भावना किया जानेके कारण ही वह लोकमें अस्थिर और लौकिक

द्यते । स एवाविद्याकामकर्मापकर्षेण मनुष्यगन्धर्वाद्युत्तरोत्तरभूमिष्वकामहतविद्वच्छ्रोत्रियप्रत्यक्षो विभाव्यते शतगुणोत्तरोत्तरोत्कर्षेण यावद्धिरण्यगर्भस्य ब्रह्मण आनन्द इति । निरस्ते त्वविद्याकृते विषयविषयिविभागे विद्यया स्वाभाविकः परिपूर्ण एक आनन्दोऽद्वैतो भवतीत्येतमर्थं विभावयिष्यन्नाह ।

आनन्द हो जाता है । कामनाओंसे पराभूत न होनेवाले विद्वान् श्रोत्रियको प्रत्यक्ष अनुभव होनेवाला वह ब्रह्मानन्द ही मनुष्य-गन्धर्व आदि आगे-आगेकी भूमियोंमें हिरण्यगर्भपर्यन्त अविद्या, कामना और कर्मका ह्रास होनेसे उत्तरोत्तर सौ-सौ गुने उत्कर्षसे आविर्भूत होता है । तथा विद्याद्वारा अविद्याजनित विषय-विषयिविभागके निवृत्त हो जानेपर वह स्वाभाविक परिपूर्ण एक और अद्वैत आनन्द हो जाता है—इसी अर्थको समझानेके लिये श्रुति कहती है—

युवा प्रथमवयाः साधुयुवेति साधुश्चासौ युवा चेति यूनो विशेषणम् । युवाप्यसाधुर्भवति साधुरप्ययुवातो विशेषणं युवा स्यात्साधुयुवेति । अध्यायकोऽधीतवेदः । आशिष्ठ आशास्तृतमः । दृढिष्ठो दृढतमः । बलिष्ठो बलवत्तमः । एवमाध्यात्मिकसाधनसंपन्नः । तस्येयं पृथिव्युर्वी

जो युवा अर्थात् पूर्ववयस्क, साधुयुवा अर्थात् जो साधु भी हो और युवा भी—इस प्रकार साधुयुवा शब्द 'युवा' का विशेषण है; लोकमें युवा भी असाधु हो सकता है और साधु भी अयुवा हो सकता है, इसीलिये 'जो युवा हो—साधुयुवा हो' इस प्रकार विशेषणरूपसे कहा है । तथा अध्यायक—वेद पढ़ा हुआ, आशिष्ठ—अत्यन्त आशावान्, दृढिष्ठ—अत्यन्त दृढ और बलिष्ठ—अति बलवान् हो; इस प्रकार जो इन आध्यात्मिक साधनोंसे सम्पन्न हो और उसीकी, यह धनसे अर्थात्

सर्वा वित्तस्य वित्तेनोपभोगसाधनेन दृष्टार्थेनादृष्टार्थेन च कर्मसाधनेन संपन्ना पूर्णा राजा पृथिवीपतिरित्यर्थः । तस्य च य आनन्दः स एको मानुषो मनुष्याणां प्रकृष्ट एक आनन्दः ।

उपभोगके साधनसे तथा लौकिक और पारलौकिक कर्मके साधनसे सम्पन्न सम्पूर्ण पृथिवी हो—अर्थात् जो राजा यानी पृथिवीपति हो; उसका जो आनन्द है वह एक मानुष आनन्द यानी मनुष्योंका एक प्रकृष्ट आनन्द है ।

ते ये शतं मानुषा आनन्दाः स एको मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दः। मानुषानन्दाच्छतगुणेनोत्कृष्टो मनुष्यगन्धर्वाणामानन्दो भवति। मनुष्याः सन्तः कर्मविद्याविशेषाद्गन्धर्वत्वं प्राप्ता मनुष्यगन्धर्वाः । ते ह्यन्तर्धानादिशक्तिसंपन्नाः सूक्ष्मकार्यकरणाः । तस्मात्प्रतिघाताल्पत्वं तेषां द्वन्द्वप्रतिघातशक्तिसाधनसंपत्तिश्च । ततोऽप्रतिहन्यमानस्य प्रतीकारवतो मनुष्यगन्धर्वस्य स्याच्चित्तप्रसादः । तत्प्रसादविशेषात्सुखविशेषाभि-

ऐसे जो सौ मानुष आनन्द हैं वही मनुष्य-गन्धर्वोंका एक आनन्द है । मानुष आनन्दसे मनुष्य गन्धर्वोंका आनन्द सौ गुना उत्कृष्ट होता है । जो पहले मनुष्य होकर फिर कर्म और उपासनाकी विशेषतासे गन्धर्वत्वको प्राप्त हुए हैं वे मनुष्य-गन्धर्व कहलाते हैं । वे अन्तर्धानादिकी शक्तिसे सम्पन्न यथा सूक्ष्म-शरीर और इन्द्रियोंसे युक्त होते हैं, इसलिये उन्हें [शीतोष्णादि द्वन्द्वोंका] थोड़ा प्रतिघात होता है तथा वे द्वन्द्वोंका सामना करनेवाले सामर्थ्य और साधनसे सम्पन्न होते हैं । अतः उस शीतोष्णादि द्वन्द्वसे प्रतिहत न होनेवाले तथा [उसका आघात होनेपर] उसका प्रतीकार करनेमें समर्थ मनुष्यगन्धर्वको चित्त-प्रसाद प्राप्त होता है और उस प्रसादविशेषसे उसके सुखविशेषकी

व्यक्तिः । एवं पूर्वस्याः पूर्वस्या भूमेरुत्तरस्यामुत्तरस्यां भूमौ प्रसादविशेषतः शतगुणेनानन्दोत्कर्ष उपपद्यते ।

अभिव्यक्ति होती है । इस प्रकार पूर्व-पूर्व भूमिकी अपेक्षा आगे-आगेकी भूमिमें प्रसादकी विशेषता होनेसे सौ-सौ गुने आनन्दका उत्कर्ष होना सम्भव ही है ।

प्रथमं त्वकामहताग्रहणं मनुष्यविषयभोगकामानभिहतस्य श्रोत्रियस्य मनुष्यानन्दाच्छतगुणेनानन्दोत्कर्षो मनुष्यगन्धर्वेण तुल्यो वक्तव्य इत्येवमर्थम् । साधुयुवाध्यायक इति श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे गृह्येते । ते ह्यविशिष्टे सर्वत्र । अकामहतत्वं तु विषयोत्कर्षापकर्षतः सुखोत्कर्षापकर्षाय विशेष्यते अतोऽकामहतग्रहणम्, तद्विशेषतः शतगुण-

[आगेके सब वाक्योंके साथ रहनेवाला] 'श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य' यह वाक्य पहले [मानुष आनन्दके साथ] इसलिये ग्रहण नहीं किया गया कि विषय-भोग और कामनाओंसे व्याकुल न रहनेवाले श्रोत्रियके आनन्दका उत्कर्ष मानुष आनन्दकी अपेक्षा सौ गुना अर्थात् मनुष्यगन्धर्वके आनन्दके तुल्य बतलाना है । श्रुतिमें 'साधुयुवा' और 'अध्यायक' ये दो विशेषण [सार्वभौम राजाका] श्रोत्रियत्व और निष्पापत्व प्रदर्शित करनेके लिये ग्रहण किये जाते हैं । इन्हें आगे भी सबके साथ समानभावसे समझना चाहिये । विषयके उत्कर्ष और अपकर्षसे सुखका भी उत्कर्ष और अपकर्ष होता है [किन्तु कामनारहित पुरुषके लिये सुखका उत्कर्ष या अपकर्ष हुआ नहीं करता] इसीलिये अकामहतत्वकी विशेषता है । और इसीसे 'अकामहत' पद ग्रहण किया गया है । अतः उससे विशिष्ट पुरुषके

सुखोत्कर्षोपलब्धेरकामहतत्वस्य परमानन्दप्राप्तिसाधनत्वविधानार्थम् । व्याख्यातमन्यत् ।

देवगन्धर्वा जातित एव । चिरलोकलोकानामिति पितॄणां विशेषणम् । चिरकालस्थायी लोको येषां पितॄणां ते चिरलोकलोका इति । आजान इति देवलोकस्तस्मिन्नाजाने जाता आजानजा देवाः स्मार्तकर्मविशेषतो देवस्थानेषु जाताः ।

कर्मदेवा ये वैदिकेन कर्मणाग्निहोत्रादिना केवलेन देवानपियन्ति । देवा इति त्रयस्त्रिंशद्धविर्भुजः । इन्द्रस्तेषां स्वामी तस्याचार्यो बृहस्पतिः । प्रजापतिर्विराट् । त्रैलोक्यशरीरो ब्रह्मा समष्टिव्यष्टिरूपः संसारमण्डलव्यापी ।

यत्रैत आनन्दभेदा एकतां गच्छन्ति धर्मश्च तन्निमित्तो ज्ञानं

सुखका सौगुना उत्कर्ष देखा जाता है; अतः अकामहतत्वको परमानन्दकी प्राप्तिका साधन बतलानेके लिये 'अकामहत' विशेषण ग्रहण किया है और सबकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ।

देवगन्धर्व—जो जन्मसे ही गन्धर्व हों 'चिरलोकलोकानाम्' (चिरस्थायी लोकमें रहनेवाले) यह पितृगणका विशेषण है । जिन पितृगणका चिरस्थायी लोक है वे चिरलोकलोक कहे जाते हैं । 'आजान' देवलोकका नाम है, उस आजानमें जो उत्पन्न हुए हैं वे देवगण 'आजानज' हैं, जो कि स्मार्त्त कर्मविशेषके कारण देवस्थानमें उत्पन्न हुए हैं ।

जो केवल अग्निहोत्रादि वैदिक कर्मसे देवभावको प्राप्त हुए हैं वे 'कर्मदेव' कहलाते हैं । जो तैंतीस देवगण यज्ञमें हविर्भाग लेनेवाले हैं वे ही यहाँ 'देव' शब्दसे कहे गये हैं । उनका स्वामी इन्द्र है और इन्द्रका गुरु बृहस्पति है । 'प्रजापति' का अर्थ विराट् है, तथा त्रैलोक्यशरीरधारी ब्रह्मा है जो समष्टि-व्यष्टिरूप और समस्त संसारमण्डलमें व्याप्त है ।

जहाँ ये आनन्दके भेद एकताको प्राप्त होते हैं [अर्थात् एक ही गिने जाते हैं] तथा जहाँ

च तद्विषयमकामहतत्वं च निरतिशयं यत्र स एष हिरण्यगर्भो ब्रह्मा, तस्यैष आनन्दः श्रोत्रियेणावृजिनेनाकामहतेन च सर्वतः प्रत्यक्षमुपलभ्यते । तस्मादेतानि त्रीणि साधनानीत्यवगम्यते । तत्र श्रोत्रियत्वावृजिनत्वे नियते अकामहतत्वं तूत्कृष्यत इति प्रकृष्टसाधनतावगम्यते ।

तस्याकामहतत्वप्रकर्षतश्चोपलभ्यमानः श्रोत्रियप्रत्यक्षो ब्रह्मण आनन्दो यस्य परमानन्दस्य मात्रैकदेशः । "एतस्यैवानन्दस्यान्यानि भूतानि मात्रामुपजीवन्ति" (बृ० उ० ४ । ३ । ३२) इति श्रुत्यन्तरात् । स एष आनन्दो यस्य मात्राः समुद्राम्भस इव विप्रुषः प्रविभक्ता यत्रैकतां

उससे होनेवाले धर्म एवं ज्ञान तथा तद्विषयक अकामहतत्व सबसे बढ़े हुए हैं वह यह हिरण्यगर्भ ही ब्रह्मा है उसका यह आनन्द श्रोत्रिय, निष्पाप और अकामहत पुरुषद्वारा सर्वत्र प्रत्यक्ष उपलब्ध किया जाता है । इससे यह जाना जाता है कि [निष्पापत्व, अकामहतत्व और श्रोत्रियत्व] ये तीन उसके साधन हैं । इनमें श्रोत्रियत्व और निष्पापत्व तो नियत (न्यूनाधिक न होनेवाले) धर्म हैं किन्तु अकामहतत्वका उत्तरोत्तर उत्कर्ष होता है; इसलिये यह प्रकृष्ट-साधनरूपसे जाना जाता है ।

उस अकामहतत्वके प्रकर्षसे उपलब्ध होनेवाला तथा श्रोत्रियको प्रत्यक्ष अनुभव होनेवाला वह ब्रह्माका आनन्द जिस परमानन्दकी मात्रा अर्थात् केवल एकदेशमात्र है, जैसा कि "इस आनन्दके लेशसे ही अन्य प्राणी जीवित रहते हैं" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है, वह यह हिरण्यगर्भका आनन्द, जिसकी मात्राएँ (लेशमात्र आनन्द) समुद्रके जलकी बूँदोंके समान विभक्त हो पुनः उसमें एकत्वको

गताः स एष परमानन्दः स्वाभाविकोऽद्वैतत्वादानन्दानन्दिनोश्चाविभागोऽत्र ॥ १—४ ॥

प्राप्त हुई हैं वही अद्वैतरूप होनेसे स्वाभाविक परमानन्द है। इसमें आनन्द और आनन्दीका अभेद है ॥ १—४ ॥

ब्रह्मात्मैक्य-दृष्टिका उपसंहार

तदेतन्मीमांसाफलमुपसंह्रियते—

अब इस मीमांसाके फलका उपसंहार किया जाता है—

स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः स य एवंविदस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रामति । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । तदप्येष श्लोको भवति ॥ ५ ॥

वह, जो कि इस पुरुष (पञ्चकोशात्मक देह) में है और जो यह आदित्यके अन्तर्गत है, एक है। वह, जो इस प्रकार जाननेवाला है, इस लोक (दृष्ट और अदृष्ट विषयसमूह) से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्माको प्राप्त होता है [अर्थात् विषयसमूहको अन्नमय कोशसे पृथक् नहीं देखता]। इसी प्रकार वह इस प्राणमय आत्माको प्राप्त होता है, इस मनोमय आत्माको प्राप्त होता है, इस विज्ञानमय आत्माको प्राप्त होता है एवं इस आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है। उसीके विषयमें यह श्लोक है ॥ ५ ॥

ब्रह्मात्मैक्योपसंहारः

यो गुहायां निहितः परमे व्योम्न्याकाशादिकार्यं सृष्ट्वान्नमया-

जो आकाशसे लेकर अन्नमय कोशपर्यन्त कार्यकी रचना करके उसमें अनुप्रविष्ट हुआ परमाकाशके भीतर बुद्धिरूप गुहामें स्थित है

न्तं तदेवानुप्रविष्टः स य इति निर्दिश्यते। कोऽसौ ? अयं पुरुषे, यश्चासावादित्ये यः परमानन्दः श्रोत्रियप्रत्यक्षो निर्दिष्टो यस्यैकदेशं ब्रह्मादीनि भूतानि सुखार्हाण्युपजीवन्ति स यश्चासावादित्य इति निर्दिश्यते। स एको भिन्नप्रदेशस्थघटाकाशैकत्ववत्।

उसीका 'स यः' (वह जो) इन पदोंद्वारा निर्देश किया जाता है। वह कौन है ? जो इस पुरुषमें है और जो श्रोत्रियके लिये प्रत्यक्ष बतलाया हुआ परमानन्द आदित्यमें है; जिसके एक देशके आश्रयसे ही सुखके पात्रीभूत ब्रह्मा आदि जीव जीवन धारण करते हैं उसी आनन्दको 'स यश्चासावादित्ये' इन पदोंद्वारा निर्दिष्ट किया जाता है। भिन्न-प्रदेशस्थ घटाकाश और महाकाशके एकत्वके समान [उन दोनों उपाधियोंमें स्थित] वह आनन्द एक है।

ननु तन्निर्देशे स यश्चायं पुरुष इत्यविशेषतोऽध्यात्मं न युक्तो निर्देशः यश्चायं दक्षिणेऽक्षन्निति तु युक्तः, प्रसिद्धत्वात्।

शङ्का—किन्तु उस आनन्दका निर्देश करनेमें 'वह जो इस पुरुषमें है' इस प्रकार सामान्यरूपसे अध्यात्म पुरुषका निर्देश करना उचित नहीं है, बल्कि 'जो इस दक्षिण नेत्रमें है' इस प्रकार कहना ही उचित है; क्योंकि ऐसा ही प्रसिद्ध है।

न, पराधिकारात्। परो ह्यात्मात्राधिकृतोऽदृश्येऽनात्म्ये भीषास्माद्वातः पवते सैषानन्दस्य मीमांसेति। न ह्यकस्मादप्रकृतो

समाधान—नहीं, क्योंकि यहाँपर आत्माका अधिकरण है। 'अदृश्येऽनात्म्ये' 'भीषास्माद्वातः पवते' तथा 'सैषानन्दस्य मीमांसा' आदि वाक्योंके अनुसार यहाँ परमात्माका ही प्रकरण है। अतः जिसका कोई प्रसङ्ग नहीं है उस [दक्षिणनेत्रस्थ

युक्तो निर्देष्टुम् । परमात्मविज्ञानं च विवक्षितम् । तस्मात्पर एव निर्दिश्यते 'स एकः' इति ।

नन्वानन्दस्य मीमांसा प्रकृता तस्या अपि फलमुपसंहर्तव्यम् । अभिन्नः स्वाभाविक आनन्दः परमात्मैव न विषयविषयिसंबन्धजनित इति ।

ननु तदनुरूप एवायं निर्देशः 'स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः' इति भिन्नाधिकरणस्थविशेषोपमर्देन ।

नन्वेवमप्यादित्यविशेषग्रहणमनर्थकम् ।

नानर्थकम्, उत्कर्षापकर्षापोहार्थत्वात् । द्वैतस्य हि मूर्तामूर्तलक्षणस्य पर उत्कर्षः सवित्रभ्यन्तर्गतः स चेत्पुरुषगत-

पुरुष] का अकस्मात् निर्देश करना उचित नहीं है । यहाँ परमात्माका विज्ञान वर्णन करना ही अभीष्ट है; इसलिये 'वह एक है' इस वाक्यसे परमात्माका ही निर्देश किया जाता है ।

शङ्का—यहाँ तो आनन्दकी मीमांसाका प्रकरण है, इसलिये उसके फलका उपसंहार भी करना ही चाहिये, क्योंकि अखण्ड और स्वाभाविक आनन्द परमात्मा ही है, वह विषय और विषयीके सम्बन्धसे होनेवाला आनन्द नहीं है ।

मध्यस्थ—'जो आनन्द इस पुरुषमें है और जो इस आदित्यमें है वह एक है' इस प्रकार भिन्न आश्रयोंमें स्थित विशेषका निराकरण करके जो निर्देश किया गया है वह तो इस प्रसंगके अनुरूप ही है ।

शङ्का—किन्तु, इस प्रकार भी 'आदित्य' इस विशेष पदार्थका ग्रहण करना व्यर्थ ही है ?

समाधान—उत्कर्ष और अपकर्षका निषेध करनेके लिये होनेके कारण यह व्यर्थ नहीं है । मूर्त्त और अमूर्त्तरूप द्वैतका परम उत्कर्ष सूर्यके अन्तर्गत है; वह यदि पुरुषगत विशेषके बाध-

विशेषोपमर्देन परमानन्दमपेक्ष्य समो भवति न कश्चिदुत्कर्षोऽपकर्षो वा तां गतिं गतस्येत्यभयं प्रतिष्ठां विन्दत इत्युपपन्नम् ।

द्वितीयानुप्रश्नविचारः

अस्ति नास्तीत्यनुप्रश्नो व्याख्यातः । कार्यरसलाभप्राणनाभयप्रतिष्ठाभयदर्शनोपपत्तिभ्योऽस्त्येव तदाकाशादिकारणं ब्रह्मेत्यपाकृतोऽनुप्रश्न एकः । द्वावन्यावनुप्रश्नौ विद्वदविदुषोर्ब्रह्मप्राप्त्यप्राप्तिविषयौ तत्र विद्वान्समश्नुते न समश्नुत इत्यनुप्रश्नोऽन्त्यस्तदपाकरणायोच्यते । मध्यमोऽनुप्रश्नोऽन्त्यापाकरणादेवापाकृत इति तदपाकरणाय न यत्यते ।

स यः कश्चिदेवं यथोक्तं ब्रह्म उत्सृज्योत्कर्षापकर्षमद्वैतं सत्यं ज्ञानमनन्तमस्मीत्येवं वेत्ती-

द्वारा परमानन्दकी अपेक्षा उसके तुल्य ही सिद्ध होता है तो उस गतिको प्राप्त हुए पुरुषका कोई उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं रहता और वह निर्भय स्थितिको प्राप्त कर लेता है; अतः यह कथन उचित ही है ।

ब्रह्म है या नहीं—इस अनुप्रश्नकी व्याख्या कर दी गयी । कार्यरूप रसकी प्राप्ति, प्राणन, अभय-प्रतिष्ठा और भयदर्शन आदि युक्तियोंसे वह आकाशादिका कारणरूप ब्रह्म है ही—इस प्रकार एक अनुप्रश्नका निराकरण किया गया । दूसरे दो अनुप्रश्न विद्वान् और अविद्वान्की ब्रह्मप्राप्ति और ब्रह्मकी अप्राप्तिके विषयमें हैं । उनमें अन्तिम अनुप्रश्न यही है कि 'विद्वान् ब्रह्मको प्राप्त होता है या नहीं ?' उसका निराकरण करनेके लिये कहा जाता है । मध्यम अनुप्रश्नका निराकरण तो अन्तिमके निराकरणसे ही हो जायगा; इसलिये उसके निराकरणका यत्न नहीं किया जाता ।

इस प्रकार जो कोई उत्कर्ष और अपकर्षको त्याग कर 'मैं ही उपर्युक्त सत्य, ज्ञान और अनन्तरूप अद्वैत ब्रह्म हूँ' ऐसा जानता है वह एवंवित्

त्येवंवित् । एवंशब्दस्य प्रकृतपरामर्शार्थत्वात् । स किम् ? अस्माल्लोकात्प्रेत्य दृष्टादृष्टेष्टविषयसमुदायो ह्ययं लोकस्तस्माल्लोकात्प्रेत्य प्रत्यावृत्त्य निरपेक्षो भूत्वैतं यथाव्याख्यातमन्नमयमात्मानमुपसंक्रामति । विषयजातमन्नमयात्पिण्डात्मनो व्यतिरिक्तं न पश्यति । सर्वं स्थूलभूतमन्नमयमात्मानं पश्यतीत्यर्थः ।

ततोऽभ्यन्तरमेतं प्राणमयं सर्वान्नमयात्मस्थमविभक्तम् । अथैतं मनोमयं विज्ञानमयमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति । अथादृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते ।

तृतीयानुप्रश्नविचारः

तत्रैतच्चिन्त्यम् । कोऽयमेवंवित्कथं वा संक्रामतीति । किं परस्मादात्मनोऽन्यः संक्रमणकर्ता प्रविभक्त उत स एवेति ।

(इस प्रकार जाननेवाला) है; क्योंकि 'एवम्' शब्दप्रसंगमें आये हुए पदार्थका परामर्श (निर्देश) करनेके लिये हुआ करता है । वह एवंवित् क्या [करता है] ? इस लोकसे जाकर—दृष्ट और अदृष्ट इष्ट विषयोंका समुदाय ही यह लोक है, उस इस लोकसे प्रेत्य–प्रत्यावर्तन करके (लौटकर) अर्थात् उससे निरपेक्ष होकर इस ऊपर व्याख्या किये हुए अन्नमय आत्माको प्राप्त होता है । अर्थात् वह विषयसमूहको अन्नमय शरीरसे भिन्न नहीं देखता; तात्पर्य यह है कि सम्पूर्ण स्थूल भूतवर्गको अन्नमय शरीर ही समझता है ।

उसके भीतर वह सम्पूर्ण अन्नमय कोशोंमें स्थित विभागहीन प्राणमय आत्माको देखता है । और फिर क्रमशः इस मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है । तत्पश्चात् वह इस अदृश्य, अशरीर, अनिर्वचनीय और अनाश्रय आत्मामें अभयस्थिति प्राप्त कर लेता है ।

अब यहाँ यह विचारना है कि यह इस प्रकार जाननेवाला है कौन ? और यह किस प्रकार संक्रमण करता है ? वह संक्रमणकर्ता परमात्मासे भिन्न है अथवा स्वयं वही है ।

किं ततः ?

यद्यन्यः स्याच्छ्रुतिविरोधः । "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० उ० २ । ६ । १) "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति । न स वेद" (बृ० उ० १ । ४ । १०) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) "तत्त्वमसि" (छा०उ० ६ । ८–१६) इति । अथ स एव, आनन्दमयमात्मानमुपसंक्रामतीति कर्मकर्तृत्वानुपपत्तिः, परस्यैव च संसारित्वं पराभावो वा ।

यद्युभयथा प्राप्तो दोषो न परिहर्तुं शक्यत इति व्यर्था चिन्ता । अथान्यतरस्मिन्पक्षे दोषाप्राप्तिस्तृतीये वा पक्षेऽदुष्टे स एव शास्त्रार्थ इति व्यर्थैव चिन्ता ।

न; तन्निर्धारणार्थत्वात् । सत्यं

पूर्व०—इस विचारसे लाभ क्या है ?

सिद्धान्ती—यदि वह उससे भिन्न है तो "उसे रचकर उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया" "यह अन्य है और मैं अन्य हूँ—इस प्रकार जो कहता है वह नहीं जानता" "एक ही अद्वितीय" "तू वह है" इत्यादि श्रुतियोंसे विरोध होगा । और यदि वह स्वयं ही आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है तो उस [एक ही] में कर्म और कर्तापन दोनोंका होना असम्भव है, तथा परमात्माको ही संसारित्वकी प्राप्ति अथवा उसके परमात्मत्वका अभाव सिद्ध होता है ।

*पूर्व*०—यदि दोनों ही अवस्थाओंमें प्राप्त होनेवाले दोषका परिहार नहीं किया जा सकता तो उसका विचार करना व्यर्थ है और यदि किसी एक पक्षको स्वीकार कर लेनेसे दोषकी प्राप्ति नहीं होती अथवा कोई तीसरा निर्दोष पक्ष हो तो उसे ही शास्त्रका आशय समझना चाहिये । ऐसी अवस्थामें भी विचार करना व्यर्थ ही होगा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि यह उसका निश्चय करनेके लिये है ।

प्राप्तो दोषो न शक्यः परिहर्तु-मन्यतरस्मिंस्तृतीये वा पक्षेऽदुष्टेऽवधृते व्यर्था चिन्ता स्यान्न तु सोऽवधृत इति तदवधारणार्थत्वादर्थवत्येवैषा चिन्ता ।

सत्यमर्थवती चिन्ता शास्त्रार्थावधारणार्थत्वात् । चिन्तयसि च त्वं न तु निर्णेष्यसि ।

किं न निर्णेतव्यमिति वेदवचनम् ?

न ।

कथं तर्हि ?

बहुप्रतिपक्षत्वात् । एकत्ववादी त्वम्, वेदार्थपरत्वात्, बहवो हि नानात्ववादिनो वेदबाह्यास्त्वत्प्रतिपक्षाः । अतो ममाशङ्कां न निर्णेष्यसीति ।

एतदेव मे स्वस्त्ययनं यन्मा-

यह ठीक है कि इस प्रकार प्राप्त होनेवाला दोष निवृत्त नहीं किया जा सकता तथा उपर्युक्त दोनों पक्षोंमेंसे किसी एकका अथवा किसी तीसरे निर्दोष पक्षका निश्चय हो जानेपर भी यह विचार व्यर्थ ही होगा । किन्तु उस पक्षका निश्चय तो नहीं हुआ है; अतः उसका निश्चय करनेके लिये होनेके कारण यह विचार सार्थक ही है ।

*पूर्व*०—शास्त्रके तात्पर्यका निश्चय करनेके लिये होनेसे तो सचमुच यह विचार सार्थक है, परन्तु तू तो केवल विचार ही करता है, निर्णय तो कुछ करेगा नहीं ।

सिद्धान्ती—निर्णय नहीं करना चाहिये—ऐसा क्या कोई वेद-वाक्य है ?

*पूर्व*०—नहीं ।

सिद्धान्ती—तो फिर निर्णय क्यों नहीं होगा ?

*पूर्व*०—क्योंकि तेरा प्रतिपक्ष बहुत है । वेदार्थपरायण होनेके कारण तू तो एकत्ववादी है, किन्तु तेरे प्रतिपक्षी वेदबाह्य नानात्ववादी बहुत हैं । इसलिये मुझे सन्देह है कि तू मेरी शङ्काका निर्णय नहीं कर सकेगा ।

सिद्धान्ती—तूने जो मुझे बहुत-से

मेकयोगिनमनेकयोगिबहुप्रतिपक्षमात्थ। अतो जेष्यामि सर्वान्; आरभे च चिन्ताम्।

अनेकत्ववादी प्रतिपक्षियोंसे युक्त एकत्ववादी बतलाया है—यही बड़े मङ्गलकी बात है। अतः अब मैं सबको जीत लूँगा; ले, मैं विचार आरम्भ करता हूँ।

स एव तु स्यात्तद्भावस्य विवक्षितत्वात्। तद्विज्ञानेन परमात्मभावो ह्यत्र विवक्षितो ब्रह्मविदाप्नोति परमिति। न ह्यन्यस्यान्यभावापत्तिरुपपद्यते। ननु तस्यापि तद्भावापत्तिरनुपपन्नैव ? न; अविद्याकृततादात्म्यापोहार्थत्वात्। या हि ब्रह्मविद्यया स्वात्मप्राप्तिरुपदिश्यते साविद्याकृतस्यान्नादिविशेषात्मन आत्मत्वेनाध्यारोपितस्यानात्मनोऽपोहार्था।

वह संक्रमणकर्ता परमात्मा ही है, क्योंकि यहाँ जीवको परमात्मभावकी प्राप्ति बतलानी अभीष्ट है। 'ब्रह्मवेत्ता परमात्माको प्राप्त कर लेता है' इस वाक्यके अनुसार यहाँ ब्रह्मविज्ञानसे परमात्मभावकी प्राप्ति होती है—यही प्रतिपादन करना इष्ट है। किसी अन्य पदार्थका अन्य पदार्थभावको प्राप्त होना सम्भव नहीं है। यदि कहो कि उसका स्वयं अपने स्वरूपको प्राप्त होना भी असम्भव ही है, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि यह कथन केवल अविद्यासे आरोपित अनात्मपदार्थोंका निषेध करनेके लिये ही है। [तात्पर्य यह है कि] ब्रह्मविद्याके द्वारा जो अपने आत्मस्वरूपकी प्राप्तिका उपदेश किया जाता है वह अविद्याकृत अन्नमयादि कोशरूप विशेषात्माका अर्थात् आत्मभावसे आरोपित किये हुए अनात्माका निषेध करनेके लिये ही है।

कथमेवमर्थतावगम्यते ?

पूर्व०—उसका इस प्रयोजनके लिये होना कैसे जाना जाता है ?

विद्यामात्रोपदेशात् । विद्यायाश्च दृष्टं कार्यमविद्यानिवृत्तिस्तच्चेह विद्यामात्रमात्मप्राप्तौ साधनमुपदिश्यते ।

मार्गविज्ञानोपदेशवदिति चेत्।

तदात्मत्वे विद्यामात्रसाधनोपदेशोऽहेतुः । कस्मात् ? देशान्तरप्राप्तौ मार्गविज्ञानोपदेशदर्शनात् । न हि ग्राम एव गन्तेति चेत् ?

न, वैधर्म्यात् । तत्र हि ग्रामविषयं विज्ञानं नोपदिश्यते । तत्प्राप्तिमार्गविषयमेवोपदिश्यते

सिद्धान्ती—केवल ज्ञानका ही उपदेश किया जानेके कारण । अज्ञानकी निवृत्ति—यह ज्ञानका प्रत्यक्ष कार्य है, और यहाँ आत्माकी प्राप्तिमें वह ज्ञान ही साधन बतलाया गया है ।

पूर्व०—यदि वह मार्गविज्ञानके उपदेशके समान हो तो ? [अब इसीकी व्याख्या करते हैं—] केवल ज्ञानका ही साधनरूपसे उपदेश किया जाना उसकी परमात्मरूपतामें कारण नहीं हो सकता । ऐसा क्यों है ? क्योंकि देशान्तरकी प्राप्तिके लिये भी मार्गविज्ञानका उपदेश होता देखा गया है । ऐसी अवस्थामें ग्राम ही गमन करनेवाला नहीं हुआ करता—ऐसा माने तो ?

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि वे दोनों समान धर्मवाले नहीं हैं । * [तुमने जो दृष्टान्त दिया है] उसमें ग्रामविषयक विज्ञानका उपदेश नहीं दिया जाता, केवल उसकी प्राप्तिके मार्गसे सम्बन्धित विज्ञान-

* ग्रामको जानेवाले और ब्रह्मको प्राप्त होनेवालेमें बड़ा अन्तर है । इसके सिवा ग्रामको जानेवालेको जो मार्गके विज्ञानका उपदेश किया जाता है उसमें यह नहीं कहा जाता कि 'तू अमुक ग्राम है' परन्तु ब्रह्मज्ञानका उपदेश तो 'तू ब्रह्म है' इस अभेदसूचक वाक्यसे ही किया जाता है ।

विज्ञानम् । न तथेह ब्रह्मविज्ञानं व्यतिरेकेण साधनान्तरविषयं विज्ञानमुपदिश्यते ।

उक्तकर्मादिसाधनापेक्षं ब्रह्मविज्ञानं परप्राप्तौ साधनमुपदिश्यत इति चेन्न; नित्यत्वान्मोक्षस्येत्यादिना प्रत्युक्तत्वात् । श्रुतिश्च तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशदिति कार्यस्थस्य तदात्मत्वं दर्शयति । अभयप्रतिष्ठोपपत्तेश्च । यदि हि विद्यावान्स्वात्मनोऽन्यन्न पश्यति ततोऽभयं प्रतिष्ठां विन्दत इति स्याद्भयहेतोः परस्यान्यस्याभावात् । अन्यस्य चाविद्याकृतत्वे विद्ययावस्तुत्वदर्शनोपपत्तिस्तद्धि द्वितीयस्य

का ही उपदेश किया जाता है । उसके समान इस प्रसङ्गमें ब्रह्मविज्ञानसे भिन्न किसी अन्य साधनसम्बन्धी विज्ञानका उपदेश नहीं किया जाता ।

यदि कहो कि [पूर्वकाण्डमें] कहे हुए कर्मकी अपेक्षावाला ब्रह्मज्ञान परमात्माकी प्राप्तिमें साधनरूपसे उपदेश किया जाता है, तो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि मोक्ष नित्य है—इत्यादि हेतुओंसे इसका पहले ही निराकरण किया जा चुका है । 'उसे रचकर वह उसीमें अनुप्रविष्ट हो गया' यह श्रुति भी कार्यमें स्थित आत्माका परमात्मत्व प्रदर्शित करती है । अभय-प्रतिष्ठाकी उपपत्तिके कारण भी [उनका अभेद ही मानना चाहिये] । यदि ज्ञानी अपनेसे भिन्न किसी औरको नहीं देखता तो वह अभयस्थितिको प्राप्त कर लेता है—ऐसा कहा जा सकता है; क्योंकि उस अवस्थामें भयके हेतुभूत अन्य पदार्थकी सत्ता नहीं रहती । अन्य पदार्थ [अर्थात् द्वैत] के अविद्याकृत होनेपर ही विद्याके द्वारा उसके अवस्तुत्वदर्शनकी उपपत्ति हो सकती है । [भ्रान्तिवश प्रतीत होनेवाले]

चन्द्रस्य सत्त्वं यदतैमिरिकेण चक्षुष्मता न गृह्यते ।

नैवं न गृह्यत इति चेत् ?

न, सुषुप्तसमाहितयोरग्रहणात् ।

सुषुप्तेऽग्रहणमन्यासक्तवदिति चेत् ?

न, सर्वाग्रहणात् । जाग्रत्स्वप्नयोरन्यस्य ग्रहणात्सत्त्वमेवेति चेन्न; अविद्याकृतत्वाज्जाग्रत्स्वप्नयोः; यदन्यग्रहणं जाग्रत्स्वप्नयोस्तदविद्याकृतमविद्याभावेऽभावात् ।

सुषुप्तेऽग्रहणमप्यविद्याकृतमिति चेत् ?

द्वितीय चन्द्रमाकी वास्तविकता यही है कि वह तिमिररोगरहित नेत्रोंवाले पुरुषद्वारा ग्रहण नहीं किया जाता ।

*पूर्व*०—परन्तु द्वैतका ग्रहण न होता हो—ऐसी बात तो है नहीं ।

सिद्धान्ती—ऐसा मत कहो; क्योंकि सोये हुए और समाधिस्थ पुरुषको उसका ग्रहण नहीं होता ।

*पूर्व*०—किन्तु सुषुप्तिमें जो द्वैतका अग्रहण है वह तो विषयान्तरमें आसक्तचित्त पुरुषके अग्रहणके समान है ?

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि उस समय तो सभी पदार्थोंका अग्रहण है [फिर वह अन्यासक्तचित्त कैसे कहा जा सकता है ?] यदि कहो कि जाग्रत् और स्वप्नावस्थामें अन्य पदार्थोंका ग्रहण होनेसे उनकी सत्ता है ही, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि जाग्रत् और स्वप्न अविद्याकृत हैं । जाग्रत् और स्वप्नमें जो अन्य पदार्थका ग्रहण है वह अविद्याके कारण है; क्योंकि अविद्याकी निवृत्ति होनेपर उसका अभाव हो जाता है ?

*पूर्व*०—सुषुप्तिमें जो अग्रहण है वह भी तो अविद्याके ही कारण है ।

न, स्वाभाविकत्वात् । द्रव्यस्य हि तत्त्वमविक्रिया परानपेक्षत्वात् । विक्रिया न तत्त्वं परापेक्षत्वात् । न हि कारकापेक्षं वस्तुनस्तत्त्वम् । सतो विशेषः कारकापेक्षः, विशेषश्च विक्रिया । जाग्रत्स्वप्नयोश्च ग्रहणं विशेषः । यद्धि यस्य नान्यापेक्षं स्वरूपं तत्तस्य तत्त्वम्, यदन्यापेक्षं न तत्तत्त्वम्, अन्याभावेऽभावात् । तस्मात्स्वाभाविकत्वाज्जाग्रत्स्वप्नवन्न सुषुप्ते विशेषः ।

वस्तुनस्तात्त्विकविशेषरूपयोर्निर्वचनम्

येषां पुनरीश्वरोऽन्य आत्मनः कार्यं चान्यत्तेषां भयानिवृत्तिर्भयस्यान्यनिमित्तत्वात् । सतश्चान्यस्यात्महानानुपपत्तिः । न चासत आ-

भेददृष्टेर्भयहेतुत्वम्

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि वह तो स्वाभाविक है । द्रव्यका तात्त्विक स्वरूप तो विकार न होना ही है; क्योंकि उसे दूसरेकी अपेक्षा नहीं होती । दूसरेकी अपेक्षावाला होनेके कारण विकार तत्त्व नहीं है । जो कर्ता, कर्म, करण आदि कारकोंकी अपेक्षावाला होता है वह वस्तुका तत्त्व नहीं होता । विद्यमान वस्तुका विशेष रूप कारकोंकी अपेक्षावाला होता है, और विशेष ही विकार होता है । जाग्रत् और स्वप्नका जो ग्रहण है वह भी विशेष ही है । जिसका जो रूप अन्यकी अपेक्षासे रहित होता है वही उसका तत्त्व होता है और जो अन्यकी अपेक्षावाला होता है वह तत्त्व नहीं होता; क्योंकि उस अन्यका अभाव होनेपर उसका भी अभाव हो जाता है । अतः [सुषुप्तावस्था] स्वाभाविक होनेके कारण उस समय जाग्रत् और स्वप्नके समान विशेषकी सत्ता नहीं है ।

किन्तु जिनके मतमें ईश्वर आत्मासे भिन्न है और उसका कार्यरूप यह जगत् भी भिन्न है उनके भयकी निवृत्ति नहीं हो सकती; क्योंकि भय दूसरेके ही कारण हुआ करता है । अन्य पदार्थ यदि सत् होगा तब तो उसके स्वरूपका अभाव नहीं हो सकता और यदि असत्

त्मलाभः । सापेक्षस्यान्यस्य भयहेतुत्वमिति चेन्न, तस्यापि तुल्यत्वात् । यदधर्माद्यनुसहायीभूतं नित्यमनित्यं वा निमित्तमपेक्ष्यान्यद्भयकारणं स्यात्तस्यापि तथाभूतस्यात्महानाभावाद्भयानिवृत्तिः आत्महाने वा सदसतोरितरेतरापत्तौ सर्वत्रानाश्वास एव ।

एकत्वपक्षे पुनः सनिमित्तस्य संसारस्य अविद्याकल्पितत्वाददोषः । तैमिरिकदृष्टस्य हि द्वितीयचन्द्रस्य नात्मलाभो नाशो वास्ति । विद्याविद्ययोस्तद्धर्मत्वमिति चेन्न प्रत्यक्षत्वात् । विवेकाविवेकौ

ज्ञानाज्ञानयो-
र्नात्मधर्मत्वम्

होगा तो उसके स्वरूपकी सिद्धि ही नहीं हो सकती । यदि कहो कि दूसरा (ईश्वर) तो [हमारे धर्माधर्म आदिकी] अपेक्षासे ही भयका कारण है, तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं; क्योंकि वह [सापेक्ष ईश्वर] भी वैसा ही है । जो कोई [ईश्वरादि] दूसरा पदार्थ नित्य या अनित्य अधर्मादिरूप सहायक निमित्तकी अपेक्षासे भयका कारण होता है, यथार्थ होनेके कारण उसके स्वरूपका भी अभाव न होनेसे उसके भयकी निवृत्ति नहीं हो सकती; और यदि उसके स्वरूपका अभाव माना जाय तो सत् और असत्को इतरेतरत्व [अर्थात् सत्को असत्त्व और असत्को सत्त्व] की प्राप्ति होनेसे कहीं विश्वास ही नहीं किया जा सकता ।

परन्तु एकत्व-पक्ष स्वीकार करनेपर तो सारा संसार अपने कारणके सहित अविद्याकल्पित होनेके कारण कोई दोष ही नहीं आता । तिमिर रोगके कारण देखे गये द्वितीय चन्द्रमाके स्वरूपकी न तो प्राप्ति ही होती है और न नाश ही । यदि कहो कि ज्ञान और अज्ञान तो आत्माके ही धर्म हैं [इसलिये उनके कारण आत्माका विकार होता होगा] तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि वे तो प्रत्यक्ष (आत्माके दृश्य) हैं ।

रूपादिवत्प्रत्यक्षावुपलभ्येतेअन्तःकरणस्थौ । न हि रूपस्य प्रत्यक्षस्य सतो द्रष्टृधर्मत्वम् । अविद्या च स्वानुभवेन रूप्यते मूढोऽहमविविक्तं मम विज्ञानमिति ।

तथा विद्याविवेकोऽनुभूयते । उपदिशन्ति चान्येभ्य आत्मनो विद्याम् । तथा चान्येऽवधारयन्ति । तस्मान्नामरूपपक्षस्यैव विद्याविद्ये नामरूपे च नात्मधर्मौ । "नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म" (छा० उ० ८ । १४ । १) इति श्रुत्यन्तरात् । ते च पुनर्नामरूपे सवितर्यहोरात्रे इव कल्पिते न परमार्थतो विद्यमाने ।

अभेदे "एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रामति" (तै० उ० २ । ८ । ५) इति कर्मकर्तृत्वानुपपत्तिरिति चेत् ?

रूप आदि विषयोंके समान अन्तःकरणमें स्थित विवेक और अविवेक प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं । प्रत्यक्ष उपलब्ध होनेवाला रूप द्रष्टाका धर्म नहीं हो सकता । 'मैं मूढ़ हूँ, मेरी बुद्धि मलिन है' इस प्रकार अविद्या भी अपने अनुभवके द्वारा निरूपण की जाती है ।

इसी प्रकार विद्याका पार्थक्य भी अनुभव किया जाता है । बुद्धिमान् लोग दूसरोंको अपने ज्ञानका उपदेश किया करते हैं । तथा दूसरे लोग भी उसका निश्चय करते हैं । अतः विद्या और अविद्या नाम-रूप पक्षके ही हैं, तथा नाम और रूप आत्माके धर्म नहीं हैं, जैसा कि "जो नाम और रूपका निर्वाह करनेवाला है तथा जिसके भीतर वे (नाम और रूप) रहते हैं, वह ब्रह्म है" इस अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । वे नाम-रूप भी सूर्यमें दिन और रात्रिके समान कल्पित ही हैं, वस्तुतः विद्यमान नहीं हैं ।

पूर्व०—किन्तु [ईश्वर और जीवका] अभेद माननेपर तो "वह इस आनन्दमय आत्माको प्राप्त होता है" इस श्रुतिमें जो [पुरुषका] कर्तृत्व और [आनन्दमय आत्माका] कर्मत्व बताया है वह उपपन्न नहीं होता ?

न; विज्ञानमात्रत्वात्संक्रमणस्य । न जलूकादिवत्संक्रमणमिहोपदिश्यते, किं तर्हि ? विज्ञानमात्रं संक्रमणश्रुतेरर्थः ।

क्रमणशब्द-तात्पर्यम्

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि पुरुषका संक्रमण तो केवल विज्ञानमात्र है । यहाँ जोंक आदिके संक्रमणके समान पुरुषके संक्रमणका उपदेश नहीं किया जाता । तो कैसा ? इस संक्रमण-श्रुतिका अर्थ तो केवल विज्ञानमात्र है ।*

ननु मुख्यमेव संक्रमणं श्रूयत उपसंक्रामतीति चेत् ?

पूर्व०—'उपसंक्रामति' इस पदसे यहाँ मुख्य संक्रमण (समीप जाना) ही अभिप्रेत हो तो ?

न; अन्नमयेऽदर्शनात् । न ह्यन्नमयमुपसंक्रामतो बाह्यादस्माल्लोकाज्जलूकावत्संक्रमणं दृश्यतेऽन्यथा वा ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि अन्नमयमें मुख्य संक्रमण देखा नहीं जाता—अन्नमयको उपसंक्रमण करनेवालेका जोंकके समान इस बाह्य जगत्से अथवा किसी और प्रकारसे संक्रमण नहीं देखा जाता ।

मनोमयस्य बहिर्निर्गतस्य विज्ञानमयस्य वा पुनः प्रत्यावृत्त्यात्मसंक्रमणमिति चेत् ?

पूर्व०—बाहर [निकलकर विषयोंमें] गये हुए मनोमय अथवा विज्ञानमय कोशोंका तो वहाँसे पुनः लौटनेपर अपनी ओर होना संक्रमण हो ही सकता है ?

न; स्वात्मनि क्रियाविरोधादन्योऽन्नमयमन्यमुपसंक्रामतीति प्रकृत्य मनोमयो विज्ञानमयो वा

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि इससे अपनेमें ही अपनी क्रिया होना—यह विरोध उपस्थित होता है । अन्नमयसे भिन्न पुरुष अपनेसे भिन्न अन्नमयको प्राप्त होता है—इस प्रकार

* अर्थात् यहाँ 'संक्रमण' शब्दका अर्थ 'जाना' या 'पहुँचना' नहीं बल्कि जानना है ।

स्वात्मानमेवोपसंक्रामतीति विरोधः स्यात् । तथा नानन्दमयस्यात्मसंक्रमणमुपपद्यते । तस्मान्न प्राप्तिः संक्रमणं नाप्यन्नमयादीनामन्यतमकर्तृकम् । पारिशेष्यादन्नमयाद्यानन्दमयान्तात्मव्यतिरिक्तकर्तृकं ज्ञानमात्रं च संक्रमणमुपपद्यते ।

ज्ञानमात्रत्वे चानन्दमयान्तःस्थस्यैव सर्वान्तरस्याकाशाद्यन्नमयान्तं कार्यं सृष्ट्वानुप्रविष्टस्य हृदयगुहाभिसंबन्धादन्नमयादिष्वनात्मस्वात्मविभ्रमः संक्रमणेनात्मविवेकविज्ञानोत्पत्त्या विनश्यति । तदेतस्मिन्नविद्याविभ्रमनाशे संक्रमणशब्द उपचर्यते न ह्यन्यथा सर्वगतस्यात्मनः संक्रमणमुपपद्यते ।

प्रकरणका आरम्भ करके अब 'मनोमय अथवा विज्ञानमय अपनेको ही प्राप्त होता है' ऐसा कहनेमें उससे विरोध आता है । इसी प्रकार आनन्दमयका भी अपनेको प्राप्त होना सम्भव नहीं है; अतः प्राप्तिका नाम संक्रमण नहीं है और न वह अन्नमयादिमेंसे किसीके द्वारा किया जाता है । फलतः आत्मासे भिन्न अन्नमयसे लेकर आनन्दमय कोशपर्यन्त जिसका कर्ता है वह ज्ञानमात्र ही संक्रमण होना सम्भव है ।

इस प्रकार 'संक्रमण' शब्दका अर्थ ज्ञानमात्र होनेपर ही आनन्दमय कोशके भीतर स्थित सर्वान्तर तथा आकाशसे लेकर अन्नमयकोशपर्यन्त कार्यवर्गको रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हुए आत्माका जो हृदयगुहाके सम्बन्धसे अन्नमय आदि अनात्माओंमें आत्मत्वका भ्रम है वह संक्रमणस्वरूप विवेक ज्ञानकी उत्पत्तिसे नष्ट हो जाता है । अतः इस अविद्यारूप भ्रमके नाशमें ही संक्रमण शब्दका उपचार (गौणरूप) से प्रयोग किया गया है; इसके सिवा किसी और प्रकार सर्वगत आत्माका संक्रमण होना सम्भव नहीं है ।

वस्त्वन्तराभावाच्च । न च स्वात्मन एव संक्रमणम् । न हि जलूकात्मानमेव संक्रामति । तस्मात्सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मेति यथोक्तलक्षणात्मप्रतिपत्त्यर्थमेव बहुभवनसर्गप्रवेशरसलाभाभय-संक्रमणादि परिकल्प्यते ब्रह्मणि सर्वव्यवहारविषये; न तु परमार्थतो निर्विकल्पे ब्रह्मणि कश्चिदपि विकल्प उपपद्यते ।

आत्मासे भिन्न अन्य वस्तुका अभाव होनेसे भी [उसका किसीके प्रति जानारूप संक्रमण नहीं हो सकता] । अपना अपनेको ही प्राप्त होना तो सम्भव नहीं है । जोंक अपने प्रति ही संक्रमण (गमन) नहीं करती । अतः 'ब्रह्म सत्यस्वरूप, ज्ञानस्वरूप और अनन्त है' इस पूर्वोक्त लक्षणवाले आत्माके ज्ञानके लिये ही सम्पूर्ण व्यवहारके आधार-भूत ब्रह्ममें अनेक होना, सृष्टिमें अनुप्रवेश करना, आनन्दकी प्राप्ति, अभय और संक्रमणादिकी कल्पना की गयी है; परमार्थतः तो निर्विकल्प ब्रह्ममें कोई विकल्प होना सम्भव है नहीं ।

तमेतं निर्विकल्पमात्मानमेवं-क्रमेणोपसंक्रम्य विदित्वा न बिभेति कुतश्चनाभयं प्रतिष्ठां विन्दत इत्येतस्मिन्नर्थेऽप्येष श्लोको भवति । सर्वस्यैवास्य प्रकरणस्यानन्दवल्ल्यर्थस्य संक्षेपतः प्रकाशनायैष मन्त्रो भवति ॥५॥

इस प्रकार क्रमशः उस इस निर्विकल्प आत्माके प्रति उपसंक्रमण-कर अर्थात् उसे जानकर साधक किसीसे भयभीत नहीं होता । वह अभयस्थिति प्राप्त कर लेता है । इसी अर्थमें यह श्लोक भी है । इस सम्पूर्ण प्रकरणके अर्थात् आनन्द-वल्लीके अर्थको संक्षेपसे प्रकाशित करनेके लिये ही यह मन्त्र है ॥५॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यामष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

ब्रह्मानन्दका अनुभव करनेवाले विद्वान्‌की अभयप्राप्ति

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह। आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चनेति। एतꣳह वाव न तपति। किमहꣳसाधु नाकरवम्। किमहं पापमकरवमिति। स य एवं विद्वानेते आत्मानꣳ स्पृणुते। उभे ह्येवैष एते आत्मानꣳ स्पृणुते। य एवं वेद। इत्युपनिषत्॥ १॥

जहाँसे मनके सहित वाणी उसे प्राप्त न करके लौट आती है उस ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भी भयभीत नहीं होता। उस विद्वान्‌को, मैंने शुभ क्यों नहीं किया, पापकर्म क्यों कर डाला—इस प्रकारकी चिन्ता सन्तप्त नहीं करती। उन्हें [ये पाप और पुण्य ही तापके कारण हैं—] इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् अपने आत्माको प्रसन्न अथवा सबल करता है उसे ये दोनों आत्मस्वरूप ही दिखायी देते हैं। [वह कौन है ?] जो इस प्रकार [पूर्वोक्त अद्वैत आनन्दस्वरूप ब्रह्मको] जानता है ऐसी यह उपनिषद् (रहस्यविद्या) है॥ १॥

यतो यस्मान्निर्विकल्पाद्यथोक्तलक्षणादद्वयानन्दादात्मनो वाचोऽभिधानानि द्रव्यादिसविकल्प-

जिस पूर्वोक्त लक्षणोंवाले निर्विकल्प अद्वयानन्दरूप आत्माके पाससे द्रव्यादि सविकल्प वस्तुओंको प्रकाशित करनेवाला वाक्य—अभिधान, जो वस्तुत्वमें [ब्रह्मको

वस्तुविषयाणि वस्तुसामान्यान्निर्विकल्पेऽद्वयेऽपि ब्रह्मणि प्रयोक्तृभिः प्रकाशनाय प्रयुज्यमानान्यप्राप्याप्रकाश्यैव निवर्तन्ते स्वसामर्थ्याद्धीयन्ते—

अन्य सविकल्प वस्तुओंके] समान समझनेके कारण वक्ताओंद्वारा, ब्रह्मके निर्विकल्प और अद्वैत होनेपर भी, उसका निर्देश करनेके लिये प्रयोग किया जाता है, उसे न पाकर अर्थात् उसे प्रकाशित किये बिना ही लौट आता है—अपनी सामर्थ्यसे च्युत हो जाता है—

मन इति प्रत्ययो विज्ञानम्। तच्च यत्राभिधानं प्रवृत्तमतीन्द्रियेऽप्यर्थे तदर्थे च प्रवर्तते प्रकाशनाय। यत्र च विज्ञानं तत्र वाचः प्रवृत्तिः। तस्मात्सहैव वाङ्मनसयोरभिधानप्रत्यययोः प्रवृत्तिः सर्वत्र।

['मनसा सह' (मनके सहित) इस पदसमूहमें] 'मन' शब्द प्रत्यय अर्थात् विज्ञानका वाचक है। वह, जहाँ-कहीं अतीन्द्रिय पदार्थोंमें भी शब्दकी प्रवृत्ति होती है वहीं उसे प्रकाशित करनेके लिये प्रवृत्त हुआ करता है। जहाँ-कहीं भी विज्ञान है वहीं वाणीकी भी प्रवृत्ति है। अतः अभिधान और प्रत्ययरूप वाणी और मनकी सर्वत्र साथ-साथ ही प्रवृत्ति होती है।

तस्माद्ब्रह्मप्रकाशनाय सर्वथा प्रयोक्तृभिः प्रयुज्यमाना अपि वाचो यस्मादप्रत्ययविषयादनभिधेयाददृश्यादि विशेषणात्सहैव मनसा विज्ञानेन सर्वप्रकाशनसमर्थेन निवर्तन्ते तं ब्रह्मण आनन्दं श्रोत्रियस्यावृजिनस्याकामह-

इसलिये वक्ताओंद्वारा सर्वथा ब्रह्मका प्रकाश करनेके लिये ही प्रयोग की हुई वाणी, जिस प्रतीतिके अविषयभूत, अकथनीय, अदृश्य और निर्विशेष ब्रह्मके पाससे मन अर्थात् सबको प्रकाशित करनेमें समर्थ विज्ञानके सहित लौट आती है उस ब्रह्मके आनन्दको—श्रोत्रिय निष्पाप

तस्य सर्वैषणाविनिर्मुक्तस्यात्मभूतं विषयविषयिसंबन्धविनिर्मुक्तं स्वाभाविकं नित्यमविभक्तं परमानन्दं ब्रह्मणो विद्वान्यथोक्तेन विधिना न बिभेति कुतश्चन निमित्ताभावात् ।

अकामहत और सब प्रकारकी एषणाओंसे मुक्त साधकके आत्मभूत, विषय-विषयी सम्बन्धसे रहित, स्वाभाविक, नित्य और अविभक्त ऐसे ब्रह्मके उत्कृष्ट आनन्दको पूर्वोक्त विधिसे जाननेवाला पुरुष कोई भयका निमित्त न रहनेके कारण किसीसे भयभीत नहीं होता ।

न हि तस्माद्विदुषोऽन्यद्वस्त्वन्तरमस्ति भिन्नं यतो बिभेति । अविद्यया यदोदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवतीति ह्युक्तम् । विदुषश्चाविद्याकार्यस्य तैमिरिकदृष्टद्वितीयचन्द्रवन्नाशाद्भयनिमित्तस्य न बिभेति कुतश्चनेति युज्यते ।

उस विद्वान्से भिन्न कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है जिससे कि उसे भय हो । अविद्यावश जब थोड़ा-सा भी अन्तर करता है तभी जीवको भय होता है—ऐसा कहा ही गया है । अतः तिमिररोगीके देखे हुए द्वितीय चन्द्रमाके समान विद्वान्के अविद्याके कार्यभूत भयके निमित्तका नाश हो जानेके कारण वह किसीसे नहीं डरता—ऐसा कहना ठीक ही है ।

मनोमये चोदाहृतो मन्त्रो मनसो ब्रह्मविज्ञानसाधनत्वात् । तत्र ब्रह्मत्वमध्यारोप्य तत्स्तुत्यर्थं न बिभेति कदाचनेति भयमात्रं प्रतिषिद्धमिहाद्वैतविषये न बिभेति कुतश्चनेति भयनिमित्तमेव प्रतिषिध्यते ।

मनोमय कोशके प्रकरणमें यह मन्त्र उदाहरणके लिये दिया गया था; क्योंकि मन ब्रह्मविज्ञानका साधन है । उसमें ब्रह्मत्वका आरोप करके उसकी स्तुतिके लिये ही 'वह कभी नहीं डरता' इस वाक्यसे उसके भयमात्रका प्रतिषेध किया गया था । यहाँ अद्वैतप्रकरणमें वह किसीसे नहीं डरता, इस प्रकार भयके निमित्तका ही प्रतिषेध किया जाता है ।

नन्वस्ति भयनिमित्तं साध्वकरणं पापक्रिया च ?

नैवम्; कथमित्युच्यते—एतं यथोक्तमेवंविदम्, ह वावेत्यवधारणार्थौ, न तपति नोद्वेजयति न संतापयति। कथं पुनः साध्वकरणं पापक्रिया च न तपतीत्युच्यते। किं कस्मात्साधु शोभनं कर्म नाकरवं न कृतवानस्मीति पश्चात्संतापो भवत्यासन्ने मरणकाले। तथा किं कस्मात्पापं प्रतिषिद्धं कर्माकरवं कृतवानस्मीति च नरकपतनादिदुःखभयात्तापो भवति। ते एते साध्वकरणपापक्रिये एवमेनं न तपतो यथाविद्वांसं तपतः।

कस्मात्पुनर्विद्वांसं न तपत इत्युच्यते—स य एवंविद्वानेते साध्वसाधुनी तापहेतू इत्यात्मानं स्पृणुते प्रीणयति बलयति वा

शङ्का—किन्तु शुभ कर्मका न करना और पापकर्म करना यह तो भयका कारण है ही ?

समाधान—ऐसी बात नहीं है। किस प्रकार नहीं है सो बतलाया जाता है—इस पूर्वोक्तको अर्थात् इस प्रकार जाननेवालेको वह तप्त—उद्विग्न अर्थात् सन्तप्त नहीं करता। मूलमें 'ह' और 'वाव' ये निश्चयार्थक निपात हैं। वह पुण्यका न करना और पापक्रिया उसे किस प्रकार ताप नहीं देते ? इसपर कहते हैं—'मैंने शुभ कर्म क्यों नहीं किया' ऐसा पश्चात्ताप मरणकाल समीप आनेपर हुआ करता है तथा 'मैंने पाप यानी प्रतिषिद्ध कर्म क्यों किया' ऐसा दुःख नरकपात आदिके भयसे होता है। ये पुण्यका न करना और पापका करना इस विद्वान्को इस प्रकार सन्तप्त नहीं करते जैसे कि वे अविद्वान्को किया करते हैं।

वे विद्वान्को क्यों सन्तप्त नहीं करते ? सो बतलाया जाता है—ये पाप-पुण्य ही तापके हेतु हैं—इस प्रकार जाननेवाला जो विद्वान् आत्माको प्रसन्न अथवा सबल करता

परमात्मभावेनोभे पश्यतीत्यर्थः । उभे पुण्यपापे हि यस्मादेवमेष विद्वानेते आत्मानमात्मरूपेणैव पुण्यपापे स्वेन विशेषरूपेण शून्ये कृत्वात्मानं स्पृणुत एव । को य एवं वेद यथोक्तमद्वैत-मानन्दं ब्रह्म वेद तस्यात्मभावेन दृष्टे पुण्यपापे निर्वीर्ये अतापके जन्मान्तरारम्भके न भवतः ।

इतीयमेवं यथोक्तास्यां वल्लयां ब्रह्मविद्योपनिषत्सर्वाभ्यो विद्या-भ्यः परमरहस्यं दर्शितमित्यर्थः । परं श्रेयोऽस्यां निषण्णमिति ॥ १ ॥

है अर्थात् इन दोनोंको परमात्मभाव-से देखता है [उसे ये पाप-पुण्य सन्तप्त नहीं करते] । क्योंकि ये पाप-पुण्य दोनों ऐसे हैं [अर्थात् आत्मस्वरूप हैं] अतः यह विद्वान् इस पाप-पुण्यरूप आत्माको आत्म-भावनासे ही अपने विशेषरूपसे शून्य कर आत्माको ही तृप्त करता है । वह विद्वान् कौन है ? जो इस प्रकार जानता है अर्थात् पूर्वोक्त अद्वैत एवं आनन्दस्वरूप ब्रह्मको जानता है । उसके आत्मभावसे देखे हुए पुण्य-पाप निर्वीर्य और ताप पहुँचानेवाले न होनेसे जन्मान्तरके आरम्भक नहीं होते ।

इस प्रकार इस वल्लीमें, जैसी कि ऊपर कही गयी है, यह ब्रह्मविद्या-रूप उपनिषद् है । अर्थात् इसमें अन्य सब विद्याओंकी अपेक्षा परम रहस्य प्रदर्शित किया गया है । इस विद्यामें ही परम श्रेय निहित है ॥ १ ॥

इति ब्रह्मानन्दवल्ल्यां नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्य-श्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये ब्रह्मानन्दवल्ली समाप्ता ।

भृगुवल्ली

प्रथम अनुवाक

भृगुका अपने पिता वरुणके पास जाकर ब्रह्मविद्याविषयक प्रश्न करना तथा वरुणका ब्रह्मोपदेश

उपक्रमः सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्माकाशादिकार्यमन्नमयान्तं सृष्ट्वा तदेवानुप्रविष्टं विशेषवदिवोपलभ्यमानं यस्मात्तस्मात्सर्वकार्यविलक्षणमदृश्यादिधर्मकमेवानन्दं तदेवाहमिति विजानीयादनुप्रवेशस्य तदर्थत्वात्तस्यैवं विजानतः शुभाशुभे कर्मणी जन्मान्तरारम्भके न भवत इत्येवमानन्दवल्ल्यां विवक्षितोऽर्थः परिसमाप्ता च ब्रह्मविद्या । अतः परं ब्रह्मविद्यासाधनं तपो वक्तव्यमन्नादिविषयाणि चोपासनान्यनुक्तानीत्यत

क्योंकि सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्म ही आकाशसे लेकर अन्नमय-पर्यन्त कार्यवर्गको रचकर उसमें अनुप्रविष्ट हो सविशेष-सा उपलब्ध हो रहा है इसलिये वह सम्पूर्ण कार्यवर्गसे विलक्षण अदृश्यादि धर्म-वाला आनन्द ही है; और वही मैं हूँ—ऐसा जानना चाहिये ! क्योंकि उसके अनुप्रवेशका यही उद्देश्य है । इस प्रकार जाननेवाले उस साधकके शुभाशुभ कर्म जन्मान्तरका आरम्भ करनेवाले नहीं होते । आनन्दवल्लीमें यही विषय कहना अभीष्ट था । अब ब्रह्मविद्या तो समाप्त हो चुकी । यहाँसे आगे ब्रह्मविद्याके साधन तपका निरूपण करना है तथा जिनका पहले निरूपण नहीं किया गया है उन अन्नादिविषयक उपासनाओंका भी वर्णन करना है; इसीलिये इस

इदमारभ्यते—

प्रकरणका आरम्भ किया जाता है—

भृगुर्वै वारुणिः वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तस्मा एतत्प्रोवाच । अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति । तꣳहोवाच । यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति । यत्प्रयन्त्यभिसंविशन्ति । तद्विजिज्ञासस्व । तद् ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

वरुणका सुप्रसिद्ध पुत्र भृगु अपने पिता वरुणके पास गया [और बोला—] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्मका बोध कराइये ।' उससे वरुणने यह कहा—'अन्न, प्राण, नेत्र, श्रोत्र, मन और वाक् [ये ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वार हैं] ।' फिर उससे कहा—'जिससे निश्चय ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर जिसके आश्रयसे ये जीवित रहते हैं और अन्तमें विनाशोन्मुख होकर जिसमें ये लीन होते हैं । उसे विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर; वही ब्रह्म है ।' तब उस (भृगु) ने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

आख्यायिका विद्यास्तुतये, प्रियाय पुत्राय पित्रोक्तेति—भृगुर्वै वारुणिः । वैशब्दः प्रसिद्धानुस्मारको भृगुरित्येवंनामा प्रसिद्धोऽनुस्मार्यते । वारुणिर्वरुणस्यापत्यं वारुणिर्वरुणं पितरं

पिताने अपने प्रिय पुत्रको इस (विद्या) का उपदेश किया था—इस दृष्टिसे यह आख्यायिका विद्याकी स्तुतिके लिये है । 'भृगुर्वै वारुणिः' इसमें 'वै' शब्द प्रसिद्धका स्मरण करानेवाला है । इससे 'भृगु' इस नामसे प्रसिद्ध ऋषिका अनुस्मरण कराया जाता है जो वारुणि अर्थात् वरुणका पुत्र था । वह ब्रह्मको

ब्रह्म विजिज्ञासुरुपससारोपगतवान्, अधीहि भगवो ब्रह्मेत्यनेन मन्त्रेण। अधीहि अध्यापय कथय। स च पिता विधिवदुपसन्नाय तस्मै पुत्रायैतद्वचनं प्रोवाच। अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमिति।

वरुणोपदिष्ट-ब्रह्मप्राप्तिद्वाराणि

अन्नं शरीरं तदभ्यन्तरं च प्राणमत्तारमुपलब्धिसाधनानि चक्षुः श्रोत्रं मनो वाचमित्येतानि ब्रह्मोपलब्धौ द्वाराण्युक्तवान्। उक्त्वा च द्वारभूतान्येतान्यन्नादीनि तं भृगुं होवाच ब्रह्मणो लक्षणम्। किं तत्?

ब्रह्मलक्षणम्

यतो यस्माद्वा इमानि ब्रह्मादीनि स्तम्बपर्यन्तानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति प्राणान्धारयन्ति वर्धन्ते। विनाशकाले

जाननेकी इच्छावाला होकर अपने पिता वरुणके पास गया। अर्थात् 'हे भगवन्! आप मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये' इस मन्त्रके द्वारा [उसने गुरूपसदन किया]। 'अधीहि' शब्दका अर्थ अध्यापन (उपदेश) कीजिये-कहिये ऐसा समझना चाहिये। उस पिताने अपने पास विधिपूर्वक आये हुए उस पुत्रसे यह वाक्य कहा—'अन्नं प्राणं चक्षुः श्रोत्रं मनः वाचम्।'

'अन्न अर्थात् शरीर उसके भीतर अन्न भक्षण करनेवाला प्राण, तदनन्तर विषयोंकी उपलब्धिके साधनभूत चक्षु, श्रोत्र, मन और वाक् ये ब्रह्मकी उपलब्धिमें द्वाररूप हैं'—ऐसा उसने कहा। इस प्रकार इन द्वारभूत अन्नादिको बतलाकर उसने उस भृगुको ब्रह्मका लक्षण बतलाया। वह क्या है? [सो बतलाते हैं—]

जिससे ब्रह्मासे लेकर स्तम्बपर्यन्त ये सम्पूर्ण प्राणी उत्पन्न होते हैं, जिसके आश्रयसे ये जन्म लेनेके अनन्तर जीवित रहते—प्राण धारण करते अर्थात् वृद्धिको प्राप्त होते हैं तथा विनाशकाल उपस्थित होनेपर

च यत्प्रयन्ति यद्ब्रह्म प्रतिगच्छन्ति, अभिसंविशन्ति तादात्म्यमेव प्रतिपद्यन्ते । उत्पत्तिस्थितिलयकालेषु यदात्मतां न जहति भूतानि तदेतद्ब्रह्मणो लक्षणम् । तद्ब्रह्म विजिज्ञासस्व विशेषेण ज्ञातुमिच्छस्व । यदेवंलक्षणं ब्रह्म तदन्नादिद्वारेण प्रतिपद्यस्वेत्यर्थः । श्रुत्यन्तरं च—"प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रमन्नस्यान्नं मनसो ये मनो विदुस्ते निचिक्युर्ब्रह्म पुराणमग्र्यम्" (बृ० उ० ४ । ४ । १८) इति ब्रह्मोपलब्धौ द्वाराण्येतानीति दर्शयति ।

जिसके प्रति प्रयाण करनेवाले अर्थात् जिस ब्रह्मके प्रति गमन करनेवाले वे जीव उसमें प्रवेश करते—उसके तादात्म्यभावको प्राप्त हो जाते हैं । तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति, स्थिति और लयकालमें प्राणी जिसकी तद्रूपताका त्याग नहीं करते यही उस ब्रह्मका लक्षण है । तू उस ब्रह्मको विशेषरूपसे जाननेकी इच्छा कर; अर्थात् जो ऐसे लक्षणोंवाला ब्रह्म है, उसे अन्नादिके द्वारा प्राप्त कर "ब्रह्म प्राणका प्राण, चक्षुका चक्षु, श्रोत्रका श्रोत्र, अन्नका अन्न और मनका मन है—ऐसा जो जानते हैं वे उस पुरातन और श्रेष्ठ ब्रह्मको साक्षात् जान सकते हैं" ऐसी एक दूसरी श्रुति भी इस बातको प्रदर्शित करती है कि ये प्राणादि ब्रह्मकी उपलब्धिमें द्वारस्वरूप हैं ।

ब्रह्मोपलब्धये भृगोस्तपः

स भृगुर्ब्रह्मोपलब्धिद्वाराणि ब्रह्मलक्षणं च श्रुत्वा पितुस्तपो ब्रह्मोपलब्धिसाधनत्वेनातप्यत तप्तवान् । कुतः पुनरनुपदिष्टस्यैव तपसः साधनत्वप्रतिपत्तिर्भृगोः ?

उस भृगुने अपने पितासे ब्रह्मकी उपलब्धिके द्वारा और ब्रह्मका लक्षण सुनकर ब्रह्मसाक्षात्कारके साधनरूपसे तप किया । [यहाँ प्रश्न होता है कि] जिसका उपदेश ही नहीं दिया गया था उस तपके [ब्रह्मप्राप्तिका] साधन होनेका ज्ञान भृगुको कैसे हुआ ? [उत्तर—]

सावशेषोक्तेः । अन्नादि ब्रह्मणः प्रतिपत्तौ द्वारं लक्षणं च यतो वा इमानीत्याद्युक्तवान् । सावशेषं हि तत्साक्षाद्ब्रह्मणोऽनिर्देशात् ।

अन्यथा हि स्वरूपेणैव ब्रह्म निर्देष्टव्यं जिज्ञासवे पुत्रायेद-मित्थंरूपं ब्रह्मेति । न चैवं निर-दिशत्किं तर्हि ? सावशेषमेवोक्त-वान् । अतोऽवगम्यते नूनं साध-नान्तरमप्यपेक्षते पिता ब्रह्म-विज्ञानं प्रतीति । तपोविशेषप्रति-पत्तिस्तु सर्वसाधकतमत्वात् । सर्वेषां हि नियतसाध्यविषयाणां साधनानां तप एव साधकतमं साधनमिति हि प्रसिद्धं लोके । तस्मात्पित्रानुपदिष्टमपि ब्रह्म-विज्ञानसाधनत्वेन तपः प्रतिपेदे भृगुः । तच्च तपो बाह्यान्तः-करणसमाधानं तद्द्वारकत्वाद्ब्रह्म-

क्योंकि [उसके पिताका] कथन सावशेष (जिसमें कुछ कहना शेष रह गया हो—ऐसा) था । वरुणने 'यतो वा इमानि भूतानि' इत्यादि रूपसे अन्नादि ब्रह्मकी प्राप्तिका द्वार और लक्षण कहा था । वह सावशेष (असम्पूर्ण) था; क्योंकि उससे ब्रह्मका साक्षात् निर्देश नहीं होता ।

नहीं तो, उसे अपने जिज्ञासु पुत्रके प्रति 'वह ब्रह्म ऐसा है' इस प्रकार उसका स्वरूपसे ही निर्देश करना चाहिये था । किन्तु इस प्रकार उसने निर्देश किया नहीं है । तो किस प्रकार किया है ? उसने उसे सावशेष ही उपदेश किया है । इससे जाना जाता है कि उसके पिताको अवश्य ही ब्रह्मज्ञानके प्रति किसी अन्य साधनकी भी अपेक्षा है । सबसे बड़ा साधन होनेके कारण भृगुने तपको ही विशेष रूपसे ग्रहण किया । जिनके साध्य विषय नियत हैं उन साधनोंमें तप ही सबसे अधिक सिद्धि प्राप्त कराने-वाला साधन है—यह बात लोकमें प्रसिद्ध ही है । इसलिये पिताके उपदेश न देनेपर भी भृगुने ब्रह्म-विज्ञानके साधनरूपसे तपको स्वीकार किया । वह तप बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरणका समाहित करना

प्रतिपत्तेः । "मनसश्चेन्द्रियाणां च ह्यैकाग्र्यं परमं तपः । तज्ज्यायः सर्वधर्मेभ्यः स धर्मः पर उच्यते" (महा० शा० २५०। ४) इति स्मृतेः । स च तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

ही है; क्योंकि ब्रह्मप्राप्ति उसीके द्वारा होनेवाली है । "मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता ही परम तप है । वह सब धर्मोंसे उत्कृष्ट है और वही परम धर्म कहा जाता है"—इस स्मृतिसे यही बात सिद्ध होती है । उस भृगुने तप करके— ॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां प्रथमोऽनुवाकः ॥ १ ॥

द्वितीय अनुवाक

अन्न ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्। अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। अन्नेन जातानि जीवन्ति । अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तꣳ होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

अन्न ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय अन्नसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर अन्नसे ही जीवित रहते हैं तथा प्रयाण करते समय अन्नमें ही लीन होते हैं । ऐसा जानकर वह फिर अपने पिता वरुणके पास आया [और कहा—] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये ।' वरुणने उससे कहा—'ब्रह्मको तपके द्वारा जाननेकी

इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है ।' तब उसने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

अन्नं ब्रह्मेति व्यजानाद्विज्ञातवान् तद्धि यथोक्तलक्षणोपेतम् । कथम् ? अन्नाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, अन्नेन जातानि जीवन्ति अन्नं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति तस्माद्युक्तमन्नस्य ब्रह्मत्वमित्यभिप्रायः । स एवं तपस्तप्त्वान्नं ब्रह्मेति विज्ञायान्नलक्षणेनोपपत्त्या च पुनरेव संशयमापन्नो वरुणं पितरमुपससार अधीहि भगवो ब्रह्मेति ।

अन्न ब्रह्म है—ऐसा जाना । वही उपर्युक्त लक्षणसे युक्त है । सो कैसे ? क्योंकि निश्चय अन्नसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर अन्नसे ही जीवित रहते हैं तथा मरणोन्मुख होनेपर अन्नमें ही लीन हो जाते हैं । अतः तात्पर्य यह है कि अन्नका ब्रह्मरूप होना ठीक ही है । वह इस प्रकार तप करके तथा अन्नके लक्षण और युक्तिके द्वारा 'अन्न ही ब्रह्म है' ऐसा जानकर फिर भी संशयग्रस्त हो पिता वरुणके पास आया [और बोला—] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये' ।

कः पुनः संशयहेतुरस्येत्युच्यते—अन्नस्योत्पत्तिदर्शनात् । तपसः पुनः पुनरुपदेशः साधनातिशयत्वावधारणार्थः । यावद्ब्रह्मणो लक्षणं निरतिशयं न भवति । यावच्च जिज्ञासा न निवर्तते तावत्तप एव ते साधनम् । तप-

परन्तु इसमें उसके संशयका कारण क्या था ? सो बतलाया जाता है । अन्नकी उत्पत्ति देखनेसे [उसे ऐसा सन्देह हुआ] । यहाँ तपका जो बारम्बार उपदेश किया गया है वह उसका प्रधान साधनत्व प्रदर्शित करनेके लिये है । अर्थात् जबतक ब्रह्मका लक्षण निरतिशय न हो जाय और जबतक तेरी जिज्ञासा शान्त न हो तबतक तप ही तेरे लिये साधन है । तात्पर्य यह

सैव ब्रह्म विजिज्ञासस्वेत्यर्थः । ऋज्वन्यत् ॥ १ ॥

है कि तू तपसे ही ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर । शेष अर्थ सरल है ॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां द्वितीयोऽनुवाकः ॥ २ ॥

तृतीय अनुवाक

प्राण ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसीमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना

प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात् । प्राणाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । प्राणेन जातानि जीवन्ति । प्राणं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति । तꣳ होवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

प्राण ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय प्राणसे ही ये प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर प्राणसे ही जीवित रहते हैं और मरणोन्मुख होनेपर प्राणमें ही लीन हो जाते हैं । ऐसा जानकर वह फिर अपने पिता वरुणके पास आया [और बोला—] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये ।' उससे वरुणने कहा—'तू तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर । तप ही ब्रह्म है ।' तब उसने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

चतुर्थ अनुवाक

मन ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना

मनो ब्रह्मेति व्यजानात्। मनसो ह्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते। मनसा जातानि जीवन्ति। मनः प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति। तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार। अधीहि भगवो ब्रह्मेति। तꣳ होवाच। तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। तपो ब्रह्मेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

मन ब्रह्म है—ऐसा जाना; क्योंकि निश्चय मनसे ही ये जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर मनके द्वारा ही जीवित रहते हैं और अन्तमें प्रयाण करते हुए मनमें ही लीन हो जाते हैं। ऐसा जानकर वह फिर पिता वरुणके पास गया [और बोला—] 'भगवन्! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये।' वरुणने उससे कहा—'तू तपसे ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर, तप ही ब्रह्म है।' तब उसने तप किया और उसने तप करके—॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां चतुर्थोऽनुवाकः ॥ ४ ॥

पञ्चम अनुवाक

विज्ञान ही ब्रह्म है—ऐसा जानकर और उसमें ब्रह्मके लक्षण घटाकर भृगुका पुनः वरुणके पास आना और उसके उपदेशसे पुनः तप करना

विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात् । विज्ञानाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । विज्ञानेन जातानि जीवन्ति । विज्ञानं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । तद्विज्ञाय पुनरेव वरुणं पितरमुपससार । अधीहि भगवो ब्रह्मेति तꣳहोवाच । तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व । तपो ब्रह्मेति । स तपोऽतप्यत । स तपस्तप्त्वा ॥ १ ॥

विज्ञान ब्रह्म है—ऐसा जाना । क्योंकि निश्चय विज्ञानसे ही ये सब जीव उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर विज्ञानसे ही जीवित रहते हैं और फिर मरणोन्मुख होकर विज्ञानमें ही प्रविष्ट हो जाते हैं । ऐसा जानकर वह फिर पिता वरुणके समीप आया [और बोला—] 'भगवन् ! मुझे ब्रह्मका उपदेश कीजिये ।' वरुणने उससे कहा—'तू तपके द्वारा ब्रह्मको जाननेकी इच्छा कर । तप ही ब्रह्म है ।' तब उसने तप किया और तप करके—॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां पञ्चमोऽनुवाकः ॥ ५ ॥

षष्ठ अनुवाक

आनन्द ही ब्रह्म है—ऐसा भृगुका निश्चय करना तथा इस भार्गवी वारुणी विद्याका महत्त्व और फल

आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् । आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जातानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्तीति । सैषा भार्गवी वारुणी विद्या परमे व्योमन् प्रतिष्ठिता । स य एवं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति, प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान् कीर्त्या ॥ १ ॥

आनन्द ब्रह्म है—ऐसा जाना; क्योंकि आनन्दसे ही ये सब प्राणी उत्पन्न होते हैं, उत्पन्न होनेपर आनन्दके द्वारा ही जीवित रहते हैं और प्रयाण करते समय आनन्दमें ही समा जाते हैं। वह यह भृगुकी जानी हुई और वरुणकी उपदेश की हुई विद्या परमाकाशमें स्थित है। जो ऐसा जानता है वह ब्रह्ममें स्थित होता है; वह अन्नवान् और अन्नका भोक्ता होता है; प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

एवं तपसा विशुद्धात्मा प्राणादिषु साकल्येन ब्रह्मलक्षण-मपश्यञ्शनैःशनैरन्तरनुप्रविश्या-

इस प्रकार तपसे शुद्धचित्त हुए भृगुने प्राणादिमें पूर्णतया ब्रह्मका लक्षण न देखकर धीरे-धीरे भीतरकी ओर प्रवेश कर तपरूप साधनके

न्तरतममानन्दं ब्रह्म विज्ञातवां-स्तपसैव साधनेन भृगुः । तस्माद्ब्रह्मविजिज्ञासुना बाह्यान्तःकरण-समाधानलक्षणं परमं तपःसाधन-मनुष्ठेयमिति प्रकरणार्थः ।

द्वारा ही सबकी अपेक्षा अन्तरतम आनन्दको ब्रह्म जाना । अतः जो ब्रह्मको जाननेकी इच्छावाला हो उसे साधनरूपसे बाह्य इन्द्रिय और अन्तःकरणका समाधानरूप परम तप ही करना चाहिये—यह इस प्रकरणका तात्पर्य है ।

अधुनाख्यायिकातोऽपसृत्य श्रुतिः स्वेन वचनेनाख्यायिका-निर्वर्त्यमर्थमाचष्टे-सैषा भार्गवी भृगुणा विदिता वरुणेन प्रोक्ता वारुणी विद्या परमे व्योमन्हृदया-काशगुहायां परम आनन्देऽद्वैते प्रतिष्ठिता परिसमाप्तान्नमयादात्म-नोऽधिप्रवृत्ता । य एवमन्योऽपि तपसैव साधनेनानेनैव क्रमेणा-नुप्रविश्यानन्दं ब्रह्म वेद स एवं विद्याप्रतिष्ठानात्प्रतितिष्ठत्यानन्दे परमे ब्रह्मणि ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः ।

अब आख्यायिकासे निवृत्त होकर श्रुति अपने ही वाक्यसे आख्यायिका-से निष्पन्न होनेवाला अर्थ बतलाती है—अन्नमय आत्मासे प्रारम्भ हुई यह भार्गवी—भृगुकी जानी हुई और वारुणी—वरुणकी कही हुई विद्या परमाकाशमें हृदयाकाशस्थित गुहा-के भीतर अद्वैत परमानन्दमें प्रतिष्ठित है अर्थात् वहीं इसका पर्यवसान होता है । इसी प्रकार जो कोई दूसरा पुरुष भी इसी क्रमसे तपरूप साधनके द्वारा क्रमशः अनुप्रवेश करके आनन्दको ब्रह्मरूपसे जानता है वह इस प्रकार विद्यामें स्थिति लाभ करनेसे आनन्द अर्थात् परब्रह्ममें स्थिति प्राप्त करता है, यानी ब्रह्म ही हो जाता है ।

दृष्टं च फलं तस्योच्यते—

अब उसका दृष्ट (इस लोकमें प्राप्त होनेवाला) फल बतलाया जाता है—

अन्नवान्प्रभूतमन्नमस्य विद्यत

अन्नवान्—जिसके पास

इत्यन्नवान् । सत्तामात्रेण तु सर्वो ह्यन्नवानिति विद्याया विशेषो न स्यात् । एवमन्नमत्तीत्यन्नादो दीप्ताग्निर्भवतीत्यर्थः । महान्भवति । केन महत्त्वमित्यत आह—प्रजया पुत्रादिना पशुभिर्गवाश्वादिभिर्ब्रह्मवर्चसेन शमदमज्ञानादिनिमित्तेन तेजसा महान्भवति कीर्त्या ख्यात्या शुभप्रचारनिमित्तया ॥१॥

बहुत सा अन्न हो उसे अन्नवान् कहते हैं।* अन्नकी सत्तामात्रसे तो सभी अन्नवान् हैं, अतः [यदि उस प्रकार अर्थ किया जाय तो] विद्याकी कोई विशेषता नहीं रहती। इसी प्रकार वह अन्नाद—जो अन्नभक्षण करे यानी दीप्ताग्नि हो जाता है। वह महान् हो जाता है। उसका महत्त्व किस कारणसे होता है ? इसपर कहते हैं—पुत्रादि प्रजा, गौ, अश्व आदि पशु तथा ब्रह्मतेज यानी शम, दम एवं ज्ञानादिके कारण होनेवाले तेजसे तथा कीर्ति यानी शुभाचरणके कारण होनेवाली ख्यातिसे वह महान् हो जाता है ॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां षष्ठोऽनुवाकः ॥ ६ ॥



* मूलमें केवल 'अन्नवान्' है, भाष्यमें उसका अर्थ 'प्रभूत (बहुत-से) अन्नवाला' किया गया है। इससे यह शंका होती है कि 'प्रभूत' विशेषणका प्रयोग क्यों किया गया। इसीका समाधान करनेके लिये आगेका वाक्य है।

सप्तम अनुवाक

अन्नकी निन्दा न करनारूप व्रत तथा शरीर और प्राणरूप अन्न-ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

अन्नं न निन्द्यात्। तद्व्रतम्। प्राणो वा अन्नम्। शरीरमन्नादम्। प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्। शरीरे प्राणः प्रतिष्ठितः। तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम्। स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति। अन्नवानन्नादो भवति। महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन। महान्कीर्त्या॥ १॥

अन्नकी निन्दा न करे। यह ब्रह्मज्ञका व्रत है। प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है। प्राणमें शरीर स्थित है और शरीरमें प्राण स्थित है। इस प्रकार [एक दूसरेके आश्रित होनेसे वे एक दूसरेके अन्न हैं; अतः] ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं। जो इस प्रकार अन्नको अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित (प्रख्यात) होता है, अन्नवान् और अन्नभोक्ता होता है। प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है॥ १॥

किं चान्नेन द्वारभूतेन ब्रह्म विज्ञातं यस्मात्तस्माद्गुरुमिव अन्नं न निन्द्यात्तदस्यैवं ब्रह्मविदो व्रतमुपदिश्यते। व्रतोप-

इसके सिवा क्योंकि द्वारभूत अन्नके द्वारा ही ब्रह्मको जाना है इसलिये गुरुके समान अन्नकी भी निन्दा न करे। इस प्रकार ब्रह्मवेत्ताके लिये यह व्रत उपदेश किया जाता है। यह व्रतका उपदेश

देशोऽन्नस्तुतये, स्तुतिभाक्त्वं चान्नस्य ब्रह्मोपलब्ध्युपायत्वात् ।

प्राणो वा अन्नम्, शरीरान्तर्भावात्प्राणस्य । यद्यस्यान्तः-प्रतिष्ठितं भवति तत्तस्यान्नं भवतीति । शरीरे च प्राणः प्रतिष्ठितस्तस्मात्प्राणोऽन्नं शरीरमन्नादम् । तथा शरीरमप्यन्नं प्राणोऽन्नादः । कस्मात् ? प्राणे शरीरं प्रतिष्ठितम्; तन्निमित्तत्वाच्छरीरस्थितेः । तस्मात्तदेतदुभयं शरीरं प्राणश्चान्नमन्नादश्च । येनान्योन्यस्मिन्प्रतिष्ठितं तेनान्नम् । येनान्योन्यस्य प्रतिष्ठा तेनान्नादः । तस्मात्प्राणः शरीरं चोभयमन्नमन्नादं च ।

स य एवमेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठत्यन्नान्नादात्मनैव । किं चान्नवानन्नादो भवतीत्यादि पूर्ववत् ॥ १ ॥

अन्नकी स्तुतिके लिये है और अन्नकी स्तुतिपात्रता ब्रह्मोपलब्धिका साधन होनेके कारण है ।

प्राण ही अन्न है; क्योंकि प्राण शरीरके भीतर रहनेवाला है । जो जिसके भीतर स्थित रहता है वह उसका अन्न हुआ करता है । प्राण शरीरमें स्थित है, इसलिये प्राण अन्न है और शरीर अन्नाद है । इसी प्रकार शरीर भी अन्न है और प्राण अन्नाद है; कैसे ?—प्राणमें शरीर स्थित है; क्योंकि शरीरकी स्थिति प्राणके ही कारण है अतः ये दोनों शरीर और प्राण अन्न और अन्नाद हैं; क्योंकि वे एक दूसरेमें स्थित हैं इसलिये अन्न हैं और क्योंकि एक दूसरेके आधार हैं इसलिये अन्नाद हैं । अतएव प्राण और शरीर दोनों ही अन्न और अन्नाद हैं ।

वह जो इस प्रकार अन्नको अन्नमें स्थित जानता है, अन्न और अन्नाद-रूपसे ही स्थित होता है तथा अन्नवान् और अन्नाद होता है—इत्यादि शेष अर्थ पूर्ववत् है ॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां सप्तमोऽनुवाकः ॥ ७ ॥

अष्टम अनुवाक

अन्नका त्याग न करनारूप व्रत तथा जल और ज्योतिरूप अन्न ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

अन्नं न परिचक्षीत । तद्व्रतम् । आपो वा अन्नम् । ज्योतिरन्नादम् । अप्सु ज्योतिः प्रतिष्ठितम् । ज्योतिष्यापः प्रतिष्ठिताः । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान् भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्नका त्याग न करे । यह व्रत है । जल ही अन्न है । ज्योति अन्नाद है । जलमें ज्योति प्रतिष्ठित है और ज्योतिमें जल स्थित है । इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं । जो इस प्रकार अन्नको अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्नाद होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

अन्नं न परिचक्षीत न परिहरेत् । तद्व्रतं पूर्ववत्स्तुत्यर्थम् । तदेवं शुभाशुभकल्पनया अपरिह्रियमाणं स्तुतं महीकृतमन्नं स्यात् । एवं यथोक्तमुत्तरेष्वप्यापो वा अन्नमित्यादिषु योजयेत् ॥ १ ॥

अन्नका प्रत्याख्यान अर्थात् त्याग न करे, यह व्रत है—यह कथन पूर्ववत् स्तुतिके लिये है । इस प्रकार शुभाशुभकी कल्पनासे उपेक्षा न किया हुआ अन्न ही यहाँ स्तुति एवं महिमान्वित किया जाता है । तथा आगेके 'आपो वा अन्नम्' इत्यादि वाक्योंमें भी पूर्वोक्त अर्थकी ही योजना करनी चाहिये ॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यामष्टमोऽनुवाकः ॥ ८ ॥

नवम अनुवाक

अन्नसञ्चयरूप व्रत तथा पृथिवी और आकाशरूप अन्न-ब्रह्मके उपासकको प्राप्त होनेवाले फलका वर्णन

अन्नं बहु कुर्वीत । तद्व्रतम् । पृथिवी वा अन्नम् । आकाशोऽन्नादः । पृथिव्यामाकाशः प्रतिष्ठितः । आकाशे पृथिवी प्रतिष्ठिता । तदेतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितम् । स य एतदन्नमन्ने प्रतिष्ठितं वेद प्रतितिष्ठति । अन्नवानन्नादो भवति । महान्भवति प्रजया पशुभिर्ब्रह्मवर्चसेन । महान्कीर्त्या ॥ १ ॥

अन्नको बढ़ावे—यह व्रत है । पृथिवी ही अन्न है । आकाश अन्नाद है । पृथिवीमें आकाश स्थित है और आकाशमें पृथिवी स्थित है । इस प्रकार ये दोनों अन्न ही अन्नमें प्रतिष्ठित हैं । जो इस प्रकर अन्नको अन्नमें स्थित जानता है वह प्रतिष्ठित होता है, अन्नवान् और अन्नाद होता है, प्रजा, पशु और ब्रह्मतेजके कारण महान् होता है तथा कीर्तिके कारण भी महान् होता है ॥ १ ॥

अप्सु ज्योतिरित्यञ्ज्योतिषोरन्नान्नादगुणत्वेनोपासकस्यान्नस्य बहुकरणं व्रतम् ॥ १ ॥

पूर्वोक्त 'अप्सु ज्योतिः' आदि मन्त्रके अनुसार जल और ज्योतिकी अन्न और अन्नाद गुणसे उपासना करनेवालेके लिये 'अन्नको बढ़ाना व्रत है' [—यह बात इस मन्त्रमें कही गयी है] ॥ १ ॥

इति भृगुवल्ल्यां नवमोऽनुवाकः ॥ ९ ॥

दशम अनुवाक

गृहागत अतिथिको आश्रय और अन्न देनेका विधान एवं उससे प्राप्त होनेवाला फल; तथा प्रकारान्तरसे ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन

न कंचन वसतौ प्रत्याचक्षीत। तद्व्रतम्। तस्माद्यया कया च विधया बह्वन्नं प्राप्नुयात्। आराध्यस्मा अन्नमित्याचक्षते। एतद्वै मुखतोऽन्नꣳराद्धम्। मुखतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वै मध्यतोऽन्नꣳराद्धम्। मध्यतोऽस्मा अन्नꣳराध्यते। एतद्वा अन्ततोऽन्नꣳराद्धम्। अन्ततोऽस्मा अन्नꣳराध्यते॥ १॥

य एवं वेद। क्षेम इति वाचि। योगक्षेम इति प्राणापानयोः। कर्मेति हस्तयोः। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इति मानुषीः समाज्ञाः। अथ दैवीः। तृप्तिरिति वृष्टौ। बलमिति विद्युति॥ २॥

यश इति पशुषु। ज्योतिरिति नक्षत्रेषु। प्रजातिरमृतमानन्द इत्युपस्थे। सर्वमित्याकाशे। तत्प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठावान् भवति। तन्मह इत्युपासीत। महान् भवति। तन्मन इत्युपासीत। मानवान् भवति॥ ३॥

तन्नम इत्युपासीत। नम्यन्तेऽस्मै कामाः। तद्ब्रह्मेत्युपासीत। ब्रह्मवान् भवति। तद्ब्रह्मणः परिमर

इत्युपासीत । पर्येणं म्रियन्ते द्विषन्तः सपत्नाः । परि येऽप्रिया भ्रातृव्याः । स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एकः ॥ ४ ॥

अपने यहाँ रहनेके लिये आये हुए किसीका भी परित्याग न करे । यह व्रत है । अतः किसी-न-किसी प्रकारसे बहुत-सा अन्न प्राप्त करे; क्योंकि वह (अन्नोपासक) उस (गृहागत अतिथि) से 'मैंने अन्न तैयार किया है' ऐसा कहता है । जो पुरुष मुखतः (प्रथम अवस्थामें अथवा मुख्यवृत्तिसे यानी सत्कारपूर्वक) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मुख्यवृत्तिसे ही अन्नकी प्राप्ति होती है । जो मध्यतः (मध्यम आयुमें अथवा मध्यम वृत्तिसे) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे मध्यम वृत्तिसे ही अन्नकी प्राप्ति होती है । तथा जो अन्ततः (अन्तिम अवस्थामें अथवा निकृष्ट वृत्तिसे) सिद्ध किया हुआ अन्न देता है उसे निकृष्ट वृत्तिसे ही अन्न प्राप्त होता है ॥ १ ॥ जो इस प्रकार जानता है [उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है । अब आगे प्रकारान्तरसे ब्रह्मकी उपासनाका वर्णन किया जाता है—] ब्रह्म वाणीमें क्षेम (प्राप्त वस्तुके परिरक्षण) रूपसे [स्थित है—इस प्रकार उपासनीय है], योगक्षेमरूपसे प्राण और अपानमें, कर्मरूपसे हाथोंमें, गतिरूपसे चरणोंमें और त्यागरूपसे पायुमें [उपासनीय है], यह मनुष्यसम्बन्धिनी उपासना है । अब देवताओंसे सम्बन्धित उपासना कही जाती है—तृप्तिरूपसे वृष्टिमें, बलरूपसे विद्युत्में ॥ २ ॥ यशरूपसे पशुओंमें, ज्योतिरूपसे नक्षत्रोंमें, पुत्रादि प्रजा, अमृतत्व और आनन्दरूपसे उपस्थमें तथा सर्वरूपसे आकाशमें [ब्रह्मकी उपासना करे] । वह ब्रह्म सबका प्रतिष्ठा (आधार) है—इस भावसे उसकी उपासना करे । इससे उपासक प्रतिष्ठावान् होता है । वह महः [नामक व्याहृति अथवा तेज] है—इस भावसे उसकी उपासना करे । इससे उपासक महान् होता है । वह मन है—इस प्रकार उपासना करे । इससे उपासक मानवान् (मनन करनेमें समर्थ) होता है ॥ ३ ॥ वह नमः है—इस

भावसे उसकी उपासना करे । इससे सम्पूर्ण काम्य पदार्थ उसके प्रति विनम्र हो जाते हैं । वह ब्रह्म है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । इससे वह ब्रह्मनिष्ठ होता है । वह ब्रह्मका परिमर (आकाश) है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । इससे उससे द्वेष करनेवाले उसके प्रतिपक्षी मर जाते हैं, तथा जो अप्रिय भ्रातृव्य (भाईके पुत्र) होते हैं वे भी मर जाते हैं । वह, जो कि इस पुरुषमें है और वह जो इस आदित्यमें है, एक है ॥ ४ ॥

तथा पृथिव्याकाशोपासकस्य

आतिथ्योपदेशः वसतौ वसतिनिमित्तं कंचन कंचिदपि न प्रत्याचक्षीत वसत्यर्थमागतं न निवारयेदित्यर्थः । वासे च दत्तेऽवश्यं ह्यशनं दातव्यम् । तस्माद्यया कया च विधया येन केन च प्रकारेण बह्वन्नं प्राप्नुयाद्बह्वन्नसंग्रहं कुर्यादित्यर्थः ।

यस्मादन्नवन्तो विद्वांसोऽभ्यागतायान्नार्थिनेऽराधि संसिद्धमस्मा अन्नमित्याचक्षते न नास्तीति प्रत्याख्यानं कुर्वन्ति । तस्माच्च हेतोर्बह्वन्नं प्राप्नुयादिति पूर्वेण संबन्धः । अपि चान्नदा-

तथा पृथिवी और आकाशकी [अन्न एवं अन्नादरूपसे] उपासना करनेवालेके यहाँ रहनेके लिये कोई भी आवे उसे उसका परित्याग नहीं करना चाहिये अर्थात् अपने यहाँ निवास करनेके लिये आये हुए किसी भी व्यक्तिका वह निवारण न करे । जब किसीको रहनेका स्थान दिया जाय तो उसे भोजन भी अवश्य देना चाहिये । अतः जिस-किसी भी विधिसे यानी किसी-न-किसी प्रकार बहुत-सा अन्न प्राप्त करे; अर्थात् खूब अन्न-संग्रह करे ।

क्योंकि अन्नवान् उपासकगण अपने यहाँ आये हुए अन्नार्थीसे 'अन्न तैयार है' ऐसा कहते हैं—'अन्न नहीं है' ऐसा कहकर उसका परित्याग नहीं करते । इसलिये भी बहुत-सा अन्न उपार्जन करे—इस प्रकार इसका पूर्ववाक्यसे सम्बन्ध

नस्य माहात्म्यमुच्यते । यथा यत्कालं प्रयच्छत्यन्नं तथा तत्कालमेव प्रत्युपनमते । कथमिति तदेतदाह--

एतद्वा अन्नं मुखतो मुख्ये

वृत्तिभेदेनान्न- प्रथमे वयसि मु-
दानस्य फलभेदः ख्यया वा वृत्त्या

पूजापुरःसरमभ्यागतायान्नार्थिने राद्धं संसिद्धं प्रयच्छतीति वाक्यशेषः । तस्य किं फलं स्यादित्युच्यते—मुखतः पूर्वे वयसि मुख्यया वा वृत्त्यास्मा अन्नादायान्नं राध्यते यथादत्तमुपतिष्ठत इत्यर्थः । एवं मध्यतो मध्यमे वयसि मध्यमेन चोपचारेण । तथाऽन्ततोऽन्ते वयसि जघन्येन चोपचारेण परिभवेन तथैवास्मै राध्यते संसिध्यत्यन्नम् ॥ १ ॥

य एवं वेद य एवमन्नस्य यथोक्तं माहात्म्यं वेद तद्दानस्य च फलम्, तस्य यथोक्तं फलमुपनमते ।

है । अब अन्नदानका माहात्म्य कहा जाता है—जो पुरुष जिस प्रकार और जिस समय अन्न दान करता है उसे उसी प्रकार और उसी समय उसकी प्राप्ति होती है । ऐसा किस प्रकार होता है ? सो बतलाते हैं—

जो पुरुष मुखतः—मुख्य—प्रथम अवस्थामें अथवा मुख्य वृत्तिसे यानी सत्कारपूर्वक राद्ध अर्थात् सिद्ध (पक्व) अन्नको अपने यहाँ आये हुए अन्नार्थी अतिथिको देता है—यहाँ प्रयच्छति (देता है) यह क्रियापद वाक्यशेष (अनुक्त अंश) है—उसे क्या फल मिलता है, सो बतलाया जाता है—इस अन्नदाताको मुखतः—प्रथम अवस्थामें अथवा मुख्य वृत्तिसे अन्न प्राप्त होता है; अर्थात् जिस प्रकार दिया जाता है उसी प्रकार प्राप्त होता है । इसी प्रकार मध्यतः मध्यम आयुमें अथवा मध्यम वृत्तिसे तथा अन्ततः—अन्तिम आयुमें अथवा निकृष्ट वृत्तिसे यानी तिरस्कारपूर्वक देनेसे इसे उसी प्रकार अन्नकी प्राप्ति होती है ॥ १ ॥

जो इस प्रकार जानता है—जो इस प्रकार अन्नका पूर्वोक्त माहात्म्य और उसके दानका फल जानता है उसे पूर्वोक्त फलकी प्राप्ति होती है ।

ब्रह्मोपासन-प्रकारान्तराणि 'मानुषी समाज्ञा'

इदानीं ब्रह्मण उपासनप्रकार उच्यते—क्षेम इति वाचि। क्षेमो नामोपात्तपरिरक्षणम्। ब्रह्म वाचि क्षेमरूपेण प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्। योगक्षेम इति, योगोऽनुपात्तस्योपादानम्, तौ हि योगक्षेमौ प्राणापानयोः सतोर्भवतो यद्यपि तथापि न प्राणापाननिमित्तावेव किं तर्हि ब्रह्मनिमित्तौ; तस्माद्ब्रह्म योगक्षेमात्मना प्राणापानयोः प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्।

एवमुत्तरेष्वन्येषु तेन तेनात्मना ब्रह्मैवोपास्यम्। कर्मणो ब्रह्मनिर्वर्त्यत्वाद्धस्तयोः कर्मात्मना ब्रह्म प्रतिष्ठितमित्युपास्यम्। गतिरिति पादयोः। विमुक्तिरिति पायौ। इत्येता मानुषीर्मनुष्येषु भवा मानुष्यः

अब ब्रह्मकी उपासनाका [एक और] प्रकार बतलाया जाता है—'क्षेम है' इस प्रकार वाणीमें। प्राप्त पदार्थकी रक्षा करनेका नाम 'क्षेम' है। वाणीमें ब्रह्म क्षेमरूपसे स्थित है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये। 'योगक्षेम' अप्राप्त वस्तुका प्राप्त करना 'योग' कहलाता है। वे योग और क्षेम यद्यपि बलवान् प्राण और अपानके रहते हुए ही होते हैं, तो भी उनका कारण प्राण एवं अपान ही नहीं है। तो उनका कारण क्या है? वे ब्रह्मके कारण ही होते हैं। अतः योगक्षेमरूपसे ब्रह्म प्राण और अपानमें स्थित है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये।

इसी प्रकार आगेके अन्य पर्यायोंमें भी उन-उनके रूपसे ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिये। कर्म ब्रह्मकी ही प्रेरणासे निष्पन्न होता है; अतः हाथोंमें ब्रह्म कर्मरूपसे स्थित है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये। चरणोंमें गतिरूपसे और पायुमें विसर्जनरूपसे [प्रतिष्ठित समझकर उसकी उपासना करे]। इस प्रकार यह मानुषी—मनुष्योंमें

समाज्ञाः, आध्यात्मिक्यः समाज्ञा ज्ञानानि विज्ञानान्युपासनानीत्यर्थः ।

अथानन्तरं दैवीर्दैव्यो देवेषु भवाः समाज्ञा उच्यन्ते । तृप्तिरिति
'दैवी समाज्ञा'
वृष्टौ । वृष्टेरन्नादिद्वारेण तृप्तिहेतुत्वाद्ब्रह्मैव तृप्त्यात्मना वृष्टौ व्यवस्थितमित्युपास्यम् । तथान्येषु तेन तेनात्मना ब्रह्मैवोपास्यम् । तथा बलरूपेण विद्युति ॥ २ ॥ यशोरूपेण पशुषु । ज्योतीरूपेण नक्षत्रेषु । प्रजातिरमृतममृतत्वप्राप्तिः पुत्रेण ऋणविमोक्षद्वारेणानन्दः सुखमित्येतत्सर्वमुपस्थनिमित्तं ब्रह्मैवानेनात्मनोपस्थे प्रतिष्ठितमित्युपास्यम् ।

सर्वं ह्याकाशे प्रतिष्ठितमतो यत्सर्वमाकाशे तद्ब्रह्मैवेत्युपास्यम् । तच्चाकाशं ब्रह्मैव । तस्मात्तत्

रहनेवाली समाज्ञा है । तात्पर्य यह कि ये आध्यात्मिक समाज्ञा—ज्ञान—विज्ञान यानी उपासनाएँ हैं ।

अब इसके पश्चात् दैवी—देवसम्बन्धिनी अर्थात् देवताओंमें होनेवाली समाज्ञाएँ कही जाती हैं । तृप्ति इस भावसे वृष्टिमें [ब्रह्मकी उपासना करे] । अन्नादिके द्वारा वृष्टि तृप्तिका कारण है । अतः तृप्तिरूपसे ब्रह्म ही वृष्टिमें स्थित है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये । इसी प्रकार अन्य पर्यायोंमें भी उन-उनके रूपसे ब्रह्मकी ही उपासना करनी चाहिये । अर्थात् बलरूपसे विद्युत्में ॥ २ ॥ यशरूपसे पशुओंमें, ज्योतिरूपसे नक्षत्रोंमें, प्रजाति (पुत्रादि प्रजा) अमृत—अर्थात् पुत्रद्वारा पितृऋणसे मुक्त होनेके द्वारा अमृतत्वकी प्राप्ति और आनन्द—सुख ये सब उपस्थके निमित्तसे ही होनेवाले हैं; अतः इनके रूपसे ब्रह्म ही उपस्थमें स्थित है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये ।

सब कुछ आकाशमें ही स्थित है । अतः आकाशमें जो कुछ है वह सब ब्रह्म ही है—इस प्रकार उसकी उपासना करनी चाहिये । तथा वह आकाश भी ब्रह्म ही है ।

सर्वस्य प्रतिष्ठेत्युपासीत। प्रतिष्ठागुणोपासनात्प्रतिष्ठावान्भवति । एवं पूर्वेष्वपि यद्यत्तदधीनं फलं तद्ब्रह्मैव तदुपासनात्तद्वान्भवतीति द्रष्टव्यम् । श्रुत्यन्तराच्च—"तं यथा यथोपासते तदेव भवति" इति ।

तन्मह इत्युपासीत । महो महत्त्वगुणवत्तदुपासीत । महान् भवति । तन्मन इत्युपासीत । मननं मनः । मानवान्भवति मननसमर्थो भवति ॥ ३ ॥ तन्नम इत्युपासीत । नमनं नमो नमनगुणवत्तदुपासीत । नम्यन्ते प्रह्वीभवन्त्यस्मा उपासित्रे कामाः काम्यन्त इति भोग्या विषया इत्यर्थः ।

अतः वह सबकी प्रतिष्ठा (आश्रय) है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । प्रतिष्ठा गुणवान् ब्रह्मकी उपासना करनेसे उपासक प्रतिष्ठावान् होता है । ऐसा ही पूर्व सब पर्यायोंमें समझना चाहिये । जो-जो उसके अधीन फल है वह ब्रह्म ही है । उसकी उपासनासे पुरुष उसी फलसे युक्त होता है—ऐसा जानना चाहिये । यही बात "जिस-जिस प्रकार उसकी उपासना करता है वह (उपासक) वही हो जाता है" इस एक दूसरी श्रुतिसे प्रमाणित होती है ।

वह महः है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । महः अर्थात् महत्त्व गुणवाला है—ऐसे भावसे उसकी उपासना करे । इससे उपासक महान् हो जाता है । वह मन है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । मननका नाम मन है । इससे वह मानवान्—मननमें समर्थ हो जाता है ॥ ३ ॥ वह नमः है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । नमनका नाम 'नमः' है अर्थात् उसे नमन-गुणवान् समझकर उपासना करे । इससे उस उपासकके प्रति सम्पूर्ण काम—जिनकी कामना की जाय वे भोग्य विषय नत अर्थात् विनम्र हो जाते हैं ।

तद्ब्रह्मेत्युपासीत । ब्रह्म परिवृढतममित्युपासीत । ब्रह्मवांस्तद्गुणो भवति । तद्ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत । ब्रह्मणः परिमरः परिम्रियन्तेऽस्मिन्पञ्च देवता विद्युद्वृष्टिश्चन्द्रमा आदित्योऽग्निरित्येताः । अतो वायुः परिमरः श्रुत्यन्तरप्रसिद्धेः । स एष एवायं वायुराकाशेनानन्य इत्याकाशो ब्रह्मणः परिमरः । तमाकाशं वाय्वात्मानं ब्रह्मणः परिमर इत्युपासीत ।

एनमेवंविदं प्रतिस्पर्धिनो द्विषन्तोऽद्विषन्तोऽपि सपत्ना यतो भवन्त्यतो विशेष्यन्ते द्विषन्तः सपत्ना इति, एनं द्विषन्तः सपत्नास्ते परिम्रियन्ते प्राणाञ्जहति । किं च ये चाप्रिया अस्य भ्रातृव्या अद्विषन्तोऽपि ते च परिम्रियन्ते ।

वह ब्रह्म है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । ब्रह्म यानी सबसे बढ़ा हुआ है—इस प्रकार उपासना करे । इससे वह ब्रह्मवान्—ब्रह्मके-से गुणवाला हो जाता है । वह ब्रह्मका परिमर है—इस प्रकार उसकी उपासना करे । ब्रह्मका परिमर—जिसमें विद्युत्, वृष्टि, चन्द्रमा, आदित्य और अग्नि—ये पाँच देवता मृत्युको प्राप्त होते हैं उसे परिमर कहते हैं; अतः वायु ही परिमर है, जैसे कि ["वायुर्वाव संवर्गः" इस] एक अन्य श्रुतिसे सिद्ध होता है । वही यह वायु आकाशसे अभिन्न है, इसलिये आकाश ही ब्रह्मका परिमर है । अतः वायुरूप आकाशकी 'यह ब्रह्मका परिमर है' इस भावसे उपासना करे ।

इस प्रकार जाननेवाले इस उपासकके द्वेष करनेवाले प्रतिपक्षी—क्योंकि प्रतिपक्षी द्वेष न करनेवाले भी होते हैं इसलिये यहाँ 'द्वेष करनेवाले' यह विशेषण दिया गया है—मर जाते हैं अर्थात् प्राण त्याग देते हैं । तथा इसके जो अप्रिय भ्रातृव्य होते हैं वे, द्वेष करनेवाले न होनेपर भी, मर जाते हैं ।

आत्मनोऽसंसारित्वस्थापनम् 'प्राणो वा अन्नं शरीरमन्नादम्' इत्यारभ्याकाशान्तस्य कार्यस्यैवान्नान्नादत्वमुक्तम्।

उक्तं नाम किं तेन ?

तेनैतत्सिद्धं भवति—कार्यविषय एव भोज्यभोक्तृत्वकृतः संसारो न त्वात्मनीति। आत्मनि तु भ्रान्त्योपचर्यते।

नन्वात्मापि परमात्मनः कार्यं ततो युक्तस्तस्य संसार इति।

न, असंसारिण एव प्रवेशश्रुतेः। "तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्" (तै० उ० २।६।१) इत्याकाशादिकारणस्य ह्यसंसारिण एव परमात्मनः कार्येष्वनुप्रवेशः श्रूयते। तस्मात्कार्यानुप्रविष्टो जीव आत्मा पर एव असंसारी। सृष्ट्वानुप्राविशदिति समानकर्तृकत्वोपपत्तेश्च। सर्ग-

'प्राण ही अन्न है और शरीर अन्नाद है' यहाँसे लेकर आकाशपर्यन्त कार्यवर्गका ही अन्न और अन्नादत्व प्रतिपादन किया गया है।

पूर्व०—कहा गया है—सो इससे क्या हुआ ?

सिद्धान्ती—इससे यह सिद्ध होता है कि भोज्य और भोक्ताके कारण होनेवाला संसार कार्यवर्गसे ही सम्बन्धित है, वह आत्मामें नहीं है; आत्मामें तो भ्रान्तिवश उसका उपचार किया जाता है।

पूर्व०—परन्तु आत्मा भी तो परमात्माका कार्य है। इसलिये उसे संसारकी प्राप्ति होना उचित ही है।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि प्रवेश-श्रुति असंसारीका ही प्रवेश प्रतिपादन करती है। "उसे रचकर वह पीछेसे उसीमें प्रविष्ट हो गया" इस श्रुतिद्वारा आकाशादिके कारणरूप असंसारी परमात्माका ही कार्योंमें अनुप्रवेश सुना गया है। अतः कार्यमें अनुप्रविष्ट जीवात्मा असंसारी परमात्मा ही है। 'रचकर पीछेसे प्रविष्ट हो गया' इस वाक्यसे एक ही कर्ता होना सिद्ध होता है। यदि

प्रवेशक्रिययोश्चैकश्चेत्कर्ता ततः क्त्वाप्रत्ययो युक्तः ।

सृष्टि और प्रवेशक्रियाका एक ही कर्ता होगा तभी 'क्त्वा' प्रत्यय होना युक्त होगा ।

प्रविष्टस्य तु भावान्तरापत्तिरिति चेत् ?

पूर्व०—प्रवेश कर लेनेपर उसे दूसरे भावकी प्राप्ति हो जाती है—ऐसा माने तो ?

न; प्रवेशस्यान्यार्थत्वेन प्रत्याख्यातत्वात् । "अनेन जीवेनात्मना" (छा० उ० ६ । ३ । २) इति विशेषश्रुतेर्धर्मान्तरेणानुप्रवेश इति चेत् ? न; "तत्त्वमसि" इति पुनस्तद्भावोक्तेः । भावान्तरापन्नस्यैव तदपोहार्था संपदिति चेत् ? न "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८—१६) इति सामानाधिकरण्यात् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि प्रवेशका प्रयोजन दूसरा ही है—ऐसा कहकर हम इसका पहले ही निराकरण कर चुके हैं ।* यदि कहो कि "अनेन जीवेन आत्मना" इत्यादि विशेष श्रुति होनेके कारण उसका धर्मान्तररूपसे ही प्रवेश होता है—तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि "वह तू है" इस श्रुतिद्वारा पुनः उसकी तपद्रूताका वर्णन किया गया है । और यदि कहो कि भावान्तरको प्राप्त हुए ब्रह्मके उस भावका निषेध करनेके लिये ही वह केवल दृष्टिमात्र कही गयी है तो ऐसी बात भी नहीं है; क्योंकि "वह सत्य है, वह आत्मा है, वह तू है" इत्यादि श्रुतिसे उसका परमात्माके साथ सामानाधिकरण्य सिद्ध होता है ।

दृष्टं जीवस्य संसारित्वमिति चेत् ?

पूर्व०—जीवका संसारित्व तो स्पष्ट देखा है ।

* देखिये ब्रह्मानन्दवल्ली अनुवाक ६ का भाष्य ।

न उपलब्धुरनुपलभ्यत्वात् ।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि जो (जीव) सबका द्रष्टा है वह देखा नहीं जा सकता ।

संसारधर्मविशिष्ट आत्मोपलभ्यत इति चेत् ।

पूर्व०—सांसारिक धर्मोंसे युक्त आत्मा तो उपलब्ध होता ही है ?

न, धर्माणां धर्मिणोऽव्यतिरेकात्कर्मत्वानुपपत्तेः, उष्णप्रकाशयोर्दाह्यप्रकाश्यत्वानुपपत्तिवत् । त्रासादिदर्शनाद्दुःखित्वाद्यनुमीयत इति चेत् ? न; त्रासादेर्दुःखस्य चोपलभ्यमानत्वान्नोपलब्धृधर्मत्वम् ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि धर्म अपने धर्मीसे अभिन्न होते हैं अतः वे उसके कर्म नहीं हो सकते, जिस प्रकार कि [सूर्यके धर्म] उष्ण और प्रकाशका दाह्यत्व और प्रकाश्यत्व सम्भव नहीं है । यदि कहो कि भय आदि देखनेसे आत्माके दुःखित्व आदिका अनुमान होता ही है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं, क्योंकि भय आदि दुःख उपलब्ध होनेवाले होनेके कारण उपलब्ध करनेवाले [आत्मा] के धर्म नहीं हो सकते ।

कापिलकाणादादितर्कशास्त्रविरोध इति चेत् ?

पूर्व०—परन्तु ऐसा माननेसे तो कपिल और कणाद आदिके तर्कशास्त्रसे विरोध आता है ।

न, तेषां मूलाभावे वेदविरोधे च भ्रान्तत्वोपपत्तेः । श्रुत्युपपत्तिभ्यां च सिद्धमात्मनोऽसंसारित्वमेकत्वाच्च ।

सिद्धान्ती—ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि उनका कोई आधार न होनेसे और वेदसे विरोध होनेसे भ्रान्तिमय होना उचित ही है । श्रुति और युक्तिसे आत्माका असंसारित्व सिद्ध होता है तथा एक होनेके कारण भी ऐसा ही जान पड़ता है ।

कथमेकत्वमित्युच्यते—स यश्चायं पुरुषे यश्चासावादित्ये स एक इत्येवमादि पूर्ववत् सर्वम् ॥ ४ ॥

उसका एकत्व कैसे है ? सो सबका सब पूर्ववत् 'वह जो कि इस पुरुषमें है और जो यह आदित्यमें है एक है' इस वाक्यद्वारा बतलाया गया है ॥ ४ ॥

आदित्य और देहोपाधिक चेतनकी एकता जाननेवाले उपासकको मिलनेवाला फल

स य एवंवित् । अस्माल्लोकात्प्रेत्य । एतमन्नमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं प्राणमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं मनोमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतं विज्ञानमयमात्मानमुपसंक्रम्य । एतमानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्य । इमाँल्लोकान्कामान्नी कामरूप्यनुसंचरन् । एतत्साम गायन्नास्ते हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु ॥ ५ ॥

वह जो इस प्रकार जाननेवाला है इस लोक (दृष्ट और अदृष्ट विषय-समूह) से निवृत्त होकर इस अन्नमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस प्राणमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस मनोमय आत्माके प्रति संक्रमण कर, इस विज्ञानमय आत्माके प्रति संक्रमण कर तथा इस आनन्दमय आत्माके प्रति संक्रमण कर इन लोकोंमें कामान्नी (इच्छानुसार भोग भोगता हुआ) और कामरूपी होकर (इच्छानुसार रूप धारण कर) विचरता हुआ यह सामगान करता है—हा ३ वु हा ३ वु हा ३ वु ॥ ५ ॥

अन्नमयादिक्रमेणानन्दमयमात्मानमुपसंक्रम्यैतत्साम गायन्नास्ते ।

सोऽश्नुते सर्वान्कामानिति मीमांस्यते

सत्यं ज्ञानमित्यस्या ऋचोऽर्थो व्याख्यातो विस्तरेण तद्विवरणभूतयानन्दवल्ल्या । "सोऽश्नुते सर्वान्कामान्सह ब्रह्मणा विपश्चिता" (तै० उ० २ । १ । १) इति तस्य फलवचनस्यार्थविस्तारो नोक्तः । के ते किंविषया वा सर्वे कामाः कथं वा ब्रह्मणा सह समश्नुत इत्येतद्वक्तव्यमितीदमिदानीमारभ्यते—

तत्र पितापुत्राख्यायिकायां पूर्वविद्याशेषभूतायां तपो ब्रह्मविद्यासाधनमुक्तम् । प्राणादेराकाशान्तस्य च कार्यस्यान्नान्नादत्वेन विनियोगश्चोक्तः, ब्रह्मविषयोपासनानि च । ये च सर्वे

अन्नमय आदिके क्रमसे आनन्दमय आत्माके प्रति संक्रमण कर वह यह सामगान करता रहता है ।

'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म' इस ऋचाके अर्थकी, इसकी विवरणभूता ब्रह्मानन्दवल्लीके द्वारा विस्तारपूर्वक व्याख्या कर दी गयी थी । किन्तु उसके फलका निरूपण करनेवाले "वह सर्वज्ञ ब्रह्मस्वरूपसे एक साथ सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है" इस वचनके अर्थका विस्तारपूर्वक वर्णन नहीं किया गया था । वे भोग क्या हैं ? उनका किन विषयोंसे सम्बन्ध है ? और किस प्रकार वह उन्हें ब्रह्मरूपसे एक साथ ही प्राप्त कर लेता है ?—यह सब बतलाना है, अतः अब इसीका विचार आरम्भ किया जाता है—

तहाँ पूर्वोक्त विद्याकी शेषभूत पितापुत्रसम्बन्धिनी आख्यायिकामें तप ब्रह्मविद्याकी प्राप्तिका साधन बतलाया गया है; तथा आकाशपर्यन्त प्राणादि कार्यवर्गका अन्न और अन्नादरूपसे विनियोग एवं ब्रह्मसम्बन्धिनी उपासनाओंका प्रतिपादन किया गया है । इसी प्रकार आकाशादि कार्यभेदसे सम्बन्धित

कामाः प्रतिनियतानेकसाधनसाध्या आकाशादिकार्यभेदविषया एते दर्शिताः । एकत्वे पुनः कामकामित्वानुपपत्तिः । भेदजातस्य सर्वस्यात्मभूतत्वात् । तत्र कथं युगपद्ब्रह्मस्वरूपेण सर्वान्कामानेवंवित्समश्नुत इत्युच्यते—सर्वात्मत्वोपपत्तेः ।

एवं प्रत्येकके लिये नियत अनेक साधनोंसे सिद्ध होनेवाले जो सम्पूर्ण भोग हैं वे भी दिखला दिये गये हैं । परन्तु यदि आत्माका एकत्व स्वीकार किया जाय तब तो काम और कामित्वका होना ही असम्भव होगा; क्योंकि सम्पूर्ण भेदजात आत्मस्वरूप ही है । ऐसी अवस्थामें इस प्रकार जाननेवाला उपासक ब्रह्मरूपसे किस प्रकार एक ही साथ सम्पूर्ण भोगोंको प्राप्त कर लेता है ? सो बतलाया जाता है—उसका सर्वात्मभाव सम्भव होनेके कारण ऐसा हो सकता है ।*

कथं सर्वात्मत्वोपपत्तिरित्याह—पुरुषादित्यस्थात्मैकत्वविज्ञानेनापोह्योत्कर्षापकर्षावन्नमयाद्यात्मनोऽविद्याकल्पितान्क्रमेण संक्रम्यानन्दमयान्तान्सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्मादृश्यादिधर्मकं स्वाभाविक-

उसका सर्वात्मत्व किस प्रकार सम्भव है ? सो बतलाते हैं—पुरुष और आदित्यमें स्थित आत्माके एकत्वज्ञानसे उनके उत्कर्ष और अपकर्षका निराकरण कर आत्माके अज्ञानसे कल्पना किये हुए अन्नमयसे लेकर आनन्दमयपर्यन्त सम्पूर्ण कोशोंके प्रति संक्रमण कर जो सबका फलस्वरूप है उस अदृश्यादि धर्मवाले स्वाभाविक आनन्दस्वरूप

* तात्पर्य यह है कि जो ब्रह्मकी अभेदोपासना करते-करते उससे तादात्म्य अनुभव करने लगता है वह सबका अन्तरात्मा ही हो जाता है; इसलिये सबके अन्तरात्मस्वरूपसे वह सम्पूर्ण भोगोंको भोगता है ।

मानन्दमजममृतमभयमद्वैतं फलभूतमापन्न इमाँल्लोकान्भूरादीननुसंचरन्निति व्यवहितेन संबन्धः। कथमनुसंचरन्? कामान्नी कामतोऽन्नमस्येति कामान्नी। तथा कामतो रूपाण्यस्येति कामरूपी। अनुसंचरन्सर्वात्मनेमाँल्लोकानात्मत्वेनानुभवन्— किम्? एतत्साम गायन्नास्ते।

ब्रह्मविदः सामगानाभिप्रायः

समत्वाद्ब्रह्मैव साम सर्वानन्यरूपं गायञ्शब्दयन्नात्मैकत्वं प्रख्यापयँल्लोकानुग्रहार्थं तद्विज्ञानफलं चातीव कृतार्थत्वं गायन्नास्ते तिष्ठति। कथम्? हा ३ वु! हा ३ वु! हा ३ वु! अहो इत्येतस्मिन्नर्थेऽत्यन्तविस्मयख्यापनार्थम्॥५॥

अजन्मा, अमृत, अभय, अद्वैत एवं सत्य, ज्ञान और अनन्त ब्रह्मको प्राप्त हो इन भूः आदि लोकोंमें सञ्चार करता हुआ—इस प्रकार इन व्यवधानयुक्त पदोंसे इस वाक्यका सम्बन्ध है—किस प्रकार सञ्चार करता हुआ? कामान्नी—जिसको इच्छासे ही अन्न प्राप्त हो जाय उसे कामान्नी कहते हैं तथा जिसे इच्छासे ही [इष्ट] रूपोंकी प्राप्ति हो जाय ऐसा कामरूपी होकर सञ्चार करता हुआ अर्थात् सर्वात्मभावसे इन लोकोंको अपने आत्मारूपसे अनुभव करता हुआ—क्या करता है? इस सामका गान करता रहता है।

समरूप होनेके कारण ब्रह्म ही साम है। उस सबसे अभिन्नरूप सामका गान—उच्चारण करता हुआ अर्थात् लोकपर अनुग्रह करनेके लिये आत्माकी एकताको प्रकट करता हुआ और उसकी उपासनाके फल अत्यन्त कृतार्थत्वका गान करता हुआ स्थित रहता है। किस प्रकार गान करता है—हा ३ वु! हा ३ वु! हा ३ वु! ये तीन शब्द 'अहो! इस अर्थमें अत्यन्त विस्मय प्रकट करनेके लिये हैं॥ ५॥

ब्रह्मवेत्ताद्वारा गाया जानेवाला साम

कः पुनरसौ विस्मयः ? इत्युच्यते—

किन्तु वह विस्मय क्या है ? सो बतलाया जाता है—

अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादो३ऽहमन्नादो३ऽहमन्नादः । अहँ श्लोककृदहँ श्लोककृदहँ श्लोककृत् । अहमस्मि प्रथमजा ऋता३स्य । पूर्वं देवेभ्योऽमृतस्य ना३भायि । यो मा ददाति स इदेव मा३वाः । अहमन्नमन्नमदन्तमा३द्मि । अहं विश्वं भुवनमभ्यभवा३म् । सुवर्न ज्योतीः य एवं वेद । इत्युपनिषत् ॥ ६ ॥

मैं अन्न (भोग्य) हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ; मैं ही अन्नाद (भोक्ता) हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही अन्नाद हूँ, मैं ही श्लोककृत् (अन्न और अन्नादके संघातका कर्ता) हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ, मैं ही श्लोककृत् हूँ । मैं ही इस सत्यासत्यरूप जगत्के पहले उत्पन्न हुआ [हिरण्यगर्भ] हूँ । मैं ही देवताओंसे पूर्ववर्ती विराट् एवं अमृतत्वका केन्द्रस्वरूप हूँ । जो [अन्नस्वरूप] मुझे [अन्नार्थियोंको] देता है वह इस प्रकार मेरी रक्षा करता है, किन्तु [जो मुझ अन्नस्वरूपको दान न करता हुआ स्वयं भोगता है उस] अन्न भक्षण करनेवालेको मैं अन्नरूपसे भक्षण करता हूँ । मैं इस सम्पूर्ण भुवनका पराभव करता हूँ, हमारी ज्योति सूर्यके समान नित्य प्रकाशस्वरूप है । ऐसी यह उपनिषद् [ब्रह्मविद्या] है । जो इसे इस प्रकार जानता है [उसे पूर्वोक्त फल प्राप्त होता है] ॥ ६ ॥

अद्वैत आत्मा निरञ्जनोऽपि सन्नहमेवान्नमन्नादश्च । किं चाहमेव श्लोककृत् । श्लोको नामान्नान्नादयोः संघातस्तस्य कर्ता

निर्मल अद्वैत आत्मा होनेपर भी मैं ही अन्न और अन्नाद हूँ तथा मैं ही श्लोककृत् हूँ । 'श्लोक' अन्न और अन्नादके संघातको कहते हैं उसका

चेतनावान् । अन्नस्यैव वा परार्थस्यान्नादार्थस्य सतोऽनेकात्मकस्य पारार्थ्येन हेतुना संघातकृत् । त्रिरुक्तिर्विस्मयत्वख्यापनार्था ।

अहमस्मि भवामि । प्रथमजाः प्रथमजः प्रथमोत्पन्न ऋतस्य सत्यस्य मूर्तामूर्तस्यास्य जगतः । देवेभ्यश्च पूर्वम् । अमृतस्य नाभिरमृतत्वस्य नाभिर्मध्यं मत्संस्थममृतत्वं प्राणिनामित्यर्थः ।

यः कश्चिन्मा मामन्नमन्नार्थिभ्यो ददाति प्रयच्छत्यन्नात्मना ब्रवीति स इदित्थमेवमविनष्टं यथाभूतमावा अवतीत्यर्थः । यः पुनरन्यो मामदत्त्वार्थिभ्यः काले प्राप्तेऽन्नमत्ति तमन्नमदन्तं भक्षयन्तं पुरुषमहमन्नमेव संप्रत्यद्मि भक्षयामि ।

अत्राहैवं तर्हि बिभेमि सर्वात्मत्वप्राप्तेर्मोक्षादस्तु संसार एव

चेतनावान् कर्ता हूँ । अथवा परार्थ-यानी अन्नादके लिये होनेवाले अन्नका जो पारार्थ्यरूप हेतुके कारण ही अनेकात्मक है, मैं संघात करनेवाला हूँ । मूलमें जो तीन बार कहा गया है वह विस्मयत्व प्रकट करनेके लिये है ।

मैं इस ऋत—सत्य यानी मूर्तामूर्तरूप जगत्का 'प्रथमजा'—प्रथम उत्पन्न होनेवाला (हिरण्यगर्भ) हूँ । मैं देवताओंसे पहले होनेवाला और अमृतका नाभि यानी अमरत्वका मध्य (केन्द्रस्थान) हूँ; अर्थात् प्राणियोंका अमृतत्व मेरेमें स्थित है ।

जो कोई अन्नरूप मुझे अन्नार्थियोंको दान करता है अर्थात् अन्नात्मभावसे मेरा वर्णन करता है वह इस प्रकार अविनष्ट और यथार्थ अन्नस्वरूप मेरी रक्षा करता है । किन्तु जो समय उपस्थित होनेपर अन्नार्थियोंको मेरा दान न कर स्वयं ही अन्न भक्षण करता है उस अन्न भक्षण करनेवाले पुरुषको मैं अन्न ही खा जाता हूँ ।

इसपर कोई वादी कहता है—यदि ऐसी बात है तब तो मैं सर्वात्मत्वप्राप्तिरूप मोक्षसे डरता हूँ; इससे तो मुझे संसारहीकी प्राप्ति

यतो मुक्तोऽप्यहमन्नभूत आद्यः स्यामन्नस्य ।

हो [यही अच्छा है]; क्योंकि मुक्त होनेपर मैं भी अन्नभूत होकर अन्नका भक्ष्य होऊँगा ।

एवं मा भैषीः संव्यवहारविषयत्वात्सर्वकामाशनस्य । अतीत्यायं संव्यवहारविषयमन्नान्नादादिलक्षणमविद्याकृतं विद्यया ब्रह्मत्वमापन्नो विद्वांस्तस्य नैव द्वितीयं वस्त्वन्तरमस्ति यतो बिभेत्यतो न भेतव्यं मोक्षात् ।

सिद्धान्ती—ऐसे मत डरो, क्योंकि सब प्रकारके भोगोंको भोगना यह तो व्यावहारिक ही है । विद्वान् तो ब्रह्मविद्याके द्वारा इस अविद्याकृत अन्न-अन्नादरूप व्यावहारिक विषयका उल्लङ्घन कर ब्रह्मत्वको प्राप्त हो जाता है । उसके लिये कोई दूसरी वस्तु ही नहीं रहती, जिससे कि उसे भय हो । इसलिये तुझे मोक्षसे नहीं डरना चाहिये ।

एवं तर्हि किमिदमाह—अहमन्नमहमन्नाद इति ? उच्यते—योऽयमन्नान्नादादिलक्षणः संव्यवहारः कार्यभूतः स संव्यवहारमात्रमेव न परमार्थवस्तु । स एवं भूतोऽपि ब्रह्मनिमित्तो ब्रह्मव्यतिरेकेणासन्निति कृत्वा ब्रह्मविद्याकार्यस्य ब्रह्मभावस्य स्तुत्यर्थमुच्यते । अहमन्नमहमन्नमहमन्नम् । अहमन्नादोऽहमन्नादोऽहमन्नाद इत्यादि । अतो भया-

यदि ऐसी बात है तो 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्नाद हूँ' ऐसा क्यों कहा है—ऐसा प्रश्न होनेपर कहा जाता है—यह जो अन्न और अन्नादरूप कार्यभूत व्यवहार है वह व्यवहारमात्र ही है—परमार्थवस्तु नहीं है । वह ऐसा होनेपर भी ब्रह्मका कार्य होनेके कारण ब्रह्मसे पृथक् असत् ही है—इस आशयको लेकर ही ब्रह्मविद्याके कार्यभूत ब्रह्मभावकी स्तुतिके लिये 'मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ, मैं अन्न हूँ; मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ, मैं अन्नाद हूँ' इत्यादि कहा जाता है । इस प्रकार अविद्याका नाश हो जानेके कारण ब्रह्मभूत

दिदोषगन्धोऽप्यविद्यानिमित्तोऽविद्योच्छेदाद्ब्रह्मभूतस्य नास्तीति।

अहं विश्वं समस्तं भुवनं भूतैः संभजनीयं ब्रह्मादिभिर्भवन्तीति वास्मिन्भूतानीति भुवनमभ्यभवामभिभवामि परेणेश्वरेण स्वरूपेण। सुवर्न ज्योतीः सुवरादित्यो नकार उपमार्थे। आदित्य इव सकृद्विभातमस्मदीयं ज्योतीर्ज्योतिः प्रकाश इत्यर्थः।

इति वल्लीद्वयविहितोपनिषत्परमात्मज्ञानं तामेतां यथोक्तामुपनिषदं शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा भृगुवत्तपो महदास्थाय य एवं वेद तस्येदं फलं यथोक्तमोक्ष इति ॥ ६ ॥

विद्वान्‌को अविद्याके कारण होनेवाले भय आदि दोषका गन्ध भी नहीं होता।

मैं अपने श्रेष्ठ ईश्वररूपसे विश्व यानी सम्पूर्ण भुवनका पराभव (उपसंहार) करता हूँ। जो ब्रह्मादि भूतों (प्राणियों) के द्वारा संभजनीय (भोगे जाने योग्य) है अथवा जिसमें भूत (प्राणी) होते हैं उसका नाम भुवन है। 'सुवर्न ज्योतीः'—'सुवः' आदित्यका नाम है और 'न' उपमाके लिये है; अर्थात् हमारी ज्योति—हमारा प्रकाश आदित्यके समान प्रकाशमान है।

इस प्रकार इन दो वल्लियोंमें कही हुई उपनिषत् परमात्माका ज्ञान है। इस उपर्युक्त उपनिषत्‌को जो भृगुके समान शान्त, दान्त, उपरत, तितिक्षु और समाहित होकर महान् तपस्या करके इस प्रकार जानता है उसे यह उपर्युक्त मोक्षरूप फल प्राप्त होता है ॥ ६ ॥

इति भृगुवल्ल्यां दशमोऽनुवाकः ॥ १० ॥

इति श्रीमत्परमहंसपरिव्राजकाचार्यगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यश्रीमच्छङ्करभगवतः कृतौ तैत्तिरीयोपनिषद्भाष्ये भृगुवल्ली समाप्ता ॥

समाप्तेयं कृष्णयजुर्वेदीया तैत्तिरीयोपनिषत् ॥

ॐ

शान्तिपाठ

ॐ शं नो मित्रः शं वरुणः। शं नो भवत्वर्यमा। शं न इन्द्रो बृहस्पतिः। शं नो विष्णुरुरुक्रमः। नमो ब्रह्मणे। नमस्ते वायो। त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि। त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्मावादिषम्। ऋतमवादिषम्। सत्यमवादिषम्। तन्मामावीत्। तद्वक्तारमावीत्। आवीन्माम्। आवीद्वक्तारम्॥

ॐ शान्तिः! शान्तिः!! शान्तिः!!!

॥ हरिः ॐ तत्सत्॥

श्रीहरिः

मन्त्राणां वर्णानुक्रमणिका

मन्त्रप्रतीकानि	वल्ली	अनु०	मं०	पृ०
अथाध्यात्मम्	१	३	४	२७
अन्तेवास्युत्तररूपम्	१	३	३	२७
अन्नं न निन्द्यात्	३	७	१	२२६
अन्नं न परिचक्षीत	३	८	१	२२८
अन्नं बहु कुर्वीत	३	९	१	२२९
अन्नं ब्रह्मेति व्यजानात्	३	२	१	२१८
अन्नाद्वै प्रजाः प्रजायन्ते	२	२	१	१२४
असद्वा इदमग्र आसीत्	२	७	१	१७३
असन्नेव स भवति	२	६	१	१५०
अहं वृक्षस्य रेरिवा	१	१०	१	६५
अहमन्नमहमन्नम्	३	१०	६	२४५
आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्	३	६	१	२२३
ऋतं च स्वाध्यायप्रवचने च	१	९	१	६१
ओमिति ब्रह्म	१	८	१	५७
ॐ शं नो मित्रः	१	१	१	२१
कुर्वाणाचीरमात्मनः	१	४	२	३३
तन्नम इत्युपासीत	३	१०	४	२३०
देवपितृकार्याभ्याम्	१	११	२	७०
न कञ्चन वसतौ	३	१०	१	२३०
नो इतराणि	१	११	३	७०
पृथिव्यन्तरिक्षम्	१	७	१	५४
प्राणं देवा अनु प्राणन्ति	२	३	१	१३०
प्राणो ब्रह्मेति व्यजानात्	३	३	१	२२०
ब्रह्मविदाप्नोति परम्	२	१	१	९७
भीषास्माद्वातः पवते	२	८	१	१८२
भूर्भुवः सुवरिति	१	५	१	४१

भृगुर्वै वारुणिः	३	१	१	२१४
मनो ब्रह्मेति व्यजानात्	३	४	१	२२१
मह इति ब्रह्म	१	५	३	४२
मह इत्यादित्यः	१	५	२	४१
य एवं वेद	३	१०	२	२३०
यतो वाचो निवर्तन्ते	२	९	१	२०८
यतो वाचो निवर्तन्ते	२	४	१	१३८
यश इति पशुषु	३	१०	३	२३०
यशो जनेऽसानि स्वाहा	१	४	३	३८
यश्छन्दसामृषभो विश्वरूपः	१	४	१	३३
ये तत्र ब्राह्मणाः संमर्शिनः	१	११	४	७०
वायुः संधानम्	१	३	२	२७
विज्ञानं ब्रह्मेति व्यजानात्	३	५	१	२२२
विज्ञानं यज्ञं तनुते	२	५	१	१४१
वेदमनूच्याचार्यो	१	११	१	७०
शं नो मित्रः	१	१२	१	९३
शीक्षां व्याख्यास्यामः	१	२	१	२५
श्रोत्रियस्य चाकामहतस्य	२	८	३	१८२
,, ,,	२	८	४	१८३
स एको मनुष्यगन्धर्वाणाम्	२	८	२	१८२
स य एवंवित्	३	१०	५	२४१
स य एषोऽन्तर्हृदये	१	६	१	४८
स यश्चायं पुरुषे	२	८	५	१९१
सह नौ यशः	१	३	१	२७
सुवरित्यादित्ये	१	६	२	४८

